हिंदी-काव्य में मानव तथा प्रकृति

लखनऊ-विश्वविद्यालय की पी-एच्० डी०
उपाधि के लिए स्वीकृत
शोध-प्रबन्ध

लेखक
डॉ० लालताप्रसाद सक्सेना, एम. ए., पी-एच्. डी.
हिन्दी-विभाग, राजस्थान-विश्वविद्यालय,
जयपुर (राजस्थान)

शुभ दीपावली, २०१९

प्रकाशक : हिंदी साहित्य भंडार, (फोन ८२६३३)
सराय मालीखाँ, चौपटियाँ रोड, लखनऊ-३
मुद्रक : विद्यामंदिर प्रेस, रानीकटरा, लखनऊ-३
संस्करण : प्रथम, १९६२, शुभ दीपावली २०१९
मूल्य : पच्चीस रुपये

समर्पण

हे स्वर्गीय पिता ! पूज्या माँ !
हे गुरुजन श्रद्धेय विपुल !
विद्या - व्यसनी हे मुकुल !
अर्पित मम साधना अशेष ।

—लेखक ।

भूमिका

प्रस्तुत प्रबंध के लेखक, मेरे प्रिय शिष्य, डा० लालता प्रसाद सकसेना लखनऊ विश्वविद्यालय के सुधी छात्रों में रहे हैं। उनका प्रबंध, 'काव्य में मानव और प्रकृति' इस विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हो चुका है। उनके पूर्व यद्यपि हिंदी में इस विषय पर दो-तीन प्रबंध अन्य विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत हुए हैं जिनमें मानव-जगत से संबद्ध प्रकृति-रूपों का विवेचन किया जा चुका है, तथापि मानव और प्रकृति के पारस्परिक संबंध एवं साम्य, वैषम्य आदि के विवेचन की दृष्टि से प्रस्तुत प्रबंध की मौलिकता निर्विवाद है। आशा है, हिंदी जगत इसका समुचित स्वागत करेगा। डा० सकसेना इसी प्रकार अन्य महत्वपूर्ण एवं गवेषणात्मक ग्रन्थों का सृजन करें, यह मेरी मंगल कामना है।

दीनदयालु गुप्त
एम. ए., एल-एल बी., डी. लिट्
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी तथा आधुनिक भारतीय भाषा-विभाग
एवं डीन कला-संकाय, लखनऊ विश्वविद्यालय

प्राक्कथन

प्रस्तुत विषय मानव तथा प्रकृति के विविध सम्बद्ध रूपों से ही सम्बन्धित है, उनके किसी पृथक् रूप अथवा विवेचन से नहीं। मानव प्रकृति से किन-किन रूपों में सम्बद्ध है, उसके उन सम्बन्धों को लेकर काव्य-जगत् में कहाँ तक आगे बढ़ा जा सकता है, आदि मूल की दृष्टि से दोनों में क्या और किस प्रकार का वैषम्य है, कहाँ-कहाँ साम्य और किस दृष्टि से एकात्म्य है, उनके किस साम्य के कारण मानव-रूपांकन में प्रकृति और प्रकृति-रूपांकन में उपमान मानव-रूपों का प्रयोग होता है, मानव-रूप-भावादि का प्रकृति पर आरोप अथवा उसका इन विभिन्न दृष्टियों से मानवीकरण और दूसरी ओर प्रकृति के रूप-गुणादि का मानव पर आरोप तथा उसका प्रकृतीकरण काव्य में कहाँ-कहाँ और क्यों होता है आदि विभिन्न महत्व-पूर्ण तथ्यों की सम्यक् मीमांसा प्रस्तुत प्रबन्ध का उद्देश्य है।

हिन्दी-साहित्य में इसके पूर्व प्रकृति-चित्रण पर डा० रघुवंश तथा डा० किरण-कुमारी गुप्त के शोध-प्रबन्ध लिखे जा चुके हैं। किन्तु उनमें मानव-जगत् से सम्बद्ध प्रकृति के रूपों का ही विशेष रूप से विवेचन है, प्रकृति सापेक्ष मानव का उतना नहीं। मानव तथा प्रकृति के उत्कर्षापकर्ष एवं सम्बन्धों का विशेष विवेचन उनका उद्देश्य नहीं रहा है। मानव ही नहीं, उससे सम्बद्ध अनेक प्रकृति-रूपों का विवेचन भी उनमें उपलब्ध नहीं होता। इसके अतिरिक्त आधुनिक हिंदी-काव्य में इस दिशा में जो विशेष प्रगति हुई है, मानव तथा प्रकृति के विभिन्न सम्बद्ध रूपों की जो भव्य योजना की गई है, उसका सम्यक् निदर्शन भी हिंदी-साहित्य में अब तक नहीं हो सका था। अत: मानव तथा प्रकृति की महत्ता तथा उनके विभिन्न सम्बद्ध रूपों के विवेचन के अभाव के कारण हिंदी-साहित्य को यह प्रबन्ध प्रस्तुत किया जाता है।

विषय-वस्तु का विभाजन ऐतिहासिक काल-क्रमानुसार न करके उसके विभिन्न पक्षों के आधार पर किया गया है, क्योंकि ऐसा न करने से अनेक महत्वपूर्ण कवियों की उक्तियाँ प्रबन्ध के बाहर जा पड़तीं। साथ ही विषय के अनुसार मानव तथा प्रकृति को प्रत्येक सम्भव प्रकार से उनके विभिन्न सम्बद्ध रूपों में ही लिया गया है, उनके किसी विश्लिष्ट रूप में नहीं। उनके किसी भी अंग पर विश्लिष्ट रूप से विचार करना विषय-क्षेत्र से केवल बहिर्गमन ही नहीं, अनुपयुक्त भी होता। यही कारण है कि मानव-रूप-भावादि की व्यंजना में स्व-वर्गीय मानव-रूपों तथा प्रकृति-

रूप-गुणादि की अभिव्यक्ति में स्व-वर्गीय प्राकृतिक उपमानों के योग पर विचार न करके, केवल उनके पारस्परिक योग की ही समीक्षा की गई है।

प्रबन्ध की शैली कहीं-कहीं अधिक भावुकतापूर्ण हो गई है जिसका कारण उसके प्रति मेरी विशेषासक्ति ही है। प्रकृति के जड़-चेतन रूपों में मानव-रूप-भाव-गुण-उपदेशादि की परिकल्पना, अनुभूति तथा उनकी अमृतोपम काव्याभिव्यक्ति का कार्य जिस प्रकार भावुकता के अभाव में सुचारु रूपेण निष्पन्न हो सकना सम्भव नहीं, उसी प्रकार उसकी सुष्ठु मीमांसा भी उसके अभाव में रक्त-मांस-विहीन कंकालमात्र ही रह जायेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

प्रबन्ध को ६ अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय में मानव तथा प्रकृति के आदि मूल, स्वरूप, भेदाभेद एवं विभिन्न पारस्परिक सम्बन्धों का वैज्ञानिक, दार्शनिक तथा साहित्यिक दृष्टि-विन्दुओं से विवेचन है।

द्वितीय अध्याय में दोनों के बीज-वृक्ष, द्रष्टा-दृश्य, सहचर-सहचरी, आलम्बन आश्रय, मातृ-शिशु, भोक्ता-भोग्य, अभिनन्दी-अभिनन्द्य, उद्दीपक-उद्दीप्य तथा शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्धों को स्पष्ट करते हुए उनके अन्योन्याश्रित सम्बन्ध की मीमांसा की गई है।

तृतीय अध्याय में दोनों के रूपात्मक साम्य-वैषम्य तथा सौंदर्यानुभूति के विकास एवं रूपांकन में उनके पारस्परिक योग का विशद निदर्शन है।

चतुर्थ अध्याय में दोनों में प्राप्त-अप्राप्त विभिन्न भावों की दृष्टि से उनके पारस्परिक साम्य-वैषम्य तथा दोनों के भाव-विकास, भावोद्दीपन एवं भावाभिव्यंजन में उनके पारस्परिक योग का दिग्दर्शन है। साथ ही प्रकृति विभिन्न मानव-भावों के आलम्बन-रूप में किस प्रकार प्रस्तुत होती है और मानव प्रकृति के विभिन्न भावों को किस प्रकार जाग्रत करता है—उसके विभिन्न भावों के आलम्बन-रूप में किस प्रकार प्रस्तुत होता है—इन विभिन्न तथ्यों का भी मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

पंचम अध्याय में दोनों के आन्तर साम्य एवं वैषम्य के निदर्शन के लिए उनके विभिन्न गुणों के भाव-अभाव एवं पारस्परिक प्रभाव तथा उनके गुणाभिव्यंजन में दोनों के पारस्परिक योग की सम्यक् व्याख्या है।

षष्ठ अध्याय में दोनों के विभिन्न अमंगलकारी अवगुणों के अस्तित्व-अनस्तित्व की दृष्टि से उनके साम्य-वैषम्य तथा उनकी अवगुणाभिव्यक्ति में उनके पारस्परिक प्रयोग एवं योग की विशद मीमांसा है।

सप्तम अध्याय में दोनों में प्राप्त विभिन्न व्यापारों की दृष्टि से उनके पारस्परिक साम्य-वैषम्य तथा दोनों के व्यापाराभिव्यंजन में उनके पारस्परिक योग का उल्लेख है।

अष्टम अध्याय में दोनों के पारस्परिक शिक्षण-व्यापार एवं तद्विषयक साम्य-वैषम्य के निरूपण के लिए उनके विभिन्न उपदेशक रूपों तथा उनके उपदेशाभिव्यंजन में दोनों के पारस्परिक उपमान रूपों के योग की महत्ता को विशद अभिव्यक्ति दी गई है।

नवम अध्याय में मानव तथा प्रकृति, दोनों की रहस्य-भावना की विभिन्न परिस्थितियों, प्रभावों, रहस्याभिव्यंजन में उनके पारस्परिक उपमान-रूपों के योग-प्रयोग एवं दोनों के रहस्योद्दीपक रूपों पर विचार करते हुए उनके तद्विषयक साम्य एवं वैषम्य को स्पष्ट किया गया है।

उपसंहार में दोनों के सापेक्षिक महत्व उत्कर्षापकर्ष, पूर्व विश्लेषण के सिंहावलोकन तथा उनके पारस्परिक वैभिन्य-अवैभिन्यादि का सम्यक् निरूपण एवं निष्कर्ष है।

ग्रन्थ के शीघ्रता से छपने तथा मेरे स्वयं प्रूफ न देख सकने के कारण उसमें यत्र-तत्र कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं, जिसके लिए मैं पाठकों से क्षमा प्रार्थी हूँ। अगले संस्करण में उन्हें सुधार दिया जायगा। सम्प्रति प्रमुख अशुद्धियों का शुद्धि-पत्र देकर ही संतोष किया जाता है।

अन्त में मैं पूज्य डा० दीनदयाल जी गुप्त तथा पूज्य डा. सरयूप्रसाद जी अग्रवाल, जिनके सात्विक स्नेह, निश्छल प्रोत्साहन, विद्वत्तापूर्ण निर्देशन एवं निस्सीम कृपा के परिणामस्वरूप आज अपने निर्दिष्ट गन्तव्य तक पहुँच सका हूँ, के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

विश्वविद्यालय-हिंदी-विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर

ललताप्रसाद सक्सेना
कार्तिक पूर्णिमा, सं० २०१६

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

हिंदी काव्य में
मानव
तथा
प्रकृति

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

मानव तथा प्रकृति विषयक विभिन्न दृष्टिकोण

मानव तथा प्रकृति के आदि मूल, स्वरूप, भेदाभेद, पारस्परिक सम्बन्धों की यथार्थता-अयथार्थता तथा दृश्यमान रूपों की सत्यता-असत्यता के प्रश्नों पर विज्ञान, दर्शन तथा साहित्य में अनेक प्रकार से विचार किया जाता है। अतः हिन्दी-काव्य में मानव तथा प्रकृति के विवेचन के पूर्व उनके विषय में उक्त बातों से सम्बन्धित सम्यक् जानकारी के लिये विज्ञान, दर्शन तथा साहित्यादि के दृष्टि-विन्दुओं को समझना आवश्यक है। उनके विषय में उठने वाले विभिन्न प्रश्नों का समाधान वैज्ञानिक, दार्शनिक तथा साहित्यकार किस प्रकार करते हैं, इसके लिये हम सर्व-प्रथम उनके विभिन्न दृष्टि-विन्दुओं से विचार करेंगे।

(अ) वैज्ञानिक दृष्टिकोण

(क) *प्राणि-विज्ञान*—प्राणि-विज्ञान के अनुसार मानव तथा प्रकृति में कुछ दृष्टि-विन्दुओं से साम्य है और कुछ दृष्टि-बिन्दुओं से वैषम्य। जहाँ तक साम्य का प्रश्न है, मानव तथा प्रकृति के प्राणी दोनों ही सूर्य से जीवन-शक्ति प्राप्त करते हैं; दोनों ही कार्बन, हाइड्रोजन, आक्सीजन, नाइट्रोजन, गंधक, फासफोरस, क्लोरीन, सोडियम, पोटैशियम, कैलशियम, मैगनेशियम तथा लोह आदि प्रकृति के विभिन्न तत्वों के संघात हैं; दोनों ही उक्त तत्वों के संघटन से जीवन और विघटन से मृत्यु को प्राप्त होते हैं; दोनों ही वनस्पति-जगत् द्वारा निष्कासित आक्सीजन को श्वास-रूप में ग्रहण करते हैं; दोनों ही क्षुधा, तृषा, प्रेम, क्रोध, भय आदि का अनुभव करते हैं; दोनों ही प्रजनन-शक्ति द्वारा वंश-वृद्धि करते हैं और दोनों ही में बुद्धि-क्षमता, श्वसन्-क्रिया तथा भोजन के अन्तर्ग्रहण, पाचन, प्रचूषण एवं उसके अपचांश के बहिष्करण की विशेषताएँ हैं[1]।

---

१. प्राणि-विज्ञान, आर० डी० विद्यार्थी, भाग २, पृ० १-१२।

इसके विपरीत मानव अपने मस्तिष्क की गुरुता, बुद्धि-विकास तथा भाव-प्रसार आदि की दृष्टि से प्रकृति के प्राणियों से बहुत आगे है। उसमें बौद्धिक ज्ञान का इतना आधिक्य है कि वह अपनी बुद्धि-शक्ति से समस्त प्रकृति को विजित करके उसका अधीश्वर बन बैठा है, जब कि प्रकृति के प्राणी, उसके पशु-पक्षी इस दृष्टि से बहुत पीछे हैं। दूसरी ओर प्रकृति के प्राणियों में नैसर्गिक ज्ञान की मात्रा मानव की अपेक्षा अधिक होती है। गाय का बच्चा जन्म के कुछ क्षणों के अनन्तर ही कुदक्की मारने लगता है, किन्तु मानव-शिशु निरन्तर अभ्यास के पश्चात् ही चलना सीख पाता है। "कुत्ते की, पानी में तैरने की शक्ति स्वतः सिद्ध है, आदमी के बच्चे को कठिन प्रयत्न करने पर प्राप्त होती है[1]।"

(ख) *वनस्पति-विज्ञान*—वनस्पति-विज्ञान के अनुसार मानव तथा वनस्पति प्रकृति दोनों में ही चेतना की स्थिति है ; दोनों में ही श्वसन्-क्रिया होती है ; दोनों ही श्वास-रूप में आक्सीजन का अन्तर्ग्रहण करके कार्बन डाइआक्साइड को बहिष्कृत करते हैं ; दोनों ही भोज्य पदार्थों का अन्तर्ग्रहण, पाचन तथा प्रचूषण करके अपचांश को उत्सर्जित करते हैं ; दोनों ही प्रजनन-शक्ति द्वारा वंश-वृद्धि करते हैं ; दोनों ही शीत-उष्ण, ग्रीष्म-वर्षा आदि से प्रभावित होते हैं, तृष्णा, क्षुधा आदि का अनुभव करते हैं और जड़ पदार्थों को पचा कर स्वीयकरण (assimilation) द्वारा उसे प्ररस (protoplasm) में परिवर्तित कर देते हैं। इसके अतिरिक्त दोनों की ही शारीरिक वृद्धि स्वीयकरण (assimilation) के फल-स्वरूप होती है और दोनों का ही आकार-प्रकार, तोल-परिमाण तथा रंग-रूप प्रायः निश्चित होता है[2]।

इसके विपरीत दोनों में बहुत कुछ वैषम्य भी है। पेड़, पौधे- पुष्प-लता आदि वनस्पति जगत् के प्राणी कार्बन डाइआक्साइड को ग्रहण करके खाद्य-रूप में प्रयुक्त कर लेते हैं, जब कि मानव ऐसा नहीं करता।[3] मानव द्वारा बहिष्कृत कार्बन डाइआक्साइड वनस्पति-जगत् के प्राणियों के काम आती है और वनस्पति-जगत् द्वारा निष्कासित आक्सीजन मानव के। मानव बुद्धि-विकास, भाव-प्रसार तथा स्वतोगति (गति-शीलता) आदि क्षेत्रों में जितने सोपानों को पार कर चुका है, वनस्पति-जगत् के प्राणी उतने नहीं। इसके अतिरिक्त मानव-शरीर के प्रकृति-तत्व उसकी मृत्यु के अनन्तर विघटित होकर पूर्ण वियोगावस्था को प्राप्त हो पेड़, पौधे,

---

१. डा० बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषाविज्ञान, विषय-प्रवेश, विज्ञान, पृ० ३।

२. These attributes of life—protoplasm, cells, metabolism, growti, elephants. of oak tree as of man.—Hylander, C. Botany, pags 12.

३. J. Hylander and B. Stanley, College Botany, page 72-73.

लता-पुष्प आदि वनस्पति-जगत् के प्राणियों का खाद्य बनते हैं और वनस्पति-जगत् के प्राणी अपने जीवन का उत्सर्जन कर के मानव-जगत् को आहार प्रदान करते हैं।

(ग) *रसायन-विज्ञान*—रसायन-विज्ञान के अनुसार मानव तथा प्रकृति-जगत् में मानव-शरीर के निर्माणक और बाह्य प्रकृति में पाये जाने वाले तत्वों की दृष्टि से बहुत कुछ साम्य है। कार्बन, हाइड्रोजन, आक्सीजन, नाइट्रोजन, गंधक, फासफोरस, क्लोरीन, सोडियम, पोटैसियम, कैलशियम, मैगनेशियम तथा लौह आदि प्रकृति-तत्वों की स्थिति जिस प्रकार मानव-शरीर में है, उसी प्रकार बाह्य प्रकृति के जड़ पदार्थों में भी[१]। इसके अतिरिक्त मानव-शरीर में व्याप्त तत्व जब उसकी मृत्यु के अनन्तर विघटित तथा वियुक्त हो स्वतत्वों से मिल कर तदाकार हो जाते हैं, तो मानव तथा प्रकृति का दृश्यमान वैभिन्य नष्ट हो कर एकत्व में परिणत हो जाता है और उनकी पृथक् सत्ताओं का कोई अस्तित्व नहीं रहता।

इसके विपरीत दोनों में वैषम्य की मात्रा भी कम नहीं है। मानव-शरीर में व्याप्त तत्व तत्व-रूप में उपलब्ध न हो कर विभिन्न जटिल कार्बनिक यौगिकों के रूप में प्राप्त होते हैं, किन्तु बाह्य प्रकृति के तत्व सरल यौगिकों तथा (यदा-कदा) तत्वों के रूप में पाये जाते हैं। मानव सजीव, चेतन, प्रजनन-शक्ति से युक्त, स्वतोगति (Spontaneous Movement) वाला, प्ररस-युक्त, तृष्णा, क्षुधा आदि का अनुभव करनेवाला, भोजन का अन्तर्ग्रहण, पाचन, प्रचूषण तथा अपचांश को मल-मूत्रादि के रूप में निष्काषित करनेवाला, स्वीयकरण (Assimiation) द्वारा अपने शरीर की वृद्धि करने वाला तथा बुद्धि एवं भाव-जगत् के उच्चतम सोपान पर पहुँचा हुआ प्राणी है, किन्तु प्रकृति के जड़ पदार्थ (तत्व तथा यौगिक आदि) चेतना, जीवन, बुद्धि, भाव, प्रजनन-शक्ति, संवेदना, श्वसन्-क्रिया, स्वतोगति (Spontaneous Movement), प्ररस (Protoplasm) आदि से रहित तथा तृष्णा, क्षुधा आदि का अनुभव न करने वाले निर्जीव पदार्थ हैं। मानव का एक निश्चित रासायनिक निबन्ध (Chemical Composition) होता है, जो सदैव प्ररस के रूप में उपलब्ध होता है, किन्तु जड़ पदार्थों का निश्चित निबन्ध होने पर भी उनमें प्ररस (Protoplasm) का अभाव रहता है। मानव के आकार-प्रकार तथा तोल-परिमाण की सीमा निश्चित है, किन्तु प्रकृति के जड़ पदार्थों की नहीं। मनुष्य एक निश्चित स्थान आदि को ही घेरता है, प्रकृति के पदार्थ नहीं संसार में दस-बीस मनुष्य एक साथ मिलकर एकाकार हो निश्चित मानव-आकार से वृहत्तर मानव-रूप धारण नहीं कर सकते, किन्तु प्रकृति के जड़ पदार्थ प्रायः ऐसा करते हैं। प्रकृति-तत्व जल एक बून्द से लेकर कूप, सरिता, सरोवर, झील तथा महासागर आदि

---

१. Paulkarrer, Organic Chemistry, Introduction, page 2.

वृहत्तर एवं वृहत्तम रूपों में उपलब्ध होता है,[1] किन्तु मानव-रूप का दर्शन उसके निश्चित रूपाकारादि से भिन्न रूप में नहीं होता।

(घ) *मानव-विज्ञान*—मानव-विज्ञान के अनुसार मानव तथा प्रकृति में अनेक दृष्टियों से साम्य है। मानव प्रकृति की ही व्यवस्था का एक अंग है। वह आकार-प्रकार, तोल-परिमाण, रूप-रंग आदि सब कुछ धारण किये हुए है। वह किसी विशिष्ट स्थान को भी अपने अधिकार में रखता है और उसकी प्रत्येक क्रिया उन्हीं सीमित परिस्थितियों और नियमों के अन्तर्गत होती है, जो किसी भौतिक पदार्थ के लिये लागू होते हैं। उसकी सत्ता विभिन्न रासायनिक द्रव्यों की भाँति भी है और एक प्रकार से उसका शरीर भी एक रासायनिक प्रयोगशाला है। मानव-शरीर विभिन्न पदार्थों को आत्मसात करके फलता-फूलता तथा हृष्ट-पुष्ट होता है, यही उसकी रासायनिक प्रक्रिया है[2]।

मानव एक पौधे की भाँति भी अपना अस्तित्व रखता है। जिस प्रकार पौधे के जीवित रहने के लिये यह आवश्यक है कि वह पृथ्वी से अपने पोषक तत्वों को संकर्णित करके फलता-फूलता रहे, उसी प्रकार मानव के लिये भी यह आवश्यक है कि वह अपनी प्राण-प्रतिष्ठा के लिये भोजन पदार्थों को सदैव ग्रहण करता रहे। इस के अतिरिक्त पौधे जिस प्रकार प्रजनन-शक्ति द्वारा अपनी संख्या में वृद्धि करते हैं, उसी प्रकार मानव भी अपनी वंश-वृद्धि करता है।

शारीरिक रचना की दृष्टि से मानव तथा बन्दर, गोरिल्ला और शिम्पांजी आदि प्रकृति के प्राणियों में बहुत कुछ साम्य है। दोनों की ही खोपड़ी एवं अस्थि-कंकाल-रचना एक-सी होती है। मानव-शिशु गर्भावस्था में पहले बिना रीढ़ का होता है, पुनः उसमें रीढ़ बन जाती है और तदनन्तर उसके पूँछ निकल आती है, जो क्रमशः उसके शरीर में खप जाती है[3]।

कुछ दृष्टियों से मानव पीठ की रीढ़ वाले पशुओं की भाँति होता है। इन पशुओं के समान ही उसके शरीरांगों की संगति दो छोर वाली है। उन्हीं के सदृश ही मानव में भी वातिक-संस्थान होता है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार उक्त प्राणियों में वातिक-संस्थान समस्त शरीरावयवों के मध्य फैला हुआ होता है, ठीक उसी प्रकार मानव-शरीर की भी रचना होती है। पशु-जगत् की एक और व्यवस्था, जो मानव-जगत् के अत्यधिक निकट है, वह है उन प्राणियों की जो स्तनधारी

---

१. आर० डी० विद्यार्थी, प्राणिशास्त्र, भूमिका, पृ० १०-१२।
तथा
Paulkarrer, Text Book of Organic Chemistry, Inroduction.

२. ऋषिदेव विद्यालंकार, मानव-विज्ञान, पृ० १६।

३. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, मानव-शास्त्र, पृ० २६।

(Mammals) कहलाते हैं। भौतिक दृष्टिकोण से समानता की एक और व्यवस्था वानर-समुदाय में भी पाई जाती है। मनुष्य के समान ही उनमें भी दो हाथ और दो पैर पाये जाते हैं। हाव-भाव प्रकट करने, चेष्टाओं को प्रदर्शित करने तथा हस्त एवं पाद-रचना में वे बहुत कुछ मनुष्य के समान ही हैं। गिब्बन, गोरिल्ला तथा शिम्पांजी तो बिल्कुल ही मानव-सदृश प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि हक्सले ने एक बार स्पष्ट शब्दों में यह घोषित किया था कि पशु-जगत् के अन्य प्राणियों और इन प्राणियों में अत्यधिक भेद होने पर भी मानव और उनमें अधिक भेद परिलक्षित नहीं होता[1]।

किंतु इस सादृश्य का यह तात्पर्य नहीं कि उच्च श्रेणी के स्तनधारी (Mammals) प्राणी मानव-जाति के पूर्वज हैं। गिब्बन, गोरिल्ला तथा शिम्पांजी आदि प्राणी विकास के क्षेत्र में अपनी-अपनी विशेषताएँ रखते हैं। इसी प्रकार मानव-विकास का मार्ग भी अपने ही विशेष प्रकार का मार्ग है। वह अपने ही विशेष और आश्चर्यमय जाति-भेद के आधार पर पनपता आया है। उसमें कुछ अपनी ऐसी विशेषताएँ हैं, जिसके आधार पर वह पशु-जगत् से पृथक् हो जाता है। वह अपने दीर्घ मस्तिष्क, हस्त-पाद तथा अस्थि-रचना-भेद, सम्भाषण-योग्यता, केशादि प्राकृतिक आवरणों के अभाव, बुद्धि एवं ज्ञान की विशेषता, सामाजिक महत्व तथा आकृति-विकास आदि के कारण पशु-जगत् से बहुत कुछ भिन्न है[2]।

जहाँ तक मानव-विकास का सम्बन्ध है, वैज्ञानिकों में उसके विषय में मतभेद है। विकासवादी विद्वानों के अनुसार मानव-विकास का प्रारंभ पशु-जगत् से हुआ। उनका कथन है कि मानव अपनी प्रारंभिक अवस्था में लंगूर की शक्ल में था। किंतु क्रमशः उसके रूप में अनेक परिवर्तन होते गये और कालान्तर में वह अपने वर्तमान रूप को प्राप्त हुआ। चार्ल्स डार्विन ने अपने ग्रन्थ "मानव-पूर्वज" (Descent of Man) में यह स्पष्ट घोषित किया है कि मानवोत्पत्ति प्राचीन विश्व-वानर शाखा से हुई है[3]। इसी प्रकार सन् १८८३ ई० में राबर्ट हार्टमन ने वानर तथा

---

१. Huxley, T. H., Man's place in nature (London 1836)

२. ऋषिदेव विद्यालंकार, मानव-विज्ञान, पृ० २०-२४।

३. There can............hardly be a doubt that man is an offshoot from the old world simian stem; and that under a genealogical point of view he must be placed with the catarrhine division............If the anthropomorphous apes be admitted to form a natural subgroup............we may infer that some ancient member of the anthropomorphous subgroup gave birth to man.

........Charles Darwin, Descent of man, (London, 1871), Volume 1. page 196-197.

मानव-जाति को एक ही वर्ग के अन्तर्गत मानने का प्रस्ताव किया था[१]। इसके अतिरिक्त एच्० एच्० विल्डर ने भी अपने ग्रंथ "The pedigree of the Human Race" वानर श्रेणी के अतिरिक्त महाकाय वानरों को मानव के साथ एक ही परिवार का मानने पर बल दिया था[२]। किंतु प्राणि विज्ञान के विकास द्वारा यह स्पष्ट पता चलता है कि मानवोत्पत्ति का सम्बन्ध लंगूर से जोड़ना असंगत नहीं हास्यास्पद भी है। कोई भी प्राणि-विज्ञानी आज यह मानने को प्रस्तुत नहीं कि वर्तमान मानव प्राचीन गोरिल्ला अथवा गिब्बन से उद्भूत है।

पुरातन-विज्ञान (Paleontology), पुरातन-मानव-विज्ञान (Human-paleontology) तथा भू-गर्भ-विज्ञान ने भूमि के प्राचीन स्तरों, प्रस्तरित प्राणियों तथा प्रस्तरित मानव के अवशेषों के आधार पर प्रकृति के मानवेतर प्राणियों तथा मानव के प्राचीनतम इतिहास का विशद वर्णन करते हुए कल्पों का विभाजन इस प्रकार किया है—

१. *उष कल्प* (Eozoic)—सरलतम रूप के प्राणियों के आदि कल्प से भी पुरातन इस कल्प के प्रारम्भ की अवधि एक अरब पचास करोड़ वर्ष पूर्व मानी गई है।

२. *आदि कल्प* (Paleozoic)—मछलियों, ग्राहों, सरीसृप (Reptilless), अस्थि मत्स्य, उभयचर (Amphibians) आदि जीवों के इस युग के प्रारम्भ की अवधि ६२ करोड़ ५० लाख वर्ष पूर्व मानी गई है।

३. *मध्य कल्प* (Mesozoic)—इस कल्प के प्रारम्भ की अवधि १९ करोड़ वर्ष पूर्व मानी जाती है। इसमें विभिन्न प्रकार के वायवीय एवं भौतिक सरीसृप पक्षी तथा तथा आदिकालीन स्तनधारी आदि उत्पन्न हुए।

४. *नूतन कल्प* (Cenozoic)—इसका प्रारंभ ६ करोड़ वर्ष पूर्व हुआ। इसे ६ भागों में विभक्त किया जाता है—प्रादि नूतन (Eocene), आदि नूतन (Oligocene), मध्य नूतन (Miocene), अति नूतन (Pliocene), प्रति नूतन (Pleistocene) तथा सर्व नूतन (Holocene) इसमें टार्सियस, वानर, महाकाय वानर, वन-मानुष, तरुरोही वानर, मानवाकर प्राणी, वानर-मानव, प्राचीन मानव तथा आधुनिक मानव का प्रादुर्भाव हुआ।

श्री जी० ई० स्मिथ की धारणा है कि भूमिवासी बनने पर मानवाकार प्राणियों के हाथों के अधिकाधिक प्रयोग के साथ ही उनके मस्तिष्क तथा नेत्रों का भी क्रमशः

---

१ Robert Hartemann, Anthropoid Apes (English Translation, 1887).

२. H. H. Wilder, The Pedigree of the Human Race (1927)

विकास हुआ[१] किंतु श्री टी० एच० हक्सले चार हाथ वाले और दो हाथ वाले प्राणियों को पृथक्-पृथक् वर्गों में परिगणित करते हैं[२]। अतः यह बात विचारणीय है कि इन दो विभिन्न शाखाओं की एक पूर्वज शाखा कौन सी है। किंतु वानर तथा मानव के बीच की समानता उनके निकटतम सम्बन्ध को भले ही सूचित करती हो, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि मानव के पूर्वज यह वानर अथवा लंगूर न थे। केवल शारीरिक अंगों के सादृश्य के आधार पर ही एक वंशीय संबंध को सिद्ध नहीं किया जा सकता[३]।

(आ) दार्शनिक दृष्टिकोण

(क) *पाश्चात्य दर्शन*—एम्पेडाकिल्स तथा उसके अनुयायी पाश्चात्य दार्शनिकों के अनुसार सृष्टि के मूल रूप चार तत्व हैं, जो अपनी कुछ निजी विशेषताओं के कारण शाश्वत, अपरिवर्तनीय तथा अविनश्वर हैं। उन्हीं चतुष्तत्वों के संयोग तथा सम्मिश्रण से सृष्टि के विभिन्न पदार्थों एवं शरीरांगों का निर्माण होता है और उन्हीं के वियोग अथवा पृथक्करण से विनाश[४]। उनके संयोग तथा वियोग का कारण आकर्षण तथा विकर्षण की कल्पित शक्तियाँ हैं। प्रारंभिक अवस्था में, जब उक्त चतुष्तत्व परस्पर संयुक्त तथा चक्राकार रूप में थे, प्रेम (आकर्षण) उनका सर्वोच्च शासक था। किन्तु क्रमशः विकर्षण को उसमें उच्च से उच्चतर स्थान मिलता गया और उसने उक्त चतुष्तत्वों को विघटित कर दिया। इस समावस्था में, जब कि विश्व में विकर्षण (घृणा) और आकर्षण (प्रेम) दोनों के लिये ही स्थान है, पदार्थों तथा मानव-शरीरांगों की सत्ता है। किन्तु विकर्षण की पूर्ण विजय के समय, जब उक्त चतुष्तत्व विघटित हो जाते हैं, किसी भी पदार्थ अथवा प्राणी की सत्ता नहीं रह जाती। पुनः परिस्थिति परिवर्तित होने पर आकर्षण (प्रेम) का प्रवेश होता है और पदार्थों की सृष्टि होती है। तदनन्तर पृथक्करण की प्रक्रिया पुनः प्रारम्भ होती है और पुनः विकर्षण की विजय के समय पदार्थादि का विनाश होता है। इस प्रकार पूर्ण संयोग तथा पूर्ण वियोग (पृथक्करण) की दशा में व्यक्तिगत शरीरांगों तथा पदार्थादि का अस्तित्व नहीं होता। व्यक्तिगत शरीरावयवों तथा पदार्थादि के

१. The development of eye and brain also proceeded step by step with increasing use of the hands.

........Smith. G. E., The Evolution of Man, 2nd Edition, (London 1927)

२. T. H. Huxley, Man's place in nature (London (1936)

३. ऋषिदेव विद्यालंकार, मानव-विज्ञान, पृ० ६२।

४. A History of western philosophy by Bertrand, page 74.

अस्तित्व की दशा, जैसा कि वर्तमान विश्व की अवस्था से स्पष्ट है, आंशिक संयोग तथा आंशिक वियोग (पृथकीकरण) की दशा है[1]।

वर्तमान जगत् की निर्माण-प्रक्रिया में उक्त चतुष्तत्वों में से सर्वप्रथम वायु ने पृथक् होकर आकाश का निर्माण किया। पुनः अग्नि से नक्षत्र, जल से समुद्रादि, आकाशाग्नि द्वारा जल-तत्व के शोषण से निम्नतर वायु मण्डल तथा पृथ्वी तत्व से विभिन्न वनस्पति-पदार्थों एवं पशु-जगत् के शरीरांगों का निर्माण हुआ और कालान्तर में उन्हीं से समस्त मानवेतर चेतन प्राणी विकसित हुए[2]।

मानव-शरीर भी उन्हीं चतुष्तत्वों के संयोग का परिणाम है और यही कारण है कि मानव में उक्त तत्वों, उनसे निर्मित पदार्थों तथा मानवेतर प्राणियों के अभिज्ञान की सामर्थ्य है। समान तत्व का ज्ञान समान तत्व से ही होता है—पृथ्वी तत्व का ज्ञान मानव अपने शरीर में व्याप्त पृथ्वी-तत्व से, जल-तत्व का जल-तत्व से, वायु-तत्व का वायुतत्व से और अग्नि का अग्नि-तत्व से प्राप्त करता है[3]।

शेलिंग (Schelling) के अनुसार समस्त वस्तुओं का उद्गम एक क्रियमाण शक्ति, पूर्णेच्छा, आत्मा अथवा सर्वव्यापक विश्वात्मा है, जिसमें निखिल सृष्टि अपने शक्तिमय रूप में निवास करती है और जिससे समस्त भौतिक वस्तुओं की उत्पत्ति होती है। आदर्श और यथार्थ, विचार एवं सत्ता अपने मूल रूप में एक ही हैं। वही क्रियमाण शक्ति, जो स्वचेतन मस्तिष्क में अभिव्यक्त होती है, अप्रत्यक्ष रूप में इन्द्रिय-बोध, पशु-वर्ग की सहज प्रवृत्ति, प्राणि-विकास, रासायनिक प्रक्रियाओं, क्रिस्टल-निर्माण, विद्युत्-विकास तथा पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति में विद्यमान है। शेलिंग (Schelling) की इस अन्तर्दृष्टि ने कि प्रकृति दृश्यमान आत्मा है और आत्मा एक अदृश्यमान प्रकृति, स्वच्छन्दतावादी कल्पना के लिये एक विशेष उत्प्रेरणा प्रदान की और नवीन कवियों ने प्रकृति को चेतना तथा मस्तिष्क से युक्त बनाने तथा प्रेम एवं सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से देखने के लिये प्रोत्साहित किया। उसने यह स्पष्ट घोषित किया कि अचेतन प्रकृति से लेकर मानव तक सुव्यवस्थित पदार्थों की क्रमिक श्रेणियाँ स्पष्टतः एक क्रियमाण शक्ति का संकेत करती हैं। प्रकृति स्वचेतना के सर्वोच्च लक्ष्य को मानव में प्राप्त करती है। प्रकृति तथा मानव की मौलिक एकता मानव-स्वचेतना में प्रदर्शित होती है। प्रकृति की विभिन्न शक्तियाँ मूलतः एक ही हैं। ताप, प्रकाश, चुम्बकत्व (आकर्षण शक्ति), विद्युत्, चेतन तथा अचेतन प्रकृति सभी एक ही समान सिद्धान्त के विभिन्न सोपान हैं। प्रकृति से प्रादुर्भूत समग्र पदार्थ एक ही

---

१. A History of Philosophy By Frank Thilly, Page 42-43.

२. A History of Philosophy By Frank Thilly, Page 34.

३. A History of Philosophy By Frank Thilly, Page 43.

क्रियमाण शक्ति द्वारा नियंत्रित होते हैं। उसका प्रत्येक अंश पूर्ण की अधीनता में रह कर ही कार्यशील होता है। मानव उसकी सर्वोत्कृष्ट कृति है। उसमें उसे स्वचेतना के लक्ष्य-प्राप्ति की उपलब्धि होती है[१]।

सृष्टि-रचना के आदि तत्व के विषय में दार्शनिकों में अत्यधिक मत-वैभिन्य है। कोई उसे जल बताता है और कोई अग्नि। प्रसिद्ध दार्शनिक (Heraclitus) के अनुसार विश्व-सर्जन का आदि-तत्व शाश्वत गतिशील अग्नि-तत्व है, जो एक प्रकार से शाश्वत कर्मशीलता का प्रतीक तथा समस्त पदार्थों की अस्वीकृति का रूप मात्र है और जो क्रमशः जल तथा पृथ्वी-तत्व में रूपान्तरित होता हुआ पुनः अपने पूर्व रूप को प्राप्त होता है। उसका विभिन्न भौतिक पदार्थों के रूप में परिवर्तन तथा भौतिक पदार्थों का पुनः उसमें रूपान्तर उसी प्रकार होता रहता है, जिस प्रकार स्वर्ण से विभिन्न आभूषणादि का निर्माण तथा आभूषणादि का स्वर्ण-रूप में परिवर्तन[२]।

मानव सार्वभौमिक, शाश्वत एवं गतिशील आदि तत्व-अग्नि का ही अंश है। उसी से उसका पोषण होता है और उसी को वह श्वास एवं इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करता है। वह उस निशीथ कालीन प्रकाश के समान है, जो जला कर पुनः बुझा दिया जाता है। उसका नियंत्रक तत्व उसकी आत्मा है, जिसका सम्बन्ध दिव्य तर्क से है[३]।

सर्ववाद के समर्थक दार्शनिक जान स्कोटस एरीगेना (John Scotus Erigena) तथा उसके अनुयायियों के अनुसार मानव तथा प्रकृति दोनों ही ब्रह्म से ही आविर्भूत होते हैं, ब्रह्म में अवस्थित हैं और अन्ततः ब्रह्म में ही विलीन हो जायेंगे[४]। ब्रह्म ही बिना किसी पदार्थ के स्वांश से ही सृष्टि का निर्माण करता है और वही विश्व का अन्तिम लक्ष्य है। सृष्टि का आविर्भाव ब्रह्म से होता है, किन्तु वह उससे पृथक् नहीं। मानव तथा प्रकृति दोनों ही उसके शाश्वत वस्त्र-तुल्य हैं। ब्रह्म तथा उसकी सृष्टि में कोई भेद नहीं, ब्रह्म सृष्टि में है और सृष्टि ब्रह्म में[५]।

१. A History of Philosophy By Frank Thilly, Page 467-468.
२. A History of Philosophy By Frank Thilly, Page 34-35.
३ A History of Philosophy By Frank Thilly Page 34-35.
४. A History of Western Philosophy By Bertrand Russell, Page 425.
५. A History of Philosophy By Thilly and Ledger Wood, Page 2o3.

(ख) भारतीय दर्शन—

१. औपनिषदिक दर्शन—मानव, प्रकृति और उनके स्रष्टा (जगत् तथा जगदीश्वर) का सर्वत्रादी सम्बन्ध औपनिषदिक दर्शन में भी परिव्याप्त है। उपनिषदों के अनुसार परमात्मा विश्व में उसी प्रकार अन्तर्व्याप्त है, जिस प्रकार दूध में मक्खन विद्यमान रहता है। आत्मवाद के रूप में उनका चरम विज्ञानवाद यही संकेत करता है कि व्यक्ति और विश्व का वैभिन्य असत्य है। सत्य अमर एवं शाश्वत है। मानव और प्रकृति अथवा प्रकृति और मानव में कोई अन्तर नहीं। छान्दोग्य उपनिषद् के तीसरे अध्याय के चौदहवें खण्ड के प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि यह सारा जगत् ही ब्रह्म है, ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है, ब्रह्म में ही विलीन होगा ओर ब्रह्म में ही अवस्थित है[१]।

२. चार्वाक-दर्शन—चार्वाक दार्शनिकों के अनुसार विश्व-सृष्टि के मूल-तत्व पृथ्वी, जल, वायु तथा तेज हैं। उन्हीं के संघटन से संसार के विभिन्न पदार्थों तथा मानवांगों का निर्माण और विघटन से उनका विनाश होता है। उनका कथन है कि जिस प्रकार दो-चार वस्तुओं के मिलने से उनमें प्रत्येक में कोई मादकता-शक्ति न रहने पर भी उनकी सम्मिलित अवस्था में उसकी उत्पति हो जाती है, उसी प्रकार तत्वों के संघटन-विशेष में अचानक "चैतन्य" उत्पन्न हो जाता है[२]। दूसरे शब्दों में उनके अनुसार चेतना की उत्पत्ति तत्वों के सक्रम-संघात का ही परिणाम है। अतः मानव तथा प्रकृति में इस दृष्टि से बहुत कुछ साम्य एवं वैषम्य है।

३. न्याय तथा वैशेषिक दर्शन—न्याय तथा वैशेषिक तत्ववादी आत्मा, परमात्मा तथा विश्व (प्रकृति) की भिन्नता सत्य मानते हुए यूनानी दार्शनिक अरस्तू के समान सभी तत्वों को यथार्थ मानते हैं। उनके अनुसार मानव (आत्मा), प्रकृति और परमात्मा तीनों ही सत्य हैं और उनकी दृश्यमान भिन्नता भी सन्देह का विषय नहीं।

४. सांख्य-दर्शन—सांख्यवादियों की प्रकृति में समस्त सृष्टि अन्तर्भूत है। उनके अनुसार मानव-शरीर, उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार आदि सभी प्रकृति के ही अन्तर्गत हैं। प्रकृति और पुरुष के गुणों में वैपरीत्य है। पुरुष और प्रकृति के संयोग से 'अंध पंगुल न्यायेन' सृष्टि का क्रम चलता है[३]। पुरुष अविकारी है। प्रकृति विकारी न होने पर भी उसके सम्पर्क में आकर महतत्व, अहंकार, पंच तन्मात्राओं तथा पंच-भूतों आदि की सृष्टि का कारण बनती है।

---

१. सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शांत उपासीत।
छान्दोग्य उपनिषद, अध्याय ३, खण्ड १४, मंत्र १, उपनिषद् भाष्य, पृ० ३०३।

२. सायण माधवाचार्य कृत, सर्वदर्शन-संग्रह, सम्पादक वासुदेव शास्त्री, अध्याय १, पृ० ७।

३. सर्वदर्शन-संग्रह, सांख्य-दर्शन, पृ० ३२६।

५. *अद्वैत-दर्शन (शांकर वेदान्त)*—आचार्य शंकर के मतानुसार अद्वैत-वाद ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य है। उनके अनुसार ब्रह्म सत्य है, संसार मिथ्या[1]। दृश्यमान जगत् (मानव तथा प्रकृति) स्वप्न में देखे गये पदार्थों के समान मिथ्या है; उसके विभिन्न रूप जीव को वैसे ही दिखाई पड़ते हैं, जैसे किसी शीश-महल में खड़े हुए व्यक्ति को अपने ही अनेक प्रतिबिम्ब। जीव ब्रह्म है (अहं ब्रह्मास्मि[2]) और वह ईश्वर से भिन्न नहीं। इस प्रकार उनके अनुसार मानव, प्रकृति और ईश्वर (जगत् और जगदीश्वर) में कोई वैभिन्य नहीं, सभी एक हैं।

६. *विशिष्टाद्वैत-दर्शन (रामानुज-वेदान्त)*—विशिष्टाद्वैतवाद के प्रवर्तक आचार्य रामानुज के अनुसार मानव (चित्) तथा प्रकृति (अचित्) दोनों ही ब्रह्म से निर्मित, ब्रह्म के अधीन और ब्रह्म के ही द्वारा शासित हैं[3]। प्रलय होने पर वे ब्रह्म में विलीन होकर भी उससे अभिन्न न होकर सृष्टि के समय पुनः पृथक् हो जाते हैं, अद्वैतवाद के समान अपना अस्तित्व नहीं खो देते। यद्यपि वे दोनों ही एक ही तत्व परब्रह्म से निर्मित होने के कारण अभिन्न तथा अद्वैत हैं, तथापि उनका अन्तर मायाजनित नहीं है। उनकी एकता तथा भिन्नता विशिष्ट है और यही कारण है कि उनका सिद्धान्त विशिष्टाद्वैतवाद कहलाता है।

७. *भेदाभेद अथवा द्वैताद्वैत-दर्शन (भास्कर-वेदान्त)*—इस मत के प्रवर्तक आचार्य निम्ब के अनुसार मानव (चित्) तथा प्रकृति (अचित्) ब्रह्म से भिन्न हैं, किंतु भिन्न होते हुए भी दोनों ही ब्रह्मात्मक हैं। अपने उदर से निष्कासित जाले के भीतर रमण करनेवाली मकड़ी जिस प्रकार जाले से भिन्न भी है और अभिन्न भी, उसी प्रकार मानव (जीव) तथा प्रकृति भी ब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी। मानव तथा प्रकृति दोनों ही ब्रह्म के अंश हैं और ब्रह्म के ही अधीन हैं। मानव उसके चित् तत्व से और प्रकृति अचित् तत्व से प्रादुर्भूत होती है।

८. *द्वैत-दर्शन (माध्व वेदान्त)*—इस सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य मध्य के अनुसार मानव तथा प्रकृति दोनों ही ईश्वर से भिन्न हैं। ईश्वर का जीव से, जीव का ईश्वर से, जड़ का ईश्वर से, ईश्वर का जड़ से, जड़ का जीव से, जीव का जीव से और जड़ का जड़ से दृश्यमान पार्थक्य सत्य है। परमात्मा नित्य तथा अनन्त गुणयुक्त है और सृष्टि, स्थिति, संहार तथा नियमन आदि ८ प्रकार के कार्यों का कर्ता है। मानवात्माएँ मुक्ति योग्य, नित्य संसारी तथा तमोयोग्य तीन प्रकार की और प्रकृति जड़ एवं चेतन दो प्रकार की होती है। जड़ प्रकृति की सृष्टि परमात्मा

---

१. श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रंथकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव ना परः —शंकराचार्य।

२. ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, संपादक महादेव शास्त्री, पृ० ५२७।

३. सायण माधवाचार्य कृत सर्वदर्शन-संग्रह, पृ० ११५।

के संकेत से लक्ष्मी तथा उनसे उद्भूत ब्रह्मा द्वारा त्रिगुणों से की जाती है और उन्हीं त्रिगुणों से ही महत्तत्व, अहंकार, बुद्धि तथा मन आदि की उत्पत्ति होती है।

६. *शुद्धाद्वैत-दर्शन (वाल्लभ वेदान्त)*—शुद्धाद्वैत के प्रवर्तक आचार्य वल्लभ के अनुसार ब्रह्म सत चित् तथा आनन्दमय है। उसके सत् गुण के आविर्भाव तथा चित् एवं आनंद के तिरोभाव से प्रकृति की और सत् एवं चित् के अविर्भाव तथा आनन्द गुण के तिरोभाव से मानव (जीव) की उत्पत्ति होती है। ब्रह्म सहस्त्रों नित्य गुणों से युक्त, सजातीय-विजातीय और स्वगत द्वैत रहित अद्वैत है। सजातीय चेतन सृष्टि उससे भिन्न नहीं, विजातीय जड़ सृष्टि उससे पृथक् नहीं और स्वगत अंतर्यामी रूप भी उससे भिन्न नहीं[1]। अपनी इच्छा मात्र से विभक्त होनेवाला ब्रह्म समस्त विश्व का आधारभूत, माया का स्वामी, आनन्दस्वरूप, समस्त प्रपंचों से, परे, स्वरचित लीला में नित्य मग्न रहनेवाला तथा सत्, चित् एवं आनंद रूप में सर्वव्यापक अपने तीन रूपों में विश्व में प्रकट होनेवाला है। मानव और प्रकृति की उत्पत्ति उससे उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार अग्नि से स्फुलिंगों[2] अथवा स्वर्ण से आभूषणों की।

(ग) अन्य दर्शन—

(क) *एकेश्वरवादी दार्शनिक*—एकेश्वरवादी विचारों के अनुसार ईश्वर, मानव तथा प्रकृति तीनों की पृथक्-पृथक् सत्ता है। उनका विचार है कि प्रकृति जड़ एवं भोग्य सामग्री है; जीव उसका उपभोक्ता है और परमात्मा, प्रकृति और मानव दोनों से भिन्न, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक तथा मानव एवं मानवेतर प्रकृति का नियन्ता है।

(ख) *रहस्यवादी दार्शनिक*—रहस्यवादी विचारधारा का मूलाधार एक प्रकार से सर्ववाद ही है। उसके अनुसार मानव तथा प्रकृति-समग्र सृष्टि का मूलोद्गम परमात्मा है। उसका अन्तिम लक्ष्य अपने प्रियतम परमात्मा से मिलकर उसके दिव्य संयोगानन्द का अनुभव करना तथा उसे आत्म-समर्पण करके तदाकार हो जाना है। यही कारण है कि मानव तथा प्रकृति निखिल सृष्टि उससे वियुक्त होकर अनन्त दुःख का अनुभव करती हुई उसकी प्राप्ति के लिये सतत प्रयत्नशील रहती है। "रहस्यवादी को न तर्क का ज्ञान होता है और न सृष्टि के लक्ष्य का; वह न तो परमात्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने की सामर्थ्य रखता है और न आत्मा की अमरता

---

१. सजातीयविजातीयस्वगतद्वैतवर्जितम्। सत्यादिगुणसाहस्त्रैर्युक्तमौत्पत्तिकैः सदा।
—तत्वदीप निबन्ध, शास्त्रार्थ-प्रकरण, ज्ञानसागर, बम्बई, पृ० २२१।

२. विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु सदंशेन जडा अपि। आनंदांशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिणः।
—तत्वदीप निबन्ध, शास्त्रार्थ-प्रकरण, ज्ञानसागर, बम्बई, पृ० ९२।

को। उसका विचार है कि दार्शनिक प्रमाण उसे सत्य-रूप परमात्मा तक भले ही पहुँचा दें, किन्तु प्रेम-स्वरूप परमात्मा तक पहुँचाने की उनमें सामर्थ्य नहीं[१]।"

(ग) *दार्शनिक पैरासेलसूज*—दार्शनिक पैरासेल्सूज के अनुसार मानव एक माइक्रोकौज्म (Microcosm) अथवा सूक्ष्म मूर्ति है और प्रकृति ब्रह्माण्ड अथवा विश्व। हम विश्व, ब्रह्माण्ड अथवा प्रकृति का अध्ययन मानव के अध्ययन द्वारा और मानव का अध्ययन प्रकृति अथवा विश्व के अध्ययन द्वारा कर सकते हैं। मानव नक्षत्र-प्रदेश से प्राप्त दृश्यमान शरीर तथा ब्रह्म अथवा परमेश्वर से उद्भूत आत्मा से युक्त है। चतुष्तत्वों के विषय में उसका कथन है कि प्रत्येक तत्व की अधिष्ठात्री एक दिव्य शक्ति है, जो उसका नियंत्रण तथा शासन करती है। जल-तत्व का शासन वरुण, पृथ्वी का पृथ्वी माता, अग्नि का अग्निदेव और वायु का पवनदेवी द्वारा होता है[२]।

(इ) साहित्यिक दृष्टिकोण

'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः' के अनुसार यदि यह कहा जाय कि साहित्य रूपी हाथी के पद में धर्म, दर्शन, विज्ञान आदि समस्त ज्ञानांगों के पद समाहित हैं, तो कदाचित् कोई अत्युक्ति न होगी। कवि दर्शन, धर्म, आचार, विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, इतिहास, पुराण आदि ज्ञान के समस्त उद्गमों से तथ्यों का संकलन करता है। और जीवन को स्वानुभूति एवं भावुकता की कसौटी पर कस कर, कल्पना के वायवीय ताने-बाने से बुनकर, प्रतिभा के इन्द्र-धनुषी रंगों से रंगकर, कला के स्वर्णावरण से आवेष्टित कर अध्येताओं के समक्ष प्रस्तुत कर उनके जीवन-मार्ग का अंधकार दूर कर उस पर चलने की प्रेरणा देकर विश्व-मांगल्य में योग देता है। गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस के प्रारंभ की यह घोषणा इसी तथ्य की पुष्टि करती है—

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति[३] ॥ ७ ॥

तथा

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई[४]।

महात्मा सूरदास का यह कथन इसी सत्य की ओर इंगित करता है—

---

१. A History of philosophy by frank thilly, page 318.
२. A History of philosophy by frank thilly, page 268.
३. तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० ३०।
४. तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० ४६।

श्री मुख चारि स्लोक दए ब्रह्मा कौं समुझाइ।
ब्रह्मा नारद सौं कहे, नारद ब्यास सुनाइ।
ब्यास कहे सुकदेव सौं द्वादस स्कंध बनाइ।
सूरदास सोई कहै पद भाषा करि गाइ[1] ।।

शृंगार-सरोवर में आपाद-चूड़ निमग्न श्लीलता-अश्लीलता की चिन्ता न करनेवाले रसिक-प्रवर बिहारी की जिस सतसई को समुद्र में डुबा देने के लिये धर्माचार्यों एवं नीति-निष्ठ समालोचकों का आग्रह है, उसमें समाहित नीति, सदाचार, भक्ति, इतिहास, पुराण एवं धर्म-ग्रन्थों के राशि-राशि ज्ञान-रत्न इसी वास्तविकता की अभिव्यक्ति हैं।

तात्पर्य यह कि मानव तथा प्रकृति समग्र सृष्टि का सम्यक् विवेचन काव्य-कार का लक्ष्य है और वह इस विषय में अपनी विभिन्न प्रकार की भाव-धाराएँ प्रस्तुत कर सकता है और करता है। कभी वह अपने विषय पर दार्शनिक दृष्टि-बिन्दु से विचार करता है, कभी वैज्ञानिक रूप से दृष्टिपात करता है, कभी व्यावहारिक दृष्टिकोण से उसका विवेचन करता है और कभी उसे विशुद्ध भावात्मक रूप में प्रस्तुत करता है ; काव्य-संसार की वस्तु बनाने के लिये, काव्यात्मकता लाने के लिये, साहित्यिक अलंकृत शैली की नियोजना, कल्पना के वायवीय ताने-बाने, प्रतिभा के बहुरंगी वैभव, भाषा की समृद्धि तथा अपने हृदय की भावुकता का आश्रय लेता है ; वर्ण्य वस्तु अथवा विषय के सम्बन्ध में केवल इतना ही ध्यान रखता है कि तथ्य सम्भावित हों असम्भावित नहीं।

हिन्दी-काव्य में मानव तथा मानवेतर प्रकृति का विवेचन प्रायः सभी दृष्टि-बिन्दुओं से हुआ है—कहीं उन पर दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार किया गया है, कहीं वैज्ञानिक दृष्टि से और कहीं साहित्यिक अथवा विशुद्ध भावात्मक दृष्टि से। दार्शनिक विवेचन कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, नन्ददास आदि अनेक कवियों ने प्रचुरता से किया है। कबीर के अनुसार इस निखिल सृष्टि की उत्पत्ति जल-तत्व-रूप परमात्मा से हुई है ; उसी में मानव, प्रकृति समग्र सृष्टि का निवास है ; उसी में अथवा उसी से अखिल सृष्टि का लालन-पालन तथा रक्षण होता है और उसी में उसके समस्त कार्य-कलाप होते हैं[2] । जायसी के अनुसार आदि कर्ता निराकार ब्रह्म अग्नि,

---

१. सूर, सूरसागर, ना० प्र० स० प्रथम स्कंध, पद २२५, पृ० ११६।

२. काहे री नलिनीं तूं कुमिलानीं,
तेरेहिं नाल सरोवर पानीं।
जल मैं उतपति, जल मैं बास,
जल मैं नलिनीं तोर निवास।।

—कबीर, कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १०८।

वायु, जल एवं पृथ्वी इन चार तत्वों से सृष्टि की रचना करता है और स्वयं भी उसी में अन्तर्व्याप्त हो जाता है[१]। उनके अनुसार इन चतुष्तत्वों में भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण पवन तत्व है। वही मानव, प्रकृति निखिल सृष्टि का मूल है। वही मानव, प्रकृति दोनों में ही परिव्याप्त है[२]। जीवों का स्वामी आदि कर्ता ब्रह्म उसी से विद्युत् का निर्माण करता है; उसी से मेघों की सृष्टि करता है; उसी से सृष्टि के प्राणियों को चलाता है और उसी से अग्नि, जल, पृथ्वी तथा सृष्टि के इतर पदार्थों एवं प्राणियों की रचना करता है[३]।

महात्मा सूरदास के अनुसार प्रकृति, पुरुष तथा ब्रह्म तीनों एक ही सत्ता के विभिन्न रूप हैं[४]। रस-मग्न ब्रह्म अपनी इच्छा-शक्ति से स्वांश रूप से सृष्टि का आविर्भाव करता है। सृष्टि के आदि में निरंजन, निराकार ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी भी सत्ता का अस्तित्व नहीं होता। अखण्ड ब्रह्म ही अपनी इच्छा से सृष्टि-विस्तार के लिये अपने निर्गुण तत्व से महतत्व, महतत्व से अहंकार, मन, इन्द्रिय, शब्दादि पंच-तन्मात्राएँ, शब्दादि से पंच-भूत और पुनः उन सबसे एक अण्ड की सृष्टि करता है और स्वयं भी उसी स्वांश-रूप अण्ड में अन्तर्व्याप्त हो जाता है[५]। वही अलक्ष्य ब्रह्म विश्व की सृष्टि करके उसका पालन-पोषण करता तथा कालान्तर में उसका संहार करके पुनः सृष्टि-रचना करता है। यह समग्र विश्व-कुटुम्ब उसी से

१. आगि, बाउ, जल, धूरि, चारि मेरइ भाँड़ा गढ़ा।
आपु रहा भरि पूरि मुहमद आपुहिं आपु महँ॥
—जायसी, अखरावट, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ३०६।

२. सुनु चेला यह जग कर अवना। सब बादर भीतर है पवना॥
पवनहि महँ जो आप समाना। सब भा बरन ज्यों आप समाना॥
—जायसी, अखरावट, जायसी ग्रन्थावली, पृ० ३०६।

३. जायसी-ग्रंथावली, अखरावट, पृ० ३३७

४. सकल तत्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति, पुरुष, श्रीपति नारायण सब हैं अंश गोपाल॥
—सूर-सारावली, उपसंहार, मीतल, पृष्ठ ८७, छन्द ११००।

५. आदि निरंजन निराकार कोउ हुतौ न दूसर।
रचौं सृष्टि बिस्तार भई इच्छा इस औसर॥
निर्गुण तत्व तैं महतत्व, महतत्व ते अहंकार।
मन - इन्द्री-सब्दादि-पँच, तातैं कियो बिस्तार॥
सब्दादिक तैं पंच भूत सुन्दर प्रगटाए।
पुनि सब कौं रचि अण्ड, आप मैं आपु समाए॥
—सूरसागर, बाजपेयी, पहला खण्ड, द्वितीय स्कन्ध, पृ० १२६।
ना० प्र० स०, सं० वि० २०१५।

उद्‌भूत होकर उसी में विलीन हो जाता है, ठीक वैसे ही जैसे जल से उत्पन्न बुलबुले पुनः उसी में अन्तर्हित हो जाते हैं[१]। इसके अतिरिक्त तैतिरीय उपनिषद् के "एकोऽहं बहुस्याम्[२]", गीता के "अहंकृत्नस्य जगत : प्रभवः प्रलयस्तथा[३]" तथा "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते[४]" और तत्वदीप निबन्ध के शास्त्रार्थ प्रकरण के "विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु संदर्शन जड़ा अपि। आनंदांशम्वरूपेण सर्वान्तर्यामि-निरूपिणः[५]" की विचारधारा का पोषण भी सूर ने अनेक स्थलों पर किया है।

गोस्वामी तुलसीदास इस विषय में विशिष्टाद्वैतवादी हैं। उनके अनुसार चेतन, निर्मल, सुख-राशि, अविनश्वर जीव ईश्वर का ही अंश है, जो माया के वशीभूत होकर कीर तथा मर्कट के समान बँधकर उसकी अनेक प्रकार से गुलामी करता है, उसके संकेत पर अनेक प्रकार के नाच नचाता है।

ईस्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी।
जो माया बस भयउ गोसाईं। बंधेव कीर मरकट की नाँईं[६]॥

नन्ददास के अनुसार नित्य, अखण्ड, आत्मानन्द, एक रस ब्रह्म ही मानव तथा प्रकृति (अखिल सृष्टि) में अन्तर्व्याप्त है। वही परम पुरुष समस्त जड़-चेतन सृष्टि की रचना का कारण है; वही उसका पालनकर्ता, तारने वाला तथा संहार करने वाला है; काल का विस्तार उसकी लीला है; प्रकृति, शक्ति, सत्, रज, तम, जीव, जीवन सब कुछ वही है[७]। उस अखण्ड आत्मानन्द ब्रह्म से मानव एवं प्रकृति (जीव तथा जगत्) की सृष्टि उसी प्रकार होती है जैसे स्वर्ण से आभूषणों की[८]। जिस प्रकार

१. प्रभु तुव मर्म समुझि नहिं परै।
जग सिरजत, पालत, संहारत, पुनि क्यों बहुरि करै॥
ज्यों पानी में होत बुदबुदा, पुनि ता माहिं समाइ।
त्यौं सब जग प्रगटत तुम ही तैं, पुनि तुम माहिं बिलाइ॥
—सूरसागर, बाजपेयी, पहला खण्ड, द्वितीय स्कन्ध, द्वितीय भाग, दशम स्कंध उत्तरार्ध पृ० १७१३।

२. तैतिरीय उपनिषद् २-६।

३. गीता, अध्याय ७, श्लोक ६।

४. गीता, अ० ७, श्लोक ६।

५. वल्लभाचार्य, तत्वदीप निबन्ध, पृ० ६२।

६. तुलसी, रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड पृ० ६८२।

७. नंददास, भाषा दशम स्कंध, दशम अध्याय, नन्ददास-ग्रन्थावली, ब्रजरत्नदास, पृष्ठ २२०।

८. एकहि वस्तु अनेक हैं, जगमगात जगधाम।
ज्यों कंचन तैं किंकिणी, कंकण कुण्डल नाम॥
—अनेकार्थ मंजरी, मंगलाचरण, दोहा नं० २, नन्ददास-ग्रंथावली, दास, पृ० ४१।

विभिन्न सरिताओं के रूप में प्रवहमान जल सागर में पहुँच कर अपना अस्तित्व खोकर तदाकार होता है, उसी प्रकार मानव तथा प्रकृति समस्त सृष्टि भी अन्ततः अपने मूल स्रष्टा ब्रह्म से मिल कर उसी में तिरोहित हो जाती है। जिस प्रकार अग्नि से अनेक दीपक जलते हैं और अन्ततः अपने उसी मूल अग्नि-रूप में अन्तर्भूत होकर उससे तादात्म्य स्थापित करते हैं, उसी प्रकार यह सृष्टि भी ब्रह्म से ही उद्भूत होकर उसी में समाहित हो जाती है[1]।

सर्जन के मूल तत्वों के विषय में नन्ददास का श्रीकृष्ण-वन्दना विषयक निम्नांकित पद अत्यधिक प्रसिद्ध है। इसमें उन्होंने आचार्य वल्लभ द्वारा वर्णित २८ तत्वों में से पंच तन्मात्राओं, पंच महाभूतों, पंच ज्ञानेंद्रियों, पंच कर्मेन्द्रियों तथा अहंकार, महत्तत्व, सत्, रज, तम एवं मन इन २६ तत्वों का उल्लेख किया है—

जै जै जै श्री कृष्ण रूप गुन करन अपारा।
परम धाम जग धाम परम अभिराम उदारा।

× × ×

रूप, गन्ध, रस, शब्द, स्पर्श जे पंच विषय वर,
महाभूत पुनि पंच पवन, पानी अम्बर, धर।
दस इन्द्रिय अरु अहंकार महत्तत्व त्रिगुन मन,
यह सब माया कर विकार कहैं परम हंस गन[2]।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' के अनुसार मानव तथा प्रकृति अखिल सृष्टि में ब्रह्म की सत्ता अन्तर्व्याप्त है; सूर्य चन्द्र, नक्षत्र तथा मुनियों के मानस उसी परम तत्व की ज्योति से देदीप्यमान हैं[3]। मानव तथा मानवेतर प्रकृति-सृष्टि रूपी इस विश्व-वाटिका का स्रष्टा, पोषणकर्त्ता, माली तथा स्वामी इसमें व्याप्त वही विश्व-रूप,

१. ज्यों अनेक सरिता जल बहै, आन सबै सागर में रहै।
× × ×
अग्नि ते अनगन दीपक बरैं, बहुरि आप सब तिनमें ररैं॥
नन्ददास, रसमंजरी, नन्ददास-ग्रन्थावली, दास, पृ० १२६।

२ नन्ददास, श्री कृष्ण-सिद्धान्त-पंचाध्यायी, छन्द १, नंददास-ग्रन्थावली, दास, पृ० ३१।

३. पावक, समीर, नीर, भूतल, अकास माहिं,
भानु में, छपाकर में वृन्द वृन्द तारन में।
जगत चराचर में रावरी जगत ज्योति,
"पूरन" मुनीस वृन्द मानस अगारन में॥
—देवीप्रसाद, पूर्ण, पूर्ण-संग्रह, पृ० ८६।

वही आदि शक्ति है[1]। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के अनुसार मानव तथा प्रकृति सृष्टि के विभिन्न रूप उसी विराट विश्वात्मा के रूपान्तर हैं[2]। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि, पृथ्वी, जल, समीर, आकाश, वृक्ष तथा समस्त प्राणियों में उसी सच्चिदानन्द ब्रह्म की ही प्रभुता व्याप्त है—

ताराओं में तिमिरहर में वन्हिन में औ शशी में,
पाई जाती परम रुचिरा ज्योतियाँ हैं उसी की।
पृथ्वी, पानी, पवन, नभ में पादपों में खगों में,
देखी जाती प्रथित-प्रभुता विश्व में व्याप्त की है[3]।

जैसा कि कहा गया है—काव्यकार अपने काव्य में वैज्ञानिक तथ्यों की भी अभिव्यक्ति करना अपना कर्तव्य समझता है; अन्य सत्यों की भाँति ही वैज्ञानिक तथ्यों का उद्‌घाटन-विवेचन और अनुसंधान द्वारा उद्‌घाटित परिस्थितियों के मार्मिक रूपों का प्रत्यक्षीकरण भी कराता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन काव्य की इसी व्यापकता की ओर संकेत करता है—

"आरम्भ में मनुष्य की चेतन सत्ता अधिकतर इन्द्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप में ही रही। फिर ज्यों-ज्यों अन्तःकरण का विकास होता गया और सभ्यता बढ़ती गई, त्यों-त्यों मनुष्य का ज्ञान बुद्धि-व्यवसायात्मक होता गया। अब मनुष्य का ज्ञानक्षेत्र बुद्धि-व्यवसायात्मक या विचारात्मक होकर बहुत ही विस्तृत हो गया है। अतः उसके विस्तार के साथ हमें अपने हृदय का विस्तार भी बढ़ाना पड़ेगा। विचारों की क्रिया से, वैज्ञानिक विवेचन और अनुसंधान द्वारा उद्‌घाटित परिस्थितियों और तथ्यों के मर्मस्पर्शी पक्ष का मूर्त और सजीव चित्रण भी—उसका इस रूप में प्रत्यक्षीकरण भी कि वह हमारे किसी भाव का आलम्बन हो सके—कवियों का काम और उच्च काव्य का एक लक्षण होगा[4]।"

---

१. जगत की वाटिका को सार सब भाँति तू ही,
तू ही ब्रह्म 'पूरन' करत रखवाली है।
भृंगन पतीर तू ही, भीर है बिहंगन की,
सौरभ समीर तू ही, स्वामी तू ही माली है॥
—देवीप्रसाद, पूर्ण, पूर्ण-संग्रह, पृ० ६७।

२. विश्वात्मा जो परम-प्रभु है, रूप तो हैं उसी के।
सारे प्राणी, सरि, गिरि, लता, बेलियाँ, वृक्ष-नाना।
—प्रिय प्रवास, सर्ग १६, छंद ११७।

३. 'हरिऔध' 'प्रिय-प्रवास', सर्ग १६, छन्द ११०।

४. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'कविता क्या है', चिन्तामणि, भाग १, पृ० १५७।

हिंदी-काव्य में जायसी का "आगि, बाउ, जल, धूरि, चारि मेरइ भाँड़ा गढ़ा[१]", तुलसी का 'छिति जल पावक गगन समीरा, पंच रचित यह अधम सरीरा[२]', देव का 'ह्वै उपजे रज बीज ही तें, बिनसे हू सबै छिति छार के छाँड़े[३] और नीरज का:—

'सूरज से प्राण, धरा से पाया है शरीर
ऋण लिया वायु से है हमने इन साँसों का,
सागर ने दान दिया है आँसू का प्रवाह
नभ ने सूनापन विकल विधुर उच्छ्वासों का ।
जो जिसका है उसको उसका धन लौटाकर
मृत्यु के बहाने हम ऋण यहीं चुकाते हैं[४] ।'

कथन इस वैज्ञानिक विचारधारा, इस शाश्वत तथ्य की अभिव्यक्ति करता है, इस सत्य का परिचायक है कि मानव-शरीर विभिन्न प्रकृति-तत्वों का संघात है; मानव उनके संघटन से जीवन और विघटन से मृत्यु को प्राप्त होता है; उसके शरीर में व्याप्त उसके निर्माणक तत्वों की स्थिति जिस प्रकार उसके शरीर में है, उसी प्रकार बाह्य प्रकृति के जड़ अंशों में भी और मानव तथा प्रकृति का दृश्यमान वैभिन्य मानव-मृत्यु के अनन्तर समाप्त हो जाता है । इन्हीं वैज्ञानिक तथ्यों की व्यंजना उर्दू के लब्ध-प्रतिष्ठित कवि चकबस्त ने अपनी निम्नांकित पंक्तियों में की है:—

ज़िन्दगी क्या है ? अनासिर में जहूरे तरतीब ।
मौत क्या है ? इन्हीं अजज़ाँ का परेशाँ होना[५] ॥

कवि प्रजापति है, काव्य-संसार का स्रष्टा है—'अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः, यथास्मै रोचते विश्वं तथेदम् परिवर्तते'[६] । अतः वह व्यवहार-जगत् के विभिन्न तथ्यों का उद्घाटन करके मानव-मांगल्य में केवल अपना महत्वपूर्ण योग ही नहीं देता, प्रत्युत उसके जीवन का पुनर्निर्माण भी करता है । यद्यपि तत्वतः सत्य एक है और वही एक सत्य अखिल जड़-चेतन, क्षर-अक्षर, अनन्त-सांत सभी में अन्त-र्व्याप्त है, तथापि व्यावहारिक जगत् में उसको लेकर आगे बढ़ सकना दुष्कर है । दार्शनिक तथ्यों को लेकर, मानव स्वयं को ब्रह्म समझकर, विश्व को मिथ्या मानकर, कर्म-क्षेत्र में अग्रसर नहीं हो सकता, भौतिक कल्याण के विभिन्न आदर्शों को कार्य-रूप में परिणत करके जीवन को मंगलमय बनाने में अपना सक्रिय योग नहीं दे सकता । विश्व को सत्य मानकर ही, समस्त जगत् के विभिन्न चेतन प्राणियों को एक ही विश्व-

१. जायसी, अखरावट, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ३०६ ।
२. तुलसी, रामचरितमानस, किष्किंधाकाण्ड, पृ० ६६५ ।
३. देव, देव-सुधा, पृ० २१, छन्द ६ ।
४. नीरज, मृत्युगीत, दो गीत, पृ० २७ ।
५. चकबस्त लखनवी, चकबस्त लखनवी और उनकी शायरी, पृ० ८६ ।
६. अग्निपुराण ३३६ । १० ।

कुटुम्ब के सदस्य समझ कर ही, मानव जागतिक कल्याण में अपना योग दे सकता है। अतः कवि अपने काव्य-संसार में मानव तथा प्रकृति के वैभिन्य को सत्य मानकर ही अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये प्रयासशील होता है और विभिन्न व्यावहारिक सत्यों तथा जीवन की शाश्वत समस्याओं को सुलझाने के प्रसाधन प्रस्तुत करके संसार को मंगलोन्मुख करता है। सूर, तुलसी, केशव, हरिऔध, गुप्त, प्रसाद, पंत आदि कवियों का काव्य इसका उत्कृष्ट प्रमाण है।

अपनी भाव-रस-धारा में निमग्न आत्म-विभोर भावुक कवि मानव तथा प्रकृति को विभिन्न दृष्टियों से देखता है। कभी वह प्रकृति को मानवीय धरातल पर लाकर उसमें समान भाव, गुण, कार्य, आकृति, वेश-भूषा आदि का दर्शन करता हुआ मानव तथा प्रकृति का तादात्म्य स्थापित करता है; कभी मानव को प्रकृति के धरातल पर ले जाकर उसके अंग-प्रत्यंग, रूप-लावण्य, भाव-गुण, कार्य-व्यापार आदि के आधार पर उसका प्रकृतीकरण करता हुआ दोनों का अभेद दर्शाता है; कभी प्रकृति को मानवीय सुख-संवर्द्धन के उपकरणों के रूप में मानव-कार्य-व्यापारों की पृष्ठभूमि के रूप में, मानव-भावों के आलम्बन-रूप में, जागृत भावों के उद्दीपन रूप में अथवा शोक-संतप्त मानव के प्रति सम्वेदनात्मक रूप में अंकित-चित्रित करता है, और कभी मानव को दुःख विह्वला प्रकृति के प्रति सम्वेदनशील रूप में देखता हुआ उसके कष्ट-मोचन एवं सुख-समृद्धि के लिए प्रयत्नशील रूप में प्रस्तुत करता है। कभी वह मानव के रूप-वैभव से चमत्कृत होकर प्रकृति को उसकी तुलना में हेय घोषित करता है—

सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर,
मानव ! तुम सब से सुन्दरतम,
निर्मित सबकी मृदु सुषमा से,
तुम निखिल सृष्टि में चिर निरुपम।
यौवन ज्वाला से वेष्टित तन,
मृदु त्वच सौन्दर्य, प्ररोह अंग,
न्योछावर जिन पर निखिल प्रकृति,
छाया प्रकाश के रूप रंग[१]।

तथा

मानव की सजीव सुन्दरता
नहीं प्रकृति दर्शन में[२]।

मानव की सौंदर्य-महत्ता, उसकी पूर्णता के समक्ष प्रकृति को नत अनुभव करता है, विजित-पराजित अंकित करता है—

---

१. सुमित्रानन्दन पंत, मानव, युगपथ, पृ० ५०।

२. सुमित्रानंदन पंत, गंगा की साँझ, युगवाणी, पृ० २०।

हार गईं तुम प्रकृति ।
रच निरुपम
मानव-कृति !
निखिल रूप, रेखा, स्वर
हुए निछावर
मानव के तन, मन पर[१] ।

मानव उसके लिए प्रकृति का आदर्श शिक्षक बन जाता है और प्रकृति उससे हँसना, रोना, मिलन-सुख में आत्म-विभोर होना, जीवन-मधु-पान करके प्रणय-गीत गाना आदि सभी कुछ सीखती है[२] ।

इसके विपरीत कभी उसे प्रकृति के समक्ष, उसके सौन्दर्य-वैभव तथा अन्य गुणों की दिव्य महत्ता की तुलना में मानव-जगत् निकृष्ट प्रतीत होता है ; मानव-जगत् की शिक्षा की अपेक्षा, उसके आदर्शों की तुलना में प्रकृति-जगत् की शिक्षा अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होती है ; उसकी सामान्यतम वस्तु, सामान्यतम पदार्थ उसे बड़े-बड़े युग-पुरुषों, बड़े-बड़े ऋषियों से भी अधिक महत्वपूर्ण शिक्षा दे सकने की सामर्थ्य रखते हुए जान पड़ते हैं[३] और वह प्रकृति की उस दिव्य शिक्षण-शक्ति से चमत्कृत होकर कभी संगीत-शिक्षा के लिये मधुप-बालिका से प्रार्थना करता है[४]—

१. सुमित्रानंदन पंत, प्रकृति के प्रति, युगवाणी, पृ० ६० ।

२. सीखा तुम से फूलों ने, मुख देख मंद मुसकाना,
तारों ने सजल नयन हो, करुणा-किरणें बरसाना ।
सीखा हँसमुख लहरों ने आपस में मिल खो जाना,
अलि ने जीवन का मधु पी, मृदु राग प्रणय के गाना ॥
—पंत, मानव, गुंजन, पृ० २८ ।

३. One impulse from a vernal wood
May teach you more of man,
Of moral evil and of good,
Than all the sages can.
—W. Wordsworth, "The Tables Turned"
The English Poets, Page 18,

४. इसी प्रकार आंग्ल कवि शैली ने भी स्काईलार्क से प्रसन्नता तथा संगीत-शिक्षण के लिये प्रार्थना की थी ।

Teach me half the gladness
That thy brain must know;
Such harmonious madness
From my lips would flow.
—Shelley, To A Skylark, The English Poets, P. 387.

'सिखा दो ना, हे मधुप-कुमारि । मुझे भी अपने मीठे-गान[1]'; कभी हंस, मीन, त्रिविध समीर, होम-शिखा और वृक्षावलि से विभिन्न प्रकार की शिक्षा प्राप्त करता है[2]; कभी प्रकृति-जगत् की तुलना में मानव-जगत् की अपूर्णता देखकर प्रश्नशील होता है[3] और कभी हरित-भरित, पल्लवित-पुष्पित, मर्मरित-कूजित, गुंजित-मुखरित धरित्री को निखिल जीव-जगत् की ममतामयी पावन जननी समझ कर श्रद्धा-विभोर एवं नत-मस्तक होकर उसकी वन्दना करता है—

कुसुम खचित
मारुत सुरभित
खग कुल कूजित
प्रिय पशु मुखरित—
जिस पर अंकित
सुर मुनि वंदित
मानव पद-तल ।
देखो भू को,
स्वर्गिक भू को,
मानव पुण्य-प्रसू को[4] ।

कवि मानव तथा प्रकृति अखिल सृष्टि को उसके प्रियतम परमात्मा के वियोग में व्यथित-विह्वल अनुभव करता है[5]; स्वयं भी उसी दिव्य शक्ति से अपना निश्छल प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करता है[6]; उसके वियोग में दुःखी होकर अश्रुपात करता है ; उससे मिलने के लिये लालायित होकर कह उठता है:—

ये अँखियाँ अलसानी पिया हो सेज चलो[7] ।

---

१. पंत, मधुकरी, पल्लव, पृ० २८ ।

२. हंस और मीनों से उसने जल में तरना सीखा था ।
शीतल और सुगन्ध पवन से मंद विचरना सीखा था ।
होम शिखा से सद्भावों का जग में भरना सीखा था ।
आश्रम के उन्नत बिटपों से परहित करना सीखा था ॥
—मैथिलीशरण गुप्त, शकुन्तला, पृ० ५ ।

३. है पूर्ण प्राकृतिक सत्य, किन्तु मानव-जग ।
क्यों म्लान तुम्हारे कुंज, कुसुम, आतप, खग ?
—पंत, युगपथ, पृ० २० ।

४. पंत, पुण्य प्रसू, युगवाणी, पृ० ७-८ ।

५. दिनकर, द्वन्द्वगीत, पृ० १ ।

६. हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया ।
—कबीर, कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १२५ ।

७. कबीर, कबीर-वचनावली, पृ० २३४ ।

निर्जन स्थानों के बीच मर्मर करते हुए काननों में, झरनों में, पुष्पों की पराग-गन्ध में, मेघ-खण्ड की झड़ी में, वासन्ती विहंगमों की काकली में[1], सरिताओं की कलकल ध्वनि में, झंझावात विलोड़ित अम्बुधि की भयंकर गर्जन-तर्जन मैं, नक्षत्रों के मौन सम्भाषण में, निशीथ की नीरवता में, झींगुरों की झनकार में, प्रत्येक ध्वनि और निरतब्धता में उसी परम प्रिय की वाणी सुनता है ; समग्र सृष्टि को उसी अनन्त शक्ति के दिव्य आकर्षण-पाश में आबद्ध अनुभव करता है ; तृण-लतादि वनस्पति-जगत् के उपकरणों को उसी विश्वात्मा के रस से सिंचित देख कर आश्चर्यचकित हो प्रश्नशील होता है—

छिप जाते हैं और निकलते,
आकर्षण में खिंचे हुए,
तृण वीरुध लहलहे हो रहे
किसके रस में सिंचे हुए[2] ?

ग्रह, नक्षत्र, विद्युत्कण आदि प्रकृति-जगत् के समस्त पदार्थों को उसके अनुसन्धान में निमग्न देख कर विस्मयाभिभूत हो प्रश्न करता है[3]। रजत-श्वेत रश्मियों की छाया में धूमिल मेघ-खण्ड-तुल्य आकर वियोग-वह्नि रूपी प्रचण्ड ग्रीष्म से परिशुष्क मानस में करुणा की अजस्र वृष्टि करके उसका ताप शान्त करनेवाला, जीवन के अनन्त रहस्यों का समुच्चय, प्राणि-जगत् के असंख्य कम्पनों को अनुस्यूत करनेवाला, संसृति के शून्य पृष्ठों में करुण-काव्य का अंकनकर्ता, सृष्टि को एकता के पाश में आबद्ध करनेवाला कवि का प्रियतम जब उसके कारुण्य में भी माधुर्य की अलक्ष्य धारा प्रवहमान कर देता है, तो उसका हृदय आश्चर्यपूर्ण जिज्ञासा से आपूर्ण

१. In solitudes,
Her voice came to me through the whishpering woods,
And from the fountains, and the odours deep
— — — —
And from the singing of the summer-birds.
—Shelley, Epipsychidion Verse para 12, Selectons From shelley Macmillan's Golden Series Page. 234-235.

२. जयशंकर "प्रसाद", आशा सर्ग, कामायनी, पृ० २६ ।

३. महा नील इस परम व्योम में
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह नक्षत्र और विद्युत्कण
किसका करते थे सन्धान ?
—प्रसाद, कामायनी, पृ० २६ ?

हो जाता है और उसके अन्ततम के कुतूहलपूर्ण उद्गार इस प्रकार प्रस्फुटित हो पड़ते हैं—

कौन मेरी कसक में नित
मधुरता भरता अलक्षित ?
कौन प्यासे लोचनों में
घुमड़ घिर झरता अपरिचित ?
स्वर्ण - स्वप्नों का चितेरा
नींद के सूने निलय में !
कौन तुम मेरे हृदय में[1] ?

कवि जब अपनी चिर-सहचरी प्रकृति के विभिन्न रूपों के दिव्य सौन्दर्य के साक्षात्कार से प्रभावित होकर मानव-रूप-जगत् से उसे अभिन्न अनुभव करता है, तो उसका भावुक हृदय उन्हें सुन्दरी मानवी का रूप प्रदान करता हुआ, उसके अंग-प्रत्यंग, रूप-आकार वेश-भूषा आदि से उनका तादात्म्य स्थापित करता है। इस प्रकार कभी वह विजन वन-वल्लरी पर सोती हुई जूही की कली को उसके प्रियतम पवन द्वारा झकझोरी जाती हुई अनुभव करता है, कभी अम्बर-पनघट में उषा-नागरी रूपी पनिहारिणी को तारक-घटों को डुबोते हुए अंकित करता है, कभी निशीथ की प्रणय-निष्ठुरता के कारण पृथ्वी रूपी नवागता वधू को सिन्धु-शय्या पर मानवती नायिका के रूप में बैठी हुई चित्रित करता है; कभी सन्ध्या-रूपसी को दिवसावसान के समय क्षितिज से मन्द-मन्थर गति से उतरती हुई लक्षित करता है। कभी रजनी-सुन्दरी को लज्जाशीला सद्यःस्नाता कामिनी के रूप में झुरमुट-कक्ष की ओर वस्त्र-परिवर्तन तथा शृंगारादि के लिये जाती हुई वर्णित करता है; कभी तन्द्रालसा वनस्पतियों रूपी सुकुमार रमणियों को प्रातःकाल शीतल जल से मुख-प्रक्षालन-रत पाता है और कभी वसन्त-रजनी रूपी सुन्दरी का क्षितिज से उतर कर आने के लिये आह्वान करता है।

तात्पर्य यह कि भावुक काव्यकार मानव तथा प्रकृति को एक नहीं, अनेक दृष्टियों से चित्रित-अंकित करता है। कभी वह उन पर दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार करता है; कभी उनका वैज्ञानिक विश्लेषण करता है; कभी उन्हें परम तत्व के विरह में विह्वल पाता हुआ एक विचित्र रहस्य का अनुभव करता है; कभी उन पर विशुद्ध भावात्मक दृष्टि डालता हुआ उनका प्रकृतीकरण तथा मानवीकरण करता हैं—कभी वह मानव को प्रकृति के धरातल पर ले जाकर दोनों का तादात्म्य स्थापित करता है और कभी प्रकृति को मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित करके उसमें मानवीय रूप, भाव, गुण, दुर्गुण तथा कार्यादि का दर्शन करता हुआ उसे मानववत् चित्रित

---

१. महादेवी वर्मा, नीरजा, पृ० १३।

करता है। अतः उसके विवेचन में यदि एक ओर दार्शनिक तथ्यों का उद्घाटन होता है, तो दूसरी ओर वैज्ञानिक सत्यों की व्यंजना ; यदि एक ओर व्यावहारिक जीवन को मंगलमय बनाने के लिये विभिन्न आदर्शों की प्राण-प्रतिष्ठा होती है, तो दूसरी ओर अनुभूति की सघनता की अभिव्यक्ति। काव्य में उक्त सभी दृष्टि-बिन्दुओं का महत्व है। कवि इनमें से किसी की भी अपेक्षा नहीं कर सकता। इनमें से एक का भी अभाव काव्य की पूर्णता में बाधक बन सकता है, काव्य-पुरुष अथवा कविता-कामिनी को पंगु बना सकता है। एक के बिना उसका आध्यात्मिक जगत् अन्धकारमय हो सकता है, तो दूसरे के बिना उसका व्यावहारिक जीवन एक उलझन बन कर रह जाता है ; एक के बिना उसका वैज्ञानिक अंग पंगु हो जाता है, तो दूसरे के बिना उसका अनुभूति का संसार शून्य हो जाता है। काव्य की पूर्णता के लिये इन सभी की अपेक्षा है, सभी का योग अनिवार्य है, इनके अभाव में उसकी पूर्णता सम्भव नहीं।

द्वितीय अध्याय

मानव तथा प्रकृति के विभिन्न सम्बन्ध

जिस प्रकार बीज तथा वृक्ष, तना तथा शाखावलि, पत्र तथा पुष्पावलि, कादम्बिनी तथा जल, सागर तथा रंग, माता और पुत्र, पोषक और पोष्य, शिक्षक एवं शिक्षार्थी, उपदेष्टा एवं उपदिष्ट, आलम्बन तथा आश्रय, उद्दीपक और उद्दीप्य और भोक्ता तथा भोग्य के पारस्परिक सम्बन्ध अत्यधिक घनिष्ठ होते हैं, उसी प्रकार मानव तथा प्रकृति के विभिन्न सम्बन्ध भी अत्यधिक घनिष्ठ हैं।

मानव प्रकृति का आदि सहचर तथा आदि पोष्य शिशु है और प्रकृति उसकी आदि सहचरी तथा पोष्या धात्री अथवा ममतामयी माँ। आदि मानव प्रकृति के विशाल प्रांगण में जन्म धारण कर उसके ममत्वपूर्ण अंक में लालित-पालित होकर पुष्ट हुआ। निर्झरों का जल-दान, वृक्षावलि का फल-दान, वायु का व्यंजन, पक्षियों का संगीत, सरिता की कलकल-छलछल की रागिनी, कोकिल की पंचम तान, कलियों की खिलखिलाहट, चातक, चकोर, कोकिल, मराल, मीन, मेघ, पुष्प तथा धरित्री के आदर्श, नक्षत्रों के मौन निमन्त्रण, उषा, निशा और संध्या के मधुमय सन्देश उसके जीवन की पूर्णता के वांछित उपकरण बने। पुरातन मानव, आधुनिक वनवासी मानव तथा आश्रमवासी तपस्वियों के जीवन में दृश्यमान प्रकृति के विभिन्न उपकरणों का योग कितना अधिक, कितना महत्वपूर्ण है यह कहने की आवश्यकता नहीं।

इस प्रकार अपनी स्नेहमयी जननी प्रकृति के क्रोड़ में लालित-पालित तथा उसके विभिन्न उपकरणों द्वारा पोषित मानव का उससे अनेक रूपों में सम्बन्धित होना स्वाभाविक ही है और यही कारण है कि वह उससे बीज-वृक्ष, द्रष्टा-दृश्य, सहचर-सहचरी, प्रेमी-प्रेयसी तथा माता और शिशु आदि विभिन्न रूपों में सम्बद्ध प्रदर्शित किया जाता है। अग्रांकित विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

(क) बीज-वृक्ष सम्बन्ध—

मानव तथा प्रकृति परस्पर उसी प्रकार सम्बद्ध हैं, जिस प्रकार बीज तथा वृक्ष। यदि मानव बीज है तो प्रकृति वृक्ष और प्रकृति बीज तो मानव उससे

विकसित होनेवाला वृक्ष है। यह संसार व्यापक मानवात्मा की ही विभिन्न रूपमयी विशद अभिव्यक्ति है। एक ही व्यापक मानवात्मा समग्र सृष्टि के विभिन्न रूपों में अन्तर्व्याप्त है। मानव ब्रह्म है और संसार अथवा प्रकृति उससे उद्भूत उसी का अंग अथवा अंश। अतः इस दृष्टि से यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि मानव यदि बीज है तो प्रकृति उसी बीज से विकसित, पल्लवित, पुष्पित तथा फलायमान वृक्ष। उपनिषदों में कहा गया है कि यह जगत् पहले एकमात्र आत्मा ही था, उसके सिवा और कोई सक्रिय वस्तु नहीं थी। उसी आत्मा ने कालान्तर में अपनी लीला के लिये अपनी इच्छा शक्ति से प्रेरित होकर मानव तथा मानवेतर प्रकृति की सृष्टि की। ऐतरेय उपनिषद् का यह कथन इसी सत्य की ओर संकेत करता है—

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किंचन मिषत्।
स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति[1] ॥

इसके विपरीत जैसा कि वैज्ञानिक विवेचन में कहा गया है, मानव प्रकृति के विभिन्न तत्वों का संघात है ; उसका जीवन उनके संघटन और मृत्यु उनके विघटन में है। वह प्रकृति के कार्बन, हाइड्रोजन, आक्सीजन, नाइट्रोजन, गंधक, फासफोरस, क्लोरीन, सोडियम, पोटैशियम, कैलशियम, मैगनेशियम तथा लौह आदि तत्वों से उसी प्रकार निर्मित, विकसित तथा पुष्ट होता है, जिस प्रकार बीज से वृक्ष, तना, शाखाएँ, पत्रावलि एवं पुष्प-समूह। इसके अतिरिक्त काव्य-जगत् में भी कवि इसका उल्लेख करना नहीं भूलता। वह कभी "है नाम हमारा प्रकृति-प्रिया, मैंने ही दुनिया रच डाली[2]" कह कर इस तथ्य की अभिव्यक्ति करता है, कभी "प्रकृति ने जिन्दगी आजाद पैदा की[3]" कह कर कभी "सूरज से प्राण धरा से पाया है शरीर, ऋण लिया वायु से है हमने इन साँसों का[4]" कह कर और कभी—

"हाँ, बुद्धि जीव आदर्श मुग्ध,
मानव भी मेरी ही कृति है।
पैगम्बर और सिकन्दर का,
मुझ से अथ है, मुझ में इति है।
× × ×
मैं मर्त्य लोक की मिट्टी हूँ,
मैं सूर्य लोक का एक अंश।

१. ऐतरेय उपनिषद्, अध्याय १, खण्ड १, श्लोक १, उपनिषद् - भाष्य, ऐतरेय उपनिषद् पृ० ३२।
२. गिरिजाशंकर शुक्ल "गिरीश", प्रकृति-प्रिया, मंदार, पृष्ठ ६५।
३. गिरिजाकुमार माथुर, खत, नई कविता, अंक २, सन् १६५५ ई०, पृ० ७३।
४. नीरज, मृत्युगीत, दो गीत, पृ० २७।

आती हैं जिस घर से किरणें,
है मेरा भी तो वही वंश[1] ।

कह कर। अतः यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि मानव प्रकृति से उसी प्रकार विकर्सित होता है, उसी प्रकार उत्पन्न, निर्मित तथा पुष्ट होता है, उसी प्रकार उससे आहार अथवा भोजन प्राप्त करता है, जैसे बीज से वृक्ष अथवा उसके विभिन्न अंग ।

(ख) द्रष्टा-दृश्य सम्बन्ध—

मानव तथा प्रकृति परस्पर द्रष्टा-दृश्य रूपों में भी अत्यधिक घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। मानव यदि द्रष्टा है तो प्रकृति दृश्य और इसके विपरीत प्रकृति द्रष्टा है तो मानव दृश्य अथवा द्रष्टव्य। प्रकृति का दृश्यमान रूप मानव-जगत् के स्वास्थ्य सुख-संवर्द्धन एवं चाक्षुण तुष्टि के लिये, कितना महत्वपूर्ण है, यह सभी जानते हैं। हरिताम्बरा वसुन्धरा का मनोज्ञ अंचल, दिग्वधुओं के चपल दृगंचल, चंचल एवं प्रशांत अम्बुधि, नक्षत्र-समुदाय से विभूषित गगनस्थली, गिरिमाला की प्रफुल्लता, वनस्थली का विकसित-वैभव, चन्द्रिका का उल्लास, चन्द्र-रश्मियों का आकर्षण एवं सुधा-वर्षण, पुष्पावलि की स्मिति, घनमाला की शोभा, दामिनी का आमोद, भ्रमरा-वलि के प्रेम-प्रयत्न, कमलों का गर्व, लताओं की छटा, उतुंग पर्वत-शिखर से गिरते हुए जल-प्रपात से उत्पन्न सीकर-नीहारिका का सतरंगी सौन्दर्य तथा पक्षियों का मधुमय संगीत विषण्ण मानव द्रष्टा को प्रसन्न-पुलकित कर देता है, जीर्ण मानव-जगत् के विषण्ण उद्यान को पुष्पित-मुखरित कर देता है—

विजन बन के ओ विहग-कुमार।
आज घर घर रे तेरे गान;
मधुर मुखरित हो उठा अपार
जीर्ण जग का विषण्ण उद्यान[2] ।

तथा

क्या ही स्वच्छ चाँदनी है यह,
है क्या ही निस्तब्ध निशा;
है स्वच्छन्द-सुमन्द गन्ध वह,
निरानन्द है कौन दिशा[3] ?

प्रकृति के अनन्त रूप-वैभव का दर्शन करके मानव आत्म-विभोर हो धन्य-

---

१. नरेन्द्र शर्मा, मिट्टी और फूल, पृ० २ ।
२. पंत, विहग के प्रति, गुंजन, पृ० ७३ ।
३. मैथिलीशरण गुप्त, पंचवटी, पृ० ८ ।

धन्य कह उठता है[1], चमत्कृत होकर उसके सौन्दर्य के मूल-स्रोत के विषय में प्रश्न करता है और उसके अनन्त उल्लास से स्वयं भी परमोल्लसित होकर अपने हृदयोद्‌गार इस प्रकार व्यक्त करता है—

विकसित हैं वर विपिन-स्थलियाँ,
खेल रही हैं रुचिर तितलियाँ,
हैं खिल रही कंज की कलियाँ,
घेर रही हैं भ्रमरावलियाँ।
पावन प्रेम - प्रकाश
है अनन्त उल्लास[2]।

मानव जब किसी स्वर्गीय प्रेरणा से प्रेरित होकर जीवन के किसी मधुमय क्षण में प्रकृति-सौन्दर्य पर व्यापक दृष्टि डालता है और इस मधुमयी भावना से कि यह समस्त आनन्दोल्लासमयी प्रकृति सृष्टि के मूल परम तत्व की ही आत्माभिव्यक्ति है। इसके विभिन्न रूप उसी मूल शक्ति के रूपांतर हैं, उद्वेलित-तरलित होता है तो वह उसके सौन्दर्य-साक्षात्कार के परमानन्द में निमग्न होता हुआ अपने जीवन को धन्य समझता है और समस्त प्रकृति-जगत् को चेतना से अनुप्राणित समझ कर उसके साथ अपना निश्छल रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। किन्तु उसे खेद केवल इस बात का रहता है कि वह मरणशील है। उसका जीवन क्षणभंगुर है, उस परम चेतना से अनुप्राणित प्रकृति का चिर-दर्शन उसके लिये सम्भव नहीं—

दुःख है इस आनन्द-कुञ्ज में
मैं ही केवल अमर नहीं[3]।

कवि प्रकृति को स्थूल सामान्य दृष्टि से ही नहीं, सूक्ष्म दृष्टि से भी देखता है, उसके अंग-प्रत्यंग का सम्यक् निरीक्षण करता है; उसके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का सुखद अनुभव करता है; उसकी विभिन्न ध्वनियों को तन्मय होकर सुनता है; उसके विभिन्न रंगों का अवलोकन कर आनन्द-विह्वल हो नृत्य कर उठता है और उसके मर्मोद्‌गार मधुमय काव्य-धारा के रूप में इस प्रकार प्रवहमान हो उठते हैं—

---

१. धन्य यहाँ की धूलि धन्य नीरद नभ तारे,
धन्य धवल हिमशृंग तुंग दुर्गम दृग प्यारे।
धन्य नदी नद-स्रोत, विमल गंगोद-गोत जल,
शीतल सुखद समीर-वितस्ता तीर स्वच्छ थल।
—श्रीधर पाठक, काश्मीर-सुषमा।

२. गोपालशरणसिंह, कादम्बिनी, पृ० १०३।

३. रामधारीसिंह 'दिनकर', द्वंद्वगीत, पृ० १०।

धानी, आसमानी, सुलैमानी, मुलतानी,
मूंगी, संदली, सिंदूरी, सुख सोसनी सुहाये हैं।
कंजई, कनैरी, भूरे चम्पई, जँगारी हरे,
पिस्तई, मँजीठी, सुरमई घेरि आये हैं।
मासी, नीलकंठी, गुलाबाँसी, सुखरासी तूसी,
कुसुमी, कपासी, रंग 'पूरन' दिखाये हैं।
नारंगी, पियाजी, पोखराजी, गुलनारी घने,
केसरी, गुलाबी, सुवापंखी घन छाये हैं[1]।

प्रकृति-दर्शन से आत्मविभोर हो उठना जिस प्रकार मानव-मन की जन्मजात प्रवृत्ति है, उसी प्रकार मानव-सौदर्न्य-दर्शन से प्रसन्न-पुलकित हो उठना प्रकृति के उपकरणों के लिये भी स्वाभाविक है। ऐसे स्थलों पर जहाँ प्रकृति अनिन्द्य मानव-सौन्दर्य से प्रभावित होकर आनन्द-विभोर हो जाती है, हर्षातिरेक से नृत्य कर उठती है, मानव प्रकृति के द्रष्टव्य रूप में प्रस्तुत होता है। काव्य में ऐसे स्थलों की योजना कवि की विशेष भावुकता की अपेक्षा रखती है। अतः किसी भी काव्य में इनकी प्रचुरता तभी हो सकती है, जब कि उसके अधिकतर कवि विशेष भावुक दृष्टि से सम्पन्न हों। हिन्दी-काव्य में इस प्रकार के स्थल प्रचुरता से तो नहीं, यत्र-तत्र देखने को अवश्य मिल जाते हैं। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की प्रकृति कृष्ण-जन्म के समय उनके दिव्य सौन्दर्य से प्रभावित होकर आनन्दातिरेक से विह्वल हो बधाई देती है[2]। तुलसी के राम-जन्म के समय उनके अकलुष सौन्दर्य का साक्षात्कार करके समस्त प्रकृति हर्षोन्मत्त हो उठती है[3]। पथिक-वेश-धारी राम, सीता और लक्ष्मण के सौन्दर्य-दर्शन से चित्रकूट की प्रकृति आनन्द-मग्न हो अभूतपूर्व शोभा धारण करती है[4]। मैथिलीशरण गुप्त की पंचवटी की सीता की स्मिति-छटा का साक्षात्कार करके एक महान् चित्र-सा देख कर वन्य-कुसुम खिलखिलाकर हँस पड़ते हैं; कलिकाएँ आनन्दातिरेक से खिल जाती हैं; भ्रमर-समूह गुंजार करते हुए उन्हें चारों ओर से घेर लेते हैं[5] और तुलसी के राम के अनन्त सौन्दर्य का साक्षात्कार करके

---

१. राय देवी प्रसाद 'पूर्ण', पूर्ण-संग्रह, पृ० १०८।
२. राय देवी प्रसाद 'पूर्ण' पूर्ण-संग्रह, पृ० १२३-१२४।
३. तुलसी, गीतावली, बालकाण्ड, पद १, पंक्ति ४।
४. तुलसी, गीतावली, अयोध्याकाण्ड, पद ४६।
५. हँसने लगे कुसुम कानन के देख चित्र-सा एक महान,
विकस उठीं कलियाँ डालों में निरख मैथिली की मुसकान।
कौन-कौन-से फूल खिले हैं, उन्हें गिनाने लगा समीर,
एक एक कर गुन गुन करके जुड़ आई भौंरों की भीर॥
मैथिलीशरण गुप्त, पंचवटी, पृ० ३६।

दण्डकवन के मयूर हर्षातिरेक से नृत्य करते हैं; कोकिल-शिशु आनन्द-गान गाते हैं, और समस्त प्रकृति कुतूहल एवं उल्लास से भर जाती है—

देखे राम-पथिक नाचत मुदित मोर।
मानत मनहुँ सतड़ित ललित घन, धनु सुरधनु गरजनि टँकोर।
कँपै कलाप बर बरहि फिरावत, गावत कल कोकिल किसोर।
जहँ जहँ प्रभु विचरत तहँ तहँ सुख दण्डकवन कौतुक न थोर[1]।

(ग) सहचर-सहचरी संबंध—

मानव प्रकृति का आदि सहचर है और प्रकृति उसकी आदि सहचरी। मानव अभिन्न सहचरी की नाईं उसके दुःख-सुख से दुःखी तथा सुखी होती है। मानव प्रकृति को दुःखी देखकर विह्वल होकर उसके दुःख के निवारणार्थ प्रयत्नशील होता है। निशीथ के हिम-विंदुओं में इन्दुकला के रुदन का आभास पाकर यशोधरा उसे सांत्वना देती है—त्याग की महत्ता का उपदेश देकर उसे शांत करने का प्रयत्न करती है[2]। उर्मिला पिंजड़ों में बन्द पक्षियों के दुःख का अनुभव करके अनुचरी को उन्हें मुक्त कर देने की आज्ञा देती है[3], पुष्पों के बीच पली हुई सुरभि को काँटों की सेज से बचने के लिए सावधान करती है[4], मलयानिल को अपनी विरह-अवधि के शाप से बचने के लिए स्वदेश-प्रत्यावर्तन का परामर्श देती है[5] और चक्रवाक-दम्पति को सम-दुःखी समझ कर प्रबोधित करती है—

कोक, शोक मत कर हे तात,
कोकि, कष्ट में हूँ मैं भी तो सुन तू मेरी बात।
धीरज धर, अवसर आने दे, सह ले यह उत्पात,
मेरा सुप्रभात वह तेरी सुख-सुहाग की रात[6]।

जिस प्रकार मानव प्रकृति के प्रति सम्वेदनशील होकर उसके दुःख के निवारण के लिये प्रयत्नशील होता है, उसी प्रकार प्रकृति भी अपने सहचर मानव के दुःख से द्रवीभूत होकर उसके निवारण के लिये प्रयत्न करती है। कालिदास के मेघदूत का मेघ विरही यक्ष के दुःख से करुणार्द्र होकर उसकी पत्नी के पास उसका सन्देश ले जाता है[7]। जायसी की नागमती के वियोग दुःख से विह्वल पक्षी उसका

---

१. तुलसी, गीतावली, अरण्यकाण्ड, पद १।

२. गुप्त, यशोधरा, पृ० ६५-६६। (३) गुप्त, साकेत, पृ० २०२। (४) मैथिलीशरण पृ० २०५। (५) मैथिलीशरण गुप्त, पृ० २२७।

६. मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ० २१८।

७. तं संदेशं जलधरवरो दिव्यवाचाचचक्षे
प्राणांस्तस्या जनहि रतो रक्षितुं यत्नवध्वाः।
—कालिदास, मेघदूत, उत्तरमेघ, श्लोक ६०।

सन्देश उसके प्रिय रत्नसेन के पास ले जाता है। समस्त प्रकृति उस (विरहिणी नागमती) के विरह-दुःख से विह्वल हो जाती है, पलाश पत्र-शून्य हो जाते हैं, बिम्बाफल उसके हृदय-प्रान्तर के रंग में रँग कर रक्त-वर्ण हो जाता है और गोधूम का हृदय उसके दुःख का अनुभव करके विदीर्ण हो जाता है[१]। सूरदास की गोपियाँ चन्द्र, मेघ, कोकिल चातक आदि प्रकृति-रूपों से सहानुभूति की आशा करती हुई प्रिय कृष्ण के पास अपना सन्देश ले जाने तथा मथुरा एवं द्वारिका से उन्हें लौटा लाने की प्रार्थना करती हैं[२]। नन्ददास की गोपियाँ मालती, जूही, लता-समूह, मृग-वधू, पवन आदि से प्रिय कृष्ण का पता पूछती हैं[३]। तुलसी के राम खग, मृग तथा मधुप-वर्ग से संवेदना की आशा करते हैं[४]। गोपालशरणसिंह के पुष्प मानव के अरण्य-रोदन को सहानुभूतिपूर्वक कान लगा कर सुनते हैं। लताएँ उसे सुन कर सजल-नेत्र हो जाती हैं। वृक्ष अपने पल्लव-पाणि हिला-हिला कर आश्वासन देते हैं। प्रतिध्वनि उसके साथ क्रन्दन करती है, कोकिल अपनी पंचम तान त्याग कर सिर धुनती है और मधुप उसे घेर कर उसके साथ गुंजन-व्याज से करुण क्रन्दन करते हैं[५]। 'हरिऔध' के कृष्ण के मथुरा-प्रयाण के समय मानव के साथ ही प्रकृति भी

---

१. तेहि दुःख भये परास निपाते। लोहू बूड़ि उठे होइ राते।
राते बिम्ब भीजि तेहि लोहू। परवर पाक, फाट हिय गोहूँ।।
—जायसी, पद्मावत, जायसी-ग्रन्थावली पृ० १५८।

२. कोकिल! हरि को बोल सुनाव।
मधुबन तें उपटारि स्याम कहँ या ब्रज लै कै आव।
—सूरदास, भ्रमरगीत-सार, पद ३१६।

तथा

पा लागौं द्वारका सिधारौ विरहिनि के दुखदागर।
—सूरदास, भ्रमरगीत-सार, पद ३१३।

३. हे मालति, हे जाति जूथिके सुनि हित दै चित।
मान हरन मन हरन लाल गिरिधरन लखे इत।।
\+ \+ \+
हे अवनी, नवनीत चोर, चित चोर हमारे।
राखे कितै दुराइ, बतावहु प्रान पियारे।।
—नन्ददास, रास पंचाध्यायी, द्वितीय अध्याय, नंददास-ग्रन्थावली, ब्रजरत्नदास, द्वि सं०, पृ० ११-१२।

४. तुलसी, रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, पृ० ६३४।

५. विफल नहीं है वन-रोदन।
उसको सदा सुना करते हैं
कान लगा कर सुमन-सुमन।

विषाद-मग्न हो जाती है, निशा हिम-विन्दुओं के व्याज से अश्रुपात करती है। ब्रज-मेदिनी कलिन्दजा के रूप में अपने अनन्त अश्रुओं को प्रवहमान कर देती है। गाएँ दीन-हीन सी होकर अश्रु-मग्ना हो सशंकित दृष्टि से प्रिय कृष्ण को खोजती हैं, नक्षत्र मौन धारण कर लेते हैं और काकातुआ उन्मन होकर चिल्लाता हुआ उनके मथुरा-गमन का निषेध करता है।[1]

मानव की सहचरी प्रकृति उसके जीवन की विषम परिस्थितियों में भी अन्तरंग मित्र की नाईं उसका सदैव साथ देती है, उसकी प्रत्येक सम्भव प्रकार से सहायता करती है और आवश्यकता पड़ने पर उसके कल्याणार्थ अपना अस्तित्व तक मिटा देती है। पालतू पशुओं की स्वामि-रक्षा की बातें कल्पना-लोक की सृष्टि नहीं, व्यावहारिक जीवन तथा इतिहास के अमर सत्य हैं। राणा प्रताप, अमरसिंह राठौर और वीरांगना लक्ष्मीबाई के अश्वों के त्यागमय कृत्य इसके ज्वलंत प्रमाण हैं।

निष्कर्ष यह कि मानव प्रकृति का आदि सहचर है और प्रकृति उसकी आदिम सहचरी। 'वैज्ञानिकों का विकासवाद और आस्तिकों की अपौरुषेय सृष्टि-कल्पना दोनों ही इस विषय में एकमत हैं कि मानव ने प्रकृति के विशाल क्रोड़ में जन्म धारण किया और उसके साहचर्य में चेतना को क्रमशः विकसित किया। वृक्षों ने फलदान द्वारा और निर्मल निर्झरों ने शीतल जल द्वारा मानव की सहज वृत्तियों का भी समाधान किया। फलतः मानव का प्रकृति के प्रति स्वाभाविक रूप से चिर साहचर्य स्थापित हो गया।............और उसकी चिर सहचरी प्रकृति के विभिन्न रूप उसके अन्तरंग मित्र बन गये।[2]

(घ) आलम्बन-आश्रय सम्बन्ध—

मानव प्रकृति के भावों का आलंबन है और प्रकृति मानव के भावों की। श्रमित-भ्रमित तथा शोक-सन्तप्त मानव प्रकृति की करुणा का आलंबन है, सहचर मानव उसके प्रेम का पात्र है। वह उसके वियोग में अनन्त दुःख का अनुभव करती है और उसके अभाव में खिन्न-मना एवं दीना-हीना रूप में रहती हुई उससे मिलने

उसको ही सुनकर होती हैं
लता-वल्लियाँ सजल-नयन।
पल्लव-पाणि हिलाकर देतीं
वृक्षावलियाँ आश्वासन।
+ + +
मुझे घेर करते हैं मधुकर
गुंजन के मिस करुण रुदन।

—ठा० गोपालशरणसिंह, वन-रोदन, कादम्बिनी, पृ० ६२-६३।

१. 'हरिऔध', प्रिय-प्रवास, तृतीय सर्ग, छन्द ८७ तथा पंचम सर्ग, छन्द ४०।

२. डा० किरणकुमारी गुप्ता, हिंदी काव्य में प्रकृति-चित्रण, पृ० ३-७।

के लिये लालायित रहती है। राम-वियोग में उनके प्रिय अश्व-वर्ग की जो दशा होती है, उसे पढ़कर सहृदय मानव का हृदय विदीर्ण होने लगता है। तुषारपात से झुलसे हुए कमलों के समान उनकी दशा देखकर पुत्र-वियोग-विह्वला कौशल्या अपने दुःख को भूलकर उनके विषय में चिंतित हो जाती हैं। भरत उनके दुःख के निवारणार्थ प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करते हैं, किंतु उनकी दशा में कोई सुधार नहीं होता[1]। सूरदास की कालिन्दी कृष्ण-वियोग-ज्वर से पीड़ित होकर उन्माद की दशा में पलँग से पृथ्वी पर गिर पड़ती है, विरह-ज्वर से जलकर कृष्ण-वर्ण हो जाती है और तरंगों के रूप में तड़पती-तलफती है। तट के बालुका रूपी उपचार-चूर्ण के होते हुए भी उसकी दशा में कोई सुधार नहीं होता। विषम ज्वर के कारण उसके शरीर से अनन्त स्वेद की धारा प्रवहमान हो उठती है, केश-राशि स्नेह रहित होने के कारण इतस्ततः विकीर्ण हो जाती है, साटिका उसके कज्जल-कलित अश्रु-प्रवाह से श्यामवर्ण हो जाती है, बुद्धि भ्रमर-रूप में भ्रमित होती हुई व्यथित-विह्वल हो चतुर्दिक भटकती है और वह स्वयं चकई के व्याज से पागल-प्रलाप करती तथा अचेतनावस्था में मुख से राशि-राशि फेन उगलती है[2]।

इसी प्रकार मानव प्रकृति के भय, श्रद्धा, क्रोध, उत्साहित आदि भावों के आलम्बन रूप में भी आता है। शिकारी मानव को देखकर प्रकृति के पशु-पक्षी भयातंकित हो पलायमान हो जाते हैं। अपने प्रति उपकार करनेवाले मानव के प्रति उनके हृदय में कृतज्ञता एवं श्रद्धा का अनन्त समुद्र उमड़ने लगता है। हल लेकर अपना हृदय विदीर्ण करनेवाला मानव माता वसुन्धरा की क्षमा का पात्र होता है[3]। अपने नाश के लिए तत्पर मानव को देखकर सर्प क्रोध से फुंकार उठता है[4] और विरोधी मानव को देखकर उसे विजित करके उसकी धृष्टता का दण्ड देने के लिए अधिकाधिक पराक्रम एवं उत्साह का प्रदर्शन करता है[5]।

इसके विपरीत प्रकृति भी मानव के विभिन्न भावों की आलम्बन है। जिस

---

१. तुलसी, गीतावली, अयोध्याकाण्ड, पद ८६-८७।

२. सूर, भ्रमरगीत-सार, पद २७८।

३. सूर, सूरसागर, विनय, पद ११७।

४. पूँछ लीन्हीं झटकि धरनि सौं गहि पटकि फुंकरयौ लटकि करि क्रोध फूले।

—सूर, सूरसागर, ना० प्र० स०, दशम स्कंध, पद, ५५२।

तथा

लियौ लपेटि चरन तैं सिख लौं, अति इहिं मोसौं करी ढिठाइ।

—सूर, सूरसागर, ना० प्र० स०, दशम स्कंध पद, ५५५।

५. उरग लियौ हरि कौं लपटाइ।
गर्व-वचन कहि-कहि मुख भाषत, मौकौं नहिं जानत अहिराइ॥

—सूरदास, सूरसागर, ना० प्र० स०, दशम स्कंध पद, ५५२।

प्रकार मानव प्रकृति में प्रेम, क्रोध, भय, करुणा, क्षमा आदि अनेक भावों का आविर्भाव करता है, उसी प्रकार प्रकृति भी मानव के विभिन्न भावों के आलंबन-रूप में प्रस्तुत होकर उसमें प्रेम, भय, क्रोध आदि विभिन्न भावों का प्रादुर्भाव करती है। प्रकृति के विभिन्न कार्य, भाव, सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप-आकार तथा नवीनातिनवीन वर्ण-भेद मानव के प्रेम, आकर्षण तथा कुतूहल के आलम्बन हैं। हिम-विंदुओं से आपूर्ण हरिताभ दूर्वादल से आच्छादित वसुन्धरा, प्रातःकालीन दिवाकर की सुखद रश्मियाँ, शीताधिक्य के कारण शीतल जल के स्पर्श से बारम्बार अपनी सूँड़ समेटने वाला तृषातुर वन्य गयन्द[१] आदि प्रकृति रूप उसके आकर्षण तथा प्रेम के पात्र हैं। आकाश के बहुरंगी इन्द्रधनुष को देखकर वह प्रेम-विभोर हो उठता है[२]। हिम, तुषार, तरंगावलि, समीर तथा प्रचंड अन्धड़ उसके प्रेम के आलम्बन हैं[३]। वह कलिका से उसके प्रेमी भ्रमर की अपेक्षा अधिक प्रेम करता है। दूर्वादल उसके लिए अधरों से भी अधिक मधुर है[४]। वह मानव से कम प्रेम करता, किंतु प्रकृति के प्रति उसका प्रेम कहीं अधिक प्रबल होता है[५]। प्रेयसी प्रकृति के अभाव में उसे अपनी प्रेमिका मानवी का सम्पर्क भी अभीष्ट नहीं। तरंगावलि का तरल सौंदर्य, इन्द्रधनुष का बहुरंगी वैभव, कोकिल की पंचम तान, मधुकर का वीणा-वादन, उषा-सस्मित पल्लव-पुंज

१. स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
अत्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम्॥

—वाल्मीकि, रामायण, अरण्यकाण्ड, सर्ग १६, श्लो० २१।

२. My heart leaps up when I behold
A rainbow in the sky.

—W. Wordsworth, My Heart Leaps Up, Poets of The Romantic Revival, page 73.

३. I love show and all the forms
of the radiant frost;
I love waves, and winds, and storms,
Every thing almost
Which is nature's, and may be
untainted by man's misery.

—SHELLEY, SONG, The Complete Poetical Works of Percy Bysshe Shelley, HUTCHINGSON, page 640.

४. कलिके, मैं चाहता तुम्हें उतना जितना यह भ्रमर नहीं।
अरी तरी की दूब, मधुर तू उतनी जितना अधर नहीं।

—'दिनकर' द्वंद्वगीत, पृ० ११।

५. I love not man the less, but nature more.

—Byron, childe harold's pilgrimage, poets of the romantic revival, page. 131.

तथा सुधा-रश्मियों से अवतीर्ण मधुमय जल को छोड़कर मानव अपनी प्रेयसी कामिनी के संसर्ग-सम्पर्क का आनन्द-लाभ भी नहीं चाहता[१]। पर्वत उसके आनंद भाव के आलम्बन हैं; निर्झर उसके लिए प्राणों के स्पन्दन से परिपूर्ण हैं[२]; तुच्छाति तुच्छ पुष्प उसके गम्भीरतम विचारों के उत्पादक हैं[3] और 'रुपहले, सुनहले आम्र-बौर' तथा 'नीले, पीले औ ताम्र-भौंर'[४] उसके सूक्ष्म निरीक्षण एवं आकर्षण के पात्र हैं।

चन्द्रमा शिशु-समुदाय में कुतूहल तथा आकर्षण उत्पन्न करता है। मानव-शिशु उसका साक्षात्कार कर आनन्दातिरेक से उन्मत्त हो जाता है; उसे छूने के लिये, उससे खेलने के लिये मचलता है, हठ करता है[५]। प्रकृति की सुन्दर वस्तुएँ ही नहीं, पुष्पादि का अनिंद्य सौन्दर्य ही नहीं, बाँस की हरीतिमा और दूर्वादल भी उसके प्रेम के विषय हैं[६]। मानव प्रकृति के वियोग में दुःखी होता है। उससे वियुक्त होकर नगरों के कृत्रिमतापूर्ण वातावरण में रहते हुए उसे ऐसा प्रतीत होता है, मानों

---

१. तज कर तरल तरंगों का,
इन्द्र-धनुष के रंगों को,
× × ×
ऊषा-सस्मित किसलय दल,
सुधा रश्मि से उतरा जल,
ना, अधरामृत ही के मद में कैसे बहला दूँ जीवन।
—पंत, मोह, आधुनिक कवि, २, पृ० १।

२. There's joy in the mountains
There's life in the fountains.
—W. Wordsworth, written in march, selected poetry, edited by M. V. Doren, modern library New yark, page 463.

३. To me the meanest flower that blows can give
Thoughts that do often lie too deep for tears.
—W. Wordsworth, The Golden Treasury. page.314.

४. पंत, गुंजन, पृष्ठ १०।

५. मैया, मैं तो चंद-खिलौना लैहौं।
जैहौं लोटि धरनि पर अबहीं, तेरी गोद न ऐहौं।
सुरभी कौ पय पान न करिहौं, बेनी सिर न गुहैहौं।
ह्वैहौं पूत नन्द बाबा कौ, तेरौ सुत न कहैहौं।
—सूरदास, सूरसागर, ना० प्र० स०, पृ० ५१६-५१७।

६. फूलों की क्या बात, बाँस की हरियाली पर मरता हूँ।
अरी दूब, तेरे रहते जगती का आदर करता हूँ।
—रामधारीसिंह 'दिनकर', विश्व-छवि, रेणुका, पृ० ६३।

उसका गला घुटा जा रहा हो[१]। वह उस कृत्रिम वातावरण से ऊब कर, खीझ कर अपनी प्रेयसी प्रकृति के स्नेहमय अंक में विश्राम पाने के लिये पिंजराबद्ध पक्षी की भाँति अवसर पाते ही भाग निकलता है[२]; उसका दर्शन करके उसका हृदय उल्लास नृत्य कर उठता है और वह उसके विभिन्न रूपों का सविस्तार वर्णन करके अपने को धन्य समझता है। सन्ध्या उसे गजगामिनी अप्सरा, निशा सुन्दरी अभिसारिका तथा सद्यःस्नाता मुग्धा, उषा पनिहारिणी, प्रलय के पश्चात् की पृथ्वी मानिनी नववधू, जूही की कली अज्ञातयौवना रूपसी और हिमाद्रि तपस्वी के रूप में दिखाई पड़ता है।

---

२. चलो जहाँ निर्जन कानन में वन्य कुसुम मुस्काते हैं।

—दिनकर, वन-फूलों की ओर, हुँकार, पृ० ३१।

आंग्ल कवि शैली की निम्नांकित पंक्तियाँ भी इसी तथ्य की अभिव्यंजक हैं—

Away, away, from men and towns,
To the wild wood and the downs—
To the silent wilderness
Where the soul need not repress
Its music, lest it should not find
An echo in another's mind
While the touch of Nature's art
Harmonizes heart to heart.

—Shelley, Shelly's foems, Vol. I, P. 474.

३. दूर नगर से नदी कूल पर पर्णकुटी हम छायेंगे।
चिड़ियों के स्वतंत्र कलरव में गला मिला कर गायेंगे॥
इन प्रस्तर की दीवारों के बंदीगृह से होकर मुक्त।
सरिता सा स्वतंत्र जीवन का सुख लूटेंगे हम संयुक्त॥
जालीदार संगमरमर के वातायन से छन छन कर।
जो मलयानिल मुश्किल से जाने पाता महलों भीतर॥
उसी पवन संग वन उपवन में मैं अब बिहरूँगी सानन्द।
दूषित वातावरण बीच यों मैं अब नहीं रहूँगी बन्द॥

—गुरुभक्तसिंह, नूरजहाँ, पृ० ११२।

तथा

मेहरुन्निसा ग्राम में आकर देख वहाँ का जीवन।
शान्ति और संतोष लाभ कर भूल गई शहरीपन॥
नहीं किसी भी विद्यालय का वहाँ विशाल भवन था।
शिक्षा मंदिर प्रकृति सुंदरी का हर जड़ चेतन था॥

—गुरुभक्तसिंह, नूरजहाँ, पृ० ११४।

गिरि, लता, पादप, पशु, पक्षी, नदी, नद, सरोवर, समुद्र आदि प्रकृति के आकर्षक रूप ही नहीं, पीत-पर्ण, टूटी टहनियाँ, शल्कल-समूह तथा कंकड़-पत्थर आदि भी उसके प्रेम भाव के आलम्बन हैं[1]। विशाल मरुस्थल, अन्धड़-विलोड़ित-अम्बुधि बंजर भूमि तथा बेडौल, कर्कश, उग्र, कराल अथवा भयंकर प्रकृति-रूपों में उसके लिये अनन्त आकर्षण है[2]।

इस प्रकार प्रकृति मानव के क्रोध, करुणा, भय, घृणा, श्रद्धा, भक्ति, उत्साह विरक्ति आदि भावों की भी आलम्बन है। कवि जिस प्रकार विद्रुम और मरकत की छाया, स्वर्ण और रजत के आतप, हिम और परिमल की रेशमी वायु और शत-सहस्र रत्नों से चित्रित आकाश को देख कर आत्म-विभोर हो उठता है[3] उसी प्रकार प्रकृति के कुरूप और विगर्हित रूपों के प्रति विकर्षण एवं घृणा का अनुभव कर उनसे मुख मोड़ लेता है। जिस प्रकार वह प्रकृति-प्रेयसी के रूप-लावण्य का अनुपान कर धन्य हो उठता है, हर्षातिरेक से नृत्य कर उठता है, उसी प्रकार उसके उग्र-कराल और रौद्र रूपों को देख कर भयभीत एवं आतंकित हो जाता है[4]। यदि एक ओर वह अपनी पोषिका प्रकृति के ममत्वपूर्ण वात्सल्य तथा क्षमा, क्षमता एवं सहिष्णुता को देख कर श्रद्धा-विभोर हो उसके सम्मुख नत होता है; उसकी पूजा-अर्चना,

---

१. पीले पत्ते, टूटी टहनी, छिलके, कंकड़-पत्थर,
कूड़ा करकट सब कुछ भू पर लगता सार्थक सुन्दर।
—पंत, मानवपन, युगवाणी, पृ० १७।

२. अनन्त रूपों में प्रकृति हमारे सामने आती है—कहीं मधुर, सुसज्जित या सुन्दर रूप में; कहीं रूखे बेडौल या कर्कश रूप में; कहीं भव्य विशाल या विभिन्न रूप में; कहीं उग्र कराल या भयंकर रूप में। सच्चे कवि का हृदय उसके इन सब रूपों में लीन होता है क्योंकि उसके अनुराग का कारण अपना खास सुख-भोग नहीं बल्कि चिर-साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है।
—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, कविता क्या है, चिन्तामणि, भाग १, पृष्ठ १४६।

३. विद्रुम औ मरकत की छाया
सोने चाँदी का सूर्यातप।
हिम परिमल की रेशमी वायु
शत रत्न छाप, खग-चित्रित नभ।
—पंत, युगपथ, पृ० १८।

४. समस्त सर्पों, संग श्याम ज्यों कढ़े, कलिन्द की नन्दिनि के सु-अंक से।
खड़े किनारे जितने मनुष्य थे, सभी महा शंकित-भीत हो उठे।
हुए कई मूर्छित घोर-त्रास से, कई भगे मेदिनि में गिरे कई।
—हरिऔध, प्रिय प्रवास, एकादश सर्ग, छन्द ४३-४४।

स्तवन-कीर्तन तथा अभिनन्दन-बन्दन करता है[1] तो दूसरी ओर वह उसके विनाशकारी रूप को देख कर उसके नाश के लिये तत्पर हो जाता है। यदि एक ओर वह उसे विजित करने के लिये उत्साह से भर जाता है, उसकी विभिन्न शक्तियों को अपने वशीभूत करने के लिये हर सम्भव प्रयत्न करता है तो दूसरी ओर वह उसके महा-विनाशकारी रूपों के समक्ष असहाय-निरुपाय होकर उनका ग्रास बनता है[2] यदि एक ओर उसकी प्रेयसी प्रकृति उसके प्रति विश्वासघात नहीं करती[3] तो दूसरी ओर वह भी उससे निश्छल प्रेम करता है।

(ङ) मातृ-शिशु सम्बन्ध—

प्रकृति मानव की ममतामयी जननी है। मानव उसके विशाल क्रोड़ में जन्म धारण करके उसी के द्वारा लालित-पालित होता है और प्रकृति स्नेहमयी माँ की नाईं अपने धृष्ट शिशु मानव के उत्पातों को सहन करती हुई प्रत्येक सम्भव प्रकार से उसके कल्याण में योग देती है। मानव उसके हृदय को विदीर्ण करके उसे अनेक प्रकार से पीड़ित करता है, किन्तु वह उसके दुष्ट-कृत्यों के बावजूद भी उसे पोषक अनाथ प्रदान करती है[4]। मानव फावड़ा लेकर उसके हृदय में गम्भीर घाव करता है; किन्तु प्रकृति उसे अपने हृदय-रस (जल) को पिला कर उसकी तृष्णा शान्त करती है, उसका ताप निवारित करती है। मानव कुठार लेकर उसका गला काटता है, किन्तु उसकी जननी प्रकृति उसे शीतलता तथा सुरभि प्रदान करके उसका श्रम-निवारण करती है[5]। मानव-शिशु जब अपनी प्रेयसी कामिनी को खोज-खोज कर

१. आते ही उपकार याद है माता तेरा, हो जाता मन मुग्ध भक्ति-भावों का प्रेरा;
तू पूजा के योग्य, कीर्ति तेरी हम गावें, मन होता है तुझे उठा कर शीश चढ़ावें।
—मैथिलीशरण गुप्त, मातृ भूमि, मंगल-घट, पृ० १५।

तथा—जय जय भारत पुण्य निधान।
—रामचरित उपाध्याय, भव्य भारत, सरस्वती, खं० २१, सं० ६, सन् १९२०।

२. कड़क कर ज्वाला मुखी प्रचंड, पूछते कैसा अणु विस्फोट
और कोई आ शिशु भूकम्प लगा जाता युग व्यापी चोट
दूर वर्षा आँधी और बाढ़ हवा का ठंडा झोंका एक
न जाने कैसी करता मार कि लाखों पल में जाते लोट।
—विराज, वसंत के फूल, पृ० १२।

३. Nature never did betray
The heart that loved her.
—Wordswovth; pocts of the Romantic Revioal Page 65.

४. सूरदास, सूरसागर, ना० प्र० स०, प्रथम स्कन्ध, पद ११७।

५. जद्यपि मलय-बृच्छ जड़ काटै, कर कुठार पकरै।
तऊ सुभाव न सीतल छांड़ै, रिपु-तन-ताप हरै।
—सूरदास, सूरसागर, ना० प्र० स०, प्रथम स्कन्ध, पद ११७।

थक जाता है तो उसकी स्नेहमयी जननी प्रकृति उसे माँ का ममत्व प्रदान करती हुई सुख-शान्ति एवं विश्राम देती है[१]। उसके मानव-शिशु का प्रिय जब उसे निष्कासित कर देता है तो वह उसे आश्वासन एकवं सान्त्वनादि देकर जीवित रखती है[२]।

प्रकृति के विभिन्न उपकरण मानव-शिशु का अनेक प्रकार से पोषण करते हैं। निर्झर, नदी-नद, सरोवर उसे जल-दान करते हैं ; मेघ स्वयं अपने अस्तित्व को मिटा कर जल-वृष्टि करके उसकी सुख-समृद्धि की वृद्धि में योग देते हैं[३] ; चन्द्रमा स्वयं घट-बढ़ कर भी उसे पीयूष-पान कराता है[४] ; सूर्य अन्धकार का नाश करके प्रकाश-दान कराता है, वांछित आतप को प्रदान करके भौतिक समृद्धि की वृद्धि करता है ; पुष्प वातावरण को सुरभित करके उसे आनन्द प्रदान करते हैं ; पादप फल प्रदान करते हैं ; वसुन्धरा कन्द-मूल तथा औषधियाँ दान करती है और पक्षियों का संगीत तथा प्रकृति के मनोरम दृश्य उसके मनोरंजन में योग देते हैं।

जिस प्रकार मानव प्रकृति द्वारा लालित-पालित होकर पुष्ट होता है, उसके ममत्वपूर्ण स्नेह को प्राप्त कर अपने जीवन को सार्थक करता है उसी प्रकार प्रकृति भी मानव-करों द्वारा लालित-पालित एवं पुष्ट होती है, उसके स्नेह एवं कृपा का भाजन बन कर अपना जीवन धन्य कर लेती है। मानव प्रकृति के विभिन्न उपकरणों को अनेक प्रकार से सजाता, सँवारता तथा उनका लालन-पालन करता है। पौधों तथा फल-वृक्षों को वाटिकाओं में लगाना, पशु-पक्षियों को पालना तथा उनकी रक्षा करना उसकी इसी जन्म-जात प्रवृत्ति के द्योतक हैं। अपने द्वारा आरोपित वृक्षों तथा लालित-पालित पशु-पक्षियों के प्रति उसके हृदय में वही ममत्वपूर्ण स्नेह होता है जो माँ के हृदय में शिशु के प्रति पाया जाता है[५]।

---

१. जब प्रेमी पद चिह्न किसी के खोज-खोज थक जाता है।
तब विश्राम तुम्हारी ही मृदु गोदी में वह पाता है।
हो सुख-शान्ति-सदन छविमान, हे कानन कल-कान्ति-निधान।
—ठा० गोपालशरणसिंह, कानन, कादम्बिनी, पृ० ६।

२. निरपराधिनी सीता का जब किया राम ने निर्वासन ;
तब तुमने ही जीवित रक्खा उसको दे-दे आश्वासन।
हो महान् तुम करुणावान, हे कानन कल-कान्ति-निधान।
—ठा० गोपालशरणसिंह, कादम्बिनी पृ० ८।

३. मिट-मिट कर वारिधरों ने पानी बरसाना सीखा।
—गोपालशरणसिंह, शिक्षा, कादम्बिनी, पृ० ५२।

४. घट-बढ़ कर शशि ने जग को पीयूष पिलाना सीखा।
—गोपालशरणसिंह, शिक्षा, कादम्बिनी, पृ० ५३।

५. सुमना ने निज कर कमलों से जिन तरुओं को सींच सींच कर,
खड़ा किया था, उनके तन से लिपट लिपट कर प्रेम पुरःसर,
मुग्ध वसन्त न जाने क्या क्या सोचा करता था मन ही मन।
—रामनरेश त्रिपाठी, स्वप्न, पृ० ४५।

(च) भोक्ता-भोग्य सम्बन्ध—

मानव यदि भोक्ता है तो प्रकृति भोग्या और प्रकृति भोक्ता है तो मानव भोग्य। मानव प्रकृति का अनेक प्रकार से भोग करता है; उससे उत्पन्न अनाज से अपनी तृषा की तृप्ति करता है; उसके योग से निर्मित वस्त्रों से अपना शरीर आच्छादित करता है; उसके द्वारा प्रदत्त स्वर्ण, रजत, मुक्ता, हीरक, माणिक्य, नीलम, विद्रुम आदि रत्नों से अपने शरीर को आभूषित करता है; उससे निर्मित भवनों में निवास करता है और उसके संगीत तथा मनोरम दृश्यों से अपना मनोरंजन करता है। भौतिक सुख-सामग्री ही नहीं, आध्यात्मिक शृंगार में भी उसी का योग लेता है—उसी के द्वारा प्रदत्त उपकरणों से अपना शृंगार करता है। प्रेयसी मानवात्मा चंद्रमा के दर्पण में अपने तिमिर-केश सुलझाती, तारक रूपी पारिजात पुष्पों को चुन-चुनकर उनमें गूँथती, चन्द्र-रश्मियों का अवगुन्ठन डालती[1] अशोक के अरुण रंग से चरण रँगती, रजनी-गंधा के पराग का पाउडर लगाती, यूथी की कलियों से वेणी सँवारती, पाटल के सुरभित रंगों से साटिका रँगती, किंकिणी में भ्रमर-गुंजार से परिपूर्ण बकुल-पुष्प गूँथती और निशा से अंजन माँगकर अपने नेत्र आँजती है[2]। जिस प्रकार भोक्ता मानव के लिए प्रकृति भोग्या है, उसी प्रकार भोक्ता प्रकृति के लिये मानव-वर्ग भी भोग्य है। मृत मानव-शरीर के शृगाल, काक, गृध्र तथा कृमि-कीट द्वारा खाये जाने की बात प्रसिद्ध ही है—

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहै।
ता दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहैं।
या देही कौ गरब न करिए स्यार-काग-गिध खैहैं।
तीननि में तन कृमि, कै बिष्टा, कै ह्वै खाक उड़ैहै[3]।

---

१. शशि के दर्पण में देख देख, मैंने सुलझाये तिमिर-केश;
गूँथे चुन तारक-पारिजात, अवगुंठन कर किरणें अशेष।
—महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० ५३।

२. रंजित करदे यह शिथिल चरण ले नव अशोक का अरुण राग,
मेरे मंडन को आज मधुर ला रजनी-गन्धा का पराग,
यूथी की मीलित कलियों से,
अलि! दे मेरी कबरी संवार।
पाटल के सुरभित रंगों से रंग दे हिम सा उज्ज्वल दुकूल,
गुँथ दे रशना में अलि-गुंजन से पूरित झरते बकुल-फूल,
रजनी से अंजन मांग सजनि,
दे मेरे अलसित नयन सार।
—महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० ५५।

३. सूर, सूरसागर, ना० प्र० स०, प्रथम स्कंध, पद ८६।

इसके अतिरिक्त मृत्यु के अनन्तर मानव-शरीर के विभिन्न विघटित तत्व प्रकृति के वनस्पति-जगत् के प्राणियों का आहार बनते हैं, यह भी वैज्ञानिक सत्य होने के कारण काव्य का सत्य है।

(छ) अभिनंदी-अभिनंद्य सम्बन्ध—

जिस प्रकार मानव तथा प्रकृति अन्य रूपों में परस्पर सम्बद्ध हैं उसी प्रकार अभिनंदी-अभिनंद्य तथा अभिनंद्य-अभिनंदी रूप में भी। मानव यदि अभिनंदी, स्वागतिक अथवा स्वागतकर्ता है तो प्रकृति अभिनंद्य, अभिनंदनीय अथवा स्वागतव्य और यदि प्रकृति अभिनंदी है तो मानव अभिनंदनीय अथवा स्वागतव्य। कवि के लिये प्रकृति सप्राण है, मानव की सहचरी है और उसके सुख-दुःख की समभागिनी है। अतः वह उसके लिए उसी प्रकार स्वागत की पात्रा है, जैसे कोई अतिथि किसी स्नेही के स्वागत का पात्र होता है। वह वसंत-रजनी का आह्वान करता है और उसका अपने काव्य-संगीत से स्वागत करता है, ठीक उसी प्रकार जैसे कोई मनुष्य अपने किसी घनिष्ठ सम्बन्धी का करता है[1]। इसी प्रकार प्रकृति भी मानव का स्वागत करती हैं। कुणाल-जन्म के समय 'विहगावलियाँ' आकाश में मंगल-गान गा कर उसका अभिनन्दन करती हैं[2]। राम-जन्म के समय जड़-चेतन, समग्र प्रकृति हर्षवन्त होकर उनकी अभ्यर्थना करती है[3]। कृष्ण-जन्म के समय प्रकृति बधाई दे-दे कर उनका स्वागत करती है[4]। वनागत 'राम सीता तथा लक्ष्मण का प्रकृति वृक्ष-रूप में अपने किशलय-कर हिला-हिलाकर स्वागत करती है; पुष्प-रूप में उनके प्रति अपने सुन्दर, मृदुल मनोभाव प्रकट करती है; डालियों में नूतन फल भर-भरकर उन्हें भेंट करती है; दूर्वादलों के मनोरम थाल में हिम-विन्दुओं रूपी मुक्ता-राशि को लेकर

१. धीरे धीरे उतर क्षितिज से आ बसन्त-रजनी।
तारकमय नव वेणीवन्धन,
शीशफूल कर शशि का नूतन,
रश्मिवलय सित घन-अवगुण्ठन,
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे चितवन से अपनी।
पुलकती आ बसन्त-रजनी।
—महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० ४८।

२. विहगावलियों ने अम्बर में, गाया उस दिन मंगल गान।
—सोहनलाल द्विवेदी, कुणाल, पृ० ११।

३. हरषवन्त चर-अचर भूमिसुर तनरुह पुलक जनाई।
—तुलसी, गीतावली, बालकाण्ड, पद १।

४. देवी प्रसाद 'पूर्ण', पूर्ण-संग्रह, पृ० १२३-१२४।

उन पर न्योछावर करती है और अपनी समस्त निधियों को लेकर उनका अभिनन्दन करती है[1]।

(ज) उद्दीपक-उद्दीप्य सम्बन्ध—

मानव तथा प्रकृति के उद्दीप्य-उद्दीपक तथा उद्दीपक-उद्दीप्य सम्बन्ध भी उतने ही घनिष्ठ हैं, जितने कि उनके अन्य सम्बन्ध। मानव यदि उद्दीप्य है तो प्रकृति उद्दीपिका और प्रकृति उद्दीप्य है तो मानव उसका उद्दीपक। प्रकृति मानव की भावनाओं को उद्दीप्त करती है और मानव प्रकृति के भावों को।

प्रिय-संयोग की अवस्था में प्रकृति मानव के सुखात्मक भावों को उद्दीप्त करती है और प्रिय-वियोग की दशा में उसके दुखात्मक भावों को। वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् आदि ऋतुएँ उसके संयोग-सुख की वृद्धि करती हैं। त्रिविध समीर, पुष्प पल्लव, पादप-लता, पक्षियों का संगीत तथा सरिता का कलकल-निनाद उसके आमोद की वृद्धि करता हैं; प्रकृति का आनन्ददायक रूप शत-सहस्र गुना अधिक सुखदायक हो जाता है; चन्दन, कर्पूर आदि के लेप परम सुहावने हो जाते हैं; कमल, गुलाब, जूही, बेला आदि पुष्पों से युक्त शैय्या अत्यधिक अभिराम प्रतीत होती है; पावस की हरीतिमा, श्यामल मेघ-घटाओं की शोभा, विद्युत् की चमक, मेघों का गर्जन, रिम-झिम वर्षा, दादुर, मयूर, पपीहा तथा कोकिल के शब्द, बक-पंक्ति की शोभा, इन्द्रधनुष का बहुरंगी वैभव, जल का प्रवाह तथा चतुर्दिक व्याप्त घनान्धकार आदि प्रकृति-रूप उसके प्रेम-भाव को उदीप्त करके संयोगानन्द की वृद्धि करते हैं। सुहावने आकाश, लुभावनी वसुन्धरा तथा चमकती हुई विद्युत् के रमणीय वातावरण में वर्षा की फुहार स्वर्ण-वृष्टि के समान प्रतीत होती है[2]। शरद्-चन्द्रिका, निर्मल आकाश, त्रिविध पवन, हंस-समुदाय, मयूर-मण्डली का नृत्य, पुष्पों का अकलुष सौन्दर्य, भ्रमरों की गुञ्जार, सरिता-तट की निर्जनता, नीर की निर्मलता, रज का अभाव, मेघों की दौड़, वाटिकाओं की शोभा तथा हेमन्त एवं शिशिर का शीताधिक्य उसकी विभिन्न सुखात्मक भावनाओं को उद्दीप्त करता है।

---

१. किसलय-कर स्वागत-हेतु हिला करते हैं;
मृदु - मनोभाव - सम सुमन खिला करते हैं;
डाली में नव फल नित्य मिला करते हैं;
तृण-तृण पर मुक्ता-भार झिला करते हैं।
निधि खोले दिखला रही प्रकृति निज माया,
मेरी कुटिया में राज - भवन मन भाया।
—मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ० १५८।

२. पदमावति चाहत ऋतु पाई। गगन सोहावन भूमि सोहाई।
चमक बीजु, बरसै जल सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना॥
—जायसी, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० १४६।

किन्तु वियोग में प्रकृति के वही रूप, जो संयोग में हर प्रकार के सुखवर्द्धक प्रतीत होते हैं, परम दुःखदायी हो जाते हैं; कुञ्ज शत्रु बन जाते हैं; लताएँ प्रज्ज्वलित अग्नि-शिखाओं का रूप धारण कर लेती हैं; सरिता-प्रवाह, पक्षियों का कल-कूजन; पुष्प-विकास, भ्रमर-गुंजार, त्रिविध-समीर, सुखद जल, चन्दन तथा कपूर के लेप दग्धकारण हो जाते हैं; चन्द्रमा की सुधावर्षिणी रश्मियाँ-प्रलय-सूर्य के समान भूनने लगती हैं[1]। मन की विपरीत अवस्था में, तुलसी के राम के लिये पत्नी सीता के वियोग में घन-गर्जन भयोत्पादक हो जाता है; वसन्त के विभिन्न वृक्ष कामदेव के वीर सैनिक और पक्षी अश्व एवं गयन्द-समूह के समान प्रतीत होने लगते हैं। प्रकृति के सुरम्य दृश्य उनके हृदय में भय और आशंका उत्पन्न करते हैं और वे अत्यधिक विह्वल होकर कह उठते हैं—

बिरह बिकल बलहीन मोहिं, जानेसि निपट अकेल।
सहित बिपिन मधुकर खँग, मदन कीन्हि बगमेल[2]॥

केशव के राम को हिमांशु सूर्य सदृश संतप्तकारक, मलय-समीर बज्रवत् कठोर, दिशाएँ अग्नि-ज्वालाओं के समान प्रज्ज्वलित, अंग-लेप दग्धकार और रात्रि काल के समान भयंकर प्रतीत होती है[3]। देव की नायिका को प्रकृति का वही सौम्य रूप, जो संयोग में उत्साह एवं आनन्द की तरंगें उद्वेलित कर देता था, सहवास-सुख का प्रवर्धन करके जीवन में स्फूर्ति, चैतन्य एवं उल्लास का संचार कर आनन्द-भाव को उद्दीप्त करता था, वियोगावस्था में संतप्त, क्षुब्ध तथा उद्विग्न कर देता है। बसन्त के आकर्षक दिवस उसके लिये काल-तुल्य, त्रिविध समीर बाण-रूप, चंदन तथा घनसार आदि के सुगन्धित लेप दाहक, इत्र आदि सुगन्धित द्रव्य फाँसी के समान, गुलाब आदि पुष्प गाँसी (भाला) सदृश, केसर-जल अग्नि-तुल्य, वस्त्र जलते हुए और अबीर प्रज्ज्वलित अग्नि-ज्वालाओं के सदृश प्रतीत होता है[4]।

---

१. सूरदास, भ्रमरगीत-सार, पद ८५।

२. गोस्वामी तुलसीदास, रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, दोहा ३७ [क]।

३. हिमांशु सूर सो लगै सो बात बज्र सो बहै।
दिशा लगै कृसानु ज्यों विलेप अंग को दहै।
विशेष काल राति सो कराल राति मानिये।
वियोग सीय को न काल लोक हार जानिये।
—केशवदास, रामचन्द्रिका पूर्वार्द्ध, बारहवाँ प्रकाश, छन्द ४२, पृ० २०२।

४. कन्त बिन बासर-बसन्त लागे अन्तक से,
तीर ऐसे त्रिविध समीर लागे लहकन।
सान - धरे सार - से चन्दन घनसार लागे,
खेद लागै खेर, मृगमद लागे महकन।
फांसी-से फुलेल लागै, गांसी-से गुलाब अरु,
गाज अरगजा लागे चोवा लागे चहकन।

वसन्त का वही सुहावना रूप जो संयोग-काल में संयुक्ता रमणी के लिये अत्यधिक शोभन, सुखद एवं आकर्षण प्रतीत होता है[१], वियुक्तावस्था में अत्यधिक भयंकर हो जाता है; वाटिकाओं में अग्नि-ज्वालाएँ धधकती प्रतीत होती हैं[२] ; कोकिल कूक-कूक कर हृदय को टूक-टूक करने लगती है[३] ; चन्द्र-रश्मियाँ संतप्तकारिणी हो जाती हैं और ऐसा प्रतीत होने लगता है, मानों वसन्त ने विरहियों को दागने के लिये चतुर्दिक अग्नि-समूह प्रज्ज्वलित कर रक्खे हों[४] । वर्षा काल में वियोग की रातें बावन के डग हो जाती हैं—"बीती औधि आवन की, लाल मन भावन की, डग भई बावन की, सावन की रतियाँ[५]" मेघ-गर्जन सुनकर विरहिणी का हृदय धड़कने लगता है, विदीर्ण होने लगता है ; प्रवासी पति की स्मृति खटकने लगती है ; संयोग-काल की उसकी मधुर बातें विकल करने लगती हैं ; गृह के साथ-साथ उसका हृदय भी शून्य हो जाता है ; मयूर, कोकिल, चातक की ध्वनि हृदय में हूक उत्पन्न करती है ; दादुरों की ध्वनि विरहाग्नि को प्रज्ज्वलित करने लगती है ; दामिनी की दमक, इन्द्रधनुष की चमक, श्यामल घटा की झमक, शीतल समीर की झकोर, कृष्णा रात्रि, झिल्ली की झनकार[६], जुगनू की जमक[७] आदि सभी उसके वियोग-दुःख को शतशः उद्दीप्त करते हैं ।

अंग-अंग आगि-ऐसे केसरि को नीर लागे,
चीर लागे जरन, अबीर लागे दहकन ॥
—देव, देव-रत्नावली, छन्द २०१ ।

१. छावनौ गुलाल को सुहावनौ लगत आली ;
भावनौ लगत मोहिं आवनौ बसंत कौ ।
—मनिदेव, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य, पृ० २० ।

२. भागन-भाग बचौ बिरही जन बागन-बागन आगि लगी है ।
—अज्ञात, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु सौंदर्य पृ० २१ ।

३. अरी क्वैलिया कूकि करेजन की किरचैं-किरचै किये डारती है ।
—ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु सौन्दर्य, बसंत वियोग, छंद ५७ ।

४. बिरही जन के दिल दागिबे कौं, यह आगि दसों दिसि ते दहकी ।
—ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु सौन्दर्य, बसंत-वियोग, पृ० २३ ।

५. सेनापति, कवित्त-रत्नाकर, तीसरी तरंग, छन्द २८ ।

६. झिल्ली गन झाँझ झनकारैं, न सँभारैं नैक, दादुर दपट बीज तरसै तमाक तें ।
भरकी बिरह-आगि, करकी कठिन छाती, दरकी सजल जलधर की धमाक तें ।
—श्रीपति, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु सौन्दर्य, पृ० १२९ ।

७. जुगुनू-जमक देखि झिल्ली की झनक लेखि,
भय सौं बिसेष 'सेष' डरैं गज-गामिनी ।
—'शेष', ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु सौन्दर्य, पृ० १३० ।

इसी प्रकार शरद्-चन्द्रिका, निर्मल आकाश, स्वच्छ नदी-नीर तथा बहुरंगी पुष्प विरहिणी की वियोगाग्नि को प्रज्ज्वलित करते हैं, उसकी दुःखाग्नि को प्रचण्डतम रूप देने के लिये घृत का कार्य करते हैं। हेमन्त तथा शिशिर का शीत, रात्रि की दीर्घता, निशीथ की नीरवता, चन्द्र-ज्योत्स्ना तथा तारक-समुदाय उसके प्रिय की स्मृतियों को जागृत करके उसे पागल बना देता है। निराशा की पराकाष्ठा पर जब वियोगी मानव अत्यधिक विह्वल हो उठता है तो प्रकृति को प्रिय-मिलन के लिये प्रेरित करता हुआ स्वयं अपना दुर्भाग्य कोस कर रह जाता है[1]।

प्रकृति जिस प्रकार मानव-भावों को उद्दीप्त करती है, मानव भी सम्भवतः उसी प्रकार प्रकृति के भावों को उद्दीप्त करता है। किन्तु काव्य में प्रकृति के उद्दीपक मानव-रूप का वर्णन प्रायः देखने को नहीं मिलता। प्रकृति का संयोग-सुख अथवा वियोग-दुःख उद्दीपक मानव-रूप के कारण किस प्रकार तथा किन-किन परिस्थितियों में उद्दीप्त होता है, इसके सम्यक् चित्रांकन के लिये कवि की व्यापकतर दृष्टि तथा भावुकता विशेष की अपेक्षा है। बिना इसके प्रकृति के उद्दीपक मानव-रूप का सुष्ठु चित्रांकन सम्भव नहीं। प्रकृति के अन्तरंग जीवन में प्रवेश करने वाले व्यापक दृष्टि-सम्पन्न कवि उसके आलम्बन-रूप का चित्रण जितनी ही प्रचुरता से करेंगे, प्रकृति के उद्दीपक मानव-रूप के वर्णनों की ओर भी उनका ध्यान उतना ही अधिक आकृष्ट होगा, उसके विभिन्न रूपमय चित्रांकन की भी उतनी ही अधिक सम्भावना होगी।

(झ) शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्ध—

मानव तथा प्रकृति जिस प्रकार अन्य अनेक रूपों में परस्पर सम्बद्ध हैं, ठीक उसी प्रकार शिक्षक-शिक्षार्थी तथा शिक्षार्थी-शिक्षक रूप में भी। मानव प्रकृति का शिक्षक है और प्रकृति मानव की शिक्षिका। ब्रह्माण्ड का सर्वाधिक सुरम्य प्रकाश, ज्ञान-विज्ञान तथा आलोक का आगार मानव जिस प्रकार मानव-जगत् को विभिन्न प्रकार की शिक्षा देता है उसी प्रकार प्रकृति-जगत् को भी। पुष्प उससे मुसकराना सीखते हैं, नक्षत्र सजल-नेत्र होकर करुणा-किरणें बरसाना सीखते हैं, प्रसन्न-मुख लहरियाँ एकता की शिक्षा प्राप्त करके परस्पर मिल खो जाना सीखती हैं और भ्रमर

---

१. शैवलिनि ! जाओ, मिलो तुम सिन्धु से,
अनिल ! आलिंगन करो तुम गगन को,
चंद्रिके ! चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणो ! गाओ, पवन वीणा बजा।
पर, हृदय ! सब भाँति तू कंगाल है,
उठ, किसी निर्जन विपिन में बैठ कर
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी
भग्न भावी को डुबा दे आँख सी !
—पंत, ग्रंथि, वीणा-ग्रंथि, पृ० १२५।

जीवन-मधु का अनुपान कर प्रणय के मधुर गीत गाना सीखते हैं[१]। पुष्प मानवी से मुसकान की ही नहीं, प्रेम की पहचान की भी शिक्षा प्राप्त करते हैं; संगीत-प्रवीणा कोकिला उससे पंचम-तान की शिक्षा प्राप्त करती है; हंस गज-गामिनी- कामिनी से मन्द-मन्द गति से चलना सीखते हैं; लताएँ उससे अवसर के सदुपयोग, प्रणय सम्बन्ध निर्वाह तथा प्रिय-अवलम्ब का त्याग न करने की प्रेरणा प्राप्त करती हैं और कलिकाएँ मान-मोचन, सहिष्णुता, सहृदयता, निर्मलता तथा स्पष्टवादिता का पाठ पढ़ती हैं[२]।

'किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि मानव ही प्रकृति का शिक्षक है, प्रकृति उसे किसी प्रकार की शिक्षा नहीं देती। मानव के समान ही प्रकृति भी उसे शिक्षा देती है और उसके द्वारा प्रदत्त शिक्षा मानव की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होती है, उससे कहीं अधिक बहुमूल्य होती है। वह उसे एक नहीं, अनेक प्रकार की, साधारण नहीं, असाधारण शिक्षा देती है और अपनी विभिन्न प्रकार की शिक्षा एवं सन्देशों द्वारा उसका पथ-प्रदर्शन करके उसके भौतिक एवं आध्यात्मिक कल्याण में अनेक प्रकार से योग देती है। वसुन्धरा उसे क्षमा, सहिष्णुता तथा समता का, पर्वत दृढ़ता एवं निर्भीकता का, हंस न्याय का, मेघ परोपकार, दानशीलता तथा त्याग का, चातक, मीन, मयूर, चकोर, सर्प, कुमुदिनी तथा मृग अनन्यता का और पुष्प त्यागमय सेवा का सन्देश देते हैं।" मेघ विश्व-कल्याण के लिये अपने जीवन का उत्सर्ग कर देता है किन्तु मिटते समय भी उसके ओष्ठों पर इन्द्र धनुष की अनन्त स्मिति वर्तमान रहती है। विफल दिवस ढलते-ढलते भी संसार को प्रेम के रंग में रँग जाता है। पुष्प झड़ते-झड़ते भी वातावरण को सुरभित कर जाता है। बीज असंख्य बीजों का सर्जन करने के लिये ही अपने को गला देता है; वृक्ष नवीन सृष्टि

१. सीखा तुमसे फूलों ने मुख देख मन्द मुस्काना,
तारों ने सजल नयन हो करुणा - किरणें बरसाना,
सीखा हँस-मुख लहरों ने आपस में मिल खो जाना,
अलि ने जीवन का मधु पी, मृदु-राग प्रणय के गाना।

—पंत, मानव, गुंजन, पृ० २८।

२. अवसर न खो निठल्ली, बढ़ जा, बढ़ जा, विटप-निकट बल्ली;
अब न छोड़ना लल्ली, कदम्ब-अवलम्ब तू मल्ली।

—मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ० २१३।

तथा— मान छोड़ दे, मान अरी,
कली, अली आया, हँस कर ले, यह बेला फिर कहाँ धरी?
सिर न हिला झोंकों में पड़ कर, रख सहृदयता सदा हरी,
छिपा न उसको भी प्रियतम से यदि है भीतर धूलि भरी।

—मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ० २३१।

के लिये अपने पर्ण-समूह का त्याग कर देते हैं। पल असंख्य युग-कल्पों के निर्माण के लिये अपना अस्तित्व मिटा देता है[1]। प्रकृति-जगत के यह विविध कृत्य मानव-वर्ग के समक्ष विभिन्न प्रकार के आदर्श प्रस्तुत करके अनेक प्रकार से उसके कल्याण में योग देते हैं।

इसी प्रकार कोमल किशलयों से आवृत पुष्प संसार को आशावादिता का पाठ पढ़ाते हैं; हिमाद्रि शक्ति, दृढ़ता तथा जननी-सेवानुराग के महत्व का अमर सन्देश देता है; सूर्य तेजस्विता और सिंह साहस की प्रेरणा देता है[2]; झरता हुआ पुष्प, मूक तृण, बेसुध पिकी, तथा पिपासित चातकी अपनी विविध मुद्राओं एवं मानसिक स्थितियों से जीवन की विविध व्यथाओं के सामान्य ज्ञान का संकेत कर जाती है[3]। हंस तथा मीन मानव को तैरने की शिक्षा देते हैं; त्रिविध समीर मन्द गति की महत्ता का पाठ पढ़ाता है, होम-शिखा संसार में सद्भावों के संचार एवं प्रसारण की प्रेरणा देती हैं, तपस्वियों के आश्रमों के उन्नत वृक्ष परोपकार का अमर सन्देश देते हैं[4]। प्रकृति के नियमित कार्य उसे नियमशीलता के महत्व का ज्ञान कराते हैं, नक्षत्रों के नीरव नयनों का मूक रुदन संसार की क्षणभंगुरता की घोषणा करता है, कलिकाएँ पल्लवों के सुकुमार अवगुण्ठन उठा कर अश्रुमय नेत्रों से संसार की मादकता की व्यंजना करती हैं, पत्रों का मर्मर रोदन विश्व की निष्ठुरता पर आश्चर्य प्रकट करके मानव को करुणा तथा द्रवणशीलता की शिक्षा देता है और दिवस की हार पर व्यंग्य करता हुआ सायंकालीन तिमिर-समुद्र बढ़-बढ़कर मनुष्य के पागलपन की भर्त्सना

---

१. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० ६०।

२. कोमल कोमल पत्तों में, फूलों को हँसते देखा।
खिंच गई वीर के उर में, आशा की पतली रेखा ॥
\+ + +
उसको बल मिला हिमालय का, जननी सेवा अनुरक्ति मिली।
\+ + +
सूरज का उसको तेज मिला, नाहर समान वह गरज उठा।
—श्यामनारायण पाण्डेय, हल्दी घाटी, पृ० १८४।

३. यह बताया झर सुमन ने,
यह बताया मूक तृण ने,
वह कहा बेसुध पिकी ने,
चिर पिपासित चातकी ने,
सत्य जो दिव कह न पाया था, अमिट संदेश में।
आँसुओं के देश में।
—महादेवी वर्मा, दीपशिखा, गीत १७, पृ० ६६।

४. मैथिलीशरण गुप्त, शकुन्तला, पृ० ५।

करके विवेक-बुद्धि का ज्ञान कराता है[1] हिमालय मानव को प्रेम, करुणा, परोपकार, संवेदन-शीलता, धार्मिकता तथा आत्मोन्नति की अमर प्रेरणा देता है[2]; पौराणिक कथाओं तथा इतिहास का ज्ञान कराता है; आध्यात्मिक तत्वों का पाठ पढ़ाता है; अपने दृश्यों द्वारा काव्य, निर्झरों द्वारा संगीत, हिमाच्छादित उत्तुंग श्वेत शिखरों द्वारा उच्चादर्श तथा वनों द्वारा पावन सद्भावों की शिक्षा देता है[3]; परोक्ष रूप से विभिन्न प्रकार के आदर्श प्रस्तुत करके कवि के अन्तर्जगत् का निर्माण तथा भूमण्डल पर स्वर्गीय गरिमा की वृष्टि करता है और शिखर-शिखर पर उठ कर मानवात्मा को ज्योतिर्मान कर देता है[4]। पाषाण उसे अविचलित एवं निर्भय होकर जीवन के कष्टों को अपने वज्र-वक्ष पर सहन करने की शिक्षा देते हैं, झंझावात तिमिराच्छन्न-जीवन-मार्ग की बाधाओं को नष्ट करके शाश्वत गतिशीलता का पाठ पढ़ाता है और पतिंगे विश्व-प्रेम के ध्येय पर तन-मन-धन तथा जीवन का उत्सर्ग करके मुक्ति-शान्ति के लिए मर मिटने की अमर प्रेरणा देते हैं[5]।

---

१. स्वर्ण वर्ण से दिन लिख जाता जब अपने जीवन की हार,
गोधूली नभ के आँगन में देती अगणित दीपक बार,
हँसकर तब उस पार तिमिर का कहता बढ़-बढ़ पारावार,
'बीते युग, पर बना हुआ है अब तक मतवाला संसार।'
—महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० ४-५।

२. भेजते रहते हो तुम मौन, देश को नित्य नये सन्देश,
दिखाते आत्मोन्नति का मार्ग ज्ञान का देते हो उपदेश।
—गोपालशरणसिंह, सागरिका, पृ० ८।

३. तुम्हारे दृश्यों में है काव्य निर्झरों में है मृदु संगीत,
श्वेत शिखरों में उच्चादर्श बनों में हैं सद्भाव पुनीत।
—गोपालशरणसिंह, सागरिका, पृ० १०।

४. सोच रहा, किसके गौरव से मेरा यह अंतर जग निर्मित,
लगता तब, हे प्रिय हिमाद्रि ! तुम मेरे शिक्षक रहे अपरिचित।
+ + +
शिखर शिखर ऊपर उठ तुमने मानव आत्मा कर दी ज्योतित।
—पंत, हिमाद्रि, स्वर्ण-किरण, पृ० १५।

५. + + +
विश्व-प्रेम के एक ध्येय पर तन मन-धन जीवन अर्पण कर
मुक्ति-शान्ति के हित पर मिटना सीखे मानव परवानों से।
—तेजनारायण 'काक', जीवन-शिक्षा, मुक्ति की मशाल, पृ० ३१।

तृतीय अध्याय

मानवीय रूप तथा प्रकृति

भावुक कवि के लिये प्रकृति का स्वतन्त्र अस्तित्व एवं पूर्ण व्यक्तित्व है। निर्जीव खाद्य पदार्थों के समान वह केवल उसके उपभोग की वस्तु नहीं। उसका एक निजी संसार है, जहाँ वह मानव के समान ही सुख-दुःखमय जीवन-यापन करती है। कवि की दृष्टि में दूर्वादल के हिम-बिन्दुओं का रमणी के अश्रुओं से कम महत्व नहीं। उषा की अरुणा-अरुणाभा तथा मादक तरुणी के आरक्त कपोल दोनों ही उसके लिये आकर्षक हैं। दामिनी की दमक उसे भामिनी की मृदुल स्थिति के समान और कोकिल का पंचम-राग कामिनी के मधुमय संगीत सदृश प्रतीत होता है। उसके लिये जिस प्रकार उषा, सन्ध्या, रजनी, नीहार-कणिकाएँ, निर्झर, मेघ-समूह, नक्षत्र, चन्द्र, मधुकर, लहर, पल्लव तथा रश्मियों आदि में अनिन्द्य सौन्दर्य है; स्वर्ण की दीप्ति, रजत की उज्ज्वलता, मुक्तावलि की स्वच्छता, विद्युत् की दमक तथा विद्रुम की अरुणिमा में अनन्त आकर्षण है; स्वर्ण-निर्झर, हीरक-छटा, रजत के पारावार, कनक की छाया, केसर के वस्त्र, मरकत के मन्दिर, सुनहली रेणु तथा अरुणिम पराग आदि प्रकृति-रूप उसकी सौन्दर्योपासक वृत्ति की सृष्टि के उपकरण हैं, उसी प्रकार तरु-कोटर, पक्षी, गिलहरियों के घर तथा चील एवं चक्रवाक भी शोभन एवं मनोरम हैं। उसके लिये जिस प्रकार सरिता-तट, निकुंज-समूह, चन्द्र-ज्योत्सना तथा लताओं की हरीतिमा एवं प्रफुल्लता स्पृहणीय है उसी प्रकार वर्षा की उमड़ी हुई नदी की उच्छृंखलता से पोषित हरीतिमा तथा प्रफुल्लता का ध्वंस भी कमनीय एवं अभिनन्दनीय है। प्रकृति के भव्यतम अथवा रम्यतम उपकरणों से वह उन्हें कम सुन्दर नहीं समझता। उनका वर्णन भी वह उसी भावुकता, तत्परता एवं प्रेम-भाव के साथ करता है जिससे कि प्रकृति के मंजुलतम उपकरणों का[1]।

---

१. जितने हैं उसमें कोटर, सब पंछी गिलहरियों के घर।
संध्या को दिन जाता ढल, सूरज चलता है अस्ताचल
कर में समेट किरणें उज्ज्वल।
सो जाता है सुनसान लोक, चल पड़ते घर को चील कोक,
भर जाता है कोटर-कोटर, बस जाते हैं पत्तों के घर;
घर घर में जाती नींद उतर।
—गोपालसिंह 'नेपाली, 'पीपल', उमंग, पृ० ५३।

मानव तथा प्रकृति में रूप-साम्य

रूप-आकार तथा वेश-भूषा आदि की दृष्टि से मानव तथा प्रकृति में बहुत कुछ साम्य है। कवि के लिये मानव के विभिन्न नारी, पुरुष एवं बाल-रूप प्रकृति के नारी, पुरुष तथा बाल-रूपों से रूप, आकृति, वेश-भूषा तथा वस्त्राभरणों की दृष्टि से इतने अभिन्न हैं कि वह प्रायः उनमें भेद भी नहीं कर पाता। प्रकृति के स्वच्छन्द वातावरण से कोसों दूर रहने वाले आचार्य कवि केशव को भी इसी लिये वर्षा तथा कालिका के अस्तित्व के विषय में सन्देह ही बना रहा[1]; इसीलिये उन्हें चन्द्रमुखी, भ्रमर-केशी शरद् वृद्धा दासी के समान प्रतीत हुई[2]; इसीलिये सूर को कालिन्दी कृष्ण-वियोग में विरह-विधुरा, विषम ज्वर-पीड़िता, कृशांगी रमणी के रूप में दृष्टि-गोचर हुई[3]; इसीलिये शंकर कवि को वर्षा तथा वियोगिनी नारी में सन्देह ही बना रहा[4]; इसीलिये कवियों को आषाढ़ आक्रान्ता राजा के समान दृष्टिगोचर

१. भौंहैं सुरचाप चारु प्रमुदित पयोधर,
भूषन जराय जोति तड़ित रलाई है।
दूरि करी सुख मुख सुखमा ससी की नैन,
अमल कमल-दल दलित निकाई है।
'केसोदास' प्रबल करेनुका गमनहर,
मुकुत सुहंसक-सबद सुखदाई है।
अंबर-बलित मति मोहै नीलकंठ जू की,
कालिका कि बरषा हरषि हिय आई है।
—केशवदास, रामचन्द्रिका पूर्वार्द्ध, तेरहवाँ प्रकाश, छन्द १६, पृ० २१७।

२. दंतावलि कुन्द-समान गनौ। चन्द्रानन कुंतल भौंर घनौ॥
भौंहैं धनु, खंजन नैन मनौ। राजीवनि ज्यों पद-पानि भनौ॥
× × ×
लछमन, दासी वृद्ध सी, आई सरद सुजाति।
मनहुँ जगावन को हमहिं, बीते बरषा राति॥
—केशवदास, रामचन्द्रिका, पूर्वार्द्ध, तेरहवाँ प्रकाश, पृ० २२१।

३. सूरदास, भ्रमरगीत-सार, पद २७८, पृ० १०७-१०८।

४. चंचला सी चौंकति, चहूंधा आँसू बरषत,
फैले तम केस की न सुधि उर धारी है।
× × ×
सोभा लखि न्यारी, मन आपने बिचारी,
बरखा है ये भारी, कै बियोग वारी नारी है।
—शंकर कवि, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य पृ० १५४।

हुआ[1] और अनेक कवियों की नायिकाएँ प्रिय को विदेश-गमन से रोकने के लिये घनमाला सदृश नीली साटिका, विद्युत्-छटा सदृश दन्तावलि, जुगनू (खद्योत) सदृश हीरकावलि, कोकिल तथा चातक सदृश वाणी तथा अश्रु-मालिका के कीचड़ और इन्द्रधनुष् सदृश नथ से युक्त होकर वर्षा का रूप धारण करने को प्रस्तुत हुई[2]।

मानव सौन्दर्यानुभूति के विकास में प्रकृति

मानव-सौन्दर्यानुभूति के विकास में विभिन्न प्रकृति-रूपों का जितना योग है, उतना मानव-जगत् का नहीं। प्रकृति के विशाल क्रोड़ में जन्म धारण करने वाले मानव ने अपने चतुर्दिक प्रसारित भव्य प्रकृति-रूपों का ज्यों-ज्यों साक्षात्कार किया, त्यों-त्यों उसे रूप की महत्ता का ज्ञान होता गया। पुष्प की कोमलता का सतत अनुभव करते-करते उसे उसकी तुलना में मानव-त्वचा कठोरतर प्रतीत होने लगी; कलिकाओं की निश्छल मृदुल स्मिति का दर्शन करते-करते मानवीय स्मिति जीवन के विषादमय संघर्षों की कटुता से विमुक्त न होने के कारण अपेक्षाकृत म्लान दिखाई पड़ने लगी; नागराज की कृष्णाभा, सचिक्कणता, दीप्ति एवं कोमलता की अपेक्षा मानव केश-सौन्दर्य हीन समझ पड़ने लगा; भ्रू-युग्म, बरुनियों, दन्तावलि, ओष्ठों, नासिका, चिबुक, ग्रीवा, कटि, नाभि, जंघाओं तथा नखों का सौन्दर्य क्रमशः इन्द्रधनुष बाण, कुन्द-पुष्प, बिम्बाफल, कीर, तिल-पुष्प, कपोत, सिंह, सरोवर, कदली-स्तम्भ तथा अर्ध चन्द्र के सौन्दर्य की तुलना में अनुत्कृष्ट प्रतीत होने लगा और उक्त मानवांगों का आदर्श सौन्दर्य प्रकृति के विभिन्न भव्य रूपों में उपलब्ध होने लगा। फलतः उसने प्रकृति के विभिन्न उपकरणों को मानवांगों के आदर्श मान कर मानव-रूपांकन के लिये विभिन्न उपमान-रूपों में उनका प्रयोग करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार प्रकृति के विभिन्न मञ्जुल रूपों में मानव को अपने सौन्दर्य के उपमान-रूप विभिन्न मापदण्डों की उपलब्धि हुई।

---

१. धमकि नगारन सों मेघन गरजि कीन्हों,
चपला चमकि किरपान दरसायौ है।
× × ×
ऐसे समै जानि कै गुमान मत ठान प्यारी,
गाढ़े दल साजिकै असाढ़ चढ़ि आयौ है।
—अज्ञात, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौंदर्य, पृ० १५५।
× × ×
२. कीच अँसुआन कै मचाई, 'कवि देव' कहै,
बालम बिदेस कौ पधारिबौ हरति हौं।
इंद्र कैसो धनु साजि, बेसरि पहिरि आजु,
रहुरे वसंत! तोहि पावस करति हौं।
—देव, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौंदर्य, पृ० १५५।

किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि मानव प्रकृति की अपेक्षा अपने श्रेष्ठतम सौन्दर्य को भी निकृष्ट समझता है। प्रकृति के साहचर्य में आदि काल से रहते आने के कारण मानव अपने अंग-प्रत्यंगों के सौन्दर्य की तुलना समान प्रकृति-रूपों से करता आया है और प्रकृति के वही तादृश रूप उसके सौन्दर्य के आदर्श मापदण्ड हैं। किन्तु जिस प्रकार कोई वस्तु किसी मापदण्ड के समान ही नहीं, उससे उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट, न्यूनाधिक अथवा घट-बढ़ कर भी होती है, उसी प्रकार मानव-जगत् में भी प्रकृति के उपमान-मापदण्डों का अतिक्रमण करने वाला उनसे श्रेष्ठ सौन्दर्य भी है और उनकी किसी भी प्रकार समता न कर सकने वाला निकृष्ट सौन्दर्य भी प्रकृति के विभिन्न उपमान उसकी चुनी हुई अप्रतिम वस्तुएँ हैं। अतः उनसे यह सिद्ध करने का प्रश्न नहीं उठता कि प्रकृति-सौन्दर्य मानव की अपेक्षा उत्कृष्ट है अथवा अनुत्कृष्ट। प्रकृति में जिस प्रकार सुन्दर तथा अद्भुत वस्तुएँ हैं, उसी प्रकार हीन तथा कुरूप भी। उसमें जहाँ कोकिल की काकली है, वहाँ उल्लू की चीख भी: चातक का पी-कहाँ, पी-कहाँ का मधुर शब्द है, वहाँ कागराज का काँव-काँव भी; बुलबुल की संगीतमय स्वर-लहरी है, वहाँ श्री वैशाखनन्दन का राग भी; हंस तथा हस्तिनी की मदोन्मत गति है, वहाँ क्रमेलक तथा यम-वाहन की चाल भी; कमल, चन्द्र आदि की दीप्तिमान प्रफुल्लता है, वहाँ श्री शूकरराज का मुख भी; सिंह तथा सिंहिनी की सूक्ष्म एवं लचीली कटि है, वहाँ भैंस अथवा हस्तिनी की कटि भी; कदली-स्तम्भ की कोमलता, सचिक्कणता, उज्ज्वलता एवं दीप्ति है, वहाँ बाँस की कठोरता भी; युकलिप्टस वृक्ष की सुडौलता एवं सुदीर्घता है, वहाँ बेर तथा बबूल का बेढंगापन भी। यहाँ मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि प्रकृति के कुरूप तथा भद्दे उपकरण गर्हित एवं त्याज्य हैं। प्रकृति-प्रेमी भावुक कवि के लिये प्रकृति के सुन्दर-असुन्दर सभी रूपों में सौन्दर्य है और वह उसके कुरूप एवं भद्दे उपकरणों का साक्षात्कार करके उनमें उसी प्रकार आनन्द-विभोर एवं रसमग्न होता है, जिस प्रकार प्रकृति के सुन्दरतम उपकरणों के दर्शनानन्द में ; फिर भी यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि प्रकृति के अनन्त रूपों में जो वैभिन्य है, वह स्वयं ही उसके विभिन्न उपकरणों की सुन्दरता-असुन्दरता का प्रमाण है। मानव-जगत् में जिस प्रकार सौन्दर्य एवम् वैरूप्य है, उसी प्रकार प्रकृति-जगत् में भी, अन्यथा मानव रूपांकन के लिये प्रयुक्त किये जाने वाले प्रकृति के विभिन्न उपमान-रूपों की संख्या की सीमा ही न रहती। नित्य नवीन उपमानों के सर्जन का क्रम चलता रहता। मुख की प्रफुल्लता, कोमलता, सचिक्कणता, दीप्ति एवम् माधुर्य की अभिव्यक्ति के लिये कमल अथवा चन्द्रमा ही नहीं, गर्दभ, क्रमेलक अथवा हस्तिनी का मुख भी उपमान बनाया जाता; कटि की क्षीणता तथा लचीलेपन के लिये सिंह, मृणाल, तथा बसा के कमर से ही नहीं, भैंस अथवा भेड़ की कटि से भी तुलना की जाती; जंघाओं की सचिक्कणता, कोमलता तथा वर्ण-दीप्ति की व्यंजना के लिये कदली-स्तम्भ ही परम्परामुक्त उपमान के रूप में प्रयुक्त न होता, बेर अथवा बबूल के वृक्षों को भी प्रयुक्त किया जाता; नाभि-सौन्दर्य के चित्रांकन के लिये सरोवर

से ही उसकी उपमा न दी जाती, अन्धड़-विलोड़ित काल-रूप अनन्त पारावार को भी उपमान बनाया जाता; ग्रीवा-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिये कपोत की ग्रीवा को ही आदर्श मापदण्ड न माना जाता, काक, गृध्र तथा शृगाल की ग्रीवा का भी प्रयोग किया जाता। इसी प्रकार अधर, दन्त, नासिका, नेत्र, भौंह, ललाट, बरुनियों तथा केशों के सौन्दर्य की व्यंजना के लिये बिम्बाफल, बक-पंक्ति, कुन्द-पुष्प, मुक्ता, हीरकावलि, विद्युत्, कीर, भ्रमर, खंजन, मीन, कमल, धनुष, अर्द्ध-चन्द्र, वाण तथा सर्पादि उपमानों का ही प्रयोग क्यों किया जाता, युद्ध के समय का रक्त, श्मशान का श्वेत अस्थि-पुंज, काक अथवा वैशाखनन्दन की नासिका, अश्विनी तथा हस्तिनी के नेत्र, धनुषाकार काष्ठ अथवा यष्टिका, अर्द्ध-चन्द्राकार अस्थि, गोधूम के पौधों की पंक्तियाँ तथा काक की कालिमा भी तो प्रयुक्त हो सकती थी।

तात्पर्य यह कि मानव-सौंदर्य की व्यंजना के लिये प्रकृति के तादृश भव्य रूपों से साम्यादि प्रदर्शन की आवश्यकता है न कि विरूप उपकरणों से। मानव-सौन्दर्य-भावना प्रकृति के रम्यतम रूपों के साक्षात्कार से आदिकाल से विकसित होती रही है। प्रकृति के चुने हुए उपकरण उसकी सौन्दर्यानुभूति को पुरातनकाल से विकसित करते रहे हैं और वह मानव-जगत् में भी उसी सौन्दर्य, उसी रूपाकार की खोज करता रहा है। कामिनी के आनन के सौन्दर्य की माप वह प्रफुल्लित कमल पुष्प से करता है; राकेन्दु से उसकी शीतलता, स्निग्धता, वर्ण-दीप्ति एवं सुधा-वर्षण आदि गुणों की माप करता रहा है; सर्प की कालिमा, सचिक्कणता तथा कान्ति, इन्द्रधनुष के बहुरंगी वैभव, अर्द्ध-चन्द्र के पावन सौन्दर्य, कीर की नासिका, बिम्वाफल की अरुणिमा, कुन्द-पुष्प, मुक्ता, हीरकावलि, तारक-समुदाय तथा दामिनी की दमक, कपोत की ग्रीवा, पर्वत की दृढ़ता, सिंह तथा बसा की कटि और द्विधा रूप में विभक्त मृणाल के मध्य के रेशों की क्षीणता, कदली-स्तम्भ की सुडौलता, सचिक्कणता, दीप्ति एवं मसृणता और हंस एवं गयन्द की मन्द-मन्थर गति से उसके विभिन्न अंगों के रूप-वैभव के आदर्श प्राप्त करता रहा है। यही कारण है कि उसकी सौन्दर्यानुभूति की वृत्ति आज इतनी विकसित है कि वह प्रफुल्लित कमल-पुष्प अथवा पूर्ण राकेन्दु से अनुत्कृष्ट सौन्दर्य वाले रमणी के मुख-सौन्दर्य के साक्षात्कार का आनन्द-लाभ नहीं कर सकता; परम्परामुक्त प्रकृति के उपमानों से ही मानव-रूप-वैभव का चित्रण नहीं करता, प्रत्युत प्रकृति के अन्य रमणीय रूपों की कल्पना से प्रभावित होकर मानव में भी तादृश सौन्दर्य चाहता है। फलतः जहाँ कहीं भी उसे प्रकृति के भव्य रूपाकारों से साम्य रखते हुए मानव-रूप के दर्शन होते हैं, वह हर्षातिरेक से विह्वल होकर, अपने अन्तःकपाट खोलकर हृदयस्थ भाव-रश्मियों को बिखेर देता है—

आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम
बीच जब घिरते हों घनश्याम,

अरुण रवि मण्डल उनको भेद
दिखाई देता हो छविधाम ।[1]

तथा—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ वन बीच गुलाबी रंग[2]।

मानव - जगत् में प्रकृति के आदर्श सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब देखकर, तादृश-सौन्दर्य का साक्षात्कार कर उसे प्रतीत होता है कि प्रकृति स्वयं ही मानव के उस रूप-वैभव के निर्माण का कारण है । अतः वह यह कहने में संकोच नहीं करता कि 'मुग्ध स्वर्ण किरणों, नील व्योम तथा आकुल लहरों' ने उसके नेत्रों को प्रफुल्लता, नीलिमा और चंचलता प्रदान की है—

मुग्ध स्वर्ण किरणें प्रात
प्रथम खिलाये वे जलजात ।
नील व्योम ने ढल अज्ञात
उन्हें नीलिमा दी नव-जात ।
आकुल लहरों ने तत्काल
उनमें चंचलता दी ढाल[3] ।

प्रकृति-सौन्दर्यानुभूति के विकास में मानव

कवि के लिये प्रकृति यद्यपि रूप-सौन्दर्य, भाव-गुण एवं विभिन्न कार्य-व्यापार-मयी चेतन सत्ता है, तथापि अपने सहचर मानव के सौन्दर्य के साक्षात्कार से उसकी सौन्दर्यानुभूति में विकास होता अथवा हुआ है, इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति काव्य में प्रायः उपलब्ध नहीं होती । यद्यपि यह सत्य है कि प्रकृति भी रूप-वैभव सम्पन्न मानव का दर्शन करके कृतकृत्य हो जाती है—राम-कृष्ण आदि दिव्य रूप-गुण सम्पन्न महापुरुषों के सौन्दर्य से प्रभावित प्रकृति के वर्णन काव्य-जगत् में यथास्थान प्राप्त होते हैं—तथापि मानव-सौन्दर्य से प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति उत्तरोत्तर विकासोन्मुख होती रही हैं, इसे स्पष्टः प्रमाणित करना कठिन है । हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है, कि मानव प्रकृति के रूप-विकास में विभिन्न प्रकार से अपना योग अवश्य देता है । वाटिकाओं में पुष्पों तथा फल-वृक्षों को पंक्तिबद्ध रूप में लगाना, काट-छाँट कर अभीष्ट रूप देना, कलमें लगाकर उनकी नस्लों के परिष्करण का

१. प्रसाद, कामायनी, पृ० ४६ ।
२. प्रसाद, कामायनी, पृ० ४६ ।
३. सुमित्रानन्दन पंत, गुंजन, पृ० ४७ ।

प्रयत्न करना, आवश्यक पोषक तत्व प्रदान करना तथा उनकी देख-भाल करके उनके सौन्दर्य-विकास में योग देना उसका सदैव से ही कार्य रहा है। इसी प्रकार विभिन्न पशु-पक्षियों को पालना तथा उनकी नस्लों को उत्कृष्टतर बनाने का प्रयत्न करना भी उसी का कार्य है।

मानव-रूप-चित्रण में उपमान-प्रकृति

रूप-चित्रण की दृष्टि से मानव तथा प्रकृति दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं। मानव रूप-चित्रण के लिए प्रकृति के विभिन्न उपमान-रूपों और प्रकृति-रूपों की सौन्दर्याभिव्यक्ति के लिये मानवीय उपमानों के महत्वपूर्ण योग के अभाव में रूपाभिव्यक्ति में आकर्षण, मर्मस्पर्शिता तथा प्रभावोत्पादकता की योजना नहीं हो सकती। प्रकृति के आश्रय एवं योग के मानव-रूपाभिव्यक्ति सजीव हो उठती है और मानवी उपमानों के योग से प्रकृति-सौन्दर्यांकन हृदय पर स्थायी प्रभाव डालने वाला हो जाता है। प्राकृतिक उपमानों के साम्य-वैषम्यादि के योग से रहित मानव-रूपांकन का मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और न ही उसे उत्कृष्ट काव्य की संज्ञा दी जा सकती है। सौन्दर्य का प्रभाव अमोघ होता है। आबाल-वृद्ध नारी-पुरुष सभी उससे प्रभावित होते हैं। अबोध शिशु-वर्ग तक सौन्दर्य-विहीन वस्तुओं की अपेक्षा सुन्दर एवं रमणीय वस्तुओं की ओर अधिक आकृष्ट होता है; सादे वस्त्राभूषणों की अपेक्षा चित्र-विचित्र, बहुरंगी, दीप्तिमान वस्त्राभूषणों से अधिक प्रेम करता है। काव्य-जगत् में तो बाल-वृन्द ही क्या, जड़-चेतन समस्त प्रकृति सौन्दर्य से प्रभावित होती है। कीर, कपोत, मधुप, पिक तथा सारंग आदि उसके साक्षात्कार से सुध-बुध खो बैठते हैं; चन्द्रमा, बिम्बाफल तथा विद्रुम आदि जड़-पदार्थ तक लज्जित हो जाते हैं; निर्जीव विद्युत् तक आतंकित हो जाती है;[1] मधुमय निर्झर के कण-कण से सजल-गान प्रवहमान हो उठते हैं[2]; पुष्प हंसने लगते हैं; कलियाँ खिल पड़ती हैं[3]; चकोर अंगार-

---

१. जब मोहन मुरली अधर धरी।
× × ×
दुरि गये कीर, कपोत, मधुप, पिक, सारँग सुधि बिसरी।
उडुपति, विद्रुम, बिम्ब खिसान्यो, दामिनि अधिक डरी।
—सूरदास, आगरा विश्व-विद्यालय काव्य-संग्रह, पृ० ७६।

२. चुभते ही तेरा अरुण बान।
बहते कण-कण से फूट-फूट, मधु के निर्झर से सजल गान।
—महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० २४।

३. हँसने लगे कुसुम कानन के,
देख चित्र-सा एक महान,
विकल उठीं कलियाँ डालों में
निरख मैथिली की मुसकान। —मैथिलीशरण गुप्त, पंचवटी, पृ० ३६।

भक्षण करता है[1]।

सौन्दर्य से प्रभावित जड़-पदार्थों की जब यह दशा है तो फिर मानव तो चेतन, सभ्य, संस्कृत, बुद्धि-विवेकशील तथा सौन्दर्योपासक प्राणी है। वह सौन्दर्य से कितना प्रभावित हो सकता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

मानव-रूप-वैभव का साक्षात्कार करके मानव विशेषतः भावुक कवि आत्म-विभोर हो उसकी अभिव्यक्ति के लिये छटपटाने लगता है और प्रकृति-जगत के विभिन्न उपकरणों के योग से, विविध प्रकार से उसकी व्यंजना करके सन्तोष की साँस लेता है। जहाँ तक अपनी अभिव्यक्ति को रम्यतम रूप देने का प्रश्न है, वह उसके लिये विभिन्न प्रकार के प्रयत्न करता है। इसके लिए कभी तो वह मानव-रूप पर विभिन्न प्रकृति-रूपों का आरोप करता है; कभी दोनों का तादात्म्य प्रदर्शित करता है; कभी मानव-रूप की विभिन्न प्रकृति-रूपों से उपमा देकर दोनों का साम्य-प्रदर्शन करता है; कभी मानव-रूप में प्रकृति-रूपों का संदेह करता है; कभी मानव-सौन्दर्य की अपेक्षा प्रकृति-सौन्दर्य को निकृष्ट घोषित करता है; कभी मानव-रूप की उत्कृष्टता तथा प्रकृति-रूपों की अनुत्कृष्टता की व्यंजना द्वारा मानव-सौन्दर्य की महत्ता प्रतिपादित करता है; कभी तादृश प्रकृति-रूपों के साक्षात्कार से विस्मृत मानव-रूप के स्मरण की बात कह कर अभिव्यक्ति को आकर्षक रूप प्रदान करता है और कभी व्यक्ति मानव-रूप में विभिन्न तादृश प्रकृति-रूपों के भ्रम की बात कहकर मानव-रूप में तथा उसके मापदण्ड विभिन्न तादृश प्रकृति-रूपों के अत्यधिक साम्य का निर्देश करता है। मानव-रूप-चित्रण की यह विभिन्न शैलियाँ—उसके विभिन्न प्रकार—काव्य शास्त्र में विभिन्न अलंकारों के नाम से अभिहित किये जाते हैं। अतः मानव-रूपांकन में उपमान प्रकृति-रूपों के योग पर विचार करने के पूर्व अलंकार शब्द के महत्व, विकास तथा अर्थ आदि बातों पर यत्किंचित् प्रकाश डालना आवश्यक है।

'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्नाः' अथवा 'Minds differ as vivers differ' के कारण अलंकारों के महत्व के विषय में भी अत्यधिक मतभेद है। रसानुयायी आचार्य विश्वनाथ 'वाक्यं रसात्मकम् काव्यम्[2]' कहकर रस को काव्य की आत्मा मानते हुए अलंकारों को गौण स्थान देते हैं। रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य वामन 'रीतिरात्मा काव्यस्थ[3]' कह कर रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्द्धन ध्वनि को काव्य की आत्मा ठहराते हुए कहते हैं—'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः[4]'—अर्थात् काव्य की आत्मा ध्वनि

१ सौन्दर्य-सुधा बलिहारी, चुगता चकोर अंगारे।
—प्रसाद, आँसू, पृ० ४३।

२. विश्वनाथ, साहित्य दर्पण, प्रथम परिच्छेद, पृ० ५।

३. वामन, काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, प्रथम अधिकरण, द्वितीय अध्याय, श्लोक ६, पृ० १४।

४. आनन्दवर्द्धन, ध्वन्यालोक, उद्योत १, श्लोक १, पृ० २, कलकत्ता।

है, ऐसा मेरे पूर्ववर्ती विद्वानों का भी मत है। वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक 'वक्रोक्तिः-काव्य जीवितम्'[१] की घोषणा करते हुए वक्रोक्ति को काव्य का प्राण मानते हैं। औचित्यवादी आचार्य औचित्य को काव्य का सर्वस्व कहते हैं[२]। उक्त सभी आचार्यों के विपरीत अलंकारवादी आचार्य अपने सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा के आदि काल से ही अलंकार को काव्य का प्राण मानते रहे हैं। अलंकार सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य भामह के अनुसार काव्य का प्राण अलंकार है और अलंकार का प्राण वक्रोक्ति। उनके अनुसार अलंकार शब्द और अर्थ के वैचित्र का नाम है[३]। दंडी भामह की वक्रोक्ति के स्थान पर अतिशय को अलंकार की आत्मा घोषित करते हैं[४]।' परन्तु वास्तव में दोनों के आशय में केवल शब्द-भेद है—वक्रोक्ति से भामह का तात्पर्य भी अतिशय उक्ति का ही है जैसा कि परवर्ती आचार्यों ने स्पष्ट किया है 'एवं चातिशयोक्तिरिति वक्रोक्तिरिति पर्याय इति बोध्यम्'—और दोनों का अर्थ है लोकोत्तर चमत्कार 'लोकोत्तरेण चैवातिशयः.......अनया अतिशयोक्त्या विचित्रया भाव्यते' (लोचन अभिनवगुप्त)[५]।

दंडी के अनुसार अलंकार काव्य की शोभा करने वाले धर्म हैं[६]। समन्वयवादी आचार्य मम्मट काव्य को सालंकार मानते हुए भी अलंकारों की अनिवार्यता का निषेध करते हैं[७]। उनके अनुसार गुण काव्य के साक्षात् धर्म हैं और अलंकार काव्य के अंगभूत शब्द तथा अर्थ के शोभाकारी धर्म[८]। चन्द्रालोककार आचार्य जयदेव अलंकार रहित काव्य को उष्णताविहीन अग्नि सदृश असम्भव रचना मानते हैं। अलंकार-विरोधी आचार्यों को फटकारते हुए उन्होंने कहा है :—

१. कुंतक, वक्रोक्तिः काव्यजीवितम तथा रामनरेश वर्मा, वक्रोक्ति और अभिव्यंजना, पृ० ७४।
२. अलङ्कारास्त्वलङ्कारा गुणा एव गुणाः सदा।
   औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥
   —क्षेमेन्द्र, औचित्य-विचार-चर्चा १।५
३. वक्राभिधेय-शब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः।—भामह, काव्यालंकार १-३७।
४. अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
   वागीशमहितामुक्तिमिमातिशयाह्वयाम्॥ —दंडी, काव्यादर्श २।२
५. डा० नगेन्द्र, रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ८४।
६. काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारानप्रचक्षते। —दंडी, काव्यादर्श, २।११।
७. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।
   —मम्मट, काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, नागेश्वरी टीका, पृ० ४।
८. उपकुर्वंति तं संतं ये ऽङ्गद्वारेणजातुचित्,
   हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः। —मम्मट, काव्यप्रकाश, ८।६७

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती.
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती[१] ।

अग्निपुराणकार का मत है कि अलंकाररहित रचना माधुर्य एवंम् आह्लाद-रहित जीवनवाली विधवा नारी के समान होती है[२] । रसवादी आचार्य विश्वनाथ के अनुसार 'शोभा को अतिशयित करने वाले, रस, भाव आदि के उपकारक, शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म, अंगद [भुजबन्ध] आदि की तरह अलंकार के नाम से अभिहित किये जाते हैं[३] । अलंकारवादी आचार्य केशव के अनुसार कविता तथा कामिनी अलंकार के बिना सुन्दर नहीं प्रतीत होती[४] ।

इस प्रकार जहाँ कट्टर अलंकारवादी आचार्य अलंकारविहीन काव्य-रचना को उष्णताविहीन अग्नि सदृश असम्भव सृष्टि मानते हैं ; अलंकार को काव्य की आत्मा, प्राण अथवा सर्वस्व घोषित करते हैं ; आभूषण-विहीन नारी के सुन्दर मुख की सुन्दरता का भी निषेध करते हैं ; रसवादी बिहारी उन्हें दर्पण के से मोरचे कह कर उनकी अनावश्यकता की घोषणा करते हैं[५], वहाँ समन्वयवादी आचार्य उन्हें 'काव्य शोभातिशायी[६]' 'काव्य शोभाकर[७]' तथा 'अलमर्थमलंकर्त्तु:' कहकर काव्य-शोभा की अभिवृद्धि करने वाला उद्घोषित करते हैं ।

निष्कर्ष यह कि अलंकार काव्य की आत्मा भले ही न हों, उनके जीवन के स्पन्दन भले ही न माने जायँ, उसके शरीर का अनिवार्य अंग भले ही न कहे जायँ, रूप-छटा की अभिवृद्धि के उपकरण अवश्य हैं । उनके द्वारा सौन्दर्य में चार चाँद अवश्य लग जाते हैं, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता । व्याकरणाचार्यों की अलंकार की व्युत्पत्ति भी—अलंकरोतीतिअलंकारः (अर्थात् जो सुशोभित करता है,

१. जयदेव, चंद्रालोक, प्रथम मयूख, श्लोक ८ ।
२. अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती ।
—वेदव्यास, अग्निपुराण, अर्थालंकार प्रकरण, श्लोक २, पृ० ६१५ ।
३. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा: शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्
—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, १०।१
४. जदपि सुजाति सुलच्छणी, सुबरन, सरस, सुवृत्त ।
भूषन बिनु न बिराजई, कविता, बनिता, मित्त ।
—केशवदास, कविप्रिया, पाँचवाँ प्रभाव, छन्द १, प्रिया-प्रकाश, पृ० ४७ ।
५. मानहु विधि तन अच्छ छवि, स्वच्छ राखिबे काज ।
दृगपग पोछन को किये, भूषन पायन्दाज ।
—बिहारी, बिहारी-बोधिनी, दोहा सं० ११७, पृ० ५२ ।
६. विश्वनाथ, साहित्यदर्पण पृ०-१ ।
७. दंडी, काव्यादर्श पृ० २-११ ।

वह अलंकार है) अथवा अलंक्रियतेऽनेनेत्यलंकारः अर्थात् जिसके द्वारा किसी की शोभा होती है, वह अलंकार है—यही घोषित करती है। अलंकार-प्रयोग की पृष्ठभूमि में छिपा हुआ उसका मनोवैज्ञानिक आधार भी यही सिद्ध करता है और उसकी मूल प्रेरणा भी इसी ओर संकेत करती है। मानव सौन्दर्योपासक प्राणी है। सौन्दर्य का दर्शन कर जब उसकी भावना उद्दीप्त होती है, तो उसकी वाणी स्वभावतः ही उद्दीप्त हो उठती है। मन के आवेग के साथ जब वाणी सहज ओजमयी हो उठती है, तो मानव आत्मप्रदर्शन के लिये कभी समान प्रकृति-रूपों के योग से अपनी सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति करता है और कभी अपने सहचर मानव को अपने समान ही सौन्दर्य से प्रभावित करने के लिये अतिशयोक्ति, रूपक तथा उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का आश्रय लेता है। नितांत व्यावहारिक दृष्टि से भी यह कहा जा सकता है कि मानव अलंकारों का प्रयोग उक्ति को प्रभावोत्पादक तथा आकर्षक बनाने के लिये करता है।

उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि अलंकार केवल भारतीय काव्य-ग्रन्थों में ही नहीं, योरोपीय काव्य-ग्रन्थों में भी प्रयुक्त होते रहे हैं और काव्य में उन्हें उचित महत्व भी उपलब्ध होता रहा है। अँग्रेजी के सिमिली (Simile) और मेटाफर (Metaphor) हमारी उपमा और रूपक के पर्याय हैं। फैबिल (Fable), पैरेबिल (Parable) और एलेगोरी (Allegory) शुद्ध अलंकार न होने पर भी रूपक और अन्योक्ति के रूपान्तर हैं। इसी प्रकार हाइपर्बोल (Hyperbole) अतिशयोक्ति, क्लाइमैक्स (Climax) सार, यूफैमिज्म (Euphemism) पर्याय, आइरनी (Irony) काकु वक्रोक्ति और पन (Pun) श्लेष एवं यमक का समकक्ष है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अलंकार वर्णन के विभिन्न रोचक ढंग हैं, आकर्षक तथा मनोरम प्रणालियाँ हैं, जिनसे काव्य-शोभा की अभिवृद्धि होती है और कवि की सौन्दर्यानुभूति पाठक पर मनोनीत प्रभाव डालती है। अलंकृत काव्य-रूप में सौन्दर्य का अनुभव करके पाठक अथवा श्रोता उसी प्रकार चमत्कृत एवं आश्चर्य-स्तब्ध हो उठता है।

सौन्दर्य की अनुभूति जब अनुभवकर्ता कवि को आत्मविभोर करके उसके मन को आवेगमय तथा भावनाओं को उद्दीप्त कर देती है, तो वह उसकी अभिव्यक्ति के लिये आकुल हो छटपटाने लगता है। ऐसी दशा में उसकी कल्पना स्वच्छन्द रूप से उत्तरोत्तर गतिशील होती हुई उसका विभिन्न रूप में वर्णन करने में उसकी सहायता करती है और वह कभी एक ही स्थल पर एक ही अंग अथवा रूप का विभिन्न प्रकार से वर्णन करता है ; कभी पूर्ण मानव-शरीर पर विभिन्न प्रकृति-रूपों का आरोप करता है ; कभी प्राकृतिक उपमानों पर तादृश मानवांगों की श्रेष्ठता प्रतिपादित करता है और कभी उपमान प्रकृति-रूपों से उनका साम्य-प्रदर्शन करता है। उदाहरण

के लिये देव की राधा तथा तुलसी के वर-वधू रूपी राम-सीता का निम्नांकित वर्णन लिया जा सकता है—

राधिका-सी सुर-सिद्ध-सुता, नर-नाग-सुता 'कविदेव' न भू पर।
चन्द करौं मुख देखि निछावरि, केहरि कोटि लटी कटि हू पर॥
काम-कमान हू को भृकुटीन पे, मीन मृगीन हू को दृग दू पर।
वारों री कंचन-कंज-कली, पिकबैनी के ओछे उरोजन ऊपर[१]॥

राधिका का सौन्दर्य ऐसा अप्रतिम है कि कवि उसके मुख पर कोटिशः चन्द्रमाओं को, कटि पर करोड़ों सिंहों को, नेत्रों पर मीनों और मृगों को और उरोजों पर कोटिशः स्वर्ण एवं कमल-कलिकाओं को न्योछावर करने को तत्पर है।

इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास वर-वधू रूपी राम-सीता के अनिंद्य सौन्दर्य की व्यंजना के लिये कभी उनका साम्य क्रमशः घन एवं विद्युत् से प्रदर्शित करते हैं; कभी उन्हें कामदेव रूपी ग्वाले द्वारा सुषमा रूपी गाय से दुहे गये शृंगार रूपी दुग्ध से जमाये गये अमृतमय दधि से निकले हुए नवनीत से निर्मित घोषित करते हैं और कभी उनकी रूप-राशि में ब्रह्मा रूपी कृषक द्वारा विरचित अनाद्य-राशि की सम्भावना करते हैं—

दूलह राम, सीय दुलही री!
घन-दामिनि-बर बरन-हरन-मन सुन्दरता नखसिख निबही, री।
\+ + +
सुखमा-सुरभि सिंगार-छीर दुहि मयन अमिय-मय कियो है दही, री।
मथि माखन सिय राम संवारे, सकल-भुवन-छवि मनहुँ मही, री।
तुलसिदास जोरी देखत सुख सोभा अतुल न जाति कही, री।
रूप-रासि बिरची बिरंचि मनो, सिला लवनि रति-काम लही री[२]।

मानव-रूप-दर्शन में आत्म-विभोर कवि को जब उसकी अभिव्यक्ति करते समय प्रकृति के उपकरणों की तुलना से सन्तोष नहीं होता, उसका सौन्दर्य कुछ अद्भुत सा ही प्रतीत होता है, तो वह एक साथ ही अनेक प्रकृति-रूपों को मानवांगों से साम्य-प्रदर्शन के लिये खोज निकालता है। किन्तु इस पर भी जब वह तुष्ट नहीं होता, जब उसे लगता है कि मानव-सौन्दर्य विचित्र है, अद्भुत है, लोकोत्तर है; प्रकृति के उपकरणों के साम्य-प्रदर्शन से ही उसका वास्तविक रूपांकन सम्भव नहीं; उसका वर्णन उसकी कल्पना-शक्ति से परे है; प्रकृति उसकी समता के योग्य नहीं, तो वह कभी उसमें प्रकृति-रूपों का आभास पाता है, उनकी सम्भावना करता है; कभी विभिन्न तादृश प्रकृति-रूपों का सन्देह करता है और कभी संसार में उसकी

---

१. देव, देव-रत्नावली, छन्द ११, पृ० १६।
२. तुलसी, गीतावली, बालकाण्ड, पद १०४।

उपमा न मिल सकने के कारण अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए स्पष्ट कह देता है कि यह अकलुष सौन्दर्य अवर्णनीय है, व्यंजना-शक्ति से परे है—

देखि सखी अधरनि की लाली।
मनि मरकत तें सुभग कलेवर ऐसे हैं बनमाली॥
मनों प्रात की घटा सांवरी तापर अरुन प्रकास।
ज्यों दामिनि बिच चमकि रहत है फहरत पीत सुबास॥
कीधौं तरुन तमाल बेलि चढ़ि जुग फल बिम्ब सुपाक्यौ।
नासा कीर आइ मनु बैठ्यौ लेत बनत नहिं ताक्यौ॥
हंसत दसन इक सोभा उपजति उपमा जदपि लजाइ।
मनों नील मनि पुट मुक्तागन बंदन भरि बगराइ॥
किधौं बज्र बन लाल नगनि खचि तापर विद्रुम पांति।
किधौं सुभग बन्धूक कुसुम तर झलकत जलकन कांति॥
किधौं अरुन अम्बुज बिच बैठी सुन्दरताई आइ।
सूर अरुन अधरन की सोभा बनरत बरनि न जाइ[1]॥

(क) मानव-रूपांकन के लिये प्रकृति से साम्य-प्रदर्शन—

मानव-रूप जब प्रकृति के उपकरणों के समान ही प्रतीत होता है, किसी प्रकार विषम लक्षित नहीं होता, तो कवि उसकी व्यंजना के लिये तादृश प्रकृति-रूपों से उसका साम्य प्रदर्शित करके वर्णन को सजीव तथा मार्मिक बनाने का प्रयत्न करता है। रूप-व्यंजना की यह पद्धति काव्यशास्त्र में उपमा अलंकार के नाम से अभिहित की जाती है। काव्य-सर्जन के आदि काल से लेकर आधुनिक काल तक के प्रायः सभी कवियों ने सौंदर्याभिव्यक्ति की इस शैली को अपना कर आत्म-पद-लाभ किया है। संस्कृत के सर्वाधिक यशस्वी कवि कालिदास अपनी इसी शैली के कारण विश्व-विख्यात हैं। वाल्मीकि, भवभूति, बाण, माघ तथा अन्य अनेक संस्कृत-कवियों ने तादृश प्रकृति-रूपों के साम्य-निरूपण द्वारा मानव-सौंदर्यांकन कर काव्य-जगत् को अपनी कृतियों की अमर भेंट की है। प्राकृत, अपभ्रंश तथा प्राचीन हिंदी-काव्य में भी अनेक स्थलों पर इसी आलंकारिक शैली में रूप-चित्रण हुआ है। वीरगाथा काल से लेकर वर्तमान काल तक के प्रायः सभी कवियों ने अनेक स्थलों पर इसी शैली को अपनाया है।

चन्द वरदाई ने पद्मावती के रूप-वैभव की आकर्षक व्यंजना के लिए उसके शरीर की सुगन्ध की उपमा कमल-पुष्प की सुगन्ध से, गति की हंस की मन्द-मंथर गति से और नखों की मोतियों से दी है:—

---

१. सूरदास, सूरसागर, दूसरा खण्ड, सम्पादक ; नन्ददुलार बाजपेयी, पृ० ८८८।

कमल गंध बय संध हंस गति चलत मंद मँद ।
सेत वस्त्र सोहै सरीर नष स्वाति बुन्द जस[1] ।

विद्यापति राधिका के मुख की चन्द्रमा से, नेत्रों की कमलों एवं मृगों से और वियोग-कालीन हार की सर्प से उपमा देते हैं[2] । जायसी पद्मावती के सम्भाषण-रत ओष्ठों का साम्य अरुणाभ सूर्य, दन्तावलि का भाद्रपद की तमावृता रजनी में चमकने वाली विद्युत की दीप्ति, और नाभि का अम्बुधि के गम्भीर आवर्त से प्रदर्शित करते हैं[3] । तुलसी राम के शरीर की कान्ति का साम्य मयूर-चन्द्रिकाओं से, नेत्रों का नीले कमल से और कण्ठ की कान्ति का मयूर की दीप्ति से प्रदर्शित करते हैं[4] । 'सेनापति' अपनी नायिका की दन्तावलि की उपमा कुन्द-पुष्प से, शरीर के वर्ण की स्वर्ण से, विरह-विह्वल रूप की उतारे हुए कुन्द-पुष्प से और प्रफुल्लित नेत्रों की कमल-पुष्प से देते हैं[5] । 'बिहारी' अपनी नायिका के शरीर की दीप्ति की उपमा स्वर्ण-जूही से[6]

१. पृथ्वीराज-रासो, पद्मावती-विवाह-समय, छन्द १२ ।

२. हरि सम आनन, हरि सम लोचन, हरि तहँ हरि बर आगी ।

+ + +

हरि भेल भार, हार भेल हरि सम हरि क बचन न सोहावै ।

—विद्यापति का अमर काव्य, पृ० ९-१० ।

३. ससि-मुख जबहिं कहै किछु बाता । उठत ओठ सूरज जस राता ॥

—जायसी, पदमावत, जा० ग्र०, पृ० २०९ ।

तथा—जस भादों-निसि दामिनि दीसी । चमकि उठै तस बनी बतीसी ।

—जायसी, पदमावत, जा० ग्र०, पृ०, २१४ ।

एवं—नाभिकुण्ड सो मलय-समीरू । समुँद-भँवर जस भँवै गम्भीरू ।

—जायसी, पदमावत, जा० ग्र० पृ०, ४७ ।

४. तन दुति मोर-चन्द जिमि झलकै । —तुलसी, गीतावली, बालकाण्ड, पद २८ ।

तथा—लोचन नील सरोज-से भ्रू-पर मसि बिन्द राज ।

—तुलसी, गीतावली, बालकाण्ड, पद १९ ।

एवं—केकि कंठ दुति, स्यामबरन बपु, बाल-विभूषन बिरचि बनाए ।

—तुलसी, गीतावली, बालकाण्ड, पद २० ।

५. कुंद से दसन धन, कुन्दन बरन तन, कुन्द सी उतारि धरी क्यों बनै बिछुरि कै ।

× × ×

सेनापति कमल से फूलि रहे अंचल मैं, रहैं दृग चंचल दुराये हू न दुरि कै ।

—सेनापति, कवित्त-रत्नाकर, दूसरी तरंग छन्द १० ।

६. सोनजुही सी जगमगै, अँग अँग जोबन जोति ।

—बिहारी, बिहारी-बोधिनी, दो० ११८ पृ० ५२ ।

और 'देव' अपनी नायिका के मुख की सूर्यमुखी से, दन्तावलि की कुन्द-कलिकाओं से, नासिका की पलाश-पुष्प से आभूषणों की मुक्ता-बेलि से, वस्त्रों की गुल-चाँदनी से, सम्पूर्ण शरीर के पूर्ण बिम्ब की पुष्पित वाटिका से[1] और उसकी नवेली सहेलियों की स्वर्ग-बेलि से देते हैं[2]। भारतेंदु अपनी नायिका की उपमा लता से, मुख की कमल-पुष्प से, नासिका की अलसी के पुष्प से, नेत्रों की कमल-दल से, अधर-युग्म की बिम्बाफल से, दन्तावलि की कुन्द से, जंघाओं की कदली-स्तम्भ से और कटि की गूलर के पुष्प से देते हैं[3]। 'हरिऔध' कृष्ण के श्याम शरीर की दीप्ति का साम्य जलमय मेघ से[4], मैथिलीशरण गुप्त रौद्र-वेशधारिणी कैकेयी का विद्युत से[5] और 'पंत' वियोगी मानव के सजल नेत्रों का 'गहरे, धुँधले, धुले, साँवले[6]' मेघों से और सुन्दरी प्रेयसी का तारिका से[7] प्रदर्शित करते हैं।

रूप-चित्रण की इस शैली में आधुनिक काल के पूर्व तक प्रायः परम्परायुक्त उपमानों का ही प्रयोग होता था, किंतु आधुनिक काल के कवियों ने कहीं-कहीं नवीन उपमानों की खोज करके इस क्षेत्र में अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। अधरों के परम्परागत उपमान बिम्बाफल, पल्लव तथा बन्धूक-पुष्प आदि हैं, किंतु 'हरिऔध'

---

१. सूरजमुखी सों चन्द्रमुखी को विराजे मुख, कुंदकली दन्त नासा किंशुक सुआरी सी।
मधुप से लोयन मधूक दल ऐसे ओंठ, श्रीफल से कुच कच बेलि तिमिरारी सी।
मोती बेल कैसे फूली मोतिन में भूषण, सुचीर गुल चाँदनी सों चंपक की डारी सी।
केलि के महल फूलि रही फुलवारी 'देव', ताही में उज्यारी प्यारी भूली फुलवारी सी।
—देव, कविता-कौमुदी भाग १, पृ० ४७५।

२. संग मै सहेली सोन बेली सी नवेली बाल, रंगमगे अंग जगमगति मसाल-सी।
—देव, देव-रत्नावली, पृ० ८७।

३. नागरी रूप-लता सी सोहै।
कमल सो बदन पल्लव से कर पद देखत ही मन मोहै।
अतसि-कुसुम सी बनी नासिका, जलज-पत्र से नयन।
बिम्ब से अधर, कुन्द दंतावलि, मदन बान सी सयन।
जानु बनी रम्भा की खम्भा सोभा होत अपार।
गूलर फूल सरिस कटि राजत कविजन लेहु विचारि।
—भारतेंदु, भारतेंदु-ग्रंथावली, राग-संग्रह, पृ० ४५६।

४. नवल-सुन्दर-श्याम-शरीर की, सजल-नीरद-सी कल-कान्ति थी।
—हरिऔध, प्रिय-प्रवास, पृ० ३।

५. पड़ी थी बिजली-सी विकराल, लपेटे थी घन - जैसे बाल।
—मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ० ४६।

६. गहरे, धुँधले, धुले, साँवले, मेघों से मेरे भरे नयन।—पंत, आँसू, पल्लव, पृ० १३।

७. तारिका-सी तुम दिव्याकार। —पंत, गुञ्जन, पृ० ६४।

ने उनकी उपमा सान्ध्य-गगन से देकर एक नवीन उद्भावना की है[1]। इसी प्रकार कतिपय स्थलों पर प्रसाद, पंत तथा निराला और एक-आध स्थल पर प्रयोगवादी एवं प्रगतिवादी कवियों ने नूतन प्राकृतिक उपमानों की उद्भावना द्वारा मानव-रूप-व्यंजना को आकर्षक रूप देने में जगत का महत्वपूर्ण योग लिया है।

(ख) एक ही मानव-रूप के विभिन्न उपमान—

मानव-रूप-वैभव से प्रभावित कवि जब उसकी अभिव्यक्ति के समय किसी एक तादृश प्रकृति-रूप से उसकी उपमा देकर तुष्ट नहीं होता, जब उसे लगता है कि यह अकलुष सौंदर्य इस एक प्रकृति-रूप के साम्य-प्रदर्शन से व्यक्त नहीं हो सकता, तो वह एक नहीं, अनेक उपमानों को उसकी तुलना के लिये खोज निकालता है; विभिन्न तादृश प्रकृति-रूपों के योग से उसकी आकर्षक अभिव्यक्ति करता है। ऐसे स्थलों पर कवि मानवांगों के विभिन्न उपमान-रूपों को माला (हार) के पुष्पों के समान गूँथकर उनके योग से उनके मार्मिक रूप का बिम्ब प्रस्तुत करता है—केशों की मेघ, अंधकार, तार, अंजन, भ्रमर तथा अमावस्या की रात्रि आदि[2]; नेत्रों की कमल, मीन, मृग, खंजन, चकोर आदि; ओष्ठों की बिम्बाफल, पल्लव, रक्ताभ किशलय, बन्धूक-पुष्प, पलाश तथा सान्ध्य गगन आदि और दन्तावलि की मुक्ता, तारकावलि, हीरकावलि, विद्युत्, कुन्द-पुष्प आदि प्रकृति के उपकरणों से एक साथ उपमा देता है।

(ग) मानव-रूप प्रकृति-तुल्य और प्रकृति-रूप मानव-तुल्य—

कवि जब मानव-सौन्दर्य को प्राकृतिक उपमानों से इतना अधिक मिलता-जुलता पाता है कि दोनों में उसे कोई अन्तर, कोई वैषम्य लक्षित नहीं होता; प्रकृति सौन्दर्य मानव-सौन्दर्य का आदर्श मापदण्ड और मानव-सौन्दर्य प्रकृति-सौन्दर्य के लिये आदर्श का रूप धारण करता दिखाई देता है, तो वह मानव-रूप की व्यंजना के लिए केवल प्रकृति-रूपों से उसकी तुलना करके ही तुष्ट नहीं होता, प्रत्युत उसे प्रकृति-रूपों का मापदण्ड भी घोषित करता है। उसके मनोमुग्धकारी नेत्र खंजन पक्षी के समान हैं और खंजन पक्षी उसके नेत्रों के समान चंचल हैं; वे मनमोहक नेत्र मछलियों के समान मुग्धकारी हैं और मछलियाँ उन्हीं के समान निर्मल सौन्दर्य-

१. गगन सांध्य समान सुओष्ठ थे, दसन थे युगतारक से लसे।
मृदु हँसी वर ज्योति समान थी, जननि-मानस की अभिनन्दिनी ॥
—हरिऔध, प्रिय-प्रवास, अष्टम सर्ग, छन्द ३१।

२. घन से, तम से, तार से, अंजन की अनुहारि,
अलि से, मावस रैनि से, बाला तेरे बार।
—पद्माकर, पद्माभरण, छन्द २३, पद्माकर-पंचामृत, पृ० ४१।

मयी; वे अनन्त शोभाशाली नेत्र मृग-नेत्रों के समान मनोहर हैं और कमल उन्हीं के समान आकर्षक हैं[1]; उसकी वेणी श्यामल अमावस्या के समान और श्याम अमावस्या उसकी वेणी के समान, उसके शरीर की दीप्ति पूर्णमासी के समान और पूर्णमासी उसके शरीर की दीप्ति के समान और उसका मुख चन्द्रमा के समान और चन्द्रमा उसके मुख के समान शोभायमान है[2]—कवि प्रायः इस प्रकार की उक्तियों द्वारा, विभिन्न प्राकृतिक उपमानों के योग से, अनुभूत मानव-रूप की अभिव्यक्ति करता है।

(घ) मानव-रूप पर प्रकृति-रूपों का आरोप अथवा मानव का प्रकृतीकरण

मानव-रूपाभिव्यक्ति के लिए आकुल कवि जब अपना अभीष्ट प्राकृतिक उपमानों की तुलना(उपमा) से सिद्ध होते नहीं देखता, तो वह उस पर तादृश प्रकृति-रूपों का आरोप अथवा उसका प्रकृतीकरण करता है। काव्यशास्त्रीय भाषा में हम इस शैली को रूपक कहते हैं। मानव-रूप पर तादृश प्रकृति-रूपों के आरोप द्वारा अभिव्यक्ति रूप-लावण्य में जो प्रभावोत्पादकता तथा प्रेषणीयता होती है, उसके विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। आदिकाल से लेकर अब तक के काव्य में इस शैली में रूप-चित्रण की प्रचुरता इसके महत्व का स्पष्ट प्रमाण है। इसमें मानव-रूपाधिक्य से प्रभावित कवि उसकी अभिव्यक्ति के लिये कभी मानव-शरीर पर सागर का आरोप करता है[3], कभी हृदय पर उद्यान, उसकी कल्पनाओं

---

१. सब मन रंजन हैं खंजन से नैन आली, नैनन से खंजन हू लागत चपल हैं।
मीनन से महा मनमोहन हैं मोहिबे को, मीन इनहीं से नीके सोहत अमल हैं॥
मृगन के लोचन से लोचन हैं रोचन ये, मृग-दृग इनहीं से सोहे पलापल हैं।
'सूरति' निहारी देखी नीके ऐरी प्यारी जू के, कमल से नैन अरु नैन से कमल हैं॥
—सूरति कवि, काव्यदर्पण, पृ० ४६४।

२. तेरी सी बेनी है स्याम अमाउस, तेरीयो बेनी है स्याम अमा सी।
पूरनमासी सी तूँ उजरी, अरु तोसी उजारी है पूरनमासी॥
तेरौ सो आनन चन्द लसै, तुअ आनन मैं सखी चन्द समा सी।
तोसी बधू रमणीय रमा, 'कविदेव' है तू रमणीय रमा सी॥
—देव, देव-रत्नावली, पृ० ११८, छन्द संख्या २२५।

३. देखौ माई सुन्दरता कौ सागर।
बुधि-बिबेक बल पार न पावत, मगन होत मन-नागर॥
तनु अति स्याम अगाध अंबुनिधि, कटि पट पीत तरंग।
चितवत चलत अधिक रुचि उपजति, भँवर परति सब अंग।
नैन-मीन, मकराकृत कुण्डल, भुज सरि सुभग भुजंग।
मुक्ता-माल मिलीं मानौ, द्वै सुरसरि एकै संग॥
—सूरदास, सूरसागर, ना० प्र० स०, दशम स्कन्ध, पद ६२८।

तथा—

पर क्यारियों, भावों पर पुष्पों, उत्साहों पर वृक्षों, चिन्ताओं पर तरंग-संकुल वापिकाओं, उमंगों पर नूतन लावण्यमयी लताओं, वासनाओं के उठने पर बेलियों के हिलने और सद्वाञ्छाओं पर मंजुभाषी पक्षियों का—

ऊधो! मेरा-हृदय-तल था एक उद्यान-न्यारा।
शोभा देती अमित उसमें कल्पना क्यारियां थीं।
प्यारे-प्यारे-कुसुम कितने भाव के थे अनेकों।
उत्साहों के विपुल-विटपी मुग्धकारी-महा थे॥
सच्चिन्ता की सरस-लहरी-संकुला-वापिका थी।
लोनी-लोनी नवल-लतिका थीं अनेकों उमंगें।
धीरे-धीरे-मधुर हिलतीं वासना-बेलियाँ थीं।
सद्वांछा के विहग उसके मंजु-भाषी बड़े थे[1]॥

कभी नेत्रों के श्वेत, श्याम तथा अरुण अंशों पर क्रमशः अमृत, विष तथा मदिरा का[2]; कभी युद्ध-रत मानव-रूप पर मेघ का—धनुष पर इन्द्रधनुष, रथ पर प्रबल समीर, टंकार पर गर्जन, शरवृष्टि पर जल-वृष्टि तथा प्रज्ज्वलित रोषाग्नि पर उद्दीप्त विद्युत् का,[3]; कभी धनुष तोड़ने के लिए मंच पर आरूढ़ मानव पर उदीयमान बाल-सूर्य, मंच पर उदयगिरि, शुभाकांक्षी संत-समुदाय पर कमलों तथा नेत्रों पर भ्रमरों का[4]; कभी विरह-विह्वल प्रेयसी पर चातक, बुलबुल, छाया, अग्नि, शून्य, नील घन तथा स्वर्णिम विद्युत् आदि का[5]; कभी उसके जीवन पर सान्ध्य गगन का—विराग पर धुँधले क्षितिज, सौभाग्य पर नूतन अरुणाभा, विरक्त काया पर छाया

सोभा-सिंधु न अंत रही री।
नन्द-भवन भरि पूरि उमँगि चलि, ब्रज की बीथिनि फिरति बही री।
—सूरदास, सूरसागर, ना० प्र० सं०, दशम स्कन्ध, पद ४२६।

१. हरिऔध, प्रिय-प्रवास, दशम सर्ग, छन्द ४८-४६।

२. अमिय, हलाहल, मद भरे, स्वेत, श्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत एक बार॥
—गुलाम नबी 'रसलीन', भ्रमरगीत सार की भूमिका, पृ० १६।

३. टंकार ही निर्घोष था, शर वृष्टि ही जल वृष्टि थी।
जलती हुई रोषाग्नि से उद्दीप्त विद्युति दृष्टि थी।
गाण्डीव रोहित रूप था, रथ ही सशक्त समीर था।
उस काल अर्जुन वीर वर, अद्भुत जलद गंभीर था।
—गुप्त, जयद्रथ वध, पृ० ८४।

४. तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड, दो० सं० २५४।

५. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१) पृ० ५४।

और सुधि-मधुर स्वप्नों पर सायंकालीन बहुरंगी मेघों का[1] और कभी अपने नेत्रों से सतत प्रवहमान अश्रुओं पर बहते हुए जल का, दुःख पर गन्देपन अथवा उसकी गँदलाहट का, सुख पर पंक का और स्वप्निल कल्पनाओं पर बुलबुलों का—आरोप करता है—

प्रिय ! इन नयनों का अश्रु-नीर !
दुःख से आविल, सुख से पंकिल,
बुद्‌बुद् से स्वप्नों से फेनिल,
बहता है युग-युग से अधीर[2]।

(ङ) मानव-रूप का प्रकृति में अध्यवसान—

मानव-रूप-साक्षात्कार से प्रभावित कवि जब मानव तथा प्रकृति-सौन्दर्य में कोई अन्तर नहीं देखता, तो कभी-कभी वह उसकी व्यंजना केवल प्रकृति-रूपों के ही कथन द्वारा करता है। ऐसे स्थलों पर कवि मानवांगों पर उपमान-रूप प्रकृति का आरोप इस प्रकार करता है कि मानव-रूप का प्रकृति-रूपों में अध्यवसान हो जाता है—मानव तथा प्रकृति-रूपों का व्यवधान (वैभिन्य) नष्ट होकर दोनों का तादात्मय हो जाता है। साध्य-वसाना लक्षणा पर आधारित मानव-रूप-चित्रण की रूपकातिशयोक्ति की यह आलंकारिक पद्धति मानव-मन पर अत्यधिक प्रभाव डालती है। हिन्दी-कवियों ने इस का प्रयोग मानव-रूप-चित्रण में अनेक स्थलों पर किया है। विद्यापति अपने नायक कृष्ण के रूप का वर्णन कमल-युग्म, चन्द्र-मालिका, तरुण-तमाल तथा उसे आच्छादित किये हुए विद्युत्-लता, उसकी शाखाओं के शिखरों पर देदीप्यमान नवीन अरुण पल्लव, चन्द्र-पंक्ति, विकसित युगल बिम्बाफल तथा उस पर स्थिर रूप से निवास करनेवाले कीर, चंचल खंजन पक्षियों के जोड़े तथा उसके ऊपर अधिष्ठित सर्पिणी और आवृत्त किये हुए मयूर के कथन द्वारा करते हैं—

ए सखि पेखलि एक अपरूप। सुनइत मानबि सपन सरूप।
कमल जुगल पर चाँद क माला। तापर उपजल तरुन तमाला।
तापर बेढ़लि बिजुरी-लता। कालिंदी तट धीरे चलि जाता।
साखा सिखर सुधाकर पाँति। ताहि नव पल्लव अरुनक भाँति।

---

१. प्रिय ! सान्ध्य गगन, मेरा जीवन।
यह क्षितिज बना धुँधला विराग,
नव अरुण-अरुण मेरा सुहाग,
छाया-सी काया वीतराग,
सुधि भीने स्वप्न रंगीले घन !! —महादेवी वर्मा, आधुनिककवि, पृ० ७४।

२. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० ४७।

बिमल बिंबफल जुगल बिकास। तापर कीर थीर करु बास ॥
तापर चंचल खंजन-जोर। तापर साँपिनि झाँपल मोर[1] ॥

यहाँ कमल-युग्म श्रीकृष्ण के चरणों, चन्द्रमालिका उनके नखों, तरुण तमाल श्यामल शरीर, विद्युत्-लता पीताम्बर, शाखाएँ हस्तद्वय, शाखा-शिखर उनके अग्रभाग, पल्लव हथेलियों, चन्द्र-पंक्ति नखों, बिम्बाफल ओष्ठों, कीर नासिका, खंजन नेत्रों, सर्पिणी केशों और मयूर उन्हें आच्छादित किये हुए मयूर-मुकुट के अकलुष सौन्दर्य की मार्मिक व्यंजना करता है।

महात्मा सूरदास ने नायिका राधा के अभूतपूर्व रूप-लावण्य की व्यंजना एक अद्भुत उद्यान के कथन द्वारा की है। उनका कथन है—'एक अद्भुत, अनुपम बाटिका है। उसमें दो सुन्दर कमल हैं। कमलों पर गज क्रीड़ा करता है। गज के ऊपर उससे अनुराग प्रदर्शित करता हुआ एक सिंह अवस्थित है। सिंह के ऊपर एक सुन्दर सरोवर है, सरोवर पर दो उच्च पर्वत और उन पर्वतों पर खिले हुए परागपूर्ण दो कमल-पुष्प। कमलों के ऊपर एक सुन्दर कपोत अधिष्ठित है; कपोत के ऊपर अमृत का फल लगा हुआ है; फल पर एक भव्य पुष्प है; पुष्प पर पल्लव हैं और उन पल्लवों के ऊपर शुक, कोकिल, कस्तूरी, काक, खंजन, धनुष, चन्द्रमा और उसके ऊपर एक मंजुल मणिधर नाग है[2]।' यहाँ बाटिका राधा के समग्र शरीर के अनुपम रूप-वैभव के पूर्ण बिम्ब के लिये, कमल चरणों के लिये, गज गति के लिये, सिंह कटि के लिये, सरोवर नाभि के लिये, पर्वत कुचों के लिये, कमल-पुष्प उनके अग्रांश के लिये, कपोत ग्रीवा के लिये, अमृतफल मुख के लिये, पुष्प चिबुक के लिये, पल्लव ओष्ठों के लिये और शुक, कोकिल, कस्तूरी, काक, खंजन, धनुष चन्द्रमा तथा मणिधर नाग क्रमशः नासिका, वाणी, तिलक, अलकावलि, नेत्र-द्वय, भ्रू-युग्म, ललाट, चूड़ामणि तथा वेणी के अनिंद्य सौन्दर्य की व्यंजना के लिये प्रयुक्त हुए हैं।

पंत जी ने मुख, नेत्र, प्रेमी, शरीर, यौवन आदि की व्यंजना क्रमशः कमल, खंजन, भ्रमर, क्यारियों तथा मध्याह्न-सूर्य में उनका अध्यवसान करके अत्यधिक मार्मिक एवं प्रभावोत्पादक ढंग से की है—

१. विद्यापति, विद्यापति का अमर काव्य, जुयाल, पृ० १७-१८।

२. अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गज क्रीड़त है, तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसे ता ऊपर, तेहि ऊपर अमृत फल लाग।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, तापर सुक, पिक, मृग-मद, काग।
खंजन, धनुष, चन्द्रमा ऊपर, ता ऊपर एक मनिधर नाग।
—महात्मा सूरदास, सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद २७२८।

कमल पर जो चारु दो खंजन, प्रथम
पंख फड़काना नहीं थे जानते,
चपल चोखी चोट कर अब पंख की
वे विकल करने लगे हैं भ्रमर को।
'संकुचित थीं प्रात जो नव क्यारियाँ
दुपहरी की, वे अरुण की ज्योति में
फूलने अब हैं लगीं, उन्मत्त कर
लोचनों को निज सुरा की कान्ति से[१] *।'*

इसी प्रकार अन्य अनेक हिन्दी-कवियों ने भी इस अद्‌भुत आलंकारिक शैली अपना कर हिन्दी-काव्य-जगत्‌ को अपनी भव्य उक्तियों की अमर भेंट की है।

(च) मानव-रूप में प्रकृति की सम्भावना—

मानव-रूप-साक्षात्कार से प्रभावित कवि उसकी व्यंजना के लिये प्रायः उसमें प्रकृति-रूपों की सम्भावना भी करता है। ऐसे स्थलों पर भी अन्य स्थलों की भाँति ही कवि का उद्देश्य अपनी अभिव्यक्ति को मर्मस्पर्शी, आकर्षक एवं चमत्कृत रूप प्रदान करना ही होता है। ऐसी दशा में रूप-साक्षात्कार में तन्मय कवि को ऐसा लगता है कि मानों यह मानव-रूप नहीं, प्रत्युत तादृश प्रकृति-रूप है। हिन्दी-काव्य में सूर, जायसी, विद्यापति आदि कवियों में इस प्रकार के स्थल अत्यधिक मार्मिक, भव्य, रसात्मक, सुमधुर एवं स्पृहणीय हैं।

श्यामसुन्दर कृष्ण के सिर पर बहुरंगी टोपी को देख कर सूर को ऐसा लगता है, मानों नूतन मेघ-मालाओं पर इन्द्र-धनुष शोभायमान हो; उनके मुख के चतुर्दिक प्रसरित आकर्षक, मंजुल, कोमल केश ऐसे प्रतीत होते हैं, मानों विकसित कमल-पुष्प पर भ्रमर-समूह विहार कर रहा हो; किलकते तथा हँसते समय उनकी दुग्ध-दंतावलि को बारबार लुप्त एवं प्रकट होते हुए देख कर ऐसा अनुभव होता है, मानों मेघ-पुंज में विद्युत्‌ लुप्त हो-हो कर चमक जाती हो[२]; स्वर्ण-प्रांगण में क्रीड़ा करते हुए

---

१. पंत, ग्रन्थि, वीणा-ग्रन्थि, पृ० १०६।

२. कहाँलौं बरनौं सुन्दरताई।
खेलत कुँवर कनक-आँगन में नैन निरखि छवि पाई।
कुलहि लसति सिर स्याम सुन्दर कैं, बहु बिधि सुरंग बनाई।
मानौ नव घन ऊपर राजत मघवा धनुष चढ़ाई।
अति सुदेस मृदु हरत चिकुर मन मोहन-मुख बगराई।
मानौ प्रगट कंज पर मंजुल अलि-अवली फिरि आई।
दूधदन्त-दुति कहि न जाति कछु अद्‌भुत उपमा पाई।
किलकत-हँसत दुरति प्रगटति मनु, घन मैं बिज्जु छटाई।
—सूरदास, सूरसागर, ना० प्र० स०, दशम स्कन्ध, पद १०८।

बालक-कृष्ण के छोटे-छोटे पैरों की छोटी-छोटी अंगुलियों के दीप्तिमान नखों की छटा ऐसी प्रतीत होती है, मानों कमल-दलों पर मोती शोभायमान हों[१]; घुटनों तथा हाथों के बल चलते हुए शिशु कृष्ण के कमलवत् चरण-युग्म एवं हस्त-द्वय का प्रतिबिम्ब मणि-जटित स्वर्ण-प्रांगण की मणियों पर पड़ता हुआ ऐसा प्रतीत होता है, मानों वसुधा रूपिणी गृह-लक्ष्मी उनके हाथों तथा चरणों के प्रतिबिम्ब द्वारा अपनी बैठक (ड्राइंग कक्ष) की प्रत्येक मणि पर कमलों का चित्र अंकित करके उसकी शोभा-वृद्धि कर रही हो[२]; बालक कृष्ण के ललाट पर लगे हुए गोरोचन के तिलक के पास ही कज्जल-विन्दु (डिठौना) ऐसा प्रतीत होता है, मानों भ्रमर-शावक कमल-पराग का अनुपान करके शोभायमान हो[३]; वक्षस्थल पर सुशोभित, मुक्ता-हार के मध्य व्याघ्र-नख ऐसा प्रतीत होता है, मानों बाल-चन्द्र नक्षत्रों के बीच विराजमान हो[४]। क्रीड़ा-शील राम को खिलौने के लिये किलकते तथा बारम्बार हाथ फैलाते हुए देख कर तुलसी को ऐसा प्रतीत होता है, मानों कमल-युग्म चन्द्र-भय से भीत होकर रक्षा के लिये सूर्य से प्रार्थना करते हों[५], मुख के दोनों ओर फैली हुई गभुआरी अलकों के मध्य ललाट पर शोभायमान रत्न-जटित लटकन को देखकर ऐसा लगता है मानों नक्षत्र-समूह अंधकार को चीर कर चन्द्रमा से मिलने के लिये जा रहा हो[६]; आभूषणों से विभूषित मंजुल, श्यामल तथा कोमल शरीर को देखकर ऐसा प्रतीत होता है,

१. छोटी छोटी गोड़ियाँ, अँगुरियाँ छबीली छोटी,
नख ज्योति, मोती मानौ कमल-दलनि पर।
—सूरदास, सूरसागर, ना० प्र० स०, दशम स्कन्ध, पद १५१।

२. कनक भूमि पर कर-पग-छाया, यह उपमा इक राजति।
करि-करि प्रति पद प्रतिमनि वसुधा, कमल बैठकी साजति।
—सूरदास, सूरसागर, ना० प्र० स०, दशम स्कन्ध, पद ११०।

३. गोरोचन को तिलक, निकटहीं काजर-बिन्दुका लाग्यौ री।
मनौं कमल कौ पी पराग, अलि-सावक सोइ न जाग्यौ री ॥
—सूर, सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद १३९।

४. सीपज-माल स्याम-उर सोहै, बिच बघ-नहँ छवि पावै री।
मनौं द्वैज ससि नखत सहित है, उपमा कहत न आवै री ॥
—सूर, सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद १३९।

४. उपर अनूप बिलोकि खेलौना किलकत पुनि पुनि पानि पसारत।
मनहुँ उभय अंभोज अरुन सों बिधु-भय बिनय करत अति आरत ॥
—तुलसी, गीतावली, बालकाण्ड, पद २०।

६. गभुआरी अलकावली लसै, लटकन ललित ललाट।
जनु उडुगन बिधु मिलन को चले तम बिदारि करि बाट ॥
तुलसी, गीतावली, बालकाण्ड, पद १९।

मानों भव्य शृंगार वृक्ष अद्भुत फलों से फलित होकर शोभायमान हो[1] और मणि-जटित स्वर्ग-प्रांगण में क्रीड़ा-विभोर राम के मणियों पर पड़ते हुए हाथों तथा चरणों के प्रतिबिम्ब को देख कर ऐसा लगता है, मानों पृथ्वी कमल-पात्र में उनकी सौन्दर्य-सुधा को भर कर अपने हृदय पर धारण कर रही हो[2]।

विद्यापति को राधा की श्वास से खिसके हुए वस्त्र से उसका शरीर इस प्रकार दिखाई पड़ता है, मानों नूतन मेघों के नीचे विद्युत् की रेखा शोभायमान हो[3]। युद्ध के रक्त-छींटों से शोभायमान श्यामल शरीर राम को देख कर तुलसी को ऐसा प्रतीत होता है, मानों नीलम के विशाल पर्वत में बीर बहूटियाँ फैलती हुई शोभायमान हों[4]। कुंचित, श्यामल, दीप्तिमय श्याम-रत्नों के समान पदमावती के केशों को देख कर जायसी को ऐसा प्रतीत होता है, मानों लहरें लेते हुए भुजंग चन्दन की सुगन्ध से युक्त उस केश-राशि से आकृष्ट होकर सिर पर आरूढ़ होकर चतुर्दिक लोट रहे हों[5]; उसकी माँग में शोभायमान मोतियों की लड़ी को देख कर ऐसा लगता है, मानों यमुना की श्यामल धारा के मध्य गंगा की श्वेत धारा शोभायमान हो[6]; उसकी भौंहों को देख कर ऐसा मालूम होता है, मानों कामदेव ने श्याम धनुष चढ़ा रक्खा हो[7]; नेत्रों को देख कर ऐसा लगता है, मानों मुख रूपी कमल-पुष्प के प्रेम में अनुरक्त भ्रमर उसके पराग-रस का अनुपान करके उड़ने के लिये उद्यत हों[8], बरुनियों को देख कर ऐसा प्रतीत होता है, मानों समुद्र के दोनों ओर

---

१. मंजु मेचक मृदुल तनु अनुहरत भूषन भरनि।
जनु सुभग सिंगार सिसु-तरु फर्‌यो है अद्भुत फरनि ॥
—तुलसी, गीतावली, बालकाण्ड, पद २४।

२. लसत कर प्रतिबिम्ब मनि-आँगन घुटुरुवनि चरनि।
जनु जलज-संपुट सुछवि भरि भरि धरति उर धरनि ॥
तुलसी, गीतावली, बालकाण्ड, पद २४।

३. ससन परस खसु अम्बर रे, देखल धनि देह।
नव जलधर-तर संचर रे, जनि बिजुरी-रेह ॥
—विद्यापति, विद्यापति का अमर काव्य, पृ० १६।

४. सोनित छींट-छटानि-जटे 'तुलसी' प्रभु सोहैं, महा छवि छूटी।
मानों मरक्कत-सैल बिसाल में फैलि चलीं बर बीर बहूटी ॥
—तुलसी, कवितावली, लंकाकाण्ड, छन्द ५१।

५. जायसी, पदमावत, जायसी-ग्रंथावली, पृ० ४१।

६. जायसी, पदमावत, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ४१।

७. जायसी, पदमावत, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ४२।

८. जायसी, पदमावत, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ४२।

राम और रावण की सेनाएँ अपने-अपने धनुषों पर वाण चढ़ाए खड़ी हों[1]; कानों में सुन्दर मणियों के कुण्डल ऐसे लगते हैं, मानों आकाश के दोनों छोरों पर कौंधा चमक-चमक कर शोभित होता हो[2] और उसकी सूक्ष्म कटि को देख कर ऐसा लगता है, मानों टूटी हुई कमल-नाल के मध्य उसके सूक्ष्म तार शोभायमान हों[3]।

इसी प्रकार नायिका के सूक्ष्म अवगुण्ठन में चमचमाते हुए उसके चंचल नेत्रों को देख कर बिहारी को ऐसा लगता है, मानों सुरसरिता के श्वेत जल में उछलते हुए मीन-युग्म शोभायमान हों[4]; बिखरे हुए केशों के मध्य मस्तक पर लगी हुई लाल बिन्दी को देख कर ऐसा प्रतीत होता है मानों राहु ने साहस करके सूर्य और चन्द्रमा दोनों को एक साथ पकड़ लिया हो[5]; मस्तक पर सुशोभित मणिमय टीके को देख कर ऐसा लगता है मानों सूर्य, चन्द्र-मण्डल में आकर उसकी शोभावृद्धि कर रहा हो[6] और फाग-क्रीड़ा-रत कृष्ण के श्यामल मुख पर शोभायमान अबीर को देख कर भारतेन्दु को ऐसा प्रतीत होता है, मानों नीले कमल पर प्रातःकालीन सूर्य की अरुणाभ रश्मि की छाया सुशोभित हो[7]।

(छ) मानव-रूप की प्रकृति से श्रेष्ठता—

मानव-रूप-साक्षात्कार से प्रभावित कवि जब उसे इतना उत्कृष्ट समझता है कि प्रकृति के तादृश रूप उसके समक्ष तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं, तो वह उसकी व्यंजना तादृश प्रकृति-रूपों की निकृष्टता की व्यंजना द्वारा करता है। प्रकृति-रूपों की हीनता-प्रदर्शन द्वारा कवि यह प्रदर्शित करने का सफल प्रयत्न करता है कि मानव-रूप प्रकृति के आदर्श रूपों से भी अधिक श्रेष्ठ हैं। जायसी की नायिका पद्मावती

---

१. जायसी, पदमावत, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ४३।

२. जायसी, पदमावत, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ४५।

३. जायसी, पदमावत, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ४७।

४. चमचमात चंचल नयन, बिच घूँघट पट झीन।
मानहु सुर-सरिता बिमल, जल उछरत जुग मीन।
—बिहारी, बिहारी-बोधिनी, दोहा ८२।

५. भाल लाल बेंदी दिये, छुटै बार छबि देत।
गह्यो राहु अति आह करि, मनु ससि सूर समेत॥
—बिहारी, बिहारी-बोधिनी, दोहा ४२।

६. नीको लसत ललाट पर, टीको जरित जराय।
छबिहिं बढ़ावत रबि मनौ, ससि मंडल में आय॥
—बिहारी, बिहारी-बोधिनी, दोहा ३६।

७. श्याम सरस मुख पर अति सोभित तनिक अबीर सुहाईं।
नील कंज पर अरुन किरिन की मनहुँ परी परछाईं॥
—भारतेन्दु, भारतेन्दु-सुधा, पृ० १३०।

के अंग-प्रत्यंगों का अभूतपूर्व सौन्दर्य प्रकृति के उपकरणों के लिये भी आदर्श मापदण्ड है, प्रकृति-सौन्दर्य, प्रकृति-रूप उसके समक्ष तुच्छ हैं। उसकी श्यामल, सघन, सुकोमल तथा दीप्तिमान केश-राशि पर नागराज वासुकि बलि जाते हैं; उसके दिव्य ललाट की कान्ति के समक्ष द्वितीया के चन्द्रमा की कान्ति कुछ भी नहीं है—चन्द्रमा की कान्ति तो दूर रही, सहस्रों रश्मियों से देदीप्यमान सूर्य भी उसे देख कर लज्जित होकर छिप जाता है[1]। सूरदास के कृष्ण के चरण-द्वय की शोभा का साक्षात्कार करके सूर्य भयभीत होकर आकाश में छिप जाता है; जंघाओं की सुन्दरता के समक्ष कदली-स्तम्भ शोभाविहीन हो जाता है, कटि के सौन्दर्य का दर्शन करके सिंह लज्जित होकर छिप जाने के लिये सघन बनों को खोजता-फिरता है[2]; भुजाओं के सौन्दर्य से लज्जित होकर सर्प बिलों में, नेत्रों के रूप से पराजित होकर कमल सरोवरों में और मुख के रूप-लावण्य की समता न कर सकने के कारण चन्द्रमा आकाश में छिप कर उसकी शरण ग्रहण करता है[3]। उनके अंग-प्रत्यंगों की दीप्ति से लज्जित होकर सूर्य तथा चन्द्र भूतल से दूर आकाश में उदित होते हैं[4]; नासिका के सौन्दर्य से कीर, कण्ठ के सौन्दर्य से कपोत, केश-सौन्दर्य से भ्रमर, वाणी के सौन्दर्य से कोकिल और नेत्रों के सौन्दर्य से मृग आश्चर्य-चकित एवं आत्मा-विस्मृत हो जाते हैं; मुख-सौन्दर्य का साक्षात्कार करके चन्द्रमा, मसूड़ों का रूप-दर्शन करके मूँगा, होठों को देख कर पल्लव तथा बिम्बाफल लज्जित हो जाते हैं और पीताम्बर की कान्ति से विद्युत् भयातंकित हो उठती है[5]।

प्रकृति-सौन्दर्य पर मानव रूप की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करके गोस्वामी तुलसीदास ने मानव-सौन्दर्य की मर्मस्पर्शी व्यंजना अनेक स्थलों पर की है। सुन्दरी सीता की सम्यक् रूपाभिव्यक्ति के लिये उन्हें प्रकृति अथवा मानव-जगत् में कोई उपमा ही उपलब्ध नहीं होती। उनके सौन्दर्य के समक्ष प्रकृति की समस्त उपमाएँ नत हैं—

---

१. जायसी, पद्मावत, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ४१-४२।

२. चरन की छवि देखि डरप्यौ अरुन गगन छपाइ।
जानु करभा की सबै छवि, निदरि, लई छँड़ाइ।
जुगल जंघनि खम्भ-रम्भा, नाहिं समसरि ताहि।
कटि निरखि केहरि लजाने, रहे बन-घन चाहि॥
—सूर, सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद २३४।

३. भुज भुजंग, सरोज नयननि, बदन बिधु जित्यौ लरनि।
रहे बिबरन, सलिल, नभ, उपमा अपर दुरि डरनि॥
—सूर, सूरसागर, दशम स्कन्ध पद १०६।

४. अंग-अंग छवि मनहुँ उये रवि, ससि अरु समर लजाई।
—सूर, सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ६२६।

५. सूर, सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ६५६।

उपमा सकल मोहि लघु लागी। प्राकृत नारि अंग अनुरागी॥
सिय बरनिअ तेइ उपमा देई। कुकबि कहाइ अजसु को लेई[१]॥

प्रकृति-सौन्दर्य मानव के समकक्ष नहीं, इस कथन द्वारा गोस्वामी जी ने राम-सीता के रूप-लावण्य की उत्कृष्टता अनेक स्थलों पर व्यंजित की है। राम के सहज शोभायमान नेत्रों की रूप-व्यंजना के लिये वे ज्यों ही प्रकृति के उपमानों से साम्य-प्रदर्शन का उपक्रम करते हैं, त्यों ही उनके रूपोत्कर्ष से अभिभूत खंजन, मीन तथा कमल आदि समस्त उपमान सकुचने-सहमने लगते हैं—

सोहत सहज सुहाये नैन।
खंजन, मीन, कमल सकुचत तब जब उपमा चाहत कवि दैन[२]।

बिहारी की नायिका के शरीर की वर्ण-दीप्ति की समता में केसर और चम्पा का वर्ण कुछ भी नहीं; उसे देख कर स्वर्ण का सौन्दर्य भी नष्ट हो जाता है[३]। उसके नेत्र हरिणी के नेत्रों से भी अधिक सुन्दर हैं[४]। मैथिलीशरण गुप्त के राम के दर्शनों और अधरों का सौन्दर्य मुक्ता और विद्रुम को भी लज्जित करने वाला है[५]। पंत की नायिका के रूप-लावण्य क समक्ष प्रकृति के समस्त तादृश रूप नत हैं। उसकी मंजुल मूर्ति का साक्षात्कार करके वसन्त का रूप-वैभव-सम्पन्न वन अपमान की अग्नि-ज्वाल से जलता है; पलाश और कचनार उसके दर्शनों की लालसा रूपी लौ से लाल हो उठते हैं; उसके कपोलों की मदिरा पी कर गुलाब के पुष्प मदोन्मत हो जाते हैं; नासिका के ध्यान मात्र से शुक नत हो जाता है, पलाश वक्र हो जाते हैं; दंतावलि चंचल दीप्ति कुन्द-कलिकाओं में कोमल आभा का रूप धारण करती है; तिलक-वृक्ष उसकी चंचल चितवन के व्याज से छत्र-सुख का लाभ प्राप्त करता है; अशोक उसके चरणों को चूम कर प्रसन्न-पुलकित हो मंजरित हो उठता है; प्रियंगु-लता उसके स्पर्श से कृत्कृत्य हो जाती है; चम्पक पुष्प उसके शरीर की सुगन्ध से चमत्कृत होकर उसे चुरा लाता है; भ्रमर उसके मुख की सुगन्ध का अनुपान करके उन्मत्त हो उठते हैं; लवंग-लता उसके समान तन्वंगी बनने के लिये नित्य-प्रति अपने अंग चुनाती, लाजवती उससे लज्जा की शिक्षा प्राप्त करती और माधवी उसमें वसन्त के समस्त उपकरण देख कर विनत हो उसका सम्मान करती है—

तुम्हारी मंजुल मूर्ति निहार
लग गई मधु के बन में ज्वाल,

---

१. तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड, धनुष-यज्ञ-प्रसंग, पृ० २३७।
२. तुलसी, गीतावली, बालकाण्ड, पद ३२।
३. बिहारी, बिहारी-बोधिनी, दोहा १३६।
४. बिहारी, बिहारी-बोधिनी, दोहा ५५।
५. इन दशनों-अधरों के आगे, क्या मुक्ता हैं, विद्रुम क्या?
—गुप्त, पंचवटी, पृ० ४८।

खड़े किंशुक, अनार, कचनार
लालसा की लौ से उठ लाल।
+ + +
लालिमा भर फूलों में प्राण।
सीखती लाजवती मृदु लाज,
माधवी करती झुक सम्मान
देख तुम में मधु के सब साज[1]।

हेतूत्प्रेक्षा से पुष्ट प्रतीप की इस आलंकारिक शैली में प्रकृति के रूपोत्कर्षमय उपकरणों की तुलनात्मक अश्रेष्ठता द्वारा मानव-रूप-वैभव की उत्कृष्टता की व्यंजना कितनी सरस, मार्मिक एवं हृदयहारी है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

(ज) मानव में प्रकृति की अपेक्षा रूप-विशेषताधिक्य—

मानव-रूप-दर्शन से प्रभावित कवि उसकी उत्कृष्टता-प्रदर्शनार्थ तादृश प्रकृति-रूपों से दी जानेवाली उसकी उपमा को अनुपयुक्त सिद्ध करने के लिये, यदा-कदा प्रकृति के अप्रतिम रूपों की हीनता तथा मानव-रूपाधिक्य का वर्णन भी करता है। मुख की उत्कृष्टता की अभिव्यक्ति के लिये चन्द्रमा को खारी समुद्र से उत्पन्न, विष का भाई, सकलंकी, दिन में म्लान तथा राहु-भय से सदैव आतंकित रहने वाला और मुख को सतत प्रफुल्ल तथा राहु-भय से रहित कहकर चन्द्रमा से उसकी उपमा अयुक्त सिद्ध करना[2]; कमल पर उसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिये कमल को रात्रि में म्लान एवं संकुचित हो जाने वाला तथा मुख को सदैव विकसित रहने वाला कहना[3]; भुजाओं को मृणाल से श्रेष्ठ घोषित करने के लिये मृणाल को कंटकित तथा भुजाओं को सुपुलकित कह कर मृणाल को उनकी उपमा के अयोग्य ठहराना[4] और

---

१. सुमित्रानन्दन पंत, गुंजन, पृ० ४६।

२. जनमु सिंधु पुनि बंधु बिषु दिन मलीन सकलंक।
सिय मुख समता पाव किमि चंदु बापुरो रंक॥
—गो० तुलसीदास, रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा २३७।

तथा—का सरिवर तेहि देउँ मयंकू। चान्द कलंकी वह निकलंकू॥
औ चाँदहि पुनि राहु गरासा। वह बिनु राहु सदा परगासा॥
—जायसी, पद्मावत, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ४२।

३. सिय मुख सरद-कमल जिमि, किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह, निसि दिन यह बिगसाइ॥
—तुलसी, बरवै रामायण, बालकाण्ड, छन्द ३।

४. मुख धर्म-बिन्दु-मय ओस-भरा अम्बुज-सा,
पर कहाँ कंटकित नाल सुपुलकित भुज-सा?
—मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ० १५७।

नेत्रों के सौन्दर्य की व्यंजना के लिये प्रकृति के तादृश्य रूपों को हेय तथा नेत्रों को श्रेष्ठ बताना[1]; प्रकृति-रूपों के तुलनात्मक निकृष्टताभिव्यञ्जन द्वारा मानव-रूप की श्रेष्ठता की अभिव्यक्ति के सरस एवं मार्मिक दृष्टान्त हैं।

(भ) मानव-रूप में प्रकृति का भ्रम—

मानव-रूप-साक्षात्कार से प्रभावित कवि जब उसकी अभिव्यक्ति के लिये आकुल हो उठता है; जब उसे ऐसा लगता है कि मानव तथा प्रकृति-रूप बिम्ब-प्रतिबिम्बवत् अभिन्न हैं; दोनों में कोई अन्तर नहीं, तो वह यदा-कदा मानव-रूप में तादृश प्रकृति-रूपों के भ्रमोल्लेख द्वारा मानव-रूप-वैभव की व्यंजना करता है। इस प्रकार मानव-रूप में प्रकृति के भ्रम-निर्देश द्वारा कवि अपनी अभिव्यक्ति को सरस, मार्मिक तथा आकर्षक रूप देकर काव्य-जगत् को अपनी मधुमय उक्तियों की अमर भेंट करता है। यद्यपि वस्तुतः यह काव्याभिव्यक्ति की एक चमत्कारपूर्ण एवं आकर्षक पद्धति है और इसका लक्ष्य मानव-रूपोत्कर्ष की सुमधुर व्यंजना करना ही होता है, तथापि कवि प्रायः मानव-रूप में प्रकृति-रूपों का भ्रम इस प्रकार दर्शाते हैं, मानों वस्तुतः उन्हें मानव-मुख में कमल अथवा चन्द्र का, नेत्रों में खंजन, मीन, मृग, कमल, अथवा चकोर का, केशों में सर्पो, मेघों, भ्रमरों, अमावस्या की रात्रि अथवा अंधकार का, ललाट में द्वितीया के चन्द्र का, चिबुक में तिल-पुष्प का, नाभि में सरोवर का, होठों में पल्लव, विद्रुम अथवा बिम्बाफल का, एड़ियों में गुलाब-पुष्प का, नासिका में शुक का अथवा दन्तावलि में मुक्ता, हीरकावलि, कुन्द-पुष्प अथवा अनार के बीजों का भ्रम हो गया हो। इस प्रकार भ्रम-व्यंजना द्वारा मानव-रूप की अभिव्यक्ति कितनी चमत्कृत, मार्मिक, सरस एवं स्पृहणीय होती है, इसे निम्नांकित उद्धरणों में देखा जा सकता है—

नाक का मोती अधर की कान्ति से,
बीज दाड़िम का समझ कर भ्रान्ति से,
देख कर सहसा हुआ शुक मौन है,
सोचता है अन्य शुक यह कौन है[2]।
तथा—बादल से काले काले, केशों को देख निराले।
नाचा करते हैं हरदम, पालतू मोर मतवाले[3]॥

---

१. देखि, री! हरि के चंचल नैन।
खंजन, मीन, मृगज चपलाई, नहिं पटतर एक सैन।
राजिव दल, इंदीवर, सतदल कमल, कुसेसय जाति।
निसि मुद्रित, प्रातहिं वै बिगसत, ये बिगसित दिन राति।
—सूर, सूर-पंचरत्न, तीसरा रत्न, रूप-माधुरी, पद १०।

२. मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ० २१।

३. गोपालशरणसिंह, उपवन, कादम्बिनी, पृ० ७१।

(ञ) मानव-रूप में प्रकृति का सन्देह—

मानव-रूप-वैभव से चमत्कृत कवि उसकी अभिव्यक्ति को मार्मिक, आकर्षक एवं रसात्मक रूप देने के लिये यदा-कदा उसमें तादृश प्रकृति-रूपों के सन्देह की भी व्यंजना करता है। कृष्ण साटिका में शोभायमान गौर वर्णीया रूपसी के रूपोत्कर्ष की अभिव्यक्ति के लिये उसमें श्यामल घटाओं से आवृत स्थिर विद्युत्, अमावस्या के अंक में सुशोभित चन्द्रिका, धूम्र-पुंज के मध्य देदीप्यमान शीतल-सुखद अग्नि-समूह आदि प्रकृति-रूपों का[1] अथवा हँसते हुए श्यामल शरीर कृष्ण की दन्तावलि तथा मसूढ़ों के रूप का आकर्षक बिम्ब प्रस्तुत करने के लिये उनमें लाल रत्नों से खचित हीरकावलि तथा उसके ऊपर शोभायमान विद्रुम-पंक्ति, बन्धूक-पुष्पावलि के नीचे चमकते हुए जल-कणों की दीप्ति अथवा अरुणाभ कमल-पुष्प में स्थित साक्षात् सुन्दरता का सन्देह करना मानव-रूप-व्यंजना के इसी प्रकार के मार्मिक दृष्टान्त हैं—

हँसत दसन इक सोभा उपजति उपमा जदपि लजाइ।
मनो नीलमनि-पुट मुकुता-गन बंदन भरित बगराइ।
किधौं बज्र-बन लाल नगनि खचि तापर विद्रुम-पाँति।
किधौं सुभग बन्धूक-कुसुम-तर झलकत जल-कन-काँति।
किधौं अरुन अम्बुज बिच बैठी सुन्दरताई आइ[2]।

(ट) मानव-रूप-वैभव का प्रकृति-दर्शन से स्मरण—

मानव-रूपाभिव्यक्ति के लिये आकुल कवि, उसकी व्यंजना, यदा-कदा अपने पात्रों द्वारा देखे हुए तादृश प्रकृति-रूपों का प्रयोग एक और विशेष प्रकार से भी करता है। समान प्रकृति-रूपों को देखकर कवि अपने पात्रों को तादृश मानव-रूप का स्मरण करते हुए चित्रित करता है और वे मानव-रूप की स्मृति से विह्वल होकर उसकी व्यंजना उन प्रकृति-रूपों के योग से एक विशेष आकर्षक ढंग से करते हैं। ऐसे स्थलों पर मानव-रूप के स्मरण का कारण मानव तथा प्रकृति का साम्य होता है और उसी साम्य के आधार पर प्रकृति के आश्रय से मानव-रूपोत्कर्ष की अभिव्यक्ति की जाती है। सायंकालीन आकाश में पूर्व दिशा में उदित चन्द्र[3] अथवा प्रातःकालीन

१. स्याम घटा लपटी थिर बीज कि सोहै अमावस-अंक उज्यारी।
धूम के पुंज मैं ज्वाल की माल सी पै दृग-सीतलता-सुख-कारी।
कै छबि छायौ सिंगार निहारि सुजान-तिया-तन-दीपति प्यारी।
कैसी फबी 'घनआनन्द' चोपनि सों पहिरी चुनि सांवरी सारी॥
—घनआनन्द, घनआनन्द-कवित्त, छन्द २८०।

२. सूरदास, सूर-सुषमा, पद ६३।

३. प्राची दिसि ससि उयउ सुहावा, सिय मुख सरिस देखि सुखु पावा॥
—गो० तुलसीदास, रामचरितमानस, बालकाण्ड, धनुष-यज्ञ-प्रसंग, पृ० २२६।

विकसित कमल पुष्प[1] के साक्षात्कार से प्रेयसी के मुख का; मेघ, अंधकार अमावस्या, तार तथा रेशम आदि को देखकर उसके केशों का; खंजन, मीन, मृग, चकोर, कमल आदि के दर्शन से नेत्रों का, कलभ-कर अथवा सर्पों को देखकर प्रियतम पुरुष की भुजाओं का, बिम्बाफल, पल्लव, विद्रुम, सान्ध्य गगन आदि के साक्षात्कार से होंठों का और कीर को देखकर नासिका का स्मरण हो आना काव्य में प्रायः वर्णित किया जाता है। नेत्रेन्दिय ही नहीं, कर्ण, त्वचा एवं अन्य इन्द्रियों के माध्यम से भी स्मरण प्रक्रिया द्वारा मानव-रूपोत्कर्ष की अभिव्यक्ति काव्य-जगत की विशेषता है[2]। इसके अतिरिक्त कभी-कभी असमान प्रकृति-रूपों के साक्षात्कार से भी कवि मानव-रूप का स्मरण करना करके भी तुलनात्मक मानवीय श्रेष्ठता की व्यंजना करता है। काक के कृष्ण वर्ण को देखकर प्रेयसी के गौर वर्ण, हरितनी की स्थूल कटि के दर्शन से उसकी क्षीण कटि और श्री बैशाखनन्दन के कर्कश स्वर को सुनकर उसकी मधुर वाणी एवं तरल संगीत के स्मरण द्वारा मानव-रूपोत्कर्ष की व्यंजना की जाती है। यहाँ इस विषय में यह भी कथनीय है कि ऐसे स्थलों पर कवि केवल अपने पात्रों द्वारा ही मानव-रूप के स्मरण से उसकी व्यंजना नहीं करता, प्रत्युत यथास्थान स्वयं भी तादृश अथवा असमान प्रकृति-रूपों के साक्षात्कार से मानव-रूप का स्मरण करके उसके उत्कर्ष की व्यंजना करता है।[3]

१. जो होता है उदित नभ में कौमुदी-कान्त आके।
या जो कोई कुसुम विकसा देख पाती कहीं हूँ।
लोने-लोने-हरित दल के पादपों को विलोके।
प्यारा-प्यारा विकच-मुखड़ा है मुझे याद आता।

—हरिऔध, प्रिय-प्रवास, पृ० २३६।

२. सायं प्रातः मधुर ध्वनि से कूजते हैं पखेरू।
प्यारी-प्यारी मधुर ध्वनियाँ मत्त हो हैं सुनाते।
मैं पाती हूँ मधुर ध्वनि में कूजने में खगों के।
मीठी तानें परम प्रिय की मोहिनी वंशिका की।

—हरिऔध, प्रिय-प्रयास, पृ० १६, ८८।

तथा—

छू देती है मृदु पवन जो पास आ गात मेरा।
तो हो जाती परस-सुधि है श्याम प्यारे करों की।
सद्‌गंधों से सनित वह जो कुंज में डोलती है।
तो होती है सुरति मुख की साँस आमोदिता की।

—हरिऔध, प्रिय-प्रवास, पृ० १६, ८१।

३. देखता हूँ जब पतला
इन्द्र - धनुषी हलका

(ठ) मानव तथा प्रकृति का तादात्म्य—

मानव-रूपोत्कर्ष की व्यंजना के लिये कवि यदा-कदा मानव तथा प्रकृति का वर्ण-तादात्म्य भी प्रदर्शित करते हैं। मानव-वर्ण प्रकृति-रूपों के वर्ण को आत्मसात् कर लेता है। फलतः प्रकृति की पृथक् सत्ता लक्षित नहीं होती। कवि की इस सौन्दर्याभिव्यञ्जक प्रवृत्ति का मुख्य लक्ष्य मानव तथा प्रकृति के रूप-सादृश्य, मानव-सौन्दर्य की महत्ता तथा प्रकृति पर उसके प्रभाव को व्यक्त करना होता है। अतः वह कभी तो चम्पक वर्णीया रूपसी के वक्ष तथा चम्पक-हार का एकात्म्य प्रदर्शित करता है[1]; कभी चन्द्र-मुखी नायिका के मुख-चंद्र की ज्योत्स्ना में आकाश-चंद्रिका को छिप जाते हुए वर्णित करता है[2] और कभी अरुणाभ ओष्ठों तथा पान की पीक के तादात्म्य और कभी कृष्ण नेत्रों से कज्जल का अभेद दर्शाता है—

पान-पीक अधरान में, सखी, लखी ना जाय।
कजरारी-अँखियान में, कजरा, री, न लखाय[3]।

रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद - कला;
तुम्हारे ही मुख का तो ध्यान
मुझे करता तब अंतर्द्धान।—सु० नं० पन्त, आँसू, पल्लव, पृ० १५-१६।

तथा—

नभ के मानसरोवर में जब
अगणित कमल लगे लहराने
औ, नीली लहरों पर कोई—
एक मराल लगा मँडराने—
जिसके रजत परों से झड़कर
धूल धरा के तन पर छाई।
मुझको याद तुम्हारी आई।

—नीरव, तुहारी याद, ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, ।

१. चम्पक-हरवा अँग मिलि अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय हियरे जब कुँभिलाइ।

—तुलसी, बरवै रामायण, बालकाण्ड, छंद ५।

२. होत न लखाई निसि चन्द की उज्यारी,
मुख चन्द की उज्यारी तन-छाँहौं छिपि जात है।

—अज्ञात, काव्य-प्रदीप, पृ० २२६।

३. अज्ञात, काव्य-दर्पण, पृ० ५३४।

(ड) मानव रूपाभिव्यक्ति के लिए अप्रस्तुत प्रकृति का वर्णन—

मानवांगों की शोभा की समता न कर सकने के कारण प्रकृति के जो उपकरण उनके रूपोत्कर्ष से लज्जित होकर तिरस्कृत-अनादृत जीवन व्यतीत करते हैं, वही अपने प्रतिद्वन्द्वी मानव-सौन्दर्य के विनष्ट हो जाने पर गर्वोन्मत्त हो उठते हैं। इस धारणा में विश्वास करनेवाला कवि विरह-विह्वल मानव के रूप-लावण्य के क्षीण हो जाने की अवस्था में तादृश प्राकृतिक उपमानों को हर्षोन्मत्त दिखाकर मानव-रूप के पूर्वोत्कर्ष की व्यंजना करता है। मानव-रूप-वैभव से लज्जित प्रकृति-रूपों के विलुप्त हो जाने तथा पुनः उसके सौन्दर्य-वैभव के नष्ट हो जाने के समय प्रसन्न-पुलकित होकर गर्व-प्रदर्शित करने की यह कल्पना वैज्ञानिक सत्य पर भले ही आधृत न हो, उसमें मानव को आत्म-विभोर कर देने की अद्‌भुत शक्ति-सामर्थ्य सन्निहित है, इसमें सन्देह नहीं। वन-वासिनी सीता के अंग-प्रत्यंगों के सौंदर्य से लज्जित होकर प्रकृति के जो उपमान यथास्थान लुक-छिपकर अनादृत जीवन-यापन कर रहे थे, वही रावण द्वारा सीता-हरण की बात को जानकर गर्व से सिर ऊँचा करके प्रकट हो जाते हैं— इस कथन द्वारा तुलसीदास जी ने सीता जी के सौंदर्योत्कर्ष की जो व्यंजना की है, वह कितनी मार्मिक, प्रभावोत्पादक, सरस और आकर्षक है, इसका अनुभव सहृदय पाठक कवि के निम्नांकित शब्दों से स्वयं कर सकते हैं—

कुन्द कली, दाड़िम, दामिनी। कमल, सरद ससि अहिमामिनी।
बरुन पास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा।
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं।
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू[१]।

प्राकृतिक उपमानों की इसी प्रकार की आनन्द-दशा के वर्णन द्वारा महात्मा सूरदास ने रूपसी राधा के अंगों के सौन्दर्य के पूर्वोत्कर्ष की जो व्यंजना की है, वह इससे भी कहीं अधिक मार्मिक, रसात्मक, आकर्षक एवं स्पृहणीय है। उसके पूर्व रूप-लावण्य के चरमोत्कर्ष की इस प्रकार जो अभिव्यक्ति हुई है, उसकी तुलना में उसके वर्तमान रूप की व्यंजना कितनी करुणाजनक है, इसे स्वयं शृंगार-सम्राट सूर के शब्दों में देखिये—

तब तें इन सबहिन सचु पायो।
जब तें हरि सन्देश तिहारौ सुनत ताँवरो आयो॥
फूले ब्याल, दुरै ते प्रगटे, पवन पेट भरि खायो।
भूले मृगा चौंकि चरनन तें, हुतो जो जिय बिसरायौ॥
ऊँचे बैठि बिहंग-सभा-बिच कोकिल मंगल गायो।
निकसि कंदरा तें केहरि हू माथे पूंछ हिलायो॥

---

१. तुलसी, रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, पृ० ६३४।

गृहबन तै गजराज निकसि कै अँग अँग गर्ब जनायो।
सूर बहुरिहौ, कह राधा, कै करिहौ बैरिन भायौ[1] ?

मानव-रूपांकन में प्रकृति के उक्त योग ही नहीं, अन्य अनेक प्रकार के योग भी पाये जाते हैं। कवि विभिन्न प्रकृति-रूपों के सहारे तादृश मानवांगों तथा उनके पूर्ण बिम्ब का चित्रण करता है और उनके विभिन्न प्रकार के योग से अपनी अभिव्यक्ति को रसात्मक, आकर्षक, मार्मिक तथा चमत्कारोत्पादक रूप प्रदान करता है। ऐसे स्थलों पर मानव-सौंदर्योत्कर्ष से प्रभावित कवि कभी उपमान-प्रकृति-रूपों को मानव-सम्पर्क से उत्कृष्टतम रूप प्राप्त कर तदाकार होते हुए अंकित करता है; कभी प्रकृति के क्षणभंगुर सौंदर्य के कालांतर में नष्ट होने तथा मानव के अपेक्षाकृत स्थायी सौंदर्य के पूर्ववत् बने रहने का वर्णन करके प्रकृति-सौंदर्य की निकृष्टता के प्रतिपादन द्वारा मानव-रूप की उत्कृष्टता व्यंजित करता है[2]; कभी मानव-रूप-वैभव से प्रभावित प्रकृति-रूपों के वास्तविक रूप के परिवर्तित हो जाने का कथन करता है। सुकोमल, श्यामल, दीप्ति-मान केशों के सम्पर्क से प्रभावित मुक्तावलि को मरकत मणिमय रूप में चित्रित करता है[3]; बेसर के मुक्ता को अधरों के अरुण वर्ण से प्रभावित होकर पद्मराग मणि का रूप प्राप्त करते हुए अंकित करता है[4], सरोवर में तैरती हुई बाला के शरीर के सम्पर्क से प्रभावित जलधारा में, उसके गौर वर्ण की दीप्ति से गंगा, श्यामल केशों की कृष्णाभा से यमुना और शरीर की अरुणिमा अथवा चरणों की लालिमा से सरस्वती को प्रवाहमान होते हुए प्रदर्शित करके—त्रिवेणी की उत्पत्ति दर्शाता है[5]—और कभी मानव तथा प्रकृति के अत्यधिक साम्य के कारण मानव-रूप का निषेध करके प्रकृति-रूपों का उन पर आरोप करता है[6]।

१. सूर, भ्रमरगीत-सार, पद ३६०।

२. चम्पक-हरवा अँग मिलि अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय हियरे जब कुँभिलाइ॥
—तुलसी, बरवै रामायण, बालकाण्ड, छंद ५।

३. केस-मुकुत सखि मरकत मणिमय होत।
—तुलसी, बरवै रामायण, बालकाण्ड, छन्द १।

४. बेसर मोती अधर मिलि, पद्मराग छबि देत।
—काव्य-प्रदीप, शुक्ल, पृ० २२६।

५. जाहिरै जागति सी जमुना जब बूड़ै बहै उमहै वह बेनी।
त्यों 'पदमाकर' हीर के हारन गंग तरंगन सी सुखदेनी॥
पायन के रँग सौं रँगि जात सी भाँति ही भाँति सरस्वति सेनी।
पैरै जहाँ ही जहाँ वह बाल तहाँ तहाँ ताल में होत त्रिबेनी।
—पद्माकर, जगद्विनोद, छन्द १३।

६. भूषण, शिवराज-भूषण, छन्द ६२।

प्रकृति-रूप-चित्रण में उपमान-मानव

प्रकृति के रूप, गुण, भाव, कार्य आदि के चित्रण का मूलाधार मानव है। मानव ही उसके गुण, रूप आदि का साक्षात्कार करके उससे प्रभावित होता है, उसकी अभिव्यक्ति के लिए आकुल हो छटपटाने लगता है और उसी के हृदय की अन्तर्धारा उसके रूपांकन के रूप में प्रवहमान हो उठती है। अतः यदि प्रकृति के रूप-वैभव के दर्शक मानव का अस्तित्व न हो, तो उसके (प्रकृति के) रूपांकन का अस्तित्व भी नहीं हो सकता।

प्रकृति-रूपांकन में मानव केवल दर्शक अथवा उसके चित्रण-कर्त्ता-रूप में ही नहीं, अन्य अनेक रूपों में भी अपना महत्वपूर्ण योग देता है। काव्य में अर्थ-ग्रहण की अपेक्षा बिम्ब-ग्रहण अधिक आवश्यक होता है और बिम्ब-निर्माण के लिये कवि या तो वस्तुओं का सूक्ष्म निरीक्षण करके, उनके एक-एक अंग, वर्ण, आकृति तथा आस पास की परिस्थिति का संश्लिष्ट चित्रण करता है अथवा प्रकृति-रूपों पर मानव-रूप, भाव, गुण, कार्य आदि का आरोप करके उसे आकर्षक, मधुमय तथा मार्मिक रूप प्रदान करता है। प्रकृति के मानवीकृत रूपों में जो आकर्षण, माधुर्य, सौन्दर्य तथा प्रभावोत्पादकता होती है, वह उनके सामान्य चित्रण में उपलब्ध नहीं हो सकती—कवि इस बात को जानता है और यही कारण है कि वह प्रकृति के विभिन्न रूपों के चित्रण के लिए यथासम्भव मानवीकरण की ही पद्धति को अपनाता है।

प्रकृति के मानवीकरण की परम्परा का श्रीगणेश मानव-जीवन के आदिकाल में ही हो गया था। प्रकृति के विशाल प्रांगण में जन्म धारण करने वाले आदि मानव ने उसके सौम्य, भयावह, उग्र-कराल,, रौद्र तथा मंगलकारी रूपों के दर्शन से आश्चर्य-चकित होकर उसकी विभिन्न शक्तियों में देवत्व की प्रतिष्ठा करली। वेदों के अग्नि, मित्र, वरुण, उषा, निशा, पूषा, सोम, मरुत् आदि प्रकृति-शक्तियों के उपासना विषयक मंत्र इसके उत्कट प्रमाण हैं। ऋग्वेद में केवल अग्नि के उपासना विषयक मंत्रों की संख्या ही साढ़े तीन हजार के लगभग है। ऋग्वेदीय आर्य वायु के ६३ रूप मानते थे[1], पूषा से कमनीय कन्या माँगते थे[2], वेदों को अग्नि, वायु, एवं सूर्य द्वारा निर्मित मानते थे और उक्त समस्त प्रकृति-शक्तियों की अनेक प्रकार से उपासना करते थे। ऋग्वेद में अग्नि को कहीं यज्ञ-दूत[3], कहीं होता,[4], कहीं

---

१. ऋग्वेद ८, ४५८।

२. ऋग्वेद, ६-६७ १०-११

३. ऋग्वेद ७-३-१।

४. ऋग्वेद ८-६०-१।

हव्यभाजी और सुन्दर वदन[1], कहीं इन्द्र के समकक्ष[2], कहीं युवक और सबका मित्र[3], और कहीं क्रान्तकर्मा[4], आदि कहा गया है और अनेक स्थलों पर अनेक प्रकार से उनकी प्रार्थना की गई है। इसी प्रकार वेदों में अन्य प्रकृति-शक्तियों की उपासना के भी अनेक मंत्र हैं। इसके अतिरिक्त पौराणिक आख्यानों तथा प्रकृति-विषयक दंत-कथाओं में प्रकृति के मानवीकरण की परंपरा के बीज विद्यमान हैं। भारतीय आर्य ही नहीं, संसार के अन्य अनेक देशों के निवासी भी आदि काल से ही प्रकृति-शक्तियों के उपासक रहे हैं। अग्नि-पूजक पारसी, सूर्याराधक ग्रीक, गंगा एवं सिंधु के उपासक वाली द्वीप-वासी, अग्नि एवं सूर्य-पूजक अमेरिकावासी रेड इन्डियन तथा हिन्दचीन, कम्बोडिया आदि अनेक देशों के निवासी इसके उदाहरण स्वरूप लिए जा सकते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रकृति में देवत्व की प्रतिष्ठा तथा उसका मानवीकरण मानव-सभ्यता के आदि काल की देन हैं, उनका मूल वैदिक उपासना-मंत्रों, पौराणिक आख्यानों तथा प्रकृति-विषयक दंत-कथाओं में है।

वैदिक साहित्य के अनन्तर पालि-साहित्य में यह परम्परा जातक कथाओं में भगवान बुद्ध के विभिन्न जन्मों के कृत्यों के उल्लेख के रूप में यत्किंचित् पाई जाती है। मानव के अतिरिक्त प्रकृति के अन्य प्राणियों के रूप में भगवान गौतम के कृत्य मानवीकरण की प्रवृत्ति के ही द्योतक हैं। इसके पश्चात् प्राकृत, अपभ्रंश तथा आदिकालीन हिन्दी-काव्य में मानवीकरण की प्रवृत्ति कुछ कुण्ठित-सी हो गई। इस काल में इसे विशेष प्रश्रय नहीं मिल सका। हिन्दी वीर-गाथा-काल, भक्ति-काल तथा रीतिकाल में इसे पुनः प्रश्रय मिला, किन्तु इसकी धारा अधिक द्रुत गति से प्रवहमान न हो सकी। वीरगाथा-काल के कवि अपने आश्रयदाताओं के युद्ध-कौशल, वीरता एवं पराक्रम के यशगान में रत रहे। अतः प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण अथवा मानवीकरण की ओर उनका ध्यान आकृष्ट न हो सका। भक्तिकाल में सूर, तुलसी आदि भक्तों के काव्य में इस प्रवृत्ति के दर्शन यदा-कदा होते अवश्य हैं, किन्तु एक तो उनकी प्रकृति विषयक चेतना भगवान विष्णु के अवतार राम तथा कृष्ण के दिव्य प्रभावों की सृष्टि अथवा उनसे सम्बन्धित होने के कारण उन्हीं के सम्बन्धों से प्रादुर्भूत है और दूसरे उसमें वह सजीवता, सरसता अथवा मार्मिकता नहीं हैं, जो वस्तुतः प्रकृति के मानवीकृत रूपों में होनी चाहिए। रीतिकालीन-काव्य में इस प्रवृत्ति के दर्शन होते तो यत्र-तत्र ही हैं, किन्तु कहीं कहीं उसमें इतनी सजीवता तथा मार्मिकता है कि देख कर आश्चर्य-स्तब्ध हो जाना पड़ता है।

---

१. ऋग्वेद ४-६-८।
२. ऋग्वेद ५-११-२।
३. ऋग्वेद १०-२०-२।
४. ऋग्वेद ३-२३-१।

आधुनिक काल में अँग्रेजी प्रकृति-काव्य के प्रभाव के परिणाम-स्वरूप इस परम्परा का आश्चर्यजनक रूप से विकास हुआ है और अब इस दृष्टि से यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि हिन्दी-काव्य इस विषय में केवल सम्पन्न ही नहीं, विश्व की किसी भी समृद्ध भाषा के साहित्य के समक्ष गर्व से अपना सिर उठा सकता है।

प्रकृति के विभिन्न रूपों अथवा अंगों पर मानव-रूप का आरोप उसे नीरस-हृदय व्यक्तियों के लिये भी सरस एवं आकर्षक बना देता है। उसके सौम्य रूप पर रम्य मानव-रूप का आरोप करके कवि उसे मानव-मन के आकर्षण का विषय बनाता है ; वीभत्स रूप पर विगर्हित एवं कुत्सित मानव-रूप का आरोप करके विकर्षक तथा घृणित बनाने का प्रयास करता है ; अद्‌भुत रूप पर आश्चर्यमय विराट मानव रूप का आरोप करके उसे मानव के आश्चर्यभाव का आलम्बन-रूप प्रदान करता है ; रौद्र तथा विनाशकारी रूप पर विनाशक मानव-रूप का आरोप कर उग्र तथा भयंकर रूप प्रस्तुत करता है और अत्याचारी रूप पर आततायी मानवरूप का आरोप करके उसे न्यायनिष्ठ मानव के क्रोध का पात्र बनाता है।

किन्तु उक्त समस्त रूपों में प्रकृति पर नारी-रूप का आरोप अथवा उसके नारीकृत रूप का ही अधिक प्राधान्य है। नारी चिरकाल से मानव के आकर्षण तथा प्रेम का आलम्बन रही है और पुरुष आदि काल से ही संसार की समस्त सुषमा नारी-सौन्दर्य में ही केन्द्रीभूत करता आया है। यही कारण है कि रमणीय प्रकृति-रूपों पर भी वह नारी-रूप का आरोप करता है ; नारी-जगत् के विभिन्न रूपों, उसके विभिन्न अंगों तथा वस्त्राभरणों के साम्य अथवा आरोपण द्वारा उनका अंकन-चित्रण करके अपनी सौन्दर्य-वृत्ति की तुष्टि करता है, अपनी प्रेम-पिपासा की पूर्ति करता है। उषा सुन्दरी को वह मुग्धा तरुणी के रूप में देखता है ; रूपसी संध्या को अप्सरा के समान आकाश से मन्द-मन्थर गति से उतरते हुए चित्रित करता है ; तरुणी रजनी को अभिसारिका नायिका के रूप में लक्षित करता है ; निशीथकालीन चन्द्रिका से मंडित प्रकृति को श्वेत साटिका में शोभायमान होती हुई तथा अपने चन्द्रानन की मधुमयी ज्योति विकीर्ण करती हुई अंकित करता है[1] ; नटनागर कृष्ण के दर्शनों के लिये लालायिता नवेली वर्षा सुन्दरी को वस्त्राभरणों से सुसज्जित रमणीय रूपधारिणी कामिनी के रूप में चित्रित करता है—

---

१. प्रकृति-सुन्दरी विहँस रही थी चन्द्रानन था दमक रहा।
परम-दिव्य वन कान्त-अंक में तारक-चय था चमक रहा॥
पहन श्वेत-साटिका सिता की वह लसिता दिखलाती थी।
ले-ले सुधा सुधा-कर-कर से, वसुधा पर बरसाती थी॥
—हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० ५५।

ओढ़े नील सारी घन घटा कारी 'चिंतामनि' कंचुकी-किनारी चारु चपला सुहाई है ।
इन्द्रबधू-जुगुनू जवाहिर की जगा-जोति, बग मुगतान-माल, कैसी छबि छाई है ।।
ाल-पीत-सेत बर बादर बसन तन, बोलत सु-भृंगी, धुनि नूपुर बजाई है ।
देखिबे को मोहन नवल नट नागर कों, बरषा नवेली अलबेली बनि आई है[1] ।।

श्यामल मेघ जिस अलबेली वर्षा-वधू के सुन्दर दीप्तिमान केश हैं ; विद्युत् के श्रेष्ठ अंग हैं ; पंचरंगी आकाश जिसकी बहुरंगी रेशमी साटिका है ; चन्द्रमा सहेली हैं द्योत नेत्र, बक-पंक्ति हीरक-हार तथा मयूर-ध्वनि नूपुरों का शब्द है, वह सब प्रकार से सुसज्जित सुन्दरी वर्षा कितनी आकर्षक है, इसे कवि 'सिवदास' के अन्तः-करण से प्रवहमान काव्यधारा के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

कारे-कारे धुरवा चिकुर चारु चमकत, चंचला बरंगना, सु अति अलबेली है ।
पंचरंग अम्बर अडंबर पटम्बरनि, मुदित बदन, चंद सुखद सहेली है ।
जुगुनू जमाति नैन, बगुला-कतार हार, केकी धुनि नूपुर अनूप रस रेली है ।
'कबि सिवदास' दिन दूलहै मदन भूप, बानक बनक बनी बरषा नवेली है[2] ।।

वर्षा-रूपसी का यह अतीन्द्रिय सौन्दर्य न जाने कितने कवियों के आकर्षण का विषय रहा है । न जाने कितने कवियों ने उसके दिव्य रूप-लावण्य की योजना कर रमणी-रूप में अंकित कर अपनी कल्पना तथा. काव्य-प्रतिभा को सार्थक बनाया है । न जाने कितने कवियों को वह जल-विन्दुओं तथा बीरबहूटियों रूपी मुक्तावलि एवं सिन्दूर से सुसज्जित माँग, खद्योत-समुदाय रूपी कलियों से सुशोभित इतस्ततः विकीर्ण लटों तथा दीप्तिमान जल-धाराओं की धारीदार स्वर्ग तथा रजत के काम वाली सुन्दर साटिका पहने हुए आकाश-मण्डल से उतरती, झुकती-झूमती, झूलती तथा बल खाती हुई रमणी के समान आकर्षक प्रतीत होती रही है[3] और न जाने कितने कवियों को वह श्यामल शरीर, सुन्दर वेश धारिणी, दीप्तिमान विद्युत् रूपी लहराती हुई पीत-वर्ण किनारी से युक्त इन्द्रधनुष रूपी सतरंगी साटिका में शोभाय-मान तथा फुहारों के शृंगार एवं जल-धाराओं के हारों की मंजुल लड़ियों से अलंकृत, आकाश से पृथ्वी पर उतरती, झुकती, झूमती, झूलती तथा बल खाती हुई आकृष्ट करती रही है—

श्यामल गात, मनोहर वेश, सुरेस-धनुष तन सुन्दर सारी ।
दामिनी लामिन ह्व नभ में, लहराय झलाझल पीत किनारी ।।
साजि सिंगार फुहारन के करि, धारन हारन की लर प्यारी ।
आवत भूमि मनों नभ तें झुकि-झूमत, लूमत पावस नारी[4] ।।

---

१. चिन्तामणि, ब्रजभाषा साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य, पृ० १५१ ।
२. सिवदास, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य, पृ० १५१ ।
३. अज्ञात, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य, पृ० १५१ ।
४. अज्ञात, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य, पृ० १५२ ।

इसी प्रकार महादेवी वर्मा विभिन्न वस्त्रालंकारों से सुसज्जित बसन्त-रजनी को आकाश-मण्डल से मन्द-मन्थर गति से उतरती हुई देख कर प्रसन्न-पुलकित होकर उसका आह्वान करती हैं[1]। पंत[2] तथा निराला[3] सन्ध्या सुन्दरी को आकाश से उतरती हुई रमणी के रूप में लक्षित करते हैं। 'प्रसाद' सन्ध्या को घन-माला की बहुरंगी छींट ओढ़े हुए, शैल-श्रेणियों को तुषार-किरीट धारण किये हुए और तन्द्रालसा वनस्पतियों को मुख-प्रक्षालन-मग्ना सुन्दरियों के रूप में अंकित करते हैं[4]। पंत चन्द्रिका[5] तथा वायु[6] को रम्य नारी-रूप में चित्रित करते हैं और महादेवी वर्मा

---

१. धीरे धीरे उतर क्षितिज से,
आ बसन्त-रजनी।
तारकमय नव वेणी बन्धन;
शीश फूल कर शशि का नूतन;
रश्मिवलय सित घन-अवगुंठन;
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे
चितवन से अपनी। —महादेवी वर्मा, नीरजा, पृ० ३-४।

२. कौन तुम रूपसि कौन?
व्योम से उतर रहीं चुपचाप
छिपी निज छाया छवि में आप
सुनहला फैला केश-कलाप—
मधुर, मन्थर, मृदु मौन। —पंत, सन्ध्या, पल्लविनी, पृ० १६३।

३. दिवसावसान का समय मेघमय
आसमान से
उतर रही है
यह सन्ध्या सुन्दरी
परी-सी धीरे-धीरे-धीरे
—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सन्ध्या-सुन्दरी, परिमल, पृ० १३२।

४. सन्ध्या घनमाला की सुन्दर ओढ़े रंग बिरंगी छींट,
गगन चुम्बिनी शैल श्रेणियाँ पहने हुए तुषार किरीट।
—प्रसाद, कामायनी, पृ० ३०।

तथा— जगीं वनस्पतियाँ अलसाईं मुख धोती शीतल जल से।
—प्रसाद, कामायनी, पृ० २३।

५. नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारद-हासिनि,
मृदु करतल पर शशि-मुख धर, नीरव अनिमिष एकाकिनि।
—पंत, चान्दनी, पल्लविनी, पृ० १६०।

६. प्राण! तुम लघु-लघु गात!
नील नभ के निकुंज में लीन,

तथा कुंवर नारायण रात्रि को सद्यःस्नाता कामिनी का रमणीय रूप प्रदान करते हैं—

रूपसि तेरा घन-केश-पाश !
श्यामल श्यामल कोमल कोमल,
लहराता सुरभित केश-पाश !
नभ गंगा की रजत धार में
धो आई क्या इन्हें रात
कंपित हैं तेरे सजल अंग,
सिहरा सा तन है सद्यःस्नात ।
भीगी अलकों के छोरों से
चूती बूँदें कर विविध लास[1] ।

तथा—

ओस न्हाई रात
गीली सकुचती आशंक
अपने अंग पर शशि-ज्योति की संदिग्ध चादर डाल,
देखो
आ रही है व्योम गंगा से निकल
इस ओर
झुरमुट में सँवरने को ''' दबे पावों
कि उसको यों
अव्यवस्थित ही
कहीं आँखें न मग में घेर लें
लोलुप सितारों की[2] ।

इसी प्रकार भावुक कवि को नायिका वसुन्धरा के उरोज-शिखरों से चंचल-मलयांचल खिसकता हुआ दृष्टिगोचर होता है ; सरिता की जंघाओं पर से जल की झीनी रेशमी साटिका सरकती हुई प्रतीत होती है ; प्राची सुन्दरी का आनन प्रसव-वेदना से रक्ताभ दिखाई पड़ता है[3] ; शरद् अपने मुख-चन्द्र की दीप्ति को चतुर्दिक

नित्य नीरव, निःसंग नवीन
निखिल छवि की छवि ! तुम छवि हीन
अप्सरी सी अज्ञात ।

—पंत, वायु के प्रति, आधुनिक कवि (२) पृ० ४९ ।

१. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१) पृ० ५५ ।
२. कुँवरनारायण, ओस न्हाई रात, चक्रव्यूह, पृ० १२ ।
३. क्या प्रसव वेदना से प्राची-रमणी का आनन लाल हुआ ।

—ठा० गोपालशरणसिंह, कादम्बिनी, पृ० ५५ ।

विकीर्ण करती हुई खिल-खिलाकर हँसती जान पड़ती है और अभिसारिका रजनी वस्त्रालंकारों से सुसज्जित होकर आकर्षक रमणी का रूप धारण करती है।

प्रकृति के रूपांकन के लिए आकुल कवि उस पर केवल सौम्य नारी का ही नहीं, करुण, म्लान तथा अन्य रमणी-रूपों का भी आरोप करता है। नर्मदा को वह बलिराज के विरह में विह्वल-व्यथित, करुण-म्लान, दीन-हीन एवं कृशांगी विरहिणी रमणी के रूप में अंकित करता है[1]। वर्षा को, प्रिय-वियोग में क्षण-क्षण पर चौंकती, अश्रुपात करती तथा स्नेह-विहीन केश-राशि वाली, करुणोत्पादक वियोगिनी नारी का रूप प्रदान करता है[2]। खेतों के रूप में फैले हुए श्यामल, धूल-धूसरित अंचल, गंगा यमुना के रूप में प्रवहमान अश्रुधार, दीन दृष्टि, मूक रोदन तथा विषण्ण-मना भारत-माता को परिस्थितियों के पंजर में आबद्ध दीना-हीना, शोक-सन्तप्ता मानवी के रूप में चित्रित करता है[3]। गंगा को बालुका राशि की श्वेत शय्या पर लेटी हुई, तापाधिक्य से क्षीण, श्रान्त-क्लान्त तथा अत्यधिक करुण एवं म्लान नारी-रूप में प्रस्तुत करता है[4] और पीत वर्णीया प्रकृति को भीत-त्रस्त रमणी-रूप प्रदान करता है—

१. वह नर्मदा दूबरी पीरी परी, बलिराज के यों विरहानल ताप कै।
—हरदयालुसिंह, दैत्य-वंश, त्रयोदश सर्ग, छन्द ५, पृ० १८८।

२. चंचला सी चौंकति, चहूँधा आँसू बरसत, फैले तम केस की न सुधि उर धारी है।
इन्द्र कोप भारी है, अँगारी बिरहागि बारी, भूषन जड़ाऊ जोति रंगन बिसारी है।
—शंकर कवि, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य, पृ०, १५४।

३. भारत माता
ग्रामवासिनी।
खेतों में फैला है श्यामल
धूल भरा मैला सा आँचल,
गंगा यमुना में आँसू जल,
मिट्टी की प्रतिमा
उदासिनी।
दैन्य जड़ित अपलक नत चितवन,
अधरों में चिर नीरव रोदन,
युग-युग के तम से विषण्ण मन,
वह अपने घर में
प्रवासिनी। —पंत, भारत माता, आधुनिक कवि (२), पृ० ८५।

४. शांत, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल।
अपलक, अनन्त, नीरव भू-तल।
सैकत-शय्या पर दुग्ध-धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म-विरल,
लेटी हैं श्रान्त, क्लान्त, निश्चल!—पंत, नौका-विहार, आधुनिक कवि (२) पृ०,५६।

प्रकृति विकारवान, पीलिमामयी,
डरी हुई,
जमीन
थरथरा उठी[१]।

इसी प्रकार कवि प्रकृति पर कभी रौद्र नारी-रूप का आरोप करता है[२]; कभी उन्मत्त नारी-रूप का[३], कभी घृणित अथवा विगर्हणीय नारी रूप का[४] और कभी क्षणभंगुर[५] अथवा शांत रूप का—

प्रकृति शान्त हुई वर व्योम में,
चमकने रवि की किरणें लगी[६]।

कवि जिस प्रकार प्रकृति का रूपांकन नारी-रूप के विभिन्न प्रकार के योग से करता है, उसी प्रकार वह प्रकृति के पुरुष-रूपों का चित्रण मानव-रूप के आरोप द्वारा भी अनेक प्रकार से करता है। कभी वह श्रावण मास को मंगलकारी शिव का रूप प्रदान करता है[७]; कभी मेघ रूपी श्याम शरीर को धारण किये हुए, इन्द्र धनुष रूपी पीताम्बर से समस्त संसार को दीप्तिमान करते हुए, विद्युत् रूप कुण्डलों को चमकाते हुए, बक-पंक्ति रूपी मुक्ताहार तथा उनकी मन्द-मन्द ध्वनि रूपी मुरली बजाते हुए प्रिय कृष्ण के रूप में चित्रित करता है[८] और कभी अत्यधिक घृणित कृत्य करनेवाले

---

१. हरिवंशराय 'बच्चन', मिलन-यामिनी, पृ० २०२।

२. उपल वृष्टि हुई तम छा गया। पट गई महि कंकर-पात से॥
गड़गड़ाहट वारिद - व्यूह की। ककुभ में परिपूरित हो गई॥
—हरिऔध, प्रिय-प्रवास, पृ० १५।

३. अलस कमलिनी ने कलरव सुन उन्मद अँखियाँ खोलीं,
मल दी ऊषा ने अम्बर में दिन के मुख पर रोली।
—मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ०, २२६।

४. मक्खी सी भिन्ना रही मही। —मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ० २०८।

५. वही मधु ऋतु की गुंजित-डाल झुकी थी जो यौवन के भार।
अकिंचनता में निज तत्काल सिहर उठती, जीवन है भार।
—पंत, परिवर्तन, पल्लव, पृ० ६६।

६. 'हरिऔध' प्रिय-प्रवास, पृ० १६।

७. काटिहैं कलेस मोद देहैं री भट् विसेष, धरिकै महेस-भेस सावन लखायौ है।
—अज्ञात, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौंदर्य, पृ० १५७।

८. स्याम छबि धारै फिरै, धुरवा धरनि छुवै री, इन्द्र धनु पीत पट चटक दिखायौ है।
दामिनी दमकि दुति देत बेर-बेर सोई, कुंडल अमोल लोल गति चमकायौ है।
बिसद बलाकन की पाँति बनमाल, अति—मंद-मंद भेर बाँसुरी लौं स्वर गायौ है।
आवन अवधि रही, प्यारे मनभावन की, सावन सुहावन सौं साज सजि आयौ है।
—अज्ञात, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौंदर्य पृ०, १५५।

अघोरी के रूप में प्रस्तुत करता है[१]। कभी वह पावस को भगवान की पूजा-अर्चना करनेवाले उनके भक्त के रूप में अंकित करता है[२]; कभी हिमाद्रि को प्रहरी-रूप प्रदान करता है[३]; कभी मलयानिल को श्रान्त पथिक के रूप में चित्रित करता है[४]; कभी आकाश को नक्षत्रों रूपी रत्नों से जटित वस्त्र पहनते हुए व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करता है[५] और कभी प्रातःकालीन सूर्य पर बालक-रूप का आरोप करता है—

उधर क्यों हँसता रवि का बाल।
अरुणिमा से रंजित कर गाल[६]।

मानव तथा प्रकृति में रूप-वैषम्य

मानव तथा प्रकृति के पूर्व-विवेचित रूप-साम्य का समर्थन करते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें किसी प्रकार का रूप-वैषम्य है ही नहीं। प्रकृति के रूप-साक्षात्कार में तन्मय कवि यद्यपि अपने भावावेश के क्षणों में दोनों का तादात्म्य प्रदर्शित करता है और प्रकृति पर मानव-रूप का आरोप करके उसका मानवीकरण और मानव पर प्रकृति-रूपों का आरोप करके उसका प्रकृतीकरण करके दोनों के रूप-साम्य की घोषणा करता है, तथापि स्वयं कवि जीवन में ही ऐसे अनेक क्षण आते हैं, जब वह उनके स्वरूप में पर्याप्त वैषम्य लक्षित करता है। यही कारण है कि कभी वह प्रकृति से मानव को श्रेष्ठ घोषित करता है[७] और कभी मानव से प्रकृति को[८]। कभी प्रकृति की अपूर्णता को मानव-जगत् में पूर्णता प्राप्त करते हुए वर्णित करता है—

१. जग के वियोगिन कौं काम निसि-दिन बाढ्यौ, सावन ह्वै योगी यौं दिखायौ मरघट है।
—अज्ञात, व्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौंदर्य, वर्षा वर्णन छंद १०४।

२. पूजन करत प्रीति रीति प्रकटाय, ये—
पावस न होय परमेसुर कौ दास है।
—दीनदयाल, वही, पृ० १५७।

३. तुम भारत के शाश्वत गौरव,
प्रहरी से जागरित निरंतर। —पंत, हिमाद्रि, स्वर्ण किरण, पृ० ६।

४. चुवत सेद मकरंद कन, तरु तरु तर बिरमाय।
आवत दच्छिण देस ते, थक्यो बटोही बाय॥
—बिहारी, बिहारी-बोधिनी, दोहा, ५६२।

५. पहन चुका गगन नखत-खचित वसन।
—हरिवंशराय 'बच्चन' मिलन यामिनी, पृ० २२३।

६. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० २६।

७. न्योछावर तुम पर निखिल प्रकृति,
छाया प्रकाश के रूप - रंग। —पंत, मानव, युगपथ, पृ० ५०।

८. प्रकृति है सुन्दर, परम उदार,
नर हृदय, परिमित, पूरित स्वार्थ। —प्रसाद, असन्तोष, झरना, पृ० २८।

पूर्ण हुई मानव अंगों में
सुन्दरता नैसर्गिक,
शत ऊषा सन्ध्या से निर्मित
नारी प्रतिमा स्वर्गिक[१]।

और कभी मानव को अपूर्ण तथा प्रकृति को पूर्ण घोषित करता है—

है पूर्ण प्राकृतिक सत्य, किंतु मानव जग,
क्यों म्लान तुम्हारे कुञ्ज, कुसुम, आतप, खग[२]।

कभी मानव-शरीराङ्गों तथा प्रकृति के तादृश उपकरणों के रूप-साम्य को लक्षित करके दोनों को परस्पर एक दूसरे के माप दण्ड-रूप में प्रयुक्त करता है—उनके रूप-साम्य के आधार पर दोनों के रूपांकन में एक दूसरे का उपमान-रूप में प्रयोग करता है—और कभी प्रकृति को मानव से अश्रेष्ठ घोषित करके प्रकृति-रूपों से दी जानेवाली उसकी उपमाओं को अनुपयुक्त सिद्ध करता है—चन्द्र को कलंकी और मानव-मुख को निष्कलंक कहकर[३] अथवा कमल को रात्रि में म्लान हो जाने-वाला बताकर[४] प्रकृति पर मानव-रूप की श्रेष्ठता व्यंजित करता है। इसी प्रकार मानव-भुजाओं और सर्पों, मानव-नेत्रों और कमलों की अनेक स्थलों पर समता घोषित कर चुकने पर भी बहुधा एक को हेय अथवा विजित और दूसरे को उत्कृष्ट अथवा विजयी भी चित्रित करता है[५]।

अन्य दृष्टि-विन्दुओं से भी मानव तथा प्रकृति के रूप-साम्य का समर्थन करते हुए भी उनके पारस्परिक रूप-वैषम्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अतः यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि यदि कुछ दृष्टियों से दोनों में बहुत कुछ रूप-साम्य है—रूप, आकृति अथवा वस्त्राभूषणों की दृष्टि से बहुत कुछ समानता है—तो अन्य दृष्टियों से उनमें रूप-वैषम्य की मात्रा भी कम नहीं।

---

१. पंत, गंगा की साँझ, युग वाणी, पृ०, २०।

२. पंत, मानव-जग, पल्लविनी, पृ० २३१।

३. का सरवरि तेहिं देउं मयंकू। चन्द कलंकी, वह निकलंकू।
—जायसी, पद्मावत, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ४२।

४. सियमुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह, निसि दिन यह बिगसाइ॥
—तुलसी, बरवै रामायण, बालकाण्ड छन्द ३।

५. भुजनि भुजग, सरोज, नयननि, बदन बिधु जित्यो लरनि।
रहे कुहरनि, सलिल नभ उपमा अपर दुरि डरनि॥
—तुलसी, गीतावली, बालकाण्ड, पद २४।

चतुर्थ अध्याय

मानवीय भाव तथा प्रकृति

सौन्दर्य साहित्य का प्राण है। कला का ध्येय सौन्दर्य-साधना है। कवि के लिए काव्य में सौन्दर्य के अतिरिक्त और किसी भी अन्य वस्तु की सत्ता नहीं। शुद्ध काव्य में कलाकार सौन्दर्य के अतिरिक्त यदि अन्य किसी वस्तु को लेता भी है, तो केवल कुरूपता को और उस कुरूपता की स्थिति भी सौन्दर्य की प्रभविष्णुता-वृद्धि तथा मानव-मन में उसके प्रति विकर्षण, विराग अथवा विगर्हणा की उत्पत्ति के लिये ही होती है।

जिस प्रकार किसी कामिनी की पूर्ण सौन्दर्य-प्रतिष्ठा के लिये उसमें आत्मिक सौन्दर्य, गुण-सौन्दर्य, शारीरिक अंग-प्रत्यंगों तथा वस्त्राभरणों के सौन्दर्य की योजना आवश्यक है, उसी प्रकार कविता-कामिनी की पूर्ण सौन्दर्य-प्रतिष्ठा के लिये भी उसमें आत्मा, गुण, शरीर तथा वस्त्रालंकारों का सौन्दर्य नितांत वांछनीय है। उच्च-कोटि की सौन्दर्य-मूर्ति की प्रतिष्ठा कवि तभी कर सकता है, उसके प्रति मानव-मन को आकृष्ट तभी कर सकता है, जबकि उसके काव्य में उक्त सभी प्रकार के सौन्दर्य का सहज समावेश हो, उसके किसी भी रूप की उपेक्षा न हो।

कविता में रस-सौन्दर्य कविता-कामिनी की आत्मा का, ओज, माधुर्य तथा प्रसाद आदि गुणों का सौन्दर्य उसके विभिन्न गुणों का, सुन्दर एवं उपयुक्त शब्द-विधान विषयक सौन्दर्य उसके शारीरिक अंग-प्रत्यंगों का और शैली, छन्द तथा अलंकारों का सौन्दर्य उसके वस्त्राभूषणों का सौन्दर्य है। इनमें से किसी का भी अभाव होने पर कविता-रमणी को पूर्णतः सुन्दर नहीं कहा जा सकता, इसमें संदेह नहीं।

स्थूल रूप से विचार करने पर भी जब तक किसी वस्तु में अन्तर तथा बाह्य दोनों ही प्रकार के सौन्दर्य का समावेश न हो, तब तक उसमें पूर्ण सौन्दर्य की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। आन्तर तथा बाह्य में भी आन्तरिक सौन्दर्य अधिक महत्व-पूर्ण है। आन्तरिक सौन्दर्य से रहित केवल बाह्य सौन्दर्य की वस्तु विष से भरे हुए कनक-घट के समान है। कविता-कामिनी का आन्तर सौन्दर्य उसका आत्मिक

(रसात्मक) सौंदर्य है, जिसके विधान के लिये कवि वर्ण्य वस्तु तथा भावों की प्रकृत अभिव्यक्ति करके उन्हें आकर्षक रूप प्रदान करता है, रसावस्था तक पहुँचाता है। प्रेम, शोक, क्रोध, भय, घृणा, विरक्ति आदि स्थायी भाव जब अनुभाव, विभाव तथा संचारियों से पुष्ट होकर परिपक्वावस्था को प्राप्त होते हैं, तभी रस-निष्पत्ति होती है और कविता-रूपसी के आत्मिक सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण होता है, जिसमें तन्मय होकर पाठक रसानुभव कर आनन्द प्राप्त करता है।

अन्य क्षेत्रों की भाँति ही भाव-क्षेत्र में भी मानव तथा प्रकृति अन्योन्याश्रित हैं। प्रकृति मानवीय-भावों के विकास में सहायक होती है और मानव प्रकृति के भावप्रसार में। आदि मानव वनों में निवास करता हुआ भाव-विकास की दृष्टि से पशु-पक्षी आदि प्रकृति के इतर प्राणियों से विशेष भिन्न नहीं था। उसके प्रेम और पशु-पक्षियों आदि के प्रेम में कोई विशेष अन्तर न था, पशु-पक्षियों के समान ही वह भी अपनी प्रेम-तृषा की तृप्ति में लज्जा आदि भावों से रहित था। उसका क्रोध तथा पशु-पक्षियों का क्रोध भी लगभग समान ही था। पशु-पक्षी जिस प्रकार क्रुद्धावस्था में अपने प्रतिद्वंद्वी के प्राणापहरण के लिये प्रस्तुत हो जाते थे, प्रस्तुत ही नहीं, उनका प्राणान्त तक कर डालते थे, उसी प्रकार मानव भी भले-बुरे की चिन्ता न करके अपने प्रतिद्वन्द्वी के प्राण-नाश के लिये उद्यत हो जाता था। आज के मानव के समान उसमें विवेक-बुद्धि के लिये कोई स्थान न था। इसी प्रकार करुणा, अहिंसा, शोक, भय आदि भावों के क्षेत्र में भी मानव तथा प्रकृति दोनों में ही पर्याप्त साम्य था। करुणा, अहिंसा आदि सामाजिक भावों के लिये न तो मानव के हृदय में ही कोई स्थान विशेष था और न प्रकृति के प्राणियों में ही। जहाँ तक भाव-विकास का सम्बन्ध है, मानव तथा प्रकृति दोनों ही पर एक दूसरे का प्रभाव है।

भाव की परिभाषा तथा व्यापकता

(अ) मनोवैज्ञानिक विवेचन—

मनोविज्ञानवेत्ता भाव, संवेग और स्थायी भावों को भिन्न-भिन्न मानसिक अवस्थाएँ मानते हैं, उनमें पर्याप्त भेद करते हैं। अतः मनःशास्त्र भाव, 'संवेग और स्थायी भावों को किन-किन अर्थों' में प्रयुक्त करता है, इसके दिग्दर्शन के लिये हमें इन सब को मनोविज्ञान के चश्मे से पृथक्-पृथक् रूप से देखना होगा।

(क) *भाव*—मनोविज्ञानवेत्ताओं के अनुसार भाव हमारे चेतन मन की एक विशेष अवस्था है। उनका कथन है कि यद्यपि मन की प्रज्ञात्मक तथा क्रियात्मक अवस्थाओं में भी चेतना रहती है, तथापि भाव के समय जो चेतना होती है, वह उक्त दोनों मनोदशाओं की चेतना से भिन्न एक विशेष प्रकार की चेतना होती है[1]।

---

१. जगदानन्द पाण्डेय, मनोविज्ञान, पृ० ३४०।

दूसरे शब्दों में प्रज्ञात्मक तथा क्रियात्मक अवस्थाओं की चेतना के अतिरिक्त जो चेतना मन में रहती है, वही भाव की अवस्था है। मनःशास्त्र के अनुसार भाव की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं[१]—

(१) भाव चंचल तथा अस्थायी होते हैं।

(२) भाव को हम किसी एक स्थान पर स्थानापन्न नहीं कर सकते। जब हममें दुःख अथवा सुख का भाव उत्पन्न होता है, तो उसका प्रभाव हमारे शरीर के किसी एक भाग पर ही न पड़ कर समस्त शरीर पर पड़ता है[२]।

(३) दो विरोधी भावों की स्थिति मन में एक साथ नहीं हो सकती।

(४) भावों की क्रिया अन्य मानसिक क्रियाओं के साथ ही होती है, अकेले नहीं।

(*ख*) *संवेग, उद्वेग अथवा मनोवेग*—मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संवेग तथा भाव में पर्याप्त अन्तर है, किन्तु यह अन्तर जाति का न होकर केवल मात्रा का है[३]। संवेग भाव का उग्रतम एवं प्रबलतम रूप है ; वह 'किसी चेष्टा की तत्परता से युक्त एक अनुभूति है, जो अनेक शारीरिक परिवर्तनों से संयुक्त होकर व्यक्ति को क्षुब्ध और विचलित करने का प्रयत्न करती है[४], जबकि भाव मन की सामान्य सुखात्मक अथवा दुःखात्मक अवस्था मात्र है। भाव निर्बल होता है, जबकि संवेग प्रबल ; भाव एक सरल प्रक्रिया है, जबकि संवेग जटिल ; भाव का प्रादुर्भाव किसी व्यक्ति अथवा वस्तु के कारण होता है, जबकि संवेग की उत्पत्ति किसी परिस्थिति की कल्पना, स्मृति अथवा प्रत्यक्ष के कारण होती है ; भाव मानसिक जीवन का निष्क्रिय एवं आत्मगत पहलू है, वह बाह्य-जगत् के विषय में कुछ भी व्यक्त न करके, किसी व्यक्ति विशेष की मानसिक अवस्था की व्यंजना करता है, जब कि संवेग मानसिक जीवन का सक्रिय पहलू है और विधेयात्मक परिस्थिति के सम्बन्ध में कुछ व्यक्त करता है। सारांश यह कि संवेग व्यक्ति की समग्रता में एक ऐसी तीव्र एवं अस्थायी अस्त-व्यस्तता (क्षुब्धता) की स्थिति है, जिसका मूल मानसिक होता है और जिसमें व्यक्ति का व्यवहार, चेतन अनुभव, आंगिक क्रियाएँ तथा स्राविक प्रक्रियाएँ समाहित रहती हैं,[५] जबकि भाव समग्र रागात्मक अनुभवों का एक पहलू

---

१. जगदानन्द पाण्डेय, मनोविज्ञान, पृ० ३४०-३४२।

२. जगदानन्द पाण्डेय, मनोविज्ञान, पृ० ३४१।

३. हंसराज भाटिया, सरल मनोविज्ञान, पृ० १४१।

४. राबर्ट एस० वुडवर्थ तथा मार्क्विस, मनोविज्ञान, पृ० २०८।

५. Emotion is an acute disturbance in the individual as a whole, psychological in origin, involving behaviour, conscious experience, and visceral functioning.
—P. T. Young, Emotion In Man And Animal, P. 60.

मात्र है[१]।, संवेगों की अपनी एक भाषा होती है, जो संकेतों, शारीरिक संस्थितियों, विस्मयोद्गारों, बदली हुई आवाजों, बोली के स्वरों और चेहरे की अभिव्यक्तियों से निर्मित होती है[२], किन्तु भाव में प्रायः यह सब नहीं होता।

(ग) *उमंग*—मनःशास्त्री संवेग तथा उमंग में भी भेद करते हैं। उनके अनुसार उमंग संवेग से आबद्ध मानसिक विकार है, किन्तु संवेग से सम्बद्ध होते हुए भी वह उससे भिन्न है। उमंग संवेग से प्रबलता में कम होती है, किन्तु उसकी स्थिति की अवधि अपेक्षाकृत लम्बी अथवा बड़ी होती है[3]। जब कोई संवेग उत्पन्न होता है, तो वह अपना प्रभाव छोड़ जाता है, जिससे मानव कुछ समय तक प्रभावित रहता है। यद्यपि उस अवस्था में मनुष्य के मन में वह संवेग नहीं रहता, तथापि उसके पश्चात्-प्रभाव के कारण साधारण उत्तेजना भी उस प्रभाव के मूल संवेग को उत्पन्न कर देती है। उदाहरणार्थ यदि किसी व्यक्ति के मन में क्रोध का संवेग उत्पन्न होता है, तो वह संवेग तो कुछ समय के अनन्तर शान्त हो जाता है, किन्तु उसका प्रभाव बना रहता है। उसके उस क्रोध के संवेग से प्रभावित उसकी मानसिक अवस्था को क्रोध की उमंग कहते हैं। ऐसी दशा में साधारण घटना भी उसके क्रोध के संवेग को पुनः जाग्रत कर देगी। इस प्रकार संवेग अत्यधिक प्रबल होता है, किन्तु वह जितना ही प्रबल होता है, उतनी ही शीघ्रता से विलीन हो जाता है। उमंग संवेग के समान वेगमय और प्रबल तो नहीं होती, किन्तु उसमें स्थायित्व अधिक होता है, उसकी अवधि अपेक्षाकृत लम्बी होती है[४]। संवेग की स्थिति कुछ मिनटों से अधिक नहीं रहती, किन्तु उमंग घंटों बनी रहती है। भय, क्रोध, आनन्द, विषाद, प्रेम आदि सभी संवेगों से सम्बद्ध उनकी उमंगें भी होती हैं।

(घ) *स्थायी भाव*—स्थायी भाव किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति बारम्बार उद्भूत संवेगों से निर्मित वह स्थायी भावात्मक वृत्ति है, जो उसके प्रति एक प्रकार से सदैव के लिये बन जाती है—अर्द्ध-चेतन मानव-मन में सदैव वर्तमान रहती है। प्रसिद्ध मनोविज्ञानवेत्ता मैक्डूगल के शब्दों में स्थायी भाव किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के चतुर्दिक संकेन्द्रित संवेगात्मक संस्कारों का एक व्यवस्थित

---

१. Feeling is an aspect of all emotional experience.
—Norman L. Munn, Psychology (The Fundamentals Of Human Adjustment), P. 284.

२. वुडवर्थ तथा मार्क्विस, मनोविज्ञान, पृ० ३४०-३४२।

३. Gardner Murphy; An Introduction To Psychology, Page 111.

४. जगदानन्द पाण्डेय, मनोविज्ञान, पृ० ३५४।

संस्थान अथवा संघटन है[१]। जब किसी प्रकार का संवेग किसी व्यक्ति, पदार्थ, विचार अथवा आदर्श के प्रति स्थायी रूप से आबद्ध हो जाता है तो उक्त संवेगानुमुख से संघटित व्यवस्थित स्थायी मानसिक अवस्था को स्थायी भाव की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। दूसरे शब्दों में जब एक ही संवेग का अनुभव किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति बारम्बार होता है, तो उसका संवेगात्मक संस्कार कालान्तर में स्थायी भाव का रूप धारण कर लेता है। यही नहीं, कभी-कभी एक ही उमंग का बारम्बार अनुभव भी कुछ समय के अनन्तर स्थायी भाव बन जाता है। यदि हम किसी व्यक्ति विशेष के प्रति बारम्बार क्रोध प्रदर्शित करते हैं, तो कुछ समय के पश्चात् हमारा वही क्रोध का संवेग हमारे मन में बैर का स्थायी भाव उत्पन्न कर देता है। पति या प्रेमी के मन में पत्नी या प्रेयसी के प्रति प्रेम का स्थायी भाव प्रेम के बार-बार उत्पन्न होने के कारण ही हो जाता है।

सारांश यह कि स्थायी भाव हमारे मन की एक स्थायी अवस्था है, जो मन में मानसिक संस्कार के रूप में सदैव विद्यमान रहता है। एक ही स्थायी भाव कई संवेगों का कारण होता है और स्थिर भी रहता है। स्थायी भाव जन्मजात नहीं, प्रत्युत अर्जित होता है। वह किसी व्यक्ति, वस्तु या आदर्श के प्रति होता है और उसकी अनुपस्थिति में भी वर्तमान रहता है। उसकी चेतना हमें निरन्तर नहीं रहती, वरन् अवसर विशेष पर ही होती है और वह हमारी अर्द्ध-चेतना का विषय है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मनोविज्ञान भाव को सामान्य, आत्मगत, रागात्मक मानसिक अवस्था, संवेग को व्यक्ति के समस्त शरीर को उद्वेलित कर देने वाला उसका उग्रतम रूप, उमंग को संवेग का पश्चात्-प्रभाव और स्थायी भाव को किसी व्यक्ति, वस्तु अथवा आदर्श के प्रति बारम्बार उद्भूत संवेगों से संघटित एक व्यवस्थित स्थायी मानसिक अवस्था मानता है।

(आ) साहित्यिक विवेचन—

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भाव, संवेग, उमंग तथा स्थायी भाव परस्पर सम्बद्ध होने पर भी भिन्न-भिन्न मानसिक स्थितियाँ हैं, सभी में पर्याप्त अन्तर है; किन्तु स्थूल मानव-दृष्टि सामान्यतः इन सबको एक ही मानती है। साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है। अतः साहित्यकार के लिये भी स्थूलतः भाव, संवेग, स्थायी भाव तथा उमंग—सभी प्रायः अभिन्न रहते हैं। सुख-दुख, प्रेम-क्रोध, आनन्द-विषाद

---

१. Sentiment is an organised system of emotional dispositions centred about the idea of some object.

—William Mc. Dougall, An Introduction To Social Psychology, Page 137.

आदि सभी को भाव की संज्ञा दी जाती है, सभी मानसिक स्थितियाँ हैं और इसलिये सभी को भावान्तर्गत रक्खा जाता है। यही नहीं, देखने का भाव, सुनने का भाव, स्पर्श का भाव आदि साहित्यिक भाषा के दृष्टान्तों में भाव शब्द का प्रयोग दर्शन, श्रवण, स्पर्श आदि अनुभूतियों के लिये भी किया जाता है।

काव्यशास्त्रीय दृष्टि-विन्दु से स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव—इन चारों को ही भाव की संज्ञा से अभिहित किया जाता है और यही चारों प्रकार के भाव रस-सामग्री का समष्टि-रूप हैं—

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः[1]।

(क) *स्थायी भाव*—काव्यशास्त्र विरोधी अथवा अविरोधी भावों से आच्छन्न न होनेवाले तथा रस में स्थायी रूप से सदैव विद्यमान अथवा स्थिर रहनेवाले रसास्वाद के मूल भावों को स्थायी भावों की संज्ञा देता है[2]। चूँकि ये रस में सदैव स्थायी रूप से विद्यमान रहते हैं, संचारी भावों के समान एक-दो क्षणों के लिए पानी के बुलबुलों के समान उत्पन्न होकर नष्ट नहीं हो जाते और न ही एक रस को छोड़ कर दूसरे रस का आश्रय ग्रहण करते हैं; अतः इन्हें स्थायीभाव की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ इनकी संख्या ९ मानते हैं और मम्मटादि अन्य आचार्य ८। विश्वनाथ[3] के अनुसार रति, हास्य, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय तथा शम—ये ९ और मम्मट[4] के अनुसार शम को छोड़कर शेष ८ को स्थायी भावान्तर्गत रक्खा जाता है।

(ख) *विभाव*—स्थायी भावों को जाग्रत (उद्बुद्ध) तथा उद्दीप्त करने वाले कारणों को विभाव की संज्ञा दी जाती है। नायक-नायिकादि के आलम्बन से स्थायी भाव उद्बुद्ध अथवा जाग्रत होते हैं और आलम्बनगत चेष्टाओं, परिस्थितियों तथा प्राकृतिक सौन्दर्य आदि से उद्दीप्तावस्था को प्राप्त होते हैं। अतः नायक-नायिका को

---

१. मम्मट, काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, कारिका २८।

२. अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः॥
—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, कारिका २०६, पृ०, २१२।

३. रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च॥
—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, कारिका २१०, पृ० २१३।

४. रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायीभावाः प्रकीर्तिताः॥
—मम्मट, काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, कारिका ३०।

आलम्बन; और आलम्बनगत चेष्टाओं, वाह्य परिस्थितियों तथा प्राकृतिक सौंदर्य आदि को उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत रक्खा जाता है[१]।

(*ग*) *अनुभाव*—आश्रय के उद्बुद्ध एवं उद्दीप्त स्थायी भावों का अनुभव करानेवाली उसकी चेष्टाओं, क्रियाओं तथा आकार-भंगिमादि को अनुभाव कहा जाता है। अनुभावों की यह संज्ञा रस का अनुभव करनेवाले उनके रूप के कारण सार्थक मानी जाती है; इन्हें सात्विक, कायिक और मानसिक—इस तीन वर्गों में विभक्त किया जाता है। शरीर के स्वाभाविक अंग विकारों को, जिन पर मनुष्य का अपना कोई वश नहीं होता और जो अन्तःकरण की 'सत्व' वृत्ति से उद्भूत होते हैं, सात्विक; अंगों द्वारा प्रदर्शित की जानेवाली कृत्रिम चेष्टाओं को कायिक और मन के द्वारा उत्पन्न होनेवाले प्रमोदादि अनुभावों को मानसिक अनुभव की संख्या दी जाती है।

(*घ*) *संचारी-भाव*—स्थायी भावों को पुष्ट करनेवाले उन भावों को, जो जल की तरंगों, बुलबुलों अथवा फेन आदि के समान उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं और कभी एक रस में और कभी दूसरे रस में प्रकट होते हैं, संचारी अथवा व्यभिचारी भावों के नाम से अभिहित किया जाता है[२]। संचारी शब्द का अर्थ संचरण करने वाला अथवा फैलने वाला है और व्यभिचारी का किसी एक स्थायीभाव अथवा रस के साथ विद्यमान न रहकर विभिन्न रसों के साथ व्यभिचार करनेवाला। स्थायी भावों रूपी जल की स्थिरावस्था में पानी के बुलबुलों के समान उत्पन्न होकर फैलनेवाले तथा केवल एक ही रस में उत्पन्न न होकर विभिन्न रसों के साथ व्यभिचार करनेवाले अपने कार्यों के कारण इनकी संचारी अथवा व्यभिचारी संज्ञा सार्थक मानी जाती है। इनकी संख्या बहुत हो सकती है; किन्तु काव्यशास्त्रज्ञों ने ३३ संचारियों का वर्णन किया है[३]।

---

१. विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद कारिका ६४-६५, पृ० ६७।

२. विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधेः॥
—धनंजय, दशरूपक, ४-७।

तथा—
विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः॥
—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, कारिका १७२।

३. निर्वेदावेगदैन्यश्रममदजड़ता औग्र्यमोहौ विबोधः।
स्वप्नापस्मारगर्वामरणमलसताऽमर्षनिद्राऽवहित्थाः।
औत्सुक्योन्मादशंकाः स्मृतिमतिसहिता व्याधिसन्त्रासलज्जाः।
हर्षासूयाविषादाः सधृतिचपलता ग्लानिचिन्तावितर्काः॥
—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, कारिका, १७३।

किंतु यदि तार्किक एवं शुद्ध व्यावहारिक जीवन के दृष्टिकोण से देखा जाय तो काव्यशास्त्र के अनुभाव, विभाव तथा जड़ता आदि कुछ संचारी भावों को भाव की संज्ञा नहीं दी जा सकती। भाव एक प्रकार की मानसिक स्थिति को ही कहा जा सकता है। 'अनुभावादिक शारीरिक क्रियाओं को उसके अन्तर्गत स्थान नहीं दिया जा सकता।

अतः भाव को हम काव्यशास्त्र के व्यापक अथवा मनोविज्ञान के संकुचित अर्थ में प्रयुक्त न करके मानसिक-स्थिति विशेष के अर्थ में प्रयुक्त करेंगे और उसके इसी रूप को लेकर हिन्दी-काव्य में मानव तथा प्रकृति के विभिन्न भावों पर विचार करेंगे।

भाव-विकास में मानव तथा प्रकृति

मानव की आदि सहचरी प्रकृति तथा प्रकृति के आदि सहचर मानव के भावात्मक सम्बन्धों पर विचार करने से विदित होता है कि दोनों पर एक दूसरे का अत्यधिक प्रभाव है। प्रकृति के ममत्वपूर्ण अंक में जन्म धारण कर, आदि मानव-शिशु ने अपनी धात्री प्रकृति से अपने भाव-विकास के क्षेत्र में बहुत-कुछ प्राप्त किया और अपने बुद्धि-विवेकशील 'विज्ञान-ज्ञान' के अन्वेषक वरद-पुत्र मानव से प्रकृति-माँ ने भी इस क्षेत्र में बहुत कुछ सीखा। यद्यपि इस विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक-अमुक भावों का विकास मानव से प्रकृति में और अमुक का प्रकृति से मानव में हुआ, तथापि यह निश्चित है कि दोनों के भाव-प्रचार में मानव तथा प्रकृति दोनों, का बहुत कुछ योग है। उनके पारस्परिक प्रभाव तथा बहुत कुछ देन का ही यह परिणाम है कि आज दोनों के भाव-क्षेत्र में बहुत कुछ परिमार्जन तथा परिष्करण परिलक्षित होता है।

मानव तथा प्रकृति में भाव-साम्य

अन्य क्षेत्रों की भाँति मानव तथा प्रकृति के भाव-क्षेत्र में भी बहुत कुछ साम्य है। प्रेम-क्रोध, आनन्द-विषाद, भय, विरक्ति, घृणा, विस्मय आदि अनेक भाव मानव तथा प्रकृति—उभय पक्षों—में समान रूप से उपलब्ध होते हैं। अग्राङ्कित विवेचन में विभिन्न भावों पर पृथक्-पृथक् रूप से विचार करते हुए हम देखेंगे कि दोनों में इस क्षेत्र में बहुत कुछ समानता है।

(क) *प्रेम— प्रेम जगत का चालक है इसके आकर्षण में खिंचके,*
मिट्टी वा जल पिण्ड सभी दिन रात किया करते फेरा[1]।

उक्त कथन इस तथ्य का द्योतक है कि मानव तथा मानवेतर प्रकृति-सृष्टि का कोई भी प्राणी, प्राणी ही क्या, उसका कोई भी पदार्थ प्रेम की स्थिति का अपवाद नहीं, प्रेम-भाव से मुक्त अथवा वंचित नहीं। मानव तथा प्रकृति इस सृष्टि

---

१. प्रसाद, प्रेम-पथिक, पृ० १७।

के समष्टि-रूप हैं। अतः उनका हृदय ही प्रेम का दिव्य मन्दिर है। यद्यपि किसी भी आश्रय में किसी भी आलम्बन के प्रति प्रेम के प्रादुर्भाव का कारण बताना, एक प्रकार से हास्यास्पद ही होगा; क्योंकि उसकी उत्पत्ति का क्षण बहुत कुछ अनिर्दिष्ट और अज्ञात होता है; तथापि मानव तथा प्रकृति में पारस्परिक प्रेम की स्थिति का उल्लेख करते हुए यह कहा जाता है कि प्रकृति के विराट प्रांगण में जन्म धारण करनेवाले आदिकालीन मानव में प्रकृति के सौम्य रूपों के प्रति प्रादुर्भूत आकर्षण का भाव शाश्वत साहचर्य के फलस्वरूप प्रेम-भाव में परिणत हो गया और कालान्तर में मानव प्रकृति को प्रेयसी के रूप में देखने लगा। उसके चतुर्दिक प्रसरित वन-उपवन, नदी-नद, लता-कुंज, राका-रजनी, तारक-चिह्न दुकूलिनी अमा-निशा, सूर्य, चन्द्र, कादम्बिनी आदि प्रकृति के विभिन्न उपकरण उसके प्रेम के आलम्बन बन गये। इसी प्रकार दूसरी ओर प्रकृति में भी अपने सहचर मानव के प्रति विभिन्न प्रकार के प्रेमभाव का उदय हुआ। पशु-पक्षी, भूमि, लता-पादप, सरिता-सरोवर आदि प्रकृति-रूपों में अपने सहचर मानव के प्रति जो अनुराग होता है, उसका अनुभव भावुक कवि ही नहीं, सहृदय मानव भी यदा-कदा करता है। मानव द्वारा पालित अश्व, श्वान, हस्ति, सुरभि आदि पशुओं के अपने पालक मानव के प्रति प्रेम के उदाहरण एवं प्रमाण प्रायः मिलते रहते हैं। राणा प्रताप, अमरसिंह राठौर तथा लक्ष्मीबाई के अश्वों का अपने स्वामी मानव के लिये किया गया त्याग इतिहास का भव्य सत्य है। इसी प्रकार मानव द्वारा पालित हस्ति-समुदाय तथा श्वान-समूह में अपने पालक मानव के प्रति जो प्रबल प्रेम होता है, उसके कारण वे बहुधा अपने प्राण संकट में डालते हुए ही नहीं, उनका त्याग भी करते पाये जाते हैं।

हिन्दी-काव्य में राम-वन-गमन के अनन्तर अयोध्या की भूमि, सरिता, सरोवर, वन-उपवन, पशु-पक्षी, हय-गयन्द आदि सभी उनके वियोग-दुःख से विह्वल हो श्रीविहीन हो जाते हैं[1]। राम-लक्ष्मण के अश्व खाना-पीना त्याग कर प्रिय-वियोग-दुःख के कारण सदैव सजल नेत्र रहते हैं, उनका नाम सुनते ही चौंक-चौंक पड़ते हैं, उनकी स्मृति आते ही विह्वल हो जाते हैं[2]। सूर के कृष्ण के मथुरा चले जाने के पश्चात् ब्रज-भूमि आठ-आठ आँसू रोती है। समस्त पशु-पक्षी कृष्ण-

---

१. श्रीहत सर सरिता बन बागा। नगरु बिसेषि भयावनु लागा।
खग मृग हय गय जाहिं न जोए। राम बियोग कुरोग बिगोए।
—तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ४५६।

२. लोचन सजल, सदा सोवत से, खान-पान बिसराये।
चितवत चौंकि नाम सुनि, सोचत राम-सुरति उर आये।
—गो० तुलसीदास, गीतावली, अयोध्याकाण्ड, पद ८६।

वियोग-ज्वाला में दग्ध होते हैं। गौ-समूह की दशा शोचनीय हो जाती है[1]। कालिन्दी विरह-ज्वर से जलती हुई पलँग से पृथ्वी पर गिर कर चेतना-शून्य हो जाती है[2]।

कृष्णायन के कृष्ण के मथुरा-गमन से उनके वियोग में वृन्दावन द्युतिहीन हो जाता है; वृक्ष-लता तथा तृणादिक सूख जाते हैं; प्राणि-समूह ग्लान हो जाता है; कुंज प्रज्ज्वलित अग्नि-ज्वालाओं के समान जलने लगते हैं; यमुना विरह-ज्वाला में जल कर कृष्ण-वर्ण होकर पागल-प्रलाप करती हैं; कमलों का विकसित होना बन्द हो जाता है और भ्रमर, चातक तथा अन्य पक्षी उनके विरह-दुख के कारण बोलना बन्द कर देते हैं[3]। प्रिय-वियोग में जड़-चेतन प्रकृति भी दुःखानुभव करती हुई शोचनीयावस्था को प्राप्त होती है, यह विज्ञान का सत्य भले ही न हो, काव्य-जगत् का सत्य अवश्य है, भावुक कवि-हृदय से प्रमाणित अवश्य है।

किन्तु मानव के प्रति प्रकृति का यह प्रेम एकांगी नहीं, उभय पक्षों में समान है। मानव में भी प्रकृति के प्रति उतना ही अगाध प्रेम होता है, जितना प्रकृति में मानव के प्रति। यदि एक ओर प्रकृति-जगत् में मेघ अपने मानव-प्रेम के कारण उसके कल्याण के लिये अपना शरीर त्याग देता है; क्षमामयी वसुन्धरा उसके लिये रत्नकण उगल देती है; षट्रस व्यंजनों के रूप में अपना हृदय-रस उँडेल देती है, तो दूसरी ओर मानव भी प्रकृति के उस प्रेम की उपेक्षा नहीं करता। मानव भी अनन्य प्रेमी की भाँति उसके सम्पर्क-संसर्ग में जो आनन्द-लाभ करता है,

---

१. जल-समूह बरषति दोउ आँखिनि हूँकति लीने नाउँ।
जहाँ जहाँ गो-दूहन कीने सूँघति सोई ठाउँ।
परति पछार खाइ छिन हीं छिन अति आतुर ह्वै दीन।
मानहुँ सूर काढ़ि डारी हैं बारि मध्य तैं मीन।
—सूरदास, सूर-सुषमा, पद १४६।

२ देखियति कालिंदी अति कारी।
अहो पथिक! कहियौ उन हरि सौं, भई बिरह-जुर जारी।
× × ×
निसि दिन चकई बादि बकत अति, फेन मनौ अनुहारी।
—सूरदास, भ्रमरगीत-सार, पद २७८।

३. निर्जन वृन्दावन द्युतिहीना, सूखे तृण तरु जीव मलीना।
अनल-पुंज इव कुंज लखाहीं, खग मृग भीत समीप न जाहीं।
× × ×
मौन पपीहा, नहिं खग कूजन, झंकृत कानन झींगुर-झन झन।
—द्वारिकाप्रसाद मिश्र, कृष्णायन, पृष्ठ २१७।

वह उसे अन्यत्र सुलभ नहीं। प्रकृति से विलग उसका जीवन दुर्वह हो जाता है[१]। उसके सम्पर्क में व्यतीत हुए क्षणों की स्मृति उसके हृदय में टीस उत्पन्न करती है[२]। अपने सहचर मानव तथा उसके द्वारा निर्मित नगरों की भीड़ और कोलाहल में वह शान्ति-लाभ नहीं कर पाता। उनके मध्य से पिंजराबद्ध पक्षी की नाईं भाग कर वह अपनी प्रेयसी प्रकृति के शीतल अंक में विश्राम-लाभ करके सन्तोष की साँस लेता है[३]; उससे विलग होकर उसे अपनी प्रेयसी का भी सम्पर्क अभीष्ट नहीं—

१. एक हुए होंगे जल-जंगल, पर मैं उनसे कितनी दूर।

—नरेन्द्र शर्मा, यहाँ की बरसात, मिट्टी और फूल, पृ० ३९।

तथा—

यहाँ नहीं अमराई प्यारी, यहाँ नहीं काली जामुन,
है सूखी बरसात यहाँ की मोर उदासा गर्जन सुन!
इन तारों के पार कहीं उड़ जाने को कहती आँखें,
पर मन मारे बैठा मेरा मन पंछी भीगी पाँखें।

—नरेन्द्र शर्मा, यहाँ की बरसात (२), मिट्टी और फूल, पृ० ४०।

२. वह सुरभित शीतल छाया!

× × ×

मेरा यह क्षुद्र हृदय, वह विशद हिमालय!
सोचा अनन्त उस सुन्दरता में हो लय,
(जाने किसने?) यह अश्रु-हास का जीवन खूब बनाया!
मैं देवदारु के देवालय में सोया,
उस दिन वर्षों का दुख लघु क्षण में खोया,
ममता के कच्चे धागे में बँध, फिर जीवन अपनाया।

—नरेन्द्र शर्मा, पहाड़ की याद, मिट्टी और फूल, पृ० ५८।

३. ले चल मुझे भुलावा देकर
मेरे नाविक! धीरे-धीरे!
जिस निर्जन में सागर लहरी
अंबर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे! —'प्रसाद', लहर, पृ० १४।

तथा—

मेहरुन्निसा ग्राम में आकर।
शान्ति और संतोष लाभकर............।

—गुरुभक्तसिंह, नूरजहाँ, पृ० ११४।

ऊषा-सस्मित किसलय-दल,
सुधारश्मि से उतरा जल,
ना, अधरामृत ही के मद में कैसे बहला दूँ जीवन ?
भूल अभी से इस जग को[१]।

जिस प्रकार मानव अपनी पत्नी अथवा प्रेयसी से अगाध प्रेम करता है, उसी प्रकार प्रकृति के पशु-पक्षियों में भी अपने प्रिय अथवा प्रेयसी के प्रति निस्सीम प्रेम होता है। मानव-जगत् में राम, सीता के दर्शनों के समय से ही पूर्वानुराग से युक्त होकर उनके अभाव में प्राची में उदित चन्द्र को देखकर उनके मंजुल आनन के साक्षात्कार का आनन्द प्राप्त करते हैं; उन्हें प्राप्त करने के लिये धनुष-भंग करते हैं; विवाहोपरान्त वन-गमन के समय उन्हें अपने साथ ले जाते हैं; रावण द्वारा अपहृत किये जाने पर उनके वियोग-दुःख से विह्वल होकर 'खग मृग तथा मधुकर श्रेणी' से उनका पता पूछते हैं[२]; सैन्य-संग्रह कर, अम्बुधि पर सेतु बाँध कर, रावण तथा उसके साथी करोड़ों राक्षसों को मार कर उन्हें मुक्त करते हैं।

कृष्ण राधिका से प्रथम परिचय में ही प्रेम-सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं[३];

इसी तथ्य की सबल अभिव्यक्ति लब्ध प्रतिष्ठ आंग्ल कवि शेली की इन पंक्तियों में हुई है—

Away, away, from men and towns,
To the wild wood and the downs
To the silent wilderness
Where the soul need not repress
Its music, lest it should not find
An echo in another's mind,
While the touch of Nature's art
Harmonizes heart to he-art.
—Shelly To JANE : THE INVITATION,
Shelley's Poems, vol. I, Page 474.

१. पंत, मोह, पल्लव, पृ० ३७।

२. हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनैनी॥
— तुलसी, रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, पृ० ६३४।

३. सूर स्याम देखत ही रीझे, नैन-नैन मिलि परी ठगोरी।
—सूर, सूरसागर, ना० प्र० स०, दशम स्कन्ध, पद ६७२।

तथा—

तुम्हरौ कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि, बातनि भुरइ राधिका भोरी॥
—सूर, सूरसागर, ना० प्र० स०, दशम स्कन्ध, पद ६७३, पृ० ७६६।

उनके तथा गोपियों के साथ अनेक प्रकार की प्रेम-क्रीड़ाएँ करते हैं; मथुरा में राजत्व पद को प्राप्त करके भी उनके वियोग-दुःख से वे विह्वल रहते हैं; ब्रज को भुलाने का प्रयत्न करके भी भूलते नहीं—'ऊधो ! मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं'[१]। राधिका तथा गोपियों के लिये उनके वियोग में कुंजें अग्नि की पुंजें हो जाती हैं—उनका जीवन दुर्वह होकर विरह की करुण कहानी बन जाता है।

रत्नसेन अपनी प्रेयसी पदमावती की प्राप्ति के लिये राज्य त्याग कर योगी हो जाता है; अनेक प्रकार की बाधाओं का सामना करके प्राणों को संकट में डाल कर, अप्सरा-वेश-धारिणी पार्वती की उपेक्षा कर, उसे प्राप्त करता है। नागमती उसके वियोग में रो-रो कर काँटा सी हो कर पागल के समान पशु-पक्षियों से अपना विरह-दुःख निवेदित करती है। यशोधरा तथा उर्मिला प्रिय-वियोग के अनन्त दारुण दुःख का लक्ष्य बनती हैं। फरहाद अपनी प्रेयसी की प्राप्ति के लिये उत्तुंग पर्वत-शिखरों को समतल भूमि में परिणत कर देता है। सावित्री अपने पति को यमराज से मुक्त करती है। इन्दुमती, कुन्ती, माद्री, गान्धारी, सीता, श्रद्धा तथा इड़ा आदि साध्वी रमणियाँ अनन्य पति-प्रेम के आदर्श प्रस्तुत करती हैं।

इसी प्रकार प्रकृति-जगत् में भी चातक मेघ से अनन्य प्रेम करता है; मरते समय भी अपने प्रेम की अनन्यता में रंचमात्र भी अन्तर आने नहीं देता; बाज के चंगुल में फँसे होने के समय भी अपने प्रेम की अनन्यता के निर्वाह की ही चिन्ता में रहता है; वधिक द्वारा मारे जाने पर गंगा-जल में गिर कर मरते समय भी पवित्र गंगा-जल का भी पान नहीं करता[२]। चकोर चन्द्रमा के वियोग में अंगार-भक्षण करता है[३]। मीन जल के वियोग में प्राण त्याग देती है। मयूर प्रिय मेघ का साक्षात्कार करके हर्षातिरेक से नृत्य कर उठता है। कुमुदिनी चन्द्र के प्रेम में उन्मत्त होकर अपने प्राणों की भी चिन्ता नहीं करती[४]। पतिंगे दीपक पर अपने प्राण न्योछा-

---

१. ऊधो ! मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
× × ×
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि-कहि पछिताहीं।
—सूरदास, भ्रमरगीत-सार, पद ३६२, पृ० १५५।

२. बध्यो बधिक पर्यो पुन्यजल, उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेमपट, मरतहु लगी न खोंच॥
—तुलसी, दोहावली, दोहा ३०२।

३. सौन्दर्य-सुधा बलिहारी चुगता चकोर अंगारे।
—प्रसाद, आँसू, पृ० ४३।

४. निरमोही नहिं नेह, कुमुदिनी अन्तहि हेम हई।
आनन-इन्दुबरन-सम्मुख तजि करखे ते न नई॥
—सूर, भ्रमरगीत-सार, पद १०७,

वर कर देते हैं। कमल अपने प्रेमी सूर्य का दर्शन कर आनन्दातिरेक से खिल उठता है और पुनः उसके वियोग में संकुचित एवं म्लान हो जाता है। सन्ध्या प्रिय सूर्य से वियुक्त होकर दारुण दुख का अनुभव करती, सिसकती तथा अश्रुपात करती है[1]। वसुधा प्रिय-वियोग में सजल नेत्र हो जाती है[2]। सरिता समुद्र से मिलने के लिये अनन्त पथ की यात्रा करती है, उससे मिल कर उसे आत्मसमर्पण करके अपना निजत्व खो देती है[3]। झरने शिलाओं का आलिंगन करके अपना जीवन सार्थक समझते हैं। विकसित पुष्प किरणों से आँख-मिचौनी करते हैं[4]। मधुप घूम-घूम कर पुष्पों का रस लेते हैं। लताएँ अपने प्रियतम वृक्षों से लिपटकर आनन्दातिरेक से भर जाती हैं[5]। रजनी प्रिय-मिलन के लिये अभिसार करती है[6]। प्रिय-निधन से शोक-

---

१. तरुवरों में छिप सिसकती साँझ। — कुँवरनारायण, चक्रव्यूह, पृ० ५६।
डूबा रवि अस्ताचल, संध्या के दृग छल-छल। —निराला, गीतिका, पृ० ७८।

२ अस्ताचल को रवि करता है, सन्ध्या-समय गमन;
विरह-व्यथा से हो जाती है वसुधा सजल-नयन।
—गोपालशरण सिंह, कादम्बिनी, पृ० २६।

३. है विभिन्नता नाम मात्र की
मुझमें उसमें भेद नहीं।
× × ×
जो हो अपना प्रकृत रूप
मैं सत्वर ही पा जाऊँगी।
अन्तहीन सागर में मिलकर
मैं सागर हो जाऊँगी।
—मोहनलाल महतो, 'वियोगी', सरिता का जीवन-संगीत, निर्माल्य, पृ० १७।
इसी तथ्य की व्यञ्जना आंग्ल कवि शेली की प्रसिद्ध कविता Loves' Philosophy की अग्राङ्कित पंक्तियों में है—
The fountains mingle with the river
And the rivers with tbe ocean.
—Shelley, Love's Philosophy,
—Shelley's Poems, Vol. I, Page 332.

४. कहीं शिलाओं का आलिंगन कर-कर झरने झरते हैं;
खिले प्रसून कहीं किरणों से आँख-मिचौनी करते हैं।
—गोपालशरणसिंह, कादम्बिनी, पृ० १२।

५. वृक्षों से लिपटीं बेलें,
हैं फूली नहीं समाती।—गोपालशरण सिंह, कादम्बिनी, पृ० ६६।

६. किस दिगन्त रेखा में इतनी संचित कर सिसकी सी साँस,
यों समीर मिस हाँफ रही सी चली जा रही किसके पास?
—प्रसाद, कामायनी, पृ० ३६।

सन्तप्त पक्षी करुण-क्रन्दन कर मानव-हृदय तक को द्रवीभूत कर देता है[१]।

निष्कर्ष यह कि यदि एक ओर मानव-जगत् में प्रेम की स्थिति है, तो दूसरी ओर प्रकृति में भी। मानव तथा प्रकृति कोई इसका अपवाद नहीं, सर्वव्यापक परमात्मा के समान मानव तथा प्रकृति के घट-घट में, कण-कण में उसकी सत्ता परिव्याप्त है।

(*ख*) *हास्य*—काव्यशास्त्रीय दृष्टि से हास्य के दो भेद हैं—आत्मस्थ और परस्थ। हास्य के विषय विकृत रूप, वेश-भूषा, आकार, वाणी और चेष्टाओं आदि के दर्शन से उत्पन्न हास्य आत्मस्थ और अन्य सहवर्तियों को हँसते हुए देखने से उत्पन्न हास्य परस्थ कहलाता है[२]। ओष्ठ, नासिका और कपोलों का स्फुरण, नेत्रों का मुकुलित और वदन का विकसित होना, मन्द, मध्य अथवा उच्च स्वर से हँसना, खिलखिलाना आदि लक्षण हास्य-भाव के व्यंजक हैं। कुछ विद्वान् हास्य के न्यूनाधिक्य के अनुसार उसके ६ भेद मानते हैं—स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित और अतिहसित[३]। परन्तु अन्य विद्वान् इस भेदीकरण को अयुक्त ठहराते हुए कहते हैं कि भाव वासना-रूप हैं, अतः अन्तःकरण ही उनका स्थान है, शरीर नहीं। स्मित, हसित, विहसित आदि भेद हास्य-क्रिया के भेद हैं, हास्य-भाव, जिसका निवास अन्तःकरण है[४], के नहीं। किन्तु इस विषय में यहाँ यह कहा जा सकता है कि हास्य के उक्त ६ भेद

---

१. मानिषाद प्रतिष्ठाम्त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥
—वाल्मीकि, रामायण, बालकाण्ड, द्वितीय सर्ग, श्लोक १७।

२. आत्मस्थः परसंस्थश्चेत् यस्य भेदद्वयम् मतम्।
आत्मस्थो द्रष्टुरुत्पन्नो विभावे क्षणमात्रतः॥
हसंतमपरं दृष्ट्वा, विभावश्चोपजायते।
योऽसौ हास्यरसस्तज्ज्ञैः, परस्थः परिकीर्त्तितः॥
—पंडितराज जगन्नाथ, रसगंगाधर, प्रथम भाग प्रथम आनन, पृ० १६८-१६६।
तथा—भरत, नाट्यशास्त्र, अ० ६, कारिका ५०, के ऊपर, पृ० ६७।

३. ज्येष्ठानाम् स्मितहसिते मध्यानां विहसितावहसिते च।
नीचानामपहसितं तथऽतिहसितंच षड् भेदाः॥
ईषद्विकासिनयनं स्मितं स्यात् स्पन्दिताधरम्।
किंचिल्लक्ष्यद्विजं तत्र हसितं कथितं बुधैः॥
मधुरस्वरं विहसितं सांसशिरःकम्पमवहसितम्।
अपहसितं सास्राक्षं विक्षिप्तांगम् भवत्यतिहसितम्॥
—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, कारिका २३१-२३२, पृ० २४०-२४१।

४. किसी किसी ने स्थायी भाव हास का छः भेद माना है, यह युक्तिसंगत नहीं। सभी स्थायी भाव वासना रूप हैं, अतएव अन्तःकरण में उनका स्थान है, शरीर में नहीं।

हास्य-मनोभाव के विभिन्न रूपों के व्यंजक हैं। अतः शारीरिक क्रिया के रूप में वे हमारे समक्ष भले ही आवें, हास्य-मनोदशा के विभिन्न रूपों की अभिव्यक्ति करने के कारण वे उसी के द्योतक हैं, इसमें सन्देह नहीं।

भौतिक तथा मनोवैज्ञानिक, दोनों ही दृष्टियों से हास्य का महत्व असंदिग्ध है। इतने उपादेय भाव से मानव तो दूर रहा, प्रकृति भी वंचित नहीं की जा सकती। मानव-जीवन जिस प्रकार उसके बिना अपूर्ण है, उसी प्रकार प्रकृति का भी जीवन उसके अभाव में पूर्ण नहीं। अतः सच्चे भावुक कवि के लिये प्रकृति का जीवन भी उसी प्रकार हर्षोल्लास एवं हास्यादि से परिपूर्ण है जिस प्रकार मानव का। उसे जिस प्रकार मानव-जीवन में हास्य के विभिन्न रूपों के दर्शन होते हैं, उसी प्रकार प्रकृति में भी उसके विभिन्न रूपों के। मानव-जगत् में जिस प्रकार भयंकर शरीर, वानर-मुख-धारी तथा रूप-गर्व से उन्मत्त नारद को सुन्दरी विश्वमोहिनी का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये बारम्बार उचकते हुए देख कर शिव के अनुचर मुसकराते हैं[1]; 'हरिऔध' की नायिका सपत्नियों के हृदय को जलाने के लिये अपने सौन्दर्य का प्रदर्शन करती तथा मुसकराती हुई आती है[2]; वैद्य-वधू, अपने नपुंसक पतिदेव को नपुंसक रोगी को पुंसकत्व प्रदान करने के लिये अनेक प्रकार से मिथ्या प्रशंसा करके तथा प्रचुर धन ले कर औषध (पारा) देते हुए देख कर, मर्मयुक्त हँसी से हँसती है[3] और रूपसी रमणी तालियाँ दे-देकर लता के समान हिलती हुई, नेत्रों में आँसू भर कर रोमांचित होती हुई उच्च स्वर से ठहाका मार कर हँसती है[4], उसी प्रकार

स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित और अतिहसित के नाम और लक्षण बतलाते हैं कि उनका निवास स्थान देह है, अतएव ये हसन क्रिया के ही भेद हैं। —हरिऔध, रस-कलस, हास्य-रस-निरूपण, पृ० २६७।

१. जेहि दिसि बैठे नारद फूली। सो दिसि तेहिं न बिलोकी भूली॥
पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं। देखि दसा हर गन मुसुकाहीं॥
—तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० १४८।

२. अनखान भरे सब सौतिन के उर में बिख-धार बहावति-सी।
तम-पूरे अनेहिन के हिय-भौन में चाँदनी चारु उगावति-सी।
रसिया 'हरिऔध' के अन्तर मैं रस की सुभ सोत लसावति-सी।
मुसुकावति आवति है ललना, अँखियानि सुधा बरसावति-सी।
—हरिऔध, रस-कलस, पृ० ११।

३. बहु धन लै अहिसान कै, पारो देत सराहि।
बेद-बधू हँसि भेद सौं, रही नाह-मुख चाहि॥
—बिहारी, बिहारी-बोधिनी, दो० ६१२।

४. तिय तारी दै-दै हँसति, हिलति लता लौं जाति।
पुलक-वारि लोचन भरे, पुलकित बिपुल लखाति॥
—हरिऔध, रस-कलस, पृ० १२।

प्रकृति-जगत् में भी हास्य के विभिन्न रूपों के अनेक स्थलों पर दर्शन होते हैं। कलियाँ मन्द-मन्द मुसकराती हैं। आकाश में तारे चन्द्रमा के साथ तरंगों का नृत्य देख कर मुसकराते हैं[१]। रवि-रश्मियाँ जल में तैरती हुई हँसती हैं। विद्युत् जल-वृष्टि के समय उल्लसित होकर अपने हृदय का हर्ष हास्य द्वारा व्यक्त करती है। शरद्-सुन्दरी रूप-गर्व से उन्मत्त हो कर हँसती हुई आती है[२]। अभिसारिका रजनी इस प्रकार खिलखिलाकर हँसती है कि उसकी हँसी चतुर्दिक वातावरण में बिखर जाती है[३]। मेघ भूतों के समान महाभयंकर आकार धारण करके कड़क-कड़क कर हँस कर समस्त सृष्टि को कम्पायमान कर देते हैं[४]। चम्पक पुष्प ठहाका मार कर अपने सहवर्ती पुष्प का उपहास करता हुआ अट्टहास करता है[५]।

प्रकृति का यह हास्य क्षणिक नहीं, शाश्वत है[६]। उसके आलम्बन या तो उसके सहवर्ती प्रकृति के उपकरण होते हैं या मानव-जगत् अथवा स्वयं उसकी अपनी परिस्थिति। उसके कुछ उपकरण ही नहीं—एक दो रूप ही नहीं, उसका समष्टि-रूप हँसता है, हँसता ही नहीं, अपने अन्य रूपों को हँसाता भी है[७]।

(ग) *शोक*—इष्ट व्यक्ति के निधन से उत्पन्न हृदय की व्याकुलता को शोक की संज्ञा दी जाती है। अन्य भावों के समान ही इस भाव की स्थिति भी मानव तथा प्रकृति, उभय पक्षों में समान रूप से पाई जाती है। प्रिय के निधन से प्रेमी की जो दशा होती है, वह जिस शोचनीयावस्था को प्राप्त होता है, उद्भ्रान्त होकर रोता,

१. ठा० गोपालशरणसिंह, अनन्त यौवन, कादम्बिनी, पृ० २४।

२. निज शोभा से ही मदमाती, हँसती शरद्-वधू है आती।
—ठा० गोपालशरणसिंह, अनन्त छवि, कादम्बिनी, पृ० ४।

३. विकल खिलखिलाती है क्यों तू ? इतनी हँसी न व्यर्थ बिखेर।
—प्रसाद, कामायनी, पृ० ३६।

४. कभी अचानक, भूतों का-सा प्रकटा विकट महा आकार।
कड़क कड़क, जब हँसते हम सब, थर्रा उठता है संसार।
—पंत, बादल, आधुनिक कवि (२), पृ० २४।

५. ठठा कर तब चम्पा का फूल उठा कह करता-सा उपहास।
'अरे, कल क्या होगा यह सोच गँवा दूँ क्यों अब का उल्लास ?
—विराज, बसन्त के फूल, पृ० ६३।

६. है सुमनों का हास अनन्त, है मधुमय मधुमास अनन्त।
—गोपालशरणसिंह, अनन्त संसार, कादम्बिनी, पृ० ३७।

७. प्रकृति हँस रही थी नभतल में, हिम-दीधित को हँसा-हँसा कर।
ओस-बिन्दु-मुक्तावलि द्वारा, गोद सिता की बार-बार भर।
—'हरिऔध', वैदेही-वनवास, पृ० १२१।

विलखता तथा तड़पता है, उससे प्रभावित होकर ही भवभूति ने करुण रस को ही एक मात्र रस घोषित किया था[1]।

हिन्दी-काव्य में तुलसी के दशरथ की मृत्यु पर रानियों का करुण क्रन्दन सुन कर समस्त अयोध्या में कुहराम मच जाता है, स्वयं दुःख भी दुःखी हो उठता है, धैर्य भी धैर्य खो बैठता है। ऐसा प्रतीत होता है, मानों पक्षियों के विशाल बन में रात के समय भयंकर वज्रपात हुआ हो[2]।

इसी प्रकार अभिमन्यु की मृत्यु पर उसकी पत्नी उत्तरा तथा उसके प्रियजनों का शोक, सीता के पृथ्वी के गर्भ में समा जाने पर राम एवं उनके परिजनों का शोक, महाराज पाण्डु के मरने पर कुन्ती एवं उसके पुत्रों का शोक, महाभारत युद्ध में कौरवों के मारे जाने पर धृतराष्ट्र एवं गान्धारी का शोक तथा रत्नसेन के मारे जाने पर पद्मावती एवं नागमती का शोक इसी कोटि का है। शोक की इस विह्वलावस्था में मानव कभी रो-धोकर अपने हृदय पर वज्र रखकर जीवन से उदासीन हो जाता है; कभी मादक वस्तुओं के प्रयोग में अपने निजत्व को खोकर पागल-सा हो जाता है; कभी अपना प्राणान्त कर डालता है; और कभी अत्यधिक शोकोद्दीप्त एवं क्रोधोद्दीप्त होकर जीवन-मरण, लोक-परलोक की चिंता न करके परमात्मा को चुनौती देने लगता है, उसकी समस्त सृष्टि को नष्ट-भ्रष्ट कर डालने के लिए उद्यत हो जाता है।

मानव के समान ही प्रकृति भी उक्त शोक का अपवाद नहीं। प्रिय व्यक्ति की मृत्यु से मानव की जो दशा होती है, लगभग वही दशा अपने प्रेम-पात्र के निधन पर प्रकृति की होते देखी जाती है। सामान्य प्राणी इस बात को भले ही लक्ष्य न कर सकें, भावुक कवि इसकी ओर से आँख बन्द नहीं कर सकता। पति की मृत्यु से वैधव्यावस्था को प्राप्त नारी जिस प्रकार शोक-विह्वल होकर जीवन से उदासीन हो जाती है; मस्तिष्क एवं हृदय का संतुलन खोकर विक्षिप्त हो जाती है, उसी प्रकार प्रकृति के पशु-पक्षी भी अपने प्रेमी अथवा पति के निधन पर शोकोद्दीप्त हो पागल-से हो जाते हैं। पति क्रौंच के साथ विहार-मग्ना क्रौंची के पति के व्याध के द्वारा मारे जाने पर, उसका करुण-क्रन्दन, आदि कवि वाल्मीकि को द्रवीभूत कर, उनके हृदय की करुणा-धारा को आदि श्लोक के रूप में प्रस्फुटित कर रामायण के रूप में प्रवहमान

---

१. एको रसः करुण एव निमित्तभेदा द्भिन्नः पृथक्पृथगिव श्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुद्तरंगमयान्विकारा, नम्भो यथा, सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥
—भवभूति, उत्तर रामचरित, तृतीय अंक, छन्द ४७, पृ० २०२।

२. करि बिलाप सब रोवहिं रानी। महा बिपति किमि जाइ बखानी॥
सुनि बिलाप दुखहू दुख लागा। धीरजु हू कर धीरजु भागा॥
भयउ कोलाहलु अवध अति, सुनि नृप राउर सोरु।
बिपुल बिहग बन परेउ निसि, मानहुँ कुलिस कठोरु॥
—तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ४५६।

कर देता है[१]। हिंदी-काव्य में श्री द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी के 'क्रौंच-वध' की क्रौंची का करुण विलाप जड़-चेतन, निखिल सृष्टि को विह्वल कर देता है। इसी प्रकार आंग्ल कवि शेली की वैधव्यावस्था को प्राप्त पक्षिणी का प्रचण्ड शीत, भयंकर हिम-पात तथा भयावह निर्जन वन में विक्षिप्त-सी होकर शोक-विह्वल एवं विरक्त जीवन व्यतीत करना सहृदय मानव ही नहीं, पत्थर-हृदय व्यक्तियों तक को संवेदनशील बना देता है[२]।

(घ) *क्रोध*—प्रायः असाधारण अपराध, विवाद, उत्तेजनापूर्ण अपमान आदि से उत्पन्न मनोविकार को क्रोध की संज्ञा दी जाती है। किन्तु इसके साथ ही यह भी कहा जाता है कि बाह्य प्रकृति के भयावह रूपों तथा स्थितियों से उत्पन्न भय की भावना तथा कठिनाइयों के ज्ञान का प्रतिक्रियात्मक भाव क्रोध है। सूक्ष्म रूप से देखने पर विदित होता है कि क्रोध को न तो पहली परिभाषा में सीमित किया जा सकता है और न दूसरी की चहारदीवारी में बन्दी। दोनों ही रूपों में क्रोध की स्थिति उत्पन्न होती है। अतः उसकी व्यापक परिभाषा के लिए, हम कह सकते हैं कि क्रोध अपराध, विवाद, अपकार और अपमानादि से उत्पन्न होनेवाला मनोविकार तथा भय एवं कठिनाइयों के ज्ञान का प्रतिक्रियात्मक भाव है। अतः प्राणियों में क्रोध का आविर्भाव कभी तो भय से त्राण पाने अथवा कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने के लिये उग्र रूप धारण करने पर होता है और कभी अपमानादि का प्रतिशोध लेने के लिये भयंकर रूप धारण करने पर।

हिन्दी-काव्य में मानव तथा प्रकृति-उभय पक्षों में अन्य भावों के सदृश ही क्रोध की स्थिति भी प्रायः समान रूप से पायी जाती है। मानव जगत् में जहाँ एक ओर भयंकर शरीर, वानर-मुख-धारी, रूप-गर्व से उन्मत्त नारद को अपने-रूप-प्रदर्शन के

---

१. मा निषाद प्रतिष्ठाम् त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥
—वाल्मीकि, रामायण, बालकाण्ड, द्वितीय सर्ग, श्लोक १७।

२. A widow bird sate mourning for her love
Up on a wintry bough;
The frozen wind crept on above,
The freezing stream below.
There was no leaf up on the forest bare,
No flower up on the ground,
And little motion in the air
Except the mill-wheel's sound.
—Shelley, Charles First, the complete Poetical works of P. B. Shelley, Page 507.

लिये बारम्बार उचकते हुए देख कर राजकुमारी विश्वमोहिनी का हृदय क्रोध से जलने लगता है[१]; पुत्र-शोक-विह्वल अर्जुन अपना अपकार करने वाले शत्रुओं से प्रतिशोध लेने के लिए क्रोधोद्दीप्त हो अन्धड़-विलोड़ित अम्बुधि सदृश प्रचण्ड रूप धारण कर उनके नाश की प्रतिज्ञा करते हैं[२]; शिव धनुर्भंग से क्रुद्ध परशुराम लक्ष्मण की बातों से और भी क्रोधोद्दीप्त होकर अपने कुठार की भीषणता का वर्णन करते हुए धनुर्भंगकर्त्ता का नाम पूछते हैं[३]; वहाँ दूसरी ओर प्रकृति में भी क्रोध का आविर्भाव विभिन्न परिस्थितियों में अनेक स्थलों पर पाया जाता है। मेघ क्रुद्ध होकर भयावह रूप धारण कर गर्जन करते हुए संसार को अपनी प्रखर जल धारा में बहा देने के लिये कटिबद्ध हो जाते हैं। विद्युत् क्रोधोद्दीप्त होकर उग्रतम रूप धारण कर अशनि-पात करती है[४]। झंझावात क्रुद्ध होकर संसार का महाविनाश कर डालता है[५]। सिन्धु-लहरियाँ फण फैलाकर सृष्टि को निगल जाने के लिये दौड़ पड़ती हैं[६]। सर्प

---

१. काहुँ न लखा सो चरित बिसेषा। सो सरूप नृपकन्या देखा ॥
मर्कट बदन भयंकर देही। देखत हृदयँ क्रोध भा तेही ॥
—तुलसी, रामचरित मानस, बालकाण्ड, पृ १४८।

२. श्री कृष्ण के सुन बचन अर्जुन क्रोध से जलने लगे।
सब शोक अपना भूलकर करतल युगल मलने लगे।
संसार देखे अब हमारे शत्रु रण में मृत पड़े।
करते हुए यह घोषणा वे हो गये उठ कर खड़े।
उस काल मारे क्रोध के तनु काँपने उनका लगा।
मानों हवा के जोर से सोता हुआ सागर जगा।
—मैथिलीशरण गुप्त, जयद्रथ-वध, पृ० ३७।

३. गर्भ के अर्भक काटन को पटु-धार कुठार कराल है जाको।
सोई हौं बूझत राज सभा, धनु को दल्यो ? हौं दलिहौं बल ताको ॥
लघु आनन उत्तर देत बड़ो, लरिहै, मरिहै, करिहै कछु साको।
गोरो गरूर गुमान भरो कहौ कौसिक छोटो सो ढोटो है काको ॥
तुलसी, कवितावली, बालकाण्ड, छंद २०।

४. कादम्बिनी कड़कती गुरु गर्जना से, कम्पायमान भय पीड़ित मेदिनी थी।
होके महान् प्रबला तड़ित अदम्या, कांतार पै अशनि घोर गिरा रही थी ॥
—अनूप शर्मा, सिद्धार्थ, सर्ग १४ पृ० २१६।

५. ऊपर उठा-उठा डगमग कर, पटक-पटक कर मेरा पोत।
आँधी है कह रही सभी दल दूँगी, इसी सलिल में गोत ॥
—गुरुभक्तसिंह, विक्रमादित्य, सर्ग ३०, पृ० १६७।

६. उधर गरजतीं सिंधु लहरियाँ, कुटिल काल के जालों-सी,
चली आ रहीं फेन उगलती फन फैलाये व्यालों-सी।
—प्रसाद, कामायनी, पृ० १४।

रंच मात्र भी छेड़ने पर क्रोधोद्दीप्त हो फुंकार उठता है। मृगेन्द्र गजेन्द्र की चिंघाड़ सुनते ही क्रोध से उद्दीप्त हो हुंकार उठता है। शूल पैर के नीचे पड़ते ही उसमें चुभ जाते हैं। अग्नि छूते ही जला देती है। समुद्र निगल जाने के लिए तत्पर हो जाता है[1]। प्रकृति के उक्त उपकरण ही नहीं, यदा-कदा समग्र प्रकृति ही क्रोधोद्दीप्त हो संसार के महाविनाश के लिये तत्पर देखी जाती है[2]।

(ङ) *उत्साह*—व्यापक अर्थ में चित्त के किसी भी प्रकार के चाव अथवा साहसपूर्ण आनन्द की उमंग को उत्साह कहते हैं। दुःख के वर्ग में जो स्थान भय का है, वही स्थान आनन्द-वर्ग में उत्साह का है। भय में हम प्रस्तुत कठिन स्थिति के निश्चय से विशेष रूप से दुःखी और कभी-कभी उस स्थिति से अपने को दूर रखने के लिये प्रयत्नवान् भी होते हैं। उत्साह में हम आनेवाली कठिन स्थिति के भीतर साहस के अवसर के निश्चय-द्वारा प्रस्तुत कर्म - सुख की उमंग में अवश्य प्रयत्नवान होते हैं। उत्साह में कष्ट या हानि सहने की दृढ़ता के साथ-साथ कर्म में प्रवृत्त होने के आनंद का योग रहता है[3]।

स्थूल रूप से देखने पर कभी-कभी तथा उत्साह अभिन्न दिखाई पड़ते हैं, किंतु वस्तुतः दोनों में पर्याप्त अन्तर है। क्रोध प्रायः अपने से निर्बल व्यक्तियों के प्रति होता है, जबकि विजित करने का उत्साह प्रायः अपेक्षाकृत शक्तिशाली व्यक्तियों के प्रति, क्योंकि 'जो मृगपति बध मेढ़कहिं, भलो कहै को ताहि'[4]। क्रोध में उदारता का अभाव तथा प्रतिशोध की प्रबल इच्छा अन्तर्हित रहती है, किंतु उत्साह में उदारता का भाव सदैव अंतर्व्याप्त रहता है। क्रोध प्रायः वर्तमान दशा से ही सम्बद्ध होता है, किन्तु उत्साह बहुधा भविष्य से। उत्साह में कहने की अपेक्षा करने की मात्रा अधिक रहती है, किन्तु क्रोध में मनुष्य करने की अपेक्षा डींग अधिक मारता है। उत्साह में धैर्य तथा उल्लास वर्तमान रहता है, किन्तु क्रोध में इनका अभाव रहता है।

भावुक कवि के लिये उत्साह की स्थिति मानव तथा प्रकृति-उभय पक्षों में समान रूप से पायी जाती है। उसके लिए यदि एक ओर मानव-जगत् में अभिमन्यु यमराज से भी युद्ध करने का उत्साह रखता है, पिता अर्जुन तथा मातुल कृष्ण

---

१. रामधारी सिंह, 'दिनकर', कुरुक्षेत्र, पृ० ३८-३९।

२. पर नहीं यह ज्ञात, उस जड़ वृक्ष को, प्रकृति भी तो है अधीन विमर्ष के।
यह प्रभंजन शस्त्र है उसका नहीं, किंतु, है आवेगमय विस्फोट उसके प्राण का।
जो जमा होता प्रचंड निदाघ से, फूटना जिसका सहज अनिवार्य है।
—रामधारी सिंह, 'दिनकर', कुरुक्षेत्र, पृ० १७।

३. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, उत्साह, चिन्तामणि, भाग १, पृ० ६।

४. गुलाबराय, नवरस, पृ० ४६७।

से भी युद्ध करने में अनन्त उल्लास का अनुभव कर सकता है[1]; लक्ष्मण ब्रह्माण्ड को कन्दुक के समान उठाकर कच्चे घड़े के समान फोड़ने, सुमेरु पर्वत को मूलक (मूली) के समान उखाड़ फेंकने, शिव-धनुष को पद्मनाल के समान चढ़ा कर शत योजन तक लेकर दौड़ने तथा छत्रक-दण्ड के समान तोड़ डालने का उत्साह रखते हैं[2]; तो दूसरी ओर प्रकृति-जगत् में सूर्य बड़े उत्साह के साथ राम का गुण-गान करते हैं[3]। कृष्ण-जन्म के आनन्द से उल्लसित सुरभि-वर्ग के थनों से दुग्ध-धारा प्रवहमान होने लगती है; यमुना का जल आनन्दपूर्ण उमंग से भर जाता है; सूखे हुए वृक्ष तथा लताएँ लहलही हो उनका स्वागत करती हैं[4]; सम्राट वसंत विरहियों को विजित करने के लिए—उन पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए, बड़े उत्साह से अपनी सेना सजाता है और उसके सैनिक उत्साह से भर कर, प्रचण्ड रूप धारण कर, उन पर भयंकर आक्रमण करते हैं—

सूर सहकार सीस औरन के तीर करै, मोरन की बनी बेस-बानै रतिनाह की।
परिभृत बंदीजन बेहद बिरद बोलैं, झंझा पौन ठाढ़ी लखि बाढ़ी पीर दाह की।
कहै 'प्रहलाद कवि' किंसुक त्रिसूल फूल, सूल उपजावै कहा गति है निबाह की।
बिरहीं वचैंगे कैसे, चाह करि अंत हेत, चढ़ी फौज प्रबल, बसंत पादसाह की[5]।

(च) *भय*—मानव अथवा प्रकृति-जगत के किसी भी प्राणी के लिए जीवन-संरक्षण की भावना सहज-स्वाभाविक है, जीवन-विनाश की आशंका उसे सदैव बनी

---

१. मैं सत्य कहता हूँ सखे! सुकुमार मत जानो मुझे,
यमराज से भी युद्ध में प्रस्तुत सदा मानों मुझे।
है और की तो बात ही क्या गर्व मैं करता नहीं,
मामा तथा निज तात से भी समर में डरता नहीं।
—मैथिलीशरण गुप्त, जयद्रथ-वध,, पृ० ६।

२. जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्माण्ड उठावौं॥
काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी॥
कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं। जोजन सत प्रमान लै धावौं॥
तोरौं छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।
जौं न करौं प्रभु पद सपथ कर न धरौं धनु भाथ॥
—तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० २४२-४३।

३. यह रहस्य काहूँ नहिं जाना। दिनमनि चले करत गुन गाना॥
—तुलसीदास, रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० १६६।

४. आनँद-मगन धेनु स्रवैं थनु पय-फेनु, उमँग्यौ जमुन-जल उछलि लहर के।
अंकुरित तरु-पात, उकठि रहे जे गात, बन-बेली प्रफुलित कलिनि कहर के।
—सूर, सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३०, पृ० ४२६।

५. प्रह्लाद कवि, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य, पृ० ३६।

रहती है। अतः बाह्य-जगत् के किसी भी भयावह अथवा उग्र रूप का साक्षात्कार अथवा विराट प्रकृति के कराल रूपों की अस्पष्टता उसमें भय का संचार कर देती है। हृदय-स्पंदन का तीव्र होना, आमाशय में [रिक्तता, अस्वस्थता, तनाव, कम्पन, शीत-स्वेद (Cold Sweat), निर्बलता, बेहोशी, वमन, अनैच्छिक मल-मूत्र-विसर्जन आदि भय के लक्षण हैं[1]।

हिंदी-काव्य में भय की यह भावना अन्य भावनाओं के समान ही मानव तथा प्रकृति दोनों में ही समान रूप से पाई जाती है। जिस प्रकार प्रकृति के विराट एवं भयोत्पादक आकार-प्रकार, प्रचण्ड एवं उग्रतम रूप प्रतिशोध की प्रचंड भावनादि से क्रोधोद्दीप्त मानव के साक्षात्कार से मानव भयातंकित हो उठता है, उसी प्रकार हिंस अथवा रौद्र-वेश-धारी प्रचण्ड मानव अथवा प्रकृति के प्रलयंकर एवं क्रुद्ध रूपों को देखकर प्रकृति भी भय से कम्पायमान हो उठती है। यदि एक ओर मानव प्रकृति के भयंकर रूप को देखकर आतंकित हो जाता है, जीवन-रक्षा के लिए, उसके भयंकर एवं विनाशकारी रूपों से परित्राण पाने के लिए, पलायन करता है[2], अचेत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ता है[3] अथवा अपने सहवर्ती मानव के प्रति कोई भयंकर अपराध करके भय से काँप उठता है[4]; प्रचण्ड शत्रु के शौर्य-साहस से भयभीत हो सुषुप्तावस्था में भी बारंबार चौंकता है; उसके विनाशकारी रूप का स्मरण करके क्रन्दन करता, बिलखता एवं थर-थर काँपता है[5]; बड़वानल से पीड़ित समुद्र तथा दावानल से जलने

---

१. वुडवर्थ तथा मार्क्विस, मनोविज्ञान, अनुवादक: उमापतिराय चन्देल, पृ० २१७।

२. लपट कराल ज्वालजालमाल दहूँ दिसि, धूम अकुलाने पहिचाने कौन काहि रे।
पानी को ललात, बिललात, जरे गात जात, परे पाइमाल जात, भ्रात तू निबाहि रे॥
प्रिया तू पराहि, नाथ नाथ तू पराहि, बाप बाप! तू पराहि, पूत पूत तू पराहि रे।
—तुलसी, कवितावली, सुन्दर काण्ड, छन्द १६।

३. उन्हें वहीं से दिखला पड़ा वही, भयावना सर्प दुरन्तकाल काल सा।
बड़ी बुरी निष्ठुरता समेत जो, विनाशता वन्य प्रभूत जन्तु था॥
पला रहे थे उसको विलोक के, असंख्य प्राणी बन के इतस्ततः।
गिरे हुए थे महि में अचेत हो, समीप के गोप सधेनु मंडली॥
—हरिऔध, प्रिय-प्रवास, पृ० १७१।

४. तब हर गन बोले मुसुकाई। निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई॥
अस कहि दोउ भागे भयँ भारी। बदन दीख मुनि बारि निहारी॥
—तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० १४८-१४६।

५. चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार बार, दिल्ली दहसति चितै चाह करखति है।
+ + + +
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि, केते पातसाहन की छाती दरकति है॥
—भूषण, शिवा-बावनी, भू० ग्रं०, पृ० ८५।

वाले वृक्षों के समान जलता है और राम से आतंकित रावण, परशुराम से भयभीत सहस्रबाहु अर्जुन, चीते से भयातंकित मृग-समूह तथा सिंह से पीड़ित गजराज के समान शोचनीयावस्था को प्राप्त होता है[१], तो दूसरी ओर प्रकृति-जगत् में भी झंझावात, मेघ-गर्जन, वज्रपात तथा कराल जल-वृष्टि से समस्त प्रकृति आतंकित हो उठती है:—

भीम-घोष-गंभीर, अतल धँस टलमल करती धरा अधीर,
अनल निकलता छेद भूमितल, चूर हो रहे अचल-शरीर[२]।

तथा—

कादम्बिनी कड़कती गुरु गर्जना से, कम्पायमान भय पीड़ित मेदिनी थी[३]।

(छ) *जुगुप्सा*—किसी दोषयुक्त अथवा घृणित वस्तु के दर्शन, श्रवण, स्मरण अथवा स्पर्शादि से मन तथा इन्द्रियों के संकुचन और उसके प्रति उत्पन्न विकर्षण-भाव को जुगुप्सा कहते हैं। इसका अविर्भाव मांस, मेदा, रुधिर, चर्बी, मल, मूत्र आदि दुर्गन्धयुक्त पदार्थों तथा उनमें कृमि-कीट, मक्षिकादि के पतन के दर्शनादि से मानव वर्ग में तो होता है, किंतु प्रकृति में इसकी स्थिति प्रायः देखने में नहीं आती। यही कारण है कि जहाँ काव्य में जुगुप्सा-भाव की स्थिति के अनेक स्थल मिलते हैं[४], वहाँ प्रकृति में उसकी स्थिति के स्थलों का एक प्रकार से अभाव सा है।

(ज) *आश्चर्य*—समझ में न आनेवाली अपूर्व, अद्भुत अथवा लोकोत्तर वस्तु के दर्शन, श्रवण, स्पर्श अथवा स्मरण से उत्पन्न मनः स्थिति विशेष की संज्ञा

---

१. + + +

दावा द्रुमदण्ड पर, चीता मृगझुंड पर, 'भूषन' बितुंड पर, जैसे मृगराज है।
—भूषण, शिवराज-भूषण, छन्द ५६।

२. निराला, नाचे उस पर श्यामा, अनामिका, पृ० १०५-१०६।

३. अनूप शर्मा, सिद्धार्थ, पृ० २१६।

४. ओझरी की झोरी काँधे, आँतनि की सेल्ही बाँधे,
मूँड़ के कमंडल, खपर किये कोरि कै।
+ + +
सोनित सों सानि सानि गूदा खात सतुआ-से, प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि कै।
—तुलसी, कवितावली, लंकाकाण्ड, छन्द ५०।

तथा

कहूँ धूम उठत बरति कतहूँ है चिता कहूँ होत रोरा कहूँ अरथी धरी अहै।
कहूँ हाड़ परो कहूँ जरो अधजरो बाँस, कहूँ गीध-भीर मास नोचत अरी अहै।
'हरिऔध' कहूँ काक कूकर हैं शव खात, कतहूँ मसान मैं छँछूदरी मरी अहै।
कहूँ जरी-लकरी कहूँ है सरी-गरी-माल, कहूँ भूरि-धूरि-भरी खोपरी परी अहै॥
—'हरिऔध', रस-कलस, पृ० ३६०-३६१।

आश्चर्य है। भावुक कवि के लिए इस भाव की स्थिति भी जिस प्रकार मानव-वर्ग में अनेक स्थलों पर पायी जाती है, उसी प्रकार जड़-चेतन प्रकृति के रूपों में भी। अतः वह जहाँ एक ओर मानव के अभूतपूर्व अथवा अलौकिक वस्तु आदि के दर्शनादि से आश्चर्यचकित होने की अभिव्यक्ति करता है, वहाँ दूसरी ओर प्रकृति को भी परिस्थिति विशेष में आश्चर्य-स्तब्ध दर्शाता है। तुलसी की सीता हनुमान द्वारा प्रिय राम की मुद्रिका के गिराये जाने पर आश्चर्य-चकित हो उठती हैं[१]। कौशल्या बालक राम को पालने में सोते हुए और नैवैद्य के पकवानों को खाते हुए दो स्थलों पर देखकर आश्चर्यचकित हो जाती हैं, कभी भोजन करते हुए राम को देखने जाती हैं और कभी पालने में सोते हुए राम को। एक ही राम को दो स्थलों पर दो रूपों में पाकर उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता, उनकी मति भ्रमित हो जाती है और वह परम आकुल हो उठती है[२]।

इसी प्रकार प्रकृति-जगत् में कवि कहीं तरंगों के आश्चर्यचकित होकर जागने का उल्लेख करता है[३], कहीं वृक्षों के आश्चर्य-स्तब्ध होने की व्यंजना करता है[४], कहीं वायु के विस्मयाभिभूत होने का संकेत करता है[५] और कहीं नक्षत्रों के आश्चर्यपूर्ण

---

१. तब देखी मुद्रिका मनोहर। राम नाम अंकित अति सुन्दर ।।
चकित चितय मुदरी पहिचानी। हरस विषाद हृदयँ अकुलानी ।।
—तुलसी, रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड, पृ० ६६७।

२. करि पूजा नैवेद्य चढ़ावा। आपु गई जहँ पाक बनावा ।।
बहुरि मातु तहवाँ चलि आई। भोजन करत देखि सुत जाई ।।
गे जननी सिसु पहिं भयभीता। देखा बाल तहाँ पुनि सूता ।।
बहुरि आइ देखा सुत सोई। हृदयँ कम्प मन धीर न होई ।।
इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मतिभ्रम मोर कि आन बिसेखा ।।
देखि राम जननी अकुलानी। प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी ।।
—तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० २२०।

३. कल
इनके मन पर
जब ये मिच-मिचाती लहरें चकित-सी जागेंगी।
—कुँवरनारायण, चक्रव्यूह, पृ० १४।

४. पेड़ों के विस्मित होठों पर थिरक उठी थी जब शहनाई।
—नीरव, ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० ५६।

५. The winds, with wonder whist,
Smoothly the waters kist.
—Milton, The Hymn, The Poetical Works of John Milton, Page 397.

दृष्टि से देखने की कल्पना करता है[1]।

(ऋ) *निर्वेद*—जीवन तथा भौतिक भोग-विलास के उपकरणों की क्षण-भंगुरता के ज्ञान से संसार के प्रति विरक्ति तथा परमात्मा अथवा तत्व-ज्ञान के प्रति आकर्षण की उत्पत्ति को निर्वेद की संज्ञा दी जाती है। अन्य भावों के समान ही इस भाव की स्थिति भी कवि के लिए मानव तथा प्रकृति उभय पक्षों में सम है। कवि जिस प्रकार जड़-चेतन प्रकृति में अन्य भावों के आरोप के विषय में बुद्धि अथवा तार्किकता की चिंता नहीं करता, विज्ञापन अथवा दर्शन के सत्य के झाड़-झंखाड़ में नहीं पड़ता, केवल स्वानुभूति के बल पर, काव्य के सत्य के आधार पर समग्र सृष्टि को सचेतन-सप्राण समझकर उसमें विभिन्न भावों, विभिन्न गुणों अथवा विभिन्न कार्यों का प्रदर्शन करता है, उसी प्रकार वह मानव के समान ही प्रकृति में भी उसके तत्व-ज्ञान तथा जीवन की क्षणभंगुरता के सहज बोध से उत्पन्न निर्वेद की भी व्यंजना करता है। जिस प्रकार मानव-जगत् में सूर, तुलसी आदि कवि संसार की असत्यता एवं अनित्यता के बोध से उसके प्रति विरक्त होकर सांसारिक प्राणियों तथा अपने मन की भर्त्सना करते हुए भौतिक भोग-विलास से विमुख तथा परमात्मा की ओर उन्मुख होने का उपदेश देते हैं[2], उसी प्रकार सांसारिकता से विरक्त पक्षी विश्व को

---

१. The stars, with deep amaze,
Stand fixed in steadfast gaze.
—Milton, The Hymn, The Poetical Works of John Milton, Page 397.

२. जा दिन मन पंछी उड़ि जैहै।
ता दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहैं।
या देही कौ गरब न करियै, स्यार-काग-गिध खैहैं।
तीननि मैं तन कृमि, कै बिष्टा, कै ह्वै खाक उड़ैहैं।

× × ×

अजहूँ मूढ़ करौ सतसंगति, संतनि मैं कछु पैहै।
नर-बपु धारि नाहिं जन हरि कौं, जम की मार सो खैहै।
सूरदास भगवंत-भजन बिनु बृथा सु जनम गँवैहै।

—सूर, सूरसागर, विनय पद ८६।

तथा—सुनु सठ काल-ग्रसित यह देही। जनि तेहि लागि बिदूषहि केही॥

—तुलसी, विनय-पत्रिका, पद १२६।

एवं—सहसबाहु दसबदन आदि नृप, बचे न काल बली ते।
हम हम करि धन-धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते॥

× × ×

जब नाथहिं अनुरागु जागु जड़, त्यागु दुरासा जी ते।
बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ, विषय-भोग बहु घी ते॥

—तुलसी, विनय-पत्रिका, पद १९८।

उसी विरक्ति की प्रेरणा देते हैं[१]। उद्यान के म्लान पुष्प जीवन की अंतिम गति का स्मरण कराते हैं[२]; वृक्ष-पर्ण हिल-हिलकर और जल हर-हर करके प्रवहमान होता हुआ संसार की असत्यता, क्षणभंगुरता तथा केवल परमात्मा के अस्तित्व की घोषणा करता है[३]; सरिता एक स्थान पर स्थिर न रह करके संसार से विरक्त होकर अपने अनन्त पथ पर गतिशील होती हुई इस बात का संकेत कर जाती है कि विश्व-जीवन भी इसी प्रकार स्थिर नहीं, बह जाने वाला है, नाशवान है[४]।

(ज) *वात्सल्य*—मानव में वात्सल्य-भाव की स्थिति अन्य स्थायी भावों के सदृश ही सुषुप्तावस्था में सदैव विद्यमान रहती है। उसका यही सुषुप्तावस्था का वात्सल्य अपनी संतान को हँसते-खेलते, किलकारियाँ भरते, तुतला-तुतला कर बोलते अथवा नटखटपन करते देखकर जागृत होकर उद्दीप्त हो उठता है। संतानहीन व्यक्ति का यही वात्सल्य उसे सन्तान प्राप्ति के लिये समुत्सुक एवं व्यग्र बना देता है। संतान के प्रति उसके इसी ममत्व के कारण धर्म-शास्त्रों में संतान को विशेष महत्त्व देते हुए कहा गया है कि संतानहीन व्यक्ति का मुख देखना पाप है, अशुभ है; पुत्रहीन व्यक्ति की मुक्ति नहीं होती। मानव में जो वात्सल्य निसर्गतः संचित होता है, उसकी अभिव्यक्ति तथा तुष्टि के लिए सन्तान का होना परमावश्यक है कि जो मनुष्य संतानहीन होता है, उसे अपने वात्सल्य की व्यंजना तथा तुष्टि का अवसर न मिलने के कारण जीवन दुर्वहभार प्रतीत होता है।

संस्कृत-काव्याचार्यों ने वात्सल्य को स्थायी भाव तथा पृथक् रस नहीं माना है; किन्तु हिन्दी-काव्य में आकर सूर, तुलसी आदि कवियों के काव्य में उनकी इतनी विशद अभिव्यक्ति हुई है कि अब बहुत से विद्वान उसे रसत्व प्रदान करने के पक्ष में हो गये हैं।

---

१. प्रातःकाल ममत्वहीन वे जहाँ तहाँ उड़ जाते।
जग को हैं अनित्य मेले का रोचक पाठ पढ़ाते॥
—रामनरेश त्रिपाठी, पथिक, पृ० ३६।

२. खिल-खिल कर सब फूल बाग में कुम्हला-कुम्हला जाते हैं।
तेरी भी गति यही है गाफिल यह तुझ को दिखलाते हैं।
—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, भारतेन्दु-सुधा, पृ० ६५।

३. पत्ते सब हिल-हिल कर पानी हर-हर करके बहता है।
हर के सिवा कौन तू है बे यह परदे में कहता है॥
—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भारतेन्दु-ग्रंथावली, दूसरा खण्ड, पृ० ३००।

४. तेरी आँख के आगे से यह नदी बही जो जाती है।
यों ही जीवन बह जायेगा यह तुझको समझाती है॥
—भारतेंदु, हरिश्चंद्र, भारतेंदु-ग्रंथावली, दूसरा खण्ड, पृ० ३००।

हिन्दी-काव्य में मानव तथा प्रकृति-उभय-पक्षों में वात्सल्य की स्थिति अत्यधिक दर्शनीय है। उसमें यदि एक ओर मानव-जगत् में सूर, तुलसी आदि कवियों के काव्यों में उसकी मार्मिक अभिव्यक्ति है, तो दूसरी ओर प्रकृति-जगत् में भी विभिन्न प्रकृति-प्रेमी कवियों के काव्य में उसकी सुरम्य व्यंजना स्पृहणीय है। मानव-जगत् में माता यशोदा कभी बालक कृष्ण को पालने में झुलातीं, हलरातीं, दुलरातीं, मल्हातीं, गातीं तथा सुलाने का उपक्रम करती हुई उनकी विभिन्न बाल-चेष्टाओं को देख-देख कर अपने चिर-संचित वात्सल्य की तुष्टि करती हुई जीवन धन्य समझती हैं[१]; कभी उनके मुख को देख कर प्रसन्न-पुलकित हो उठती हैं और कभी उनकी दुग्ध-दन्तावलि को देख कर प्रेम मग्न हो आत्म-विभोर हो जाती हैं और नन्द को बुला कर उन्हें उनके दुग्ध-दन्त दिखलाती हैं[२]। कभी वे यह अभिलाषा करती हैं कि उनका पुत्र शीघ्र ही घुटनों और चरणों के बल चलने लगे[३] और कभी उनके मथुरा-गमन के अनन्तर पुत्र-वियोग में तड़पती हैं, व्याकुल होती हैं, अश्रुपात करती हैं और पत्थर-हृदय व्यक्तियों को भी द्रवीभूत कर देनेवाला करुण क्रन्दन एवं हा-हाकार करती हैं[४]।

कौशल्या, कैकेयी तथा सुमित्रा का वात्सल्यपूर्ण हृदय बालक राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न को चन्द्रमा को माँगते, उसके प्रतिबिम्ब से भयभीत होते, तालियाँ बजा-बजा कर नृत्य करते, अभीष्ट वस्तु को लेने के लिए हठ तथा विभिन्न प्रकार की बाल-क्रीड़ाओं को करते हुए देखकर आमोद-पूरित हो जाता है[५]। प्रिय-वियुक्ता

---

१. सूर, सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४३।

२. सुत-मुख देखि जसोदा फूली।
हरषित देखि दूध की दँतियाँ, प्रेम-मगन तन की सुधि भूली।
बाहिर तैं तब नंद बुलाए, देखौ धौं सुन्दर सुखदाई।
तनक-तनक सी दूध दँतुलिया, देखौ, नैन सफल करौ आई।
—सूर, सूरसागर, ना० प्र० स०, दशम स्कंध, पद ८२।

३. जसुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरौ लाल घुटुरुवनि रेंगै, कब धरनी पग द्वैक धरै।
—सूर, सूरसागर, ना० प्र० स०, दसम स्कंध, पद ७६।

४. प्रिय पति! वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है?
दुख-जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है?
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ।
वह हृदय हमारा नेत्र-तारा कहाँ है?
—हरिऔध, प्रिय-प्रवास, सप्तम सर्ग छंद, ११।

५. कबहुँ ससि माँगत आरि करैं, कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं।
कबहूँ करताल बजाइ कै नाचत, मातु सबै मन मोद भरैं।

यशोधरा अपनी विरह-वड़वाग्नि को वात्सल्य के अनन्त समुद्र में डुबोकर शान्त करती हुई पुत्र राहुल का अनेक प्रकार से लालन-पालन करती, लोरियाँ गा-गा कर सुलाती[1], उसकी विभिन्न बाल-सुलभ चेष्टाओं को देखकर अपने दुःख को भूल जाती और प्रत्येक सम्भव प्रकार से उसे प्रसन्न रखनेका प्रयत्न करती है। किसी भी प्रकार से वह उस पर अपनी मूक-व्यथा को प्रकट नहीं होने देती; अनेक प्रकार से उसकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध करके, शील, विनय एवं सदाचार का पाठ पढ़ा कर पूर्ण व्यक्तित्व प्रदान करने का उपक्रम करती हुई अपने वात्सल्य की तुष्टि द्वारा दुर्वह जीवन व्यतीत करती है।

इसी प्रकार प्रकृति माँ भी अपने निस्सीम वात्सल्य से प्रेरित होकर सृष्टि-शिशुओं का लालन-पालन करती है। ममतालु प्रकृति कभी चन्द्रिका-रूप में अपने कानन-शिशु को अंक में लेकर दुग्ध-पान कराती[2], कभी सन्ध्या-रूप में श्रान्त सृष्टि-शिशुओं को अपने मृदुल वात्सल्य के साथ आनन्द-मदिरा का प्याला पिलाकर, शीतल-सुखद अंक में सुला कर, विस्मृति के अनेक सुख-स्वप्न दिखला कर, उनकी श्रान्ति-निवारित कर, नूतन शक्ति-सामर्थ्य एवं स्फूर्ति प्रदान करती[3], कभी वसुन्धरा-रूप में अपनी अपार पयस्विनी-धार से मानव-शिशुओं का पालन-पोषण कर, महत्व-पूर्ण व्यक्तित्व प्रदान कर कर्म-पथ पर गतिशील करती[4] और कभी अपने संसार-

---

कबहूँ रिसिआइ कहैं हठि कै, पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं।
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी-मन-मंदिर में बिहरैं।
—तुलसी, कवितावली, बालकाण्ड, छन्द ४।

१. पुष्कर सोता है निज सर में, भ्रमर सो रहा पुष्कर में,
गुंजन सोया अभी भ्रमर में, सो मेरे गृह-गुंजन सो,
सो, मेरे अंचल-धन सो। —मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृ० ६१।

२. वसुधा की गोदी में लेटे, शिशु-समान तुम हो सुन्दर;
तुम्हें कौमुदी सुधा पिलाती, निज उर में ही भर-भर कर।
—गोपालशरण सिंह, कानन, कादम्बिनी, पृ० १३।

३. मदिरा की वह नदी बहाती जाती,
थके हुए जीवों को वह सस्नेह,
प्याला एक पिलाती,
सुलाती उन्हें अंक पर अपने,
दिखलाती फिर विस्मृति के वह कितने मीठे सपने।
—निराला, सन्ध्या-सुन्दरी, परिमल, पृ० १३६।

४. जैसे माता अपने सुत को, लेकर अपनी पावन गोद।
दुग्ध-विसर्जन करती तन से, पाकर मन में प्रबल प्रमोद॥
वैसे भू निज पयस्विनी-धारा से पाले मनुज महान्।
माँ का पा वात्सल्य-भाव वह बढ़े सुपथ पर ले युग गान॥
—मेघराज 'मुकुल', धरती और मानव, उमंग, पृ० ८।

शिशुओं का समस्त विषाद स्वयं पीकर अपना अनन्त उल्लास भेंट करती, स्नेहांचल की शीतल छाया देकर स्वर्गीय शान्ति प्रदान करती और अनेक प्रकार से अपना चिर-संचित वात्सल्य प्रदान कर दुलराती तथा बहलाती है। कवयित्री महादेवी वर्मा का यह कथन उसके इसी ममत्वपूर्ण कृत्य का परिचायक है—

इन स्निग्ध लटों से छा दे तन पुलकित अंगों में भर विशाल ;
झुक सस्मित शीतल चुम्बन से अंकित कर इसका मृदुल भाल ;
दुलरा दे ना बहला दे ना यह तेरा शिशु-जग है उदास[1]।

आंग्ल-कवियों का प्रकृति के गौरवपूर्ण मातृत्व-पद का साम-गान भी उसके इसी निस्सीम वात्सल्य की ओर संकेत करता है[2]।

(ट) *भक्ति*—विद्वानों ने भक्ति को अनेक प्रकार से परिभाषित किया है। भागवत के अनुसार परमात्मा में पराकाष्ठा के अनुरक्ति-भाव की संज्ञा भक्ति है[3]। नारद के अनुसार भगवान् को आत्म-समर्पण करने के अनन्तर उनका रंचमात्र भी विस्मरण होने से व्याकुल होना भक्ति है[4]। शाण्डिल्य के मतानुसार आत्मरति के अवरोधी आलम्बन में रति को भक्ति कहते हैं[5]। किन्तु सूक्ष्म रूप से विचार करने पर पता चलता है कि भक्ति वस्तुतः श्रद्धा-संवलित प्रेम की ही दूसरी संज्ञा है। मानव जब भगवान् के भक्त-वत्सल, सृष्टि-पालक रूप के अनन्त गुणों का ध्यान कर श्रद्धा-विभोर हो उसके चरणों में अपनी आनन्दपूर्ण कृतज्ञता के पुष्प अर्पित करता है, तब वह श्रद्धालु के उच्च पद को प्राप्त करता है और जब उसमें श्रद्धेय के सामीप्य-

---

१. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि १) पृ० ५५।

२. Earth fills her lap with pleasures of her own;
Yearnings she hath in her own natural kind,
And, even with something of a mothers mind
And no unworthy aim,
The homely nurse doth all she can
To make her foster-child, her inmate, Man,
Forget the glories he hath known,
And that imperial palace whence he came.
—W. Wordsworth, intimations of Immortality from
RECOLLECTIONS OF EARLY CHILDHOOD,
The COMPLETE POETICAL WORKS, Page 359.

३. स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा संप्रसीदति।
—भागवत १-२-६।

४. तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परम व्याकुलतेति।
—नारद भक्तिसूत्र—१६।

५. आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः।
—नारद-भक्तिसूत्र—१८

लाभ, दर्शन, श्रवण तथा अन्य अनेक प्रकार के सम्पर्क-संसर्ग आदि का प्रबल भाव उत्पन्न होता है, उसके विभिन्न रूपों के साक्षात्कार की बलवती अभिलाषा जागृत हो उठती है, तो वह अपनी श्रद्धा में प्रेम के संयोग के कारण भक्त के उच्च पद को प्राप्त करता है[१]।

कवि के लिये अन्य भावों के समान ही भक्ति की स्थिति भी मानव एवं प्रकृति दोनों में ही समान रूप से है। मानव-शरीर बड़े भाग्य से मिलता है ; अतः देव-दुर्लभ मानव शरीर को प्राप्त करके मनुष्य को चाहिए कि वह परमात्मा की भक्ति द्वारा उसे सार्थक बनाये और भव-पाश से मुक्त होकर भगवान् के चरणों में स्थान प्राप्त करे। इस बात को समझने वाला विवेकशील मानव परमात्मा की उपासना करता है, उसके निर्मल, भक्त-वत्सल रूप से प्रेम करता है, उसकी पूजा-अर्चना करता है। कभी वह उसके निर्गुण-निराकार रूप की उपासना करता है। उसे भक्ति का आलम्बन बनाता है—और कभी उसकी भक्ति को असाध्य समझ कर—गूंगे का गुड़ कहता हुआ—उसके सगुण रूप की उपासना के लिये प्रवर्तित होता है ; सगुण ब्रह्म की रूप-सुधा का अनुपान करता है और श्रवण, कीर्तन, स्मरण, गुण-कथन, अर्चन, वन्दन तथा आत्म-समर्पण द्वारा अपने भक्ति-विह्वल हृदय के भाव-पुष्प समर्पित करता है।

हिन्दी-काव्य का एक वृहदांश भगवद्भक्ति से ही संबद्ध है। भक्ति-विभोर मानव कभी परमात्मा के प्रति आसक्ति की एकादश अवस्थाओं को प्राप्त होता है ; कभी विनय की सप्त-भूमिकाओं में प्रवेश करता हुआ आगे बढ़ता है[२] ; कभी अपने

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्रद्धा-भक्ति, चिन्तामणि, भाग १, पृ० ३२।

२. (क) दीनता—विनती करत मरत हौं लाज।
नख-सिख लौं मेरी यह देही है पाप की जहाज।
—सूर, सूरसागर, ना० प्र० स०, विनय, पद ६६।

(ख) मान-मर्षणा—काहे ते हरि ! मोहिं बिसारो।
जानत निज महिमा, मेरे अघ, तदपि न नाथ सँभारो।
—तुलसी, विनय-पत्रिका, पद ९४।

(ग) भय-दर्शना—जम-करि मुख तरहरि परो, यह धरि हरि चित लाय।
विषय-तृषा परिहरि अजौं, नरहरि के गुन गाय।
—बिहारी, बिहारी-बोधिनी, दोहा ६७८।

(घ) भर्त्सना—ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि राम-भक्ति-सुर सरिता आस करत ओस कन की॥
—तुलसी, विनय-पत्रिका, पद ९०।

(ङ) आश्वासन—ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं।
—तुलसी, विनय-पत्रिका, पद १६२।

लघुत्व तथा परमात्मा के महत्व के महदंतर की घोषणा करता है[१]; कभी उसे अपनी अनन्यता की सूचना देता हुआ चरणों में शरण-प्राप्ति के लिये उसकी मनुहार करता है[२]; कभी स्वयं को उसके अत्यधिक निकट समझ कर उसे विभिन्न प्रकार के उपालम्भ देता है[३]—पूतरा बाँध कर उसकी समस्त पोल खोल देने के लिये तत्पर हो जाता है[४]—और कभी उससे होड़ लगा कर कहता है—"हे यदुराज ! मुझ से और आप से तो अब विवाद बढ़ ही गया है, अब देखना है कि कौन जीतता है। अपने-अपने विरद के निर्वाह की लज्जा दोनों को होनी चाहिए—देखना है कि मैं पाप-कृत्यों के करने में आगे बढ़ जाता हूँ, या आप पापियों को तारने में[५] !"

इसी प्रकार कभी वह पत्नी-रूप में कभी प्रेयसी-रूप में—कभी स्वकीया-रूप में, कभी परकीया-रूप में,—कभी पिता-रूप में, कभी माता-रूप में, कभी मित्र-रूप में और कभी शत्रु-रूप में परमात्मा की भक्ति करता हुआ, उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न करके, उसकी शरण तथा अनुग्रह-लाभ करके, अपना जीवन सार्थक करता है।

(च) मनोराज्य --कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ-कृपालु कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो।
-- तुलसी, विनय-पत्रिका, पद १७२।

(छ) विचारणा—जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं।
ता दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहैं।
—सूर, सूरसागर, ना० प्र० स०, विनय, पद ८६।

१. राम सों बड़ो है कौन, मो सौं कौन छोटो।
राम सों खरो है कौन, मो सों कौन खोटो।
—तुलसी, विनय-पत्रिका, पद ७२।

२. मेरौ मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसैं उड़ि जहाज को पच्छी, फिरि जहाज पर आवै।
—सूर, सूरसागर, ना० प्र० स०, विनय, पद १६८।

तथा—
गरेगी जीह जो कहौं और को हौं।
—तुलसी, विनय-पत्रिका, पद २२६।

एवं
मोहिं तो 'सावन के अंधहिं' ज्यों सूझत रंग हरो।
—तुलसी, विनय-पत्रिका, पद २२६।

३. कब को टेरत दीन ह्वै, होत न स्याम सहाय।
तुम हू लागी जगत-गुरु, जगनायक जग बाय।।
— बिहारी, बिहारी-बोधिनी, दो० ६६६।

४. अब तुलसी पूतरो बाँधि है सहि न जात मो पै परिहास एते।
—तुलसी विनय-पत्रिका, पद २४१।

५. बिहारी, बिहारी-बोधिनी, दोहा ७०४।

जैसा कि पहले कहा गया है, कवि के लिये प्रकृति में भी भक्ति-भाव की स्थिति प्रायः उसी प्रकार है, जिस प्रकार मानव में। मानव के समान ही प्रकृति भी कभी परमात्मा से मिलने के लिये, उसकी शरण प्राप्त करने के लिये, प्रयत्न करती[१], कभी उसकी अनन्त छवि के साक्षात्कार से आनन्दोल्लास से भर जाती[२], कभी उसके दर्शन तथा चरण-स्पर्श से अपने को धन्य समझती[३] और कभी उसका कीर्तन[४], अर्चन तथा वन्दन करती है[५]।

जिस प्रकार मानव तथा प्रकृति दोनों में ही परमात्मा के प्रति भक्ति-भाव के दर्शन होते हैं, उसी प्रकार उनमें यदा-कदा परस्पर एक दूसरे तथा स्वर्गीय मानव एवं प्रकृति के प्राणियों के प्रति भी उसकी स्थिति पाई जाती है[६]।

---

१. धाइ जो बाजा कै मन साधा। मारा चक्र भएउ दुइ आधा॥
पौन जाइ तहँ पहुँचै चहा। मारा तैस लोटि भुइँ रहा॥
अगिनि उठी, जरि बुझी निआना। धुआँ उठा, उठि बीच बिलाना॥
पानि उठा, उठि जाइ न छूआ। बहुरा रोइ, आइ भुइँ चूआ॥
—जायसी, पदमावत, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ६८-६६।

२. सब देख उसे हो गये मुदित, गिरि-कानन सभी हुए विकसित,
तारे नभ में हो गये चकित, कौमुदी हो गई आकर्षित।
—गोपालशरणसिंह, जीवन-धन, कादम्बिनी, पृ० ६७।

३. भा निरमल तिन्ह पाँयन्ह परसे। पावा रूप रूप के दरसे।
जायसी, पदमावत, जायसी-ग्रंथावली, पृ० २५।

४. हरि-गुनों को ये सुबह हैं गा रहीं, सुन हुईं वे मस्त, कर अठखेलियाँ।
चहचहाती हैं न चिड़ियाँ चाव से, लहलहाती हैं न उलझी बेलियाँ।
छा गया हर एक पत्ते पर समा, पेड़ सब ने सिर दिया अपना नवा।
\+ + + +
हर कलेजे में अजब लहरें उठा + हरि गुनों का गान ये हैं कर रहे।
—हरिऔध, भेद की बातें, पृ० १६२।

५. बन-बल्लरियाँ शृंगार किये, सुन्दर सुमनों का हार लिये,
नभ-पतित तुहिन-प्रेमाश्रु पिये, पूजा करती हैं ध्यान दिये।
\+ + +
छाया ने मौन प्रणाम किया, वसुधा ने पग-पग चूम लिया,
संसृति ने छवि-पीयूष पिया।
—गोपालशरणसिंह, जीवन-धन, कादम्बिनी, पृ० ६५-६६।

६. हरिऔध, वैदेही-वनवास, अष्टम सर्ग, छन्द २। तथा श्यामनारायण पाण्डेय, हल्दीघाटी, पृ० ३६।

(ठ) *लज्जा*—"दूसरों के चित्त में अपने विषय में बुरी या तुच्छ धारणा होने के निश्चय या आशंका मात्र से वृतियों का जो संकोच होता है—उनकी स्वच्छन्दता के विघात का जो अनुभव होता है—उसे लज्जा कहते हैं[1]"। इसके अतिरिक्त लज्जा का आविर्भाव नारी में शील-संकोच आदि के कारण पुरुषों को देखने अथवा अनुचित कार्य करने आदि के कारण और पुरुषों में अपराध, प्रतिज्ञा-भंग, पराभव तथा निन्दित कार्य करने आदि के कारण भी होता है। लज्जा कुलवती रमणियों का आभूषण है; कुलीनता का मापदण्ड है—'है कुलीनता की तुला, कुल-ललना की लाज[2]' और स्वयं सती भगवती स्वरूप है—'या देवी सर्वभूतेषु लज्जारूपेण संस्थिता[3]।'

लज्जा की स्थिति मानव-जगत् में नारी तथा पुरुष में तो होती ही है, भावुक कवि काव्य में अन्य भावों के समान ही प्रकृति के विभिन्न रूपों में भी उसकी अवस्थिति की सुरम्य एवं मार्मिक अभिव्यक्ति करते हैं। कवि को जहाँ एक ओर मानव-जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में लज्जित होता हुआ दृष्टिगोचर होता है, वहाँ दूसरी ओर प्रकृति भी अपने विभिन्न रूपों में लज्जाशीला अथवा लज्जालु नारी अथवा पुरुष के रूप में दिखाई पड़ती है। जहाँ मानव-जगत् में उसे नारी लज्जा से सिमटती-संकुचित होती हुई स्पृहणीय प्रतीत होती है[4], प्रिय के स्पर्श से अपने शरीरांगों को वस्त्रादि से छिपाती है और लज्जा से रक्ताभ इन्द्र-वधू का-सा रूप धारण करती है[5], वहाँ दूसरी ओर प्रकृति-जगत् में भी लज्जालु प्रकृति के विभिन्न रूप अत्यधिक कमनीय प्रतीत होते हैं। चंचल लहरियाँ मुग्धा नायिका के समान मधुर-मधुर मुसकाते ही लज्जा से म्लाना एवं विनत वदना हो स्वर्गीय सुख

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, लजा और ग्लानि, चिन्तामणि, भाग १ पृ० ५६।

२. हरिऔध, रस-कलस, पृ० ५५।

३. दुर्गा सप्तसती, अध्याय ५, मन्त्र ४४।

४. झूलत हिंडोरे दुहूँ बोरे रस रंग, जिन्हें—जोहत अनंग-रति-सोभा कटि-कटि जात।
मंजु मचकी सौं उचकत कुच-कोरन पै, ललकि लुभाइ रसिया की डीठि डटि जात।
देखत बनै ही, कछु कहत बनै न नैक, बाल अलबेली जब लाज सौं सिमटि जात।
हटि जात घूँघट, लटकि लाँबी लट जात, फटि जात कंचुकी, लचकि लौनी कटि जात
—प्रभुदयाल मीतल, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य, पृ० १२०।

५. ज्यों ज्यों परसै लाल तन, त्यों त्यों राखै गोइ।
नवल वधूटी लाज ते, इन्द्रवधूटी होइ।
—मतिराम, रसराज, छन्द २६, पृ० ६।

का आनन्द प्रदान करती है[१]। नीम की डाल[२], झील का तट[३], मदोन्मत्त लतिकाएँ[४] तथा लज्जा से अरुणाभ-श्रान्ता उषा[५] अत्यधिक दर्शनीय प्रतीत होती है। इसी प्रकार लज्जा से अरुण हुई तरुण दिशाएँ[६], मुसकाती लजीली रजनी-गन्धा[७] तथा नव्य चूनरी ओढ़े, प्रिय को देख कर विनत-वदना होती हुई लज्जाशीला कलिका[८] कितनी कमनीय, रमणीय एवं अभिनन्दनीय प्रतीत होती है, यह कहने का नहीं, सहृदय व्यक्तियों की अनुभूति का विषय है।

(ङ) *दुःख*—दुःख से यहाँ तात्पर्य इष्ट व्यक्ति के निधन से होने वाले शोक से न होकर, उसके उस हल्के रूप से है, जो मानव अथवा प्रकृति में किसी अभाव, पारस्परिक सहानुभूति अथवा प्रिय तथा परमात्मा के सामान्य-वियोग में होता है। इन में प्रिय तथा परमात्मा के सामान्य वियोग और पारस्परिक सहानुभूति से

---

१. अरी सलिल की लोल-हिलोर।

\+ \+ \+

मुग्धा की-सी मृदु-मुसकान खिलते ही लज्जा से म्लान;
स्वर्गिक-सुख की-सी आभास अतिशयता में अचिर, महान;

—पंत, वीचि-विलास, पल्लव, पृ० २४-२५।

२. शरमा कर हामी भरती-सी होगी झुकी नीम की डाल।

—नरेन्द्र शर्मा, यहाँ की बरसात, मिट्टी और फूल, पृ० ३६।

३. झील के शरमाये तट पर वृक्ष का आकार
गहन अभिलाषा लिये जैसे हिचकता प्यार।

—कुँवरनारायण, चित्र की चेतना, चक्रव्यूह, पृ० ११३।

४. लतिकायें यौवन मदमाती लज्जा से झुक-झुक हैं जाती,
वल्लरियाँ भी हैं शरमाई।

—गोपालशरणसिंह, अनन्त छवि, कादम्बिनी, पृ० ३।

५. रात के प्रिय मिलन से उठी प्रात जो
गाल पर लाज की लालिमा आ गई।

—रमाकान्त 'कान्त', ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० १०४।

६. लज्जा से अरुण हुई
तरुण दिशाओं ने
आवरण हटाकर निहारा दृश्य निर्मम यह।

—दुष्यन्तकुमार, सूर्यास्त : एक इम्प्रेशन, सूर्य का स्वागत, पृ० ५२।

७. औ मुसकाती रजनी गंधा लाज लजी-सी।

—देवेन्द्र सत्यार्थी, वन्दनवार, पृ० १११।

८. ओढ पीली नई चूनरी नव-कली देख अपने सजन को लजाने लगी।

—मधुर शास्त्री, ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० ८२।

उत्पन्न दुःख प्रेम एवं रहस्यभाव के वियोग-पक्ष तथा सहानुभूति शीलता नामक गुण शीर्षक के अंतर्गत भी आता है। अतः उसका उल्लेख यथास्थान होगा। हाँ, अभाव-जन्य दुःख का उल्लेख करना यहाँ आवश्यक है। कवि को दुःख की स्थिति मानव तथा प्रकृति-उभय पक्षों—में समान रूप से दृष्टिगत होती है। मानव जब तक इस मर्त्य-जगत् में रहेगा, तब तक उसे वास्तविक सुख-शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। जीवन-सुख मृग-तृष्णा है। उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील प्राणी को अन्ततः व्यक्त सुख वाला काल रूपी मगर निगल लेता है और उसकी प्राप्ति उन्हें कभी नहीं होती—हो भी कहाँ से? जबकि वस्तुतः उसका अस्तित्व इस जगत् में कहीं है ही नहीं, जब कि समस्त सृष्टि में दुःख ही सर्वत्र परिव्याप्त है। समुद्र-से विशाल मन सिसकते हैं; नभ-तुल्य अनन्त नेत्र उमड़-उमड़ कर अश्रु-वर्षा करते हैं; विश्व-वाणी क्रन्दन है; विश्व का काव्य अश्रु-कण है—अश्रु-कणों से निर्मित है[1]।

मानव अप्राप्त वस्तु के लिए सदैव लालायित रहता है। उसे यदि उसकी प्राप्ति हो जाती है, तो दूसरी की प्रबल उत्कंठा जागृत हो जाती है और यदि दूसरी भी प्राप्त हो जाती है, तो तीसरी की और यदि तीसरी भी प्राप्त हो जाती है, तो चौथी की अभिलाषा का उदय हो जाता है। इस प्रकार उसकी अभिलाषाओं का क्रम सदैव चलता रहता है—उनकी तृप्ति कभी नहीं होती; और उन्हीं अभिलाषाओं के झंझा-वात में बहता हुआ असंतुष्ट, अतृप्त, अशान्त हृदय मानव एक दिन समाप्त हो जाता है। इसीलिए आंग्ल कवि शेली ने एक बार कहा था कि जीवन में सुख का कहीं अस्तित्व नहीं। दुःख उसमें इतना अन्तर्व्याप्त है कि हमारे सत्यतम हास्य में भी दुःख का कोई न कोई अंश अवश्य अन्तर्हित रहता है; हमारे मधुरतम गीत भी करुणतम विचारों के ही व्यंजक होते हैं[2]।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मानव तथा प्रकृति दोनों ही अभावजन्य दुःख से पीड़ित हैं; दोनों ही के हृदय में अभावजन्य शूल सदैव चुभते रहते हैं; दोनों ही

---

१. सिसकते हैं समुद्र-से मन, उमड़ते हैं नभ-से लोचन;
विश्व-वाणी ही है क्रन्दन विश्व का काव्य अश्रु-कन।
—पंत, आँसू, पल्लव, पृ० १६।

२. We look before and after,
And pine for what is not:
Our sincerest laughter,
With some pain is fraught;
Out sweetest songs are those that tell of saddest thought
—SHELLEY, TO A SKYLARK, SHELLEY'S POEMS, VOL. I, Page 366,

अपूर्ण हैं और अपनी पूर्णता के लिए दूसरों की अपेक्षा रखते हैं। पुष्पों को विकसित होने के लिये तितली की अपेक्षा है; पृथ्वी को सृष्टि-क्रम-संचालन के लिए मेघों की आवश्यकता है[१]। सभी के हृदय में कोई न कोई शूल है; सर्वत्र कोई न कोई अभाव है, वेदना है, नवीनातिनवीन प्रश्न और नव्यातिनव्य समस्याएँ हैं। मानव अथवा प्रकृति कोई भी उनसे मुक्त नहीं, कोई भी उन्हें अपने वशीभूत नहीं कर सकता, समस्याओं को सुलझा नहीं सकता। दिवस दाह से मुक्त नहीं; निशा अवसाद से मुक्त नहीं; मानव विषय-तृष्णा से मुक्त नहीं[२]; संध्या वेदना से मुक्त नहीं; औषधियों में भी वेदना है[३]; मिट्टी में भी आग है[४]।

(ढ) *सुख*—सुख दुःख का विपरीत मनोविकार अथवा उसका अभाव-रूप है, किंतु बहुधा दुःख का अभाव सुख नहीं भी होता है; क्योंकि उसके लिये दुःख के अभाव के साथ ही एक विशेष प्रकार की मनःस्थिति की आवश्यकता है, लालसाओं की पूर्ति ही नहीं, संतोष की अपेक्षा है। मानव तथा प्रकृति दोनों में जिस प्रकार दुःख की स्थिति समान रूप से है, उसी प्रकार सुख की भी। दोनों ही कभी अभीष्ट व्यक्ति को प्राप्त कर, उसके सम्पर्क-संसर्ग एवं साहचर्य का आनन्द-लाभ कर हर्षातिरेक से नृत्य कर उठते हैं; कभी इष्ट वस्तु को प्राप्त कर आनन्द से भर जाते हैं; कभी मानव प्रकृति और कभी प्रकृति मानव के अभीष्ट रूप के साक्षात्कार के

---

१. फूलों की विकसित होने को तितली पर दृष्टि लगी रहती,
धरणी की सृष्ति चलाने को, मेघों से वृष्टि लगी रहती,
कोई निज में सम्पूर्ण नहीं, चुभता सब ही के यही शूल।
—माधवसिंह 'दीपक', सात सौ गीत, पृ० १५१।

२. गत हुए अमिति कल्पान्त, सृष्टि पर हुई सभी आबाद नहीं।
दिन से न दाह का लोप हुआ, निशि ने छोड़ा अवसाद नहीं।
बरसी न आज तक वृष्टि जिसे पीकर मानव की प्यास बुझे।
हम भाँति यह जान चुके तेरी दुनियाँ में स्वाद नहीं।
—दिनकर, द्वन्द्व गीत, पृ० ५७।

३. हर साँझ एक वेदना नई, हर भोर सवाल नया देखा।
दो घड़ी नहीं आराम कहीं, मैंने घर-घर जा-जा देखा।
जो दवा मिली पीड़ाओं की, उसमें भी कोई पीर नई।
मत पूछ कि तेरी महफिल में, मालिक, मैंने क्या-क्या देखा।
—दिनकर, द्वन्द्व गीत, पृ० ४६।

४. हर घड़ी प्यास, हर रोज जलन,
मिट्टी में थी वह आग कहाँ ? —दिनकर, द्वन्द्व गीत, पृ० ५७।

कृतकृत्य हो उठती है[1]; और कभी दोनों परस्पर एक दूसरे के सुख को देखकर सुखी होते हैं[2] और कभी पारस्परिक ईर्ष्यादि के कारण एक दूसरे के दुःख को देखकर आनन्दित—

तब ते इन सबहिन सचु पायो।
जब ते हरि संदेश तिहारो सुनत तांवरो आयो।
फूले ब्याल दुरे ते प्रगटे, पवन पेट भरि खायो।
भूले मृगा चौंकि चरनन ते, हुतो जो जिय बिसरायो।
ऊँचे बैठि बिहंग-सभा-बिच, कोकिल मंगल गायो।
निकसि कंदरा ते केहरि हू, माथे पूँछ हिलायो।
गृह-वन ते गजराज निकसि कै, अँग अँगगर्व जनायो।
'सूर' बहुरिहौ कह राधा, कै करिहौ बैरिनि भायो[3]।

उक्त अवतरण में प्रकृति के विभिन्न प्राणी जिस प्रकार राधा को दुःखी देखकर हर्षोल्लास से भर जाते हैं, उसी प्रकार मानव भी बहुधा प्रकृति के प्राणियों को दुःखी देखकर, विशेषकर मृगराज तथा अन्य हिंस्र पशुओं, भयावह जन्तुओं एवं भक्ष्य पक्षियों का लक्ष्य बेधकर उनका वध करके, प्रसन्न-पुलकित हो उठता है।

इसके अतिरिक्त मानव तथा प्रकृति कभी-कभी अपने सजातीय मानव एवं प्रकृति के प्राणियों को दुःखी देखकर भी आनन्द-लाभ करते हैं। अपने भ्राता कौरवों का रक्त पीकर, उनके प्राण लेकर, प्रतिशोधकर्ता भीम को अनन्त सुख-शांति का अनुभव होता है। मुक्त-केशी द्रौपदी उनके रक्त से अपनी वेणी चुपड़कर हर्षोन्मत्त

---

१. (क) यह प्रात ?
या अह्लाद की बरसात ?
—कुँवरनारायण, अनथही गहराइयाँ, चक्रव्यूह, पृ० ६३।

(ख) कहा मान सर चाह सो पाई। पारस-रूप इहाँ लगि आई।
—जायसी, पद्मावत, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० २५।

तथा—

हँसने लगे सुमन कानन के देख चित्र-सा एक महान,
विकस उठी कलियाँ डालों में निरख मैथिली की मुस्कान।
—मैथिलीशरण गुप्त, पंचवटी, पृ० ३६।

२. (क) गाओ, गाओ, विहग-बालिके, तरुवर से मृदु मंगल-गान,
मैं छाया में बैठ, तुम्हारे कोमल स्वर में कर लूँ स्नान।
—पंत छाया, पल्लव, पृ० ६०।

(ख) लो तिरंग ध्वज नभ में फहरा। धरा हँसी, अम्बर मुस्काया॥
दिग-दिगन्त ने सुरभि लुटाया।—सोहनलाल द्विवेदी, हिन्दुस्तान, २६ जनवरी १६५८

३. सूर, भ्रमरगीत-सार, पद ३६०।

हो जाती है। समस्त पांडव-शिविर उनके महानाश से प्रसन्न हो घी के चिराग जलाता है, अट्टहास करता है[1]।

प्रकृति-जगत् में भी 'जीवो जीवस्य जीवनम्' के अनुसार प्रबल प्राणी अपने से निर्बलों का वध करके, उनके रक्त-मांस से, अपनी क्षुधा-पूर्ति कर प्रसन्न हो जाते हैं, सिंह, चित्रक तथा वृकादि हिंस्र पशु न जाने कितने प्राणियों के रक्त-मांस से अपना उदर-भरण करते हैं। मगर, नक्र आदि जल-जन्तु न जाने कितने प्राणियों को निगल जाते हैं, उनका प्राणान्त कर, उनके रक्त-मांसादि का भक्षण कर, अपनी क्षुधा-पूर्ति कर आनंद-लाभ करते हैं। बड़ी मछलियाँ छोटी का और छोटी अपने से छोटी मछलियों का भक्षण कर संतोष-लाभ करती हैं। छिपकलियाँ न जाने कितने कीड़ों को निगल जाया करती हैं। सर्पिणी अपने ही बच्चों को खा जाती है। एक प्राणी अपने विरोधी प्राणी के सुख को नहीं देख सकता, प्रत्युत उसे सुखी देखकर दुःखी होता है और दुःखी देखकर सुखी। मृगेन्द्र और गजेन्द्र इसके उत्कृष्ट प्रमाण हैं।

(ग) *अन्य भाव*—उक्त भावों के अतिरिक्त मानव तथा प्रकृति—उभय पक्षों—में आशा, निराशा, अभिलाषा, गर्व, मुग्धता, आकुलता, विवशता तथा अपमान आदि अन्य भावों की स्थिति भी प्रायः समान रूप से ही पायी जाती है।

विश्व विभिन्न प्राणियों का एक अजायब घर है। "मुंडे मुंडे मतिर्भिन्नाः" के अनुसार संसार के विभिन्न प्राणियों के दृष्टिकोण तथा विचार भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। जीवन में अनेक घटनाएँ घटित होती हैं। संसार के विभिन्न प्राणी उन्हें भिन्न-भिन्न रूपों में देखते हैं। अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार उनके भिन्न-भिन्न अर्थ निकालते हैं। एक ही व्यक्ति के जीवन की एक ही घटना से एक को हर्ष होता है, दूसरे को विषाद। एक उसे नितांत साधारण समझता है, दूसरा अत्यधिक गंभीर। एक को उसमें अपने भावी सुखों की समग्र आशाएँ पल्लवित-पुष्पित एवं फलित होती दृष्टिगत होती हैं और दूसरे को उसकी समस्त भावी सुख-वल्लरियाँ समूल नष्ट होती है। एक को हम आशावादी कहते है, दूसरे को निराशावादी। आशा और निराशा के यह भाव मानव तथा प्रकृति दोनों में ही समान रूप से

१. और जब व्रत-मुक्त-केशी द्रौपदी, आदमी के गर्म लोहू से चुपड़।
रक्त-वेणी कर चुकी थी केश की, केश जो तेरह बरस से थे खुले।

\+ + +

और जब,

तीव्र हर्ष-निनाद उठकर पाण्डवों के शिविर से!

\+ + +

लौट आता था भटक कर पांडवों के पास ही।

—दिनकर, कुरुक्षेत्र, पृ० ४-५।

परिलक्षित होते हैं। अग्राङ्कित अवतरणों में मानव तथा प्रकृति दोनों की ही आशा-निराशा की युगपत् व्यंजना कितनी मार्मिक है, यह कहने की आवश्यकता नहीं—

मानव तथा प्रकृति में आशावादिता:—

'बताया था तितली ने एक, एक बोली कलिका सोल्लास।
फूल जो लेता माली तोड़, भाग्य में उनके लिखा विलास।
उन्हें सुन्दरियाँ लेतीं मोल, और उनसे करतीं शृंगार।
सदा रहकर यौवन के पास, किया करते हैं वे चिर हास[1]।

मानव तथा प्रकृति में निराशावादिता:—

भ्रमर तब एक उठा यों बोल, नहीं रे यह ऐसी रंग रेल;
जिन्हें ले जाता माली तोड़, निकाला करता उनका तेल;
कुचलता और मसलता खूब और फिर तप्त कुण्ड में डाल,
मनोरम फूलों से सुकुमार, किया करता वह भीषण खेल[2]।

उक्त अवतरणों में तितली तथा कलिका के आशावादी और भ्रमर के निराशावादी भावों की व्यंजना के अतिरिक्त अन्योक्ति-रूप से दो विरोधी दृष्टिकोण रखनेवाले—एक ही घटना के दो विरोधी अर्थ लेनेवाले—मनुष्यों के आशावादी तथा निराशावादी भावों की भी स्पृहणीय अभिव्यक्ति है।

अभिलाषा की स्थिति की दृष्टि से भी मानव तथा प्रकृति उभय पक्ष समान हैं। कवि के अनुसार जिस प्रकार मानव में अनेक प्रकार की अभिलाषाएँ निसर्ग से ही पायी जाती हैं, उसी प्रकार काव्य में जड़-चेतन प्रकृति-रूपों में भी उनकी स्थिति देखी जाती है। यदि एक ओर मानव-जगत् में मानव अनेक प्रकार की अभिलाषाएँ करता है; प्रेमी अथवा प्रेयसी के सम्पर्क-लाभ के लिए लालायित रहता है, उसकी प्राप्ति के लिए विष-पान के लिए भी उद्यत रहता है; गुमराह होने में भी, मदहोशी की दशा में सुध-बुध खो देने में भी, प्रेम-पात्र की पलकों की शीतल, सघन छाया में अपार शान्ति, सन्तोष एवं विश्राम का आनन्द प्राप्त करता है[3]; प्रकृति के सम्पर्क में रहकर, कलिकाओं के साथ प्रेमोन्मत्त हो अनूठे गीत गाकर, पुष्पों से खेलने तथा उनके

---

१. विराज, बसंत के फूल, पृ० ६३।

२. विराज, बसंत के फूल, पृ० ६६।

३. चाँदनी की डगर पर तुम साथ हो, प्राण! युग-युग तक अमर यह रात हो,
कल हलाहल ही पिला देना मुझे, आज मधु की रात, मधु की बात हो।
× + ×
आज पलकों की घनीली छाँह में लग गई है आँख, सोने दो मुझे।
—चिरंजीत, मधु-यामिनी, ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० ३१-३२।

आभरण पहनने की अभिलाषा करता है[1] तो दूसरी ओर प्रकृति जगत् में भी उसके विविध रूप अनेक अभिलाषाओं से युक्त दृष्टिगोचर होते हैं। वसुधा अनन्त-छवि को भेंटने के लिए लालायित रहती है[2]। समुद्र उसके चरणों के स्पर्श की प्रबल उत्कंठा रखता है[3] और छाया अनेक विफल अभिलाषाओं, अनेक लालसाओं से युक्त दिखाई पड़ती है[4]।

इसके अतिरिक्त जहाँ मानव में गर्व-भाव की अवस्थिति पायी जाती है, वहाँ प्रकृति में भी उसके विभिन्न रूप परिलक्षित होते हैं। जहाँ परशुराम अपने शौर्य, गर्व से पराभूत होकर अपनी तथा अपने शस्त्र परशु की प्रचण्डता की अभिव्यक्ति करते हैं[5], वहाँ सरिता-रूप-सी अपने सौन्दर्य पर और अग्नि तृण को जलाकर राख कर डालने की अपनी शक्ति-सामर्थ्य पर गर्व करती है[6]। जहाँ मानव अपने मुग्ध-मस्त रूप में स्पृहणीय प्रतीत होता है, वहाँ प्रकृति भी[7]; जहाँ मानव किसी परिस्थिति

१. इच्छा होती है, इन
सखी-कलियों के संग
गाऊँ मैं अनूठे गीत प्रेम-मतवाली हो,
फूलों से खेलूँ खेल,
गूँथ कर पुष्पाभरण पहनूँ,
हार फूलों के डालूँ गले।—निराला, पंचवटी-प्रसंग, परिमल, पृ० २४६।

२. भुज भर उसे भेंटने के हित, वसुधा रहती है लालायित।
—गोपालशरण सिंह, अनन्त छवि, कादम्बिनी, पृ० २।

३. उसे देख सागर लहराया, उछल-उछल पैरों तक आया,
पर जब स्पर्श नहीं कर पाया, लौट गया तब वह शरमाया।
—गोपालशरण सिंह, अनन्त छवि, कादम्बिनी, पृ० ४।

४. भग्न-भावना, विजय-वेदना, विफल-लालसाओं से भर—पंत, छाया, पल्लव, पृ० ५८।

५. भुज बल भूमि भूप बिन कीन्हीं, बिपुल बार महि देवन्ह दीन्हीं।
सहस बाहु भुज छेदनहारा, परशु बिलोकु महीप कुमारा॥
—तुलसी, रामचरितमानस, बालकांड, धनुष-यज्ञ प्रसंग, पृ० २५७।

६. सोती शांत सरोवर पर उस अमल कमलिनी-दल में—
सौन्दर्य-गर्विता सरिता के अति विस्तृत वक्षःस्थल में—
—निराला, संध्या-सुन्दरी, परिमल, पृ० १३६।

तथा—
जला तिनके को कर दे राख, आग को यह था बड़ा गुमान।
—विराज, वसन्त के फूल पृ० ८६।

७. याद रहेगी रजनी-गंधा,
अँगड़ाई लेकर उठती-सी। —देवेन्द्र सत्यार्थी, वन्दनवार, पृ० ११०।

विशेष में किसी बात के लिये आकुल होता है, वहाँ प्रकृति भी[1]; जहाँ मानव अपमान से क्षुब्ध हो उठता है, वहाँ प्रकृति भी[2] और जहाँ मानव किसी परिस्थिति विशेष में विवश हो जाता है, वहाँ प्रकृति भी[3]।

(त) *भाव-शबलता (विभिन्न भाव)*—भाव-शबलता का अर्थ है विविध रंगों से अंकित, बहुरंगी अथवा विभिन्न भावों में विभक्त भाव। अतः काव्य-शास्त्र में भाव-शबलता उन स्थलों पर मानी जाती है, जहाँ एक ही स्थल पर, एक ही वस्तु अथवा एक ही व्यक्ति में, विभिन्न आकर्षक भाव युगपत् व्यंजित होते हैं। काव्य में जिस प्रकार मानव के विभिन्न बहुरंगी भाव अत्यधिक आकर्षक प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार प्रकृति के भी। उन्हें देखकर मानव इस प्रकार हर्षोल्लास से भर जाता है, इस प्रकार चमत्कृत हो उठता है, मानों उसे बहुमूल्य रत्नों की आकर्षक प्रदर्शनी में कुछ चुने हुए रत्नों की प्राप्ति हो गई हो। कवि कभी तो मानव तथा प्रकृति की हृदय-मंजूषाओं में सुरक्षित विभिन्न भाव-रत्नों को एक-एक करके निकालकर प्रदर्शित करता है और कभी एक साथ ही अनेक को। उनकी हृदय-मंजूषाओं से निष्कासित यह भावरत्न, विशेषकर एक साथ निकले हुए विभिन्न बहुरंगी रत्न, कितने आकर्षक प्रतीत होते हैं, यह कहने का नहीं, सहृदय मानव की अनुभूति का विषय है।

हिंदी-काव्य में भाव-शबलता की स्थिति मानव तथा प्रकृति-उभय पक्षों में समान रूप से दृष्टिगत होती है। यदि एक ओर मानव-जगत् में राम के हृदय से निसृत निम्नांकित उद्गारों में, उनके सीता-हरण के समय के विलाप में, उनके हृदय में उठनेवाले शंका, प्रेम, विषाद, विश्वास, उन्माद, लालसा, ईर्ष्या, अमर्ष, वितर्क तथा उत्कंठा आदि विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति है—

तथा—

गेहूँ की ओ मस्त बालियों होगा ब्याह तुम्हारा भी तो।

—देवेन्द्र सत्यार्थी, गेहूँ की बालियाँ, वन्दनवार, पृ० १२५।

एवं

किंवा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिये,

कौन कहे ?

—निराला, जूही की कली, परिमल, पृ० १६२।

१. और नीच-सा खाई में, गिर जाने को अकुलाता।

—दिनकर, पानी की चाल, धूप-छाँह, पृ० २४।

२. गुल मुहर के फूल ज्यादा शोख हैं, नादान।
सनसनाते तीर-सा आकर लगा
गुल मुहर के हृदय-तल पर व्यंग्य यह तीखा नुकीला।

—देवेन्द्र सत्यार्थी, गुल मुहर के फूल, वन्दनवार, पृ० १२२।

३. किंतु तृण जल चुकने के बाद, विवश है बुझ जाने को आग।

—विराज, वसन्त के फूल, पृ० ८६।

निसिचर निकर फिरहिं बन माहीं । मम मन सीता आश्रम नाहीं ।
हा गुन खानि जानकी सीता । रूप सील व्रत नेम पुनीता ।
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू । हरषे सकल पाइ जनु राजू ।
किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं । प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं[१] ।

तो दूसरी ओर देवेन्द्र सत्यार्थी के तरंगों के प्रति 'सम्बोध-गीत' से उद्धृत निम्नांकित अवतरण में तरंगों में स्थित चांचल्य, मुग्धता, हठ, मान, गर्व, स्वच्छन्दता, उल्लास, परिहास, इठलाहट तथा इतराहट आदि विभिन्न भावों की मर्मस्पर्शी व्यंजना है—

लहरो री लहरो, री रंगीन लहरो
री किरनों की बहनो
अरी किलकिली खेलती मस्त सखियो
री बचपन की चंचल, हठीली हिरनियो
री इठलाती, इतराती रंगीन लहरो[२] ।

यदि एक ओर माता यशोदा के निम्नांकित कथन में उनके हृदय के वात्सल्य, विषाद, स्मृति, करुणा, विश्वास (इस बात का कि मेरे जाने से मेरा पुत्र अवश्य लौट आयेगा अथवा मैं वहीं उसके साथ रहकर अपने जीवन के अवशिष्ट क्षण व्यतीत कर लूँगी), नन्द के प्रति अविश्वास (इस बात का कि उनके हृदय में कृष्ण के प्रति प्रेम है), कटुता, निष्ठुरता, प्रेम तथा उपेक्षा और कंस एवं नन्द के प्रति अमर्ष आदि विभिन्न बहुरंगी भागों का हृदय-द्रावक संगुम्फन है—

नन्द ! ब्रज लीजै ठोंकि बजाय ।
देहु विदा मिलि जाहिं मधुपुरी जहँ गोकुल के राय[३] ।

तो दूसरी ओर अधोलिखित अवतरण में प्रकृति में स्थित शांति, गर्व, मद, उल्लास, धैर्य, उत्साह, गांभीर्य, उग्रता, क्रोध, निर्भीकता तथा दृढ़ता आदि बहुरंगी भावों की कमनीय योजना है—

सोती शांत सरोवर पर उस अमल कमलिनी-दल में ।
सौंदर्य-गर्विता सरिता के अति विस्तृत वक्षःस्थल में ।
धीर वीर गंभीर शिखर पर हिमगिरि-अटल-अचल में ।
उत्ताल-तरंगाघात-प्रलय-घन-गर्जन-जलधि-प्रबल में[४] ।

जहाँ एक ओर मानव-जगत में पूर्वानुरागिनी नायिका के हर्ष, गर्व, विश्वास, अमर्ष, मुग्धता, मान, रोष, क्षोभ, जड़ता, तृप्ति, मोह, चिंता, व्याधि, त्रास, उन्माद,

---

१. तुलसी, रामचरितमानस, अरण्यकांड, पृ० ६३४-६३५ ।
२. देवेन्द्र सत्यार्थी, तरंगों के प्रति, वन्दनवार, पृ० १५६ ।
३. सूर, सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३१६८, ३७८६ ।
४. निराला, संध्या-सुन्दरी, परिमल, पृ० १३६ ।

शैथिल्य आदि विभिन्न आकर्ष भावों का कुशल संयोजन है[1], वहाँ दूसरी और प्रकृति-जगत् में चम्पक पुष्प के हास्य, परिहास, व्यंग्य, स्वच्छन्दता, निश्चिन्तता, मुग्धता, मस्ती, उल्लास तथा अभिलाषा आदि विभिन्न भाव-रत्नों की छटा दर्शनीय है[2]; सद्यः-स्नाता सुन्दरी रजनी के शील, संकोच, सतीत्व, निर्माल्य, आशंका, सन्देह, भय आदि भावों का भव्य-विधान है[3]; रसाल, वबूल, किंशुक, दिवस तथा निशा में स्थित मुग्धता, कम्प, प्रेम, विषाद आलस्य, मद, शैथिल्य आदि बहुरंगी भावों का मर्मस्पर्शी अभिव्यंजन है[4]; शेफाली तथा मौलश्री में संकोच, लज्जा, आलस्य, शैथिल्य तथा

---

१. जब तें कुँवर कान्ह रावरी कला - निधान,
कान परी वाके कहूँ सुजस - कहानी - सी।
तब ही तैं 'देव' देखी देवता - सी हँसति - सी।
खीझति-सी, रीझति-सी, रूसति-रिसानी-सी।
छोही-सी, छली-सी, छीरि लीनी-सी, छकी-सी, छीन,
जकी-सी, टकी-सी, लागी थकी थहरानी-सी।
बीधी-सी, बधी सी, बिष बूड़ी-सी, बिमोहित-सी,
बैठी वह बकति बिलोकति बिकानी - सी। देव, देव-सुधा, छन्द २३८।

२. उठा कर तब चम्पा का फूल, उठा कह करता - सा उपहास।
अरे कल क्या होगा यह सोच, गँवा दूँ क्यों अब का उल्लास।
चाहता हूँ मैं तो बस आज, सुवासित कर दूँ सकल दिगंत।
न कल का मुझको आये ध्यान, न कल की चिंता फटके पास।
—विराज, वसंत के फूल, पृ० ६३।

३. ओस न्हाई रात
गीली सकुचती आशंक
अपने अंग पर शशि-ज्योति की संदिग्ध चादर डाल,
देखो
आ रही है व्योम गंगा से निकल
इस ओर
झुरमुट में सँवरने को·······दबे पाँवों
कि उसका यों
अव्यवस्थित ही
कहीं आँखें न मग में घेर लें
लोलुप सितारों की। —कुँवरनारायण, ओस न्हाई रात, चक्रव्यूह, पृ० १२।

४. झूमा एक ओर रसाल
काँपा एक ओर बबूल
फूटा बन अनल के फूल
किंशुक का नया अनुराग।

हर्षोन्माद आदि भावों का भव्य नियोजन है[1] और रूपसी बूँद के हृदयस्थ उल्लास, मद, परिहास, हास्य, स्वच्छन्दता, चिन्ता, भय, आकुलता, गर्व, अभिलाषा, उत्कंठा, जिज्ञासा तथा आश्चर्यादि भाव-रत्नों का कमनीय प्रकाश है[2]।

मानव-भावाङ्कन में उपनाम-प्रकृति-रूप

आदि मानव प्रकृति के निकट साहचर्य में रहकर अपना जीवन-यापन करता था। अतः मानवीय रूप, भाव तथा गुणादि की व्यंजना के लिये अपेक्षित उपमान विधान के लिये कवि की दृष्टि सर्वप्रथम प्रकृति के तादृश रूपों पर ही जाती थी। इसके अतिरिक्त उसके हृदय में संचित प्रकृति-रूपसी के प्रति अनन्त प्रेम एवं सौन्दर्य भाव भी उसे मानव-भावादि की चित्ताकर्षक अभिव्यक्ति के लिये तादृश प्रकृति-रूपों का ही योग लेने के लिये प्रेरित करता था। यही कारण है कि मानव आदि काल से प्रकृति का उपमान-रूप में प्रयोग करता आया है और प्रकृति-रूपों की यह पदवी आज भी पूर्ववत् गौरवप्रद है।

भावों का विषय बड़ा ही दुरूह, जटिल तथा अस्पष्ट है। अमूर्त भावों का सम्यक् प्रत्यक्षीकरण, उनका सुष्ठु एवं मार्मिक चित्रांकन, अत्यधिक दुष्कर कार्य है। अतः कवि इस दुष्कर कार्य को सुकर बनाने के लिये प्रकृति के विभिन्न रूपों का योग लेता है और इसके लिये वह कभी तो मानव-भावों की प्रकृति के तादृश रूपों से तुलना करता है—उन्हें उनके समकोटिक रूप में चित्रित करता है; कभी उन्हें प्रकृति से श्रेष्ठ घोषित करता है; कभी प्रकृति से निकृष्ट दर्शाता है; कभी मानव-भावों का प्रकृति में अध्यवसान करके केवल प्रकृत-रूपों द्वारा ही उनकी व्यंजना करता है और कभी उनमें विभिन्न प्रकृति-भावों की संभावना करता है।

मानव-हृदय एक अगाध जलनिधि है। जिस प्रकार जलनिधि में असंख्य मुक्ता, मूँगे, माणिक्य आदि रत्न भरे रहते हैं, उसी प्रकार मानव-हृदयाम्बुधि

दिन हैं अलस मधु से स्नात,
रातें शिथिल दुःख के भार।

—महादेवी वर्मा, सान्ध्यगीत, पृ० ७९।

१. सकुच सलज खिलती शेफाली अलस मौलश्री डाली डाली।

—महादेवी वर्मा, नीरजा, पृ० ५६।

२. आ गई बूँद इठलाती कुछ बलखाती,
मेघों के उर से मदमाती, अम्बर की राहों में गाती
नव हास हुलास दिखाती, नीचे देख कभी थर्राती,
ऊपर देख तनिक अकुलाती, आसपास एकाकी पाती,
उत्कंठा से दृष्टि लगाती, कुछ भी नहीं समझ पाती,
कहाँ ! किधर होगी थाती। —पद्मसिंह 'कमलेश', कुसुम-कली, पृ० १२।

में भी अनेक भाव-रत्न अन्तर्हित रहते हैं। मानव जिस प्रकार समुद्र से विभिन्न रत्नों को समय-समय पर निकालता रहता है, उसी प्रकार कवि मानव-हृदय-पारावार से विभिन्न भाव-रत्नों को समय-समय पर निष्कासित करता रहता है और उन्हें भव्य रूप में मानव के समक्ष प्रस्तुत करने के लिये विभिन्न प्रकृति-रूपों का योग लेता है। कवि के इस कार्य में प्रकृति-जगत् के विभिन्न उपकरणों का किस प्रकार योग रहता है, इसे देखने के लिये अब हम हिन्दी-काव्य में अभिव्यक्त कुछ भावों पर संक्षिप्त विचार करेंगे।

(क) *प्रेम*—प्रेम यौवन का उपहार तथा जीवन का आधार है। जीवन के सार, मानव-हृदय के इस प्रमुख भाव की कहानी मधुबन से कोकिल और भ्रमर, सागर से सरिता, सरिता से निर्झर, निर्झर से पर्वत, पर्वत से आकाश, आकाश से मेघ और मेघ से विद्युत् सदैव कहती रहती है। कवि की भाषा में प्रेम सुरपुर का मनोहर आख्यान, गगनस्थल में सूर्य-चन्द्र का आह्वान, वसुन्धरा की सुषमा का सम्मान तथा विश्व को अमरों का अमर वरदान है[1]; शैशव का हास्य, यौवन का मधुप-विलास, जरा का अन्तर्नयन-प्रकाश तथा मृत्यु का दीर्घ निश्वास है। वह वाणी को नेत्र, नेत्रों को वाणी, मन को श्रवण और श्रवणों को मन की सामर्थ्य प्रदान करता है[2]। आदि कवि से लेकर आधुनिक काल तक के जाने कितने कवियों ने इसका अमर यश-गान करके आत्म-पद-लाभ किया है।

जिस प्रकार किसी अनुत्पादक भू-खण्ड को उर्वर बनाने के लिये—पत्थर-तुल्य भूमि को मक्खनवत् कोमल रूप देने के लिए—उसे चूर्ण-विचूर्ण करके, विभिन्न प्रकार के प्रयत्नों द्वारा समतल रूप देकर, उत्तमोत्तम खाद डाली जाती है, तभी उसमें अंकुर निकालने की सामर्थ्य आ पाती है, उसी प्रकार प्रेम रूपी वृक्ष को उगाने के लिए, प्रेम-पात्र के हृदय तथा परिस्थितियों रूपी पथरीली भूमि को एकाग्रता, लगन, त्याग तथा अनन्यता रूपी परिश्रम एवं प्रयत्नों से कोमल, मृदुल एवं समतल बनाने तथा श्वास रूपी खाद देने की आवश्यकता होती है, तभी उसमें प्रेम रूपी वृक्ष अंकुरित होकर पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होता है। मानव तथा प्रकृति के इस साम्य को लक्ष्य करके कवि प्रेम की वृक्ष से तुलना तथा उस पर उसका आरोप करता है। निम्नांकित अवतरण में उपमेय पर उपमानों का इस प्रकार आरोप किया गया है कि उपमानों में उपमेय का अध्यवसान हो गया है और उपमेय का कथन न करके केवल उपमानों के कथन द्वारा ही उपमेय का वर्णन किया गया है। प्रेम-वृक्ष की कुशलता पूछने के ढंग के निरालेपन तथा मार्मिकता का श्रेय प्रकृति के उपमानों तथा उनके आरोप को ही है, कदाचित् यह कहने की आवश्यकता नहीं—

> *श्वास देकर खाद*
> *परती कड़ी धरती चीर*

---

१. गोपालशरण सिंह, प्रेम, कादम्बिनी, पृ० २२।

२. पंत, स्नेह, आधुनिक कवि (२), पृ० ७।

वृक्ष जो हमने उगाया था नदी के तीर
क्या अब भी खड़ा है !
या बहा कर ले गई उसको नदी की धार
अपने साथ परली पार[1]।

श्वास रूपी खाद देकर (प्राणों की बाजी लगा कर), परिस्थितियों की विकट बंजर भूमि को चीरकर, यौवन के उद्दाम-वेग रूपी नदी के तट पर, हमने जिस प्रेमवृक्ष का आरोपण किया था, क्या वह अब भी पूर्ववत् सुरक्षित है, दृढ़ रूप से स्थिर है, या वासना रूपी सरिता की प्रखर धारा उसे जीवन के किसी अादृश्य तट की ओर बहा कर ले गई ?

प्रेम-मार्ग पर चलना सरल कार्य नहीं—अत्यधिक दुष्कर है। प्रेमी को परिस्थितियों की विकट मरुस्थली को पार करना होता है; बाधाओं के पर्वतों को समतल करके अपने मार्ग को सुगम बनाना होता है; समाज-विरोध के समुद्र को पाटना होता है। निर्बल-हृदय व्यक्ति प्रायः इस कार्य में सफल नहीं होते। अतः इस मार्ग पर भूल कर भी नहीं चलना चाहिए ; अन्यथा ऐसा करने वाले का जीवन दुर्वह-भार हो सकता है, संकट में पड़ सकता है—प्रेम-चन्द्र की एक भी शीतल, सुखद, सुधावर्षिणी रश्मि का प्रकाश पाये बिना ही नष्ट हो सकता है। इसकी अभिव्यक्ति के लिये कवि मृणाल-तार, कठोर संकीर्ण मार्ग, चन्द्रहास की तीक्ष्णधार आदि प्रकृति के विभिन्न उपमान-उपकरणों का अनेक प्रकार से योग लेता है ; प्रेम के कठोर मार्ग को कभी मृणाल-तार से भी क्षीण और कभी चन्द्रहास की तीक्ष्ण धार के समान बताता है—

अति खीन मृणाल के तारहु ते, तेहि ऊपर पाँव दै आवनौ है।
\+ \+ \+
यह प्रेम को पंथ करार सखी, तरवार की धार पै धावनौ है[2]।

प्रेम की अनन्त मृदुता, माधुर्य एवं शीतलता के कारण उसकी उपमा चन्द्रिका से और उसके दुःखद परिणाम, निराशा तथा वियोगाग्नि के ताप के कारण सूर्य के दह्यमान मस्तक से दी जाती है। इसके अतिरिक्त चन्द्रिका प्रचण्ड ग्रीष्म, वसन्त तथा शरद् में विशेष रोचक एवं आनन्ददायक होती है, शीताधिक्य में उतनी नहीं। इसी प्रकार शीतकालीन सूर्य का बाल-रूप, मानव के लिये जितना स्पृहणीय—जितना सुखद होता है, उतना उसका अन्य किसी भी ऋतु का कोई भी रूप नहीं। उग्र शीत के उदीयमान सूर्य में जो ताप होता है, मानव प्रेम में परिस्थितियों के शीताधिक्य से मुक्ति पाने के लिये उससे अधिक ताप चाहता है और बहुधा पाता भी है। इसी

१. दुष्यंतकुमार, एक पत्र का अंश, सूर्य का स्वागत, पृ० ३५।
२. बोधा कवि, हरिऔध, रस-कलस, भूमिका, पृ० १५४ से उद्धृत।

प्रकार चाँदनी में जो मृदुला होती है, प्रेमी प्रेम में उससे अधिक प्राप्त करता है। यही कारण है कि कवि प्रेम, सूर्य और चन्द्र के इस प्रभाव-साम्य को लक्ष्य करके मानव-प्रेम की व्यंजना के लिये सूर्य, चन्द्र को उपमानों का रूप देता हुआ व्यतिरेक की आलंकारिक शैली में प्रकृति की अपेक्षा मानव-प्रेम के तुलनात्मक विशेषताधिक्य की व्यंजना करता है—

चन्द्रमा की चाँदनी से भी नरम
और रवि के भाल से ज्यादा गरम
है नहीं कुछ और केवल प्यार है[1]।

सूर्य, चन्द्र मानव के लिये ऋतु, काल अथवा परिस्थिति-विशेष में ही सुखद होते हैं। शीतल चन्द्रिका और सूर्य का प्रज्वलित भाल सदैव सुखकर नहीं होते। प्रेम में यह बात नहीं। वह मानव के लिये सतत सुखकर हो नहीं, सूर्य एवं चन्द्र से अधिक आनन्दप्रद भी है। इसी सत्य की मार्मिक व्यंजना के लिये उक्त अवतरण में प्रकृति के उपमान सूर्य एवं चन्द्र का मधुमय योग लिया गया है।

प्रेमी अपने प्रेम-मार्ग पर दृढ़ एवं निर्भय होकर चलता है। उस पर चलते हुए प्रेमी के लिये अपने प्राण दे देना भी कोई बड़ी बात नहीं। सच्चा प्रेमी अपने प्राणों को हथेली पर रख कर, सिर को काट मार्ग पर रख कर उस पर चरण रखता हुआ प्रेम-मन्दिर में प्रवेश करने के लिए तत्पर रहता है। इसकी व्यंजना के लिए कवि प्रकृति-जगत् से पतंग, परेवा, भ्रमर, दुग्ध तथा मृग आदि प्राणियों एवं पदार्थों के प्रेम के दृष्टांत प्रस्तुत करता है, उनका अनेक प्रकार से योग लेता है और उनके प्रेम की दृढ़ता द्वारा मानवीय प्रेम की दृढ़ता की व्यंजना करता है। सूरदास का "ऊधो ! प्रीति न मरन विचारै[2]" पद इसका उत्कृष्ट उदाहरण है।

इसी प्रकार मानव-प्रेम की अनन्यता की सुष्ठ व्यंजना के लिये कवि प्रकृति-जगत् से चातक, चकोर, कुमुदिनी, हंस, मीन, मृग, सर्प, मयूर-शिखा[3] आदि

---

१. रमानाथ, अवस्थी, ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० ८८।

२. ऊधो ! प्रीति न मरन बिचारै।
प्रीति पतंग जरै पावक परि जरत अंग नहिं टारै॥
प्रीति परेवा उड़त गगन चढ़ि गिरत न आप सम्हारै।
प्रीति मधुप केतकी-कुसुम बसि कंटक आपु प्रहारै॥
प्रीति जानु जैसे पय पानी जानि अपनपौ जारै।
प्रीति कुरंग नादरस, लुब्धक तानि तानि सर मारै॥
प्रीति जान जननी सुत-कारन को न अपनपौ हारै।
सूर स्याम सों प्रीति गोपिन की कहु कैसे निरुवारै।
—सूर, भ्रमरगीत-सार, पद १२१।

३. तुलसी मिटै न मरि मिटेहु, साँचो सहज सनेह।
मोरसिखा बिनु मूरि हू, पलुहत गरजत मेह॥ —तुलसी, दोहावली, दो० ३१६।

उपमानों का विभिन्न प्रकार से आश्रय लेता है। अनन्यता भाव के साथ-साथ गुण भी है। अतः इसकी अभिव्यक्ति में प्रकृति के योग पर विशद विचार अगले अध्याय में "मानव गुणों की अभिव्यक्ति में प्रकृति" शीर्षक के अन्तर्गत किया जायेगा। इसके अतिरिक्त प्रेम के उन रूपों पर भी, जो गुण की कोटि में आते हैं, हम यथा-स्थान विचार करेंगे।

प्रेम मनुष्य की रुचि की वस्तु है। वह किसी की अनुशंसा से किया या छोड़ा नहीं जा सकता। मानव-मन जिसे चाहता है, जिसकी ओर प्रवृत्त होता है, उससे उसे विरक्त नहीं किया जा सकता। उसके प्रेम की यह रुचि, कवियों द्वारा प्रकृति के विभिन्न उपकरणों, उसके विभिन्न दृष्टान्तों से पुष्ट करके अनेक प्रकार से व्यक्त की जाती है। उसका समर्थन विष-कीड़ा, चकोर, भ्रमर, पतंग आदि प्रकृति के प्राणियों की प्रेम-विषयक रुचि से किया जाता है—

ऊधौ मन माने की बात।
दाख छुहारा छाँड़ि अमृत-फल विष-कीरा विष खात।
जो चकोर को दै कपूर कोउ तजि अंगार अघात।
मधुप करत घर कोरि काठ में बँधत कमल के पात॥
ज्यों पतंग हित जानि आपनो दीपक सों लपटात।
'सूरदास' जाको मन जासों सोई ताहि सुहात[1]॥

पूर्णिमा के पूर्ण चन्द्र का दर्शन कर समुद्र उससे मिलने के लिये आकुल हो उठता है, तरंगों के रूप में उड़ता, उछलता और उससे मिलने के लिये अत्यधिक उत्कंठित हो अनेक प्रकार के प्रयत्न करता है। प्रकृति-जगत् के इस चिर-परिचित व्यापार के योग से, कवि, मानव-हृदय की प्रिया-मिलनोत्कंठा की सुरभ्य व्यंजना करने के लिये प्रेमी के प्रेम पर समुद्र और प्रेम-पात्र के मुख पर चंद्र का आरोप करता है; क्योंकि उसका प्रेम रूपी समुद्र भी प्रेयसी अथवा प्रेम-पात्र के मुख-रूपी पूर्णेन्दु के दर्शन के लिये, उसकी प्राप्ति के लिये, विभिन्न प्रकार से उत्कंठित हो अनेक प्रकार के प्रयत्न करता है—

जा दिन तें वृषभानु-ललीहिं अली मिलए मुरलीधर तेहीं।
साधन साधि अगाधि सबै बुधि सोधि जे भूत-अभूतन में ही।
ता दिन तें दिन में न दुहून को 'केसव' आवति बात कहे ही।
पीछे अकास प्रकासै ससी चढ़ि प्रेम-समुद्र बढ़ै पहले ही[2]।

(*ख*) *दुःख*—संसार में दुःख का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। मानव में उसका प्रादुर्भाव कभी तो इष्ट व्यक्ति के वियोग के कारण होता है, कभी अभीष्ट व्यक्ति

---

१. सूर, भ्रमरगीत-सार, पद ३६६।

२. केशवदास, कविप्रिया, नवाँ प्रभाव, छन्द १८, प्रिया-प्रकाश, पृ० १५४।

अथवा वस्तु के नाश से, कभी किसी अभाव के कारण, कभी किसी के प्रति ईर्ष्यादि के कारण और कभी सजातीय प्राणियों के दुःख में उनके प्रति सहानुभूति के कारण।

दुःख के विभिन्न रूपों के समान ही उनकी अभिव्यक्ति में प्रकृति के विभिन्न उपमान-रूपों का प्रयोग भी अनेक प्रकार से किया जाता है। उसकी उत्पत्ति का प्रश्न आने पर उसकी उपमा पक्षी के नवजात शिशु से दी जाती है—

दुःख किसी चिड़िया के अभी जन्में बच्चे-सा[1]।

मानव प्रिय-वियोग में व्यथित-विह्वल होता है, किन्तु अपने प्रेम की व्यंजना मर्यादांकुश के भय से प्रत्यक्ष रूप से नहीं कर पाता—प्रकृति के विभिन्न उपकरणों के बहुविध योग से केवल उसका संकेत करता है। मर्यादा की लोह-चादर से आच्छादित होने के कारण जब वह छटपटाता है, तड़पता है, अपने अन्तर्हित प्रेम की अभिव्यक्ति के लिये विकल होता है; वियोग-ज्वाला से उद्भूत विषाद रूपी विषैले धुएँ के चतुर्दिक व्याप्त हो जाने के कारण जब उसका गला घुटता है, तो वह अपनी विकलता, अपने दुःख की अभिव्यक्ति अग्नि से उद्भूत धुएँ के योग से इस प्रकार करता है—

यह जो नीला
जहरीला धुँआ मेरे भीतर उठ रहा है,
यह जो जैसे मेरी आत्मा का गला घुट रहा है,
यह छो नव जात शि सा
कुछ छटपटा रहा है
यह क्या है
क्या है मित्र
मेरे भीतर झांक कर देखो।
छेदो। मर्यादा की इस लौहचादर को[2]।

मानव अपने वियोग-जन्य दुःख—व्यथापूर्ण जीवन, हृदय-वेदना, प्रेम-जन्य विभिन्न मृदुल भाव, आशा, निराशा तथा स्मृति की सम्यक् एवं मार्मिक व्यंजना के लिये अपने व्यथित-विह्वल जीवन की उपमा ऋतु से, वेदनामय भावों से उमड़ते हुए मन की मानसरोवर से, सतत अश्रुपूर्ण नेत्रों की मेघों से, मृदुल भावों की विहगों के कल-कूजन से, कोमल घावों की अरुण कलिकाओं से और आशा की इन्द्र-धनुष, निराला की घनीभूत धूमिल कुहेलिका स्मृति की विद्युत से देता है—

---

१. दुष्यन्तकुमार, मैं और मेरा दुःख, सूर्य का स्वागत, पृ० २३१।
२. दुष्यन्तकुमार, अभिव्यक्ति का प्रश्न, सूर्य का स्वागत, पृ० ४८।

मेरा पावस-ऋतु-सा जीवन, मानस-सा उमड़ा अपार-मन ;
गहरे, धुँधले, धुले, साँवले, मेघों से मेरे भरे नयन।

+ + +

तड़ित-सा सुमुखि ! तुम्हारा ध्यान, प्रभा के पलक मार, उर चीर
गूढ़-गर्जन कर जब गम्भीर, मुझे करता है अधिक अधीर[1] ।

इसी प्रकार विषाद की गहनता की मार्मिक व्यंजना के लिये उस पर घनीभूत घटाओं, आशा के पूर्ण न होने की बिम्बात्मक अभिव्यक्ति के लिये उस पर सरोवर की रिक्तता, अभिलाषाओं की अतृप्ति के सम्यक् व्यक्तीकरण के लिए उन पर उजड़ी हुई वाटिका, तृषाकुलता के हृदय-द्रावक चित्रांकन के लिये उस पर भ्रमर का और अश्रुकणों के मर्मस्पर्शी अभिव्यंजन के लिये उन पर कमल के मधुकणों के गिरने का आरोप किया जाता है—

अंतर में क्यों आज सघन-घन घिरते जाते हैं।

+ + +

मेरी आशा का युग-युग से सरवर खाली है,
चाहों के उपवन की उजड़ी डाली-डाली है।
मुझ से अधिक तृषातुर भावुक भ्रमर कौन है जो कि—
नयनों के नीरज से मधुकण गिरते जाते हैं।
अन्तर में क्यों आज सघन-घन घिरते जाते हैं[2] ।

(ग) *सुख-दुख*—कवि प्रकृति में देखता है कि ज्योत्स्ना और अँधियाली—प्रकाश और अंधकार—एक साथ कंधे से कंधा भिड़ा कर चलते हैं, कभी एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ते। नीरव-निशीथ में जब कि समग्र सृष्टि सुषुप्तावस्था में होती है, चंद्रिका और अँधियाली कुंजों में परस्पर मिलकर प्रसन्न-पुलकित होती हैं। इसी प्रकार जब उसकी दृष्टि-समग्र मानव-जीवन पर जाती है, तो उसे सुख और दुख परस्पर सम्बद्ध घनिष्ठ सहचर के समान एक साथ दृष्टिगत होते हैं। अतः प्रकृति-जगत् के उक्त व्यापार तथा मानव-जीवन के सुख-दुख के सह-अस्तित्व के साम्य को लक्ष्य करके कवि मानवीय सुख-दुख की व्यंजना मानव तथा प्रकृति के व्यापार-साम्य द्वारा इस प्रकार करता है—

लिपटे सोते थे मन में सुख-दुःख दोनों ही ऐसे।
चंद्रिका घेअँरी मिलती मालती कुंज में जैसे[3] ।

(घ) *वासना एवं उच्छृंखलता*—जिस प्रकार वर्षा की उमड़ी हुई नदी की प्रखर धारा के वेग में सब कुछ बह जाता है, उसी प्रकार यौवन की वासना

---

१. पंत, आँसू, पल्लव, पृ० १३-१४।
२ नटवरलाल स्नेही, गीत, ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० ५६-५७।
३. प्रसाद, आँसू, पृ० ४८।

तथा ऊच्छृंखलता मनुष्य की चेतना, बुद्धिमत्ता, औचित्यानौचित्य विषयक विवेक तथा दूरदर्शिता आदि सभी को अपने साथ बहा ले जाती है। अतः मानव तथा प्रकृति के इस व्यापार-साम्य को लक्ष्य करके कवि मानव-वासना एवं उच्छृंखलता की अभिव्यक्ति उपमान-नदी-धारा के बहुविध योग द्वारा करता है। कभी वह नदी की धारा से मानव-वासना अथवा उच्छृंखलता का साम्य प्रदर्शित करता है, कभी दोनों पर नदी का सामान्य आरोप करता है और कभी केवल नदी के व्यापार की व्यंजना द्वारा उसकी अभिव्यक्ति करता है—

मुझे लिखना
वह नदी जो बही थी इस ओर।
छिन्न करती चेतना की राख के स्तूप
क्या अब भी वहीं हैं?
या गई है भूल वह
पाकर समय की धूप[1]।

(ङ) *लज्जा*—लज्जा प्रायः अपराध या शील-संकोच के कारण उत्पन्न होती है। उसके आविर्भाव से मन तथा शरीर संकुचित, सिर, नासिकाग्र एवं पक्ष्म झुके हुए, भ्रू-युग्म लम्बायमान और कपोल तथा कर्णादि रक्ताभ हो जाते हैं[2]। अतः मानवीय लज्जा की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति के लिए कवि कोमल किशलयों में छिपती हुई बाल-कलिका, रक्ताभ गोधूलि के धूमिल पट में दीप्तिमान दीपकाभा तथा सकुचती-सिमटती इन्द्र-वधुओं आदि प्रकृति-जगत् के उपमान-रूप-व्यापारों का बहुविध योग लेता है—अनेक प्रकार से उनका प्रयोग करता है—

कोमल किसलय के अंचल में नन्हीं कलिका ज्यों छिपती सी,
गोधूली के धूमिल पट में दीपक के स्वर में छिपती सी[3]।

---

१. दुष्यन्तकुमार, एक पत्र का अंश, सूर्य का स्वागत, पृ० ३५।

२. गिर रही पलकें झुकी थीं नासिका की नोक,
भ्रू-लता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक।
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल,
खिला पुलक कदम्ब-सा था भरा गद्गद् बोल।
—'प्रसाद', कामायनी, पृ० ६४।

तथा—

लाली बन सरल कपोलों में आँखों में अञ्जन सी लगती,
कुंचित अलकों सी घुँघराली मन की मरोर बनकर जगती।
× × ×
मैं वह हलकी सी मसलन हूँ जो बनती कानों की लाली।
—'प्रसाद', कामायनी, पृ० १०३।

३. 'प्रसाद', कामायनी, पृ० ६७।

तथा —

ज्यों-ज्यों परसै लाल तन, त्यों-त्यों राखै गोइ।
नवल वधू ही लाज तें, इन्द्र-वधूटी होइ[1] ॥

(च) *हास्य*—हास्य की स्मितावस्था में मानव-मन तथा मुख-कमल के समान खिल उठता है ; चन्द्र-रश्मियों से प्रकाशित वस्तु के समान दीप्तिमय हो जाता है और अपनी प्रसन्नता-सुरभि से चतुर्दिक वातावरण को सुरभित कर देता है। अतः मानव स्थिति की मार्मिक एवं रसात्मक अभिव्यक्ति के लिये पुष्प-विकास, मयूर-नृत्य, चन्द्र-रश्मियों, मृदुल सुगंध, स्वच्छन्द गगन तथा मुक्त वायु आदि प्रकृति के उपमानों का अनेक प्रकार से योग लिया जाता है—कभी उनसे मानव-स्मिति की उपमा दी जाती है[2], कभी उन पर उसका आरोप किया जाता है और कभी उनमें उसकी संभावना की जाती है।

हास्य की अपहसित अवस्था में मनुष्य के नेत्रों से अश्रु-विन्दु गिरने लगते हैं। अतः उसकी अभिव्यक्ति के लिये प्रकृति के उपमान मुक्ता-वृष्टि का बहुविध योग अपेक्षित होता है। कभी उसकी मुक्ता-वृष्टि से उपमा दी जाती है, कभी उस पर उसका आरोप किया जाता है और कभी केवल मुक्ता-वृष्टि के कथन द्वारा अश्रु-वृष्टि की व्यंजना करके, सिर के हिलने तथा हँसने का उल्लेख करके, अपहसित हास्य की अभिव्यक्ति की जाती है—

बहु हँसि-हँसि-हाँसी करति कहति रसीले बैन।
सिर हिलि-हिलि सरसत रहत मोती बरसत नैन[3] ।

इसी प्रकार अतिहसित हास्य में शरीर के हिलने के व्यापार की उपमा लता के हिलने से देकर तथा अत्यधिक हास्य एवं अश्रु-वर्षा का उल्लेख करके उसकी अभिव्यक्ति की जाती है—

तिय तारी दै-दै हँसति, हिलति लता लौं जाति।
पुलक-वारि लोचन भरे, पुलकित विपुल लखाति[4] ॥

(छ) क्रोध—क्रोध में मनुष्य रक्ताभ हो जाता है। अतः उसकी व्यंजना के लिये कुछ मानव की उपमादि के लिये, प्रकृति के उपमान सूर्य का अनेक प्रकार से

१. मतिराम, रसराज, छन्द २६।
२. मृदु सुगंध-सी कोमल-दल फूलों की
शशि-किरणों की-सी वह प्यारी मुसकान।
स्वच्छन्द गगन सी मुक्त वायु-सी चंचल।
—निराला, उसकी स्मृति, परिमल, पृ० १२२।
३. हरिऔध, रस-कलस, पृ० १२।
४. हरिऔध, रस-कलस, पृ० १२।

प्रयोग किया जाता है। कभी उससे उसकी उपमा दी जाती है, कभी उस पर उसका आरोप किया जाता है और कभी उसमें उसकी सम्भावना की जाती है—

भीषम-रन-कौसल निरखि, मान न जिय कछु त्रास।
भृगु-नन्दन के दृगन में, भयो अरुन आभास[1] ॥

इसी प्रकार क्रोध में मानव-शरीर के कम्पायमान होने की अभिव्यक्ति के लिये झंझावात से जागृत-आलोड़ित पारावार का विभिन्न प्रकार से योग लिया जाता है—

उस काल मारे क्रोध के, तनु काँपने उनका लगा।
मानों हवा के जोर से, सोता हुआ सागर जगा[2] ॥

इसके अतिरिक्त क्रोध की व्यंजना के लिये अन्य प्रकृति-रूपों को भी अनेक प्रकार से प्रयुक्त किया जाता है। क्रुद्ध मनुष्य कभी तो शत्रु को मशक के समान पीस डालने के लिए तत्पर देखा जाता है; कभी हिमालय के समान दृढ़ प्रतीत होता है; कभी अमृत-सरोवर में विष उगलने लगता है; कभी समुद्र को पाटने के लिये प्रस्तुत हो जाता है और कभी पर्वतों को उखाड़ फेंकने, तारों को तोड़ लाने तथा सूर्य को टुकड़े-टुकड़े कर डालने के लिये सन्नद्ध पाया जाता है। इस प्रकार विभिन्न प्रकृति-रूपों के योग से मानव-क्रोध-भाव की व्यंजना अनेक प्रकार से की जाती है।

(ज) *शोक*—जिस प्रकार प्रिय सूर्य के अस्तायमान हो जाने से कमल शोकाकुल हो जाता है; चंद्र के राहु-ग्रस्त हो जाने से कुमुदिनी का सर्वस्व लुट जाता है; समुद्र के सूख जाने से उसमें निवास करनेवाली मछलियों का प्राणान्त हो जाता है और कल्पवृक्ष के उखड़ जाने से दीन जनों की आशा-लता पर तुषारपात हो जाता है, उसी प्रकार शोकाकुल मनुष्य विक्षिप्त-सा हो जाता है। उसे लगता है कि मानों उसका सर्वस्व नष्ट हो गया हो, मानों उसके जीवन में आशा के लिये कोई स्थान ही न हो। अतः मानव तथा प्रकृति के इस साम्य को लक्ष्य करके कवि मानवीय शोक की अभिव्यक्ति प्रकृति के उक्त उपमान-तथ्यों के योग से विभिन्न अलंकारों की शैली में अनेक प्रकार से करता है।

मुनिन-सरोज को दिनेस अथयो अकाल, गुनिन-कुमुद-चन्द राहु-मुख परिगो।
'हरिऔध' ज्ञानिन को चिंतामनि चूर भयो, मानिन-प्रदीप हूँ को तेज सब हरिगो॥
पारस हेराइ गयो हीन-जन-हाथन कौ, भारती को प्यारो एकलौतो तात मरिगो।
सागर सुखानो आज संतजन-मीनन कौ, दीनन को हाय देव-पादप उखरिगो[3] ॥

---

१. अज्ञात, काव्य-कल्पद्रुम, प्रथम भाग, रस-मंजरी, पृ० २०६।

२. मैथिलीशरण गुप्त, जयद्रथ-वध, पृ० ३७।

३. हरिऔध, रस-कलस, पृ० १४।

(झ) *भक्ति*—श्रद्धा और प्रेम का संयुक्त रूप भक्ति मानव-माँगल्य के लिये परम कल्याणकारी है। अतः उसकी महत्ता का सन्देश देन के लिये, उसके वास्तविक रूप का निर्देश देने के लिये, कवि प्रकृति के विभिन्न उपनाम-उपकरणों का अनेक प्रकार से योग लेता है। उसकी मंगलमयता प्रदर्शित करने के लिये वह उसे वर्षा का रूप देकर, भक्त जनों पर धान का आरोप करके, राम-नाम के दोनों अक्षरों को श्रावण और भाद्रपद के रूप में चित्रित करता है—

बरषा रितु रघुपति भगति, तुलसी सालि सुदास।
राम नाम बर बरन जुग, सावन भादव मास[१]।

संसार के हित के लिये चंद्रमा और सूर्य की आवश्यकता है। अतः राम-नाम के दोनों अक्षरों को कवि चन्द्रमा और सूर्य के रूप में वर्णित करता है। पृथ्वी का भार धारण करने के लिये कच्छप और शेषनाग की आवश्यकता है; कमलों को संयोग-सुख देने के लिये—पूर्णतः विकसित करने के लिये—भ्रमरों की आवश्यकता है। अतः वह राम-नाम के दोनों अक्षरों पर कच्छप और शेषनाग, भक्तों के मन पर कमलों और दोनों अक्षरों पर उन कमलों में विहार करने वाले भ्रमरों का आरोप करता है—

स्वाद तोष सम सुगति सुधा के। कमठ सेष सम धर बसुधा के।
जन मन मंजु कंज मधुकर से। जीह जसोमति हरि हलधर से[२]।

भक्ति का माहात्म्य व्यंजित करने के लिये भक्ति-भाव से पूर्ण कवि उसमें आत्म-विभोर हो राम-कथा पर कलियुग रूपी सर्प का भक्षण करने वाली मयूर और भ्रम-रूपी मेढकों को खाने वाली सर्पिणी का आरोप करता है; मनोरथों को पूर्ण करने के लिये कामधेनु का रूप देता है; दुःख-द्वन्द्व के नाश के लिए अमृत की नदी के रूप में चित्रित करता है; यम-दूतों के मुख पर कालिख पोतने के लिये यमुना, जीवों को मुक्ति प्रदान करने के लिए काशी और भक्तों के पाप-नाश के लिये उसे गंगा जी के रूप में प्रदर्शित करता है[३]; जीवन की नश्वरता तथा सांसारिक सुखों की क्षणभंगुरता की व्यंजना के लिये मानव पर पक्षी और उसके शरीर पर वृक्ष का आरोप करता है[४] और भगवान से रक्षा की प्रार्थना के लिये स्वयं को वृक्ष पर बैठा हुआ पक्षी, काल को व्याध, माया को बाज और भक्ति को सर्प-रूप में अंकित करता है—

१. तुलसी, रामचरितमानस, बालखंड, दो० १६, पृ० ५२।
२. तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० ५३।
३. तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० ६३-६४।
४. जा दिन मन-पंछी उड़ि जैहै।
ता दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहैं।
—सूर, सूरसागर, ना. प्र. स., विनय, पद ८६।

अब कैं राखि लेहु भगवान।
हौं अनाथ बैठ्यौ द्रुम-डरिया, पारिधि साधे बान।
ताकैं डर मैं भाज्यौं चाहत, ऊपर ढुक्यौ सचान।
सुमिरत ही अहि डस्यो पारधी, कर छूट्यौ संधान[१]।

(ज) *अन्यभाव* उक्त भावों के समान ही अन्य मानव-भावों की व्यंजना में भी प्रकृति का योग प्रायः लिया जाता है। मानव-व्यथा की रात्रि एवं वर्षा[२], विस्मृति की वृक्ष द्वारा जीर्ण पर्ण को विस्मृत किये जाने के व्यापार,[३] प्रसन्नता की पुष्पित कमल अथवा पुष्प-विकास,[४] भाव-संघर्ष की झंझावात[५], स्मृति की विद्युत् एवं मकरंद-मेघमाला[६], शरीर के पुलकित एवं आन्दोल्लसित होने की कदम्ब की माला[७], स्वच्छन्दता की वन्य गयन्द[८], अभिलाषाओं के आविर्भाव की रिमझिमाती रात[९] और भय की हरहराते पर्ण[१०] के साम्य, आरोप, अध्यवसान अथवा सम्भावना आदि के द्वारा मार्मिक एवं रसात्मक अभिव्यक्ति की जाती है।

---

१. सूर, सूरसागर, ना प्र स., विनय, पद ९७।

२. रात-सी नीरव व्यथा तम सी अगम मेरी कहानी।
—महादेवी वर्मा, दीपशिखा, पृ० १२७।

तथा—सजनि मैं उतनी सजल जितनी सजल बरसात।
—महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० ८४।

३. सूर स्याम हम निपट बिसारी ज्यों तरु-जीरन पात।
—सूर, भ्रमरगीत-सार, पद २३।

४. इस हृदय-कमल का खिलना अलि-अलकों की उलझन में।
—प्रसाद, आँसू, पृ० १२।

५. झंझा-झकोर-गर्जन था बिजली थी नीरद-माला। —प्रसाद, आँसू, पल्लव, पृ० १५।

६. तड़ित-सा सुमुखि ! तुम्हारा ध्यान। —पंत आँसू, पल्लव, पृ० १४।

तथा—मकरन्द-मेघमाला-सी वह स्मृति मदमाती आती। —प्रसाद आँसू, पृ० ३५।

७. लहि प्रसाद माला जु भौ, तन कदम्ब की माल।
—बिहारी, बिहारी-बोधिनी, दोहा २९२।

८. नव गयन्द रघुवीर-मन, राजु अलान-समान।
छूटि जानि वन-गमन सुनि उर आनंद अधिकान।
—तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा ५१।

९. रिमझिमाती रात मन का गुनगुनाना।
—शिवमंगल सिंह 'सुमन', मैं अकेला और पानी बरसता है,
५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० ११७।

१०. हरहराते पात तन का थरथराना।
—शिवमंगलसिंह 'सुमन', मैं अकेला और पानी बरसता है,
५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, ० पृ ११७।

यहाँ इस विषय में यह कहना आवश्यक है कि भाव-योजना के लिये नवीन कवियों की दृष्टि प्रायः प्रभाव-साम्य पर अधिक रहती है, सादृश्य और साधर्म्य पर कम। प्रकृति के जिन रूप-व्यापारों का प्रभाव सुखात्मक होता है, उन्हें दुःखात्मक भावों के प्रतीक मानते हैं। उषा, चंद्रिका, प्रकाश, दिन आदि प्रकृत-रूप सुखात्मक और संध्या, रात्रि, अंधकार, छाया आदि दुःखात्मक मानव-भावों की अभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं।

प्रकृति-भावांकन में उपमान-मानव

प्रकृति-भावांकन में मानव प्रायः दो प्रकार से योग देता है—द्रष्टा, अनुभूति-कर्ता तथा काव्य-स्रष्टा के रूप में और अलंकार रूप में। द्रष्टा, अनुभूतिकर्ता और काव्य-स्रष्टा के रूप में मानव एक प्रकार से प्रकृति-भावांकन का मूलाधार ही है। उसके बिना न तो काव्य का अस्तित्व हो सकता है और न प्रकृति के भावों का ही। दूसरे रूप में कवि प्रकृति के भावों के चित्रण में मानव का अलंकार रूप में प्रयोग करता है। इस रूप में कभी वह प्रकृति को मानव-रूप प्रदान करके उसमें विभिन्न मानवीय भावों की स्थिति दर्शाता है और कभी मानव-जगत् के विभिन्न उपकरणों का योग लेकर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति आदि की आलंकारिक शैली में उसके विभिन्न भावों की व्यंजना करता है। भाव अमूर्त होते हैं। अतः काव्य द्वारा उनका बिम्ब प्रस्तुत करना सुकर नहीं, दुष्कर कार्य है। प्रकृति के विभिन्न भावों के साक्षात्कार के लिये कवि में जितनी उर्वर कल्पना तथा भावुकता की अपेक्षा है, उनके सम्यक् मार्मिक एवं सुष्ठ विधान के लिये, मानवीय उपमानों के समुचित प्रयोग के लिये, उससे कहीं अधिक कल्पना एवं भावुकता की आवश्यकता है। अतः जहाँ मानव-भावों की अभिव्यक्ति में प्रकृति का प्रयोग प्रचुरता से किया जाता है, प्रकृति के भावों की व्यंजना में मानवीय उपमानों का अपेक्षाकृत कम देखा जाता है।

जैसा कि कहा गया है, कवि प्रकृति के भावों की व्यंजना कभी तो मानवीय उपकरणों के साम्य, आरोप अथवा अभेदादि द्वारा करता है और कभी उसका मानवी-करण करके। हिंदी कवियों ने भी प्रायः ऐसा ही किया है। मानव-जगत् में मातृ-पद जितना अधिक गौरवास्पद है, उतना संसार का अन्य कोई पद नहीं। "मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना, सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे महान विजय है[१]।" उसके इसी महत्व के कारण नारी पुरुष से श्रेष्ठ है[२], प्राणि-विकास के क्षेत्र में मूर्द्धन्य स्थान की अधिकारिणी है[३]। अनुरागमयी जननी अपने

१. प्रेमचंद, गोदान, पृ० २००।

२. स्त्री, पुरुष से उतनी ही श्रेष्ठ है, जितना प्रकाश अँधेरे से।

—प्रेमचन्द, गोदान, पृ० १६१।

३. मैं प्राणियों के विकास में स्त्री के पद को पुरुषों के पद से श्रेष्ठ समझता हूँ, उसी तरह जैसे प्रेम और त्याग और श्रद्धा को, हिंसा और संग्राम और कलह से श्रेष्ठ

संतान-शिशु के लालन-पालन में जिस ममत्वपूर्ण त्याग तथा कष्ट-सहिष्णुता पूर्ण सेवा-वृत्ति का परिचय देती है, वह समस्त संसार की स्पृहा का विषय है—उसके समक्ष पुरुष-जगत् का कोई भी आदर्श टिक नहीं पाता। मातृत्व पद की इस महत्ता से अभिभूत कवि जब अपनी आदि पोष्या माता वसुन्धरा के वात्सल्यपूर्ण कृत्यों के स्मरण से हर्षोल्लसित हो, उसके चरणों में अपनी आनन्दपूर्ण कृतज्ञता के पुष्प समर्पित करने के लिये समुत्सुक हो उठता है; तो वह उसके प्रशस्ति-गान के लिये नारी के मातृत्व से उसका साम्य प्रदर्शित करके उसके वात्सल्य की मर्मस्पर्शी, चित्रात्मक एवं रसात्मक अभिव्यक्ति करता है—

जैसे माता सुत को अपने लेकर अपनी अपनी पावन गोद।
दुग्ध-विसर्जन करती स्तन से, पाकर मन में प्रबल प्रमोद।
वैसे भू निज पयस्विनी-धारा से पाले मनुज महान।
माँ का पा वात्सल्य भाव वह बढ़े सुपथ में ले युग-गान[१]।

मानव जगत् में आगत-पतिका नायिका का हर्षोल्लास अपना सानी नहीं रखता। संसार की महान से महान वस्तु प्राप्त करके भी प्रेमिका नारी उतनी सुखी नहीं होती, जितनी वियोगावधि की समाप्ति पर रूपोत्कर्षमय पति के रूप-साक्षात्कार से होती है। अतः रूप-वैभव की पराकाष्ठा को प्राप्त अपने प्रिय राकेन्दु के दर्शन कर हर्षोल्लसित हो उठनेवाली संध्या-सुन्दरी के आनन्दातिरेक की हृदय-स्पर्शी तथा रसात्मक व्यंजना के लिए कवि उसका साम्य मानव-जगत के उपमान आगतपतिका नायिका से प्रदर्शित करता है—

संध्या फूली-फूली फिरती।
राका पति का आरोहण है, कैसा उसमें सम्मोहन,
जैसे प्रिय को पाकर रमणी, सुख से भूली-भूली फिरती[२]।

कवि एक ओर मानव-जगत् में देखता है कि शिशु-समुदाय सदैव प्रफुल्लित रहता है। उसे न कोई चिन्ता होती है, न कोई दुःख और न ही उसके सामने जीवन की किसी विकट समस्या की कोई उलझन होती है, जिसे सुलझाना आवश्यक हो। उसके शाश्वत उल्लास एवं माधुर्य को देख कर भावुक-हृदय-कवि आनन्द-विभोर हो उठता है। इसी प्रकार प्रकृति-जगत् में पुष्प-समुदाय को भी न कोई चिन्ता होती है, न कोई दुःख और न ही उसके सम्मुख किसी समस्या की उलझन। उनका उल्लास शाश्वत एवं अनन्त होता है। भूत, भविष्य अथवा वर्तमान की कोई

समझता हूँ। अगर हमारी देवियाँ सृष्टि और पालन के देव-मंदिर से हिंसा और कलह के दानव-क्षेत्र में आना चाहती हैं, तो उससे समाज का कल्याण न होगा।

—प्रेमचन्द, गोदान, पृ० १६०।

१. मेघराज 'मुकुल' 'धरती और मानव', उमंग पृ० ८।

२. माधवसिंह 'दीपक', सात सौ गीत, पृ० ३०६।

भी चिन्ता उनके हर्षोल्लास में बाधक नहीं बन सकती। अतः मानव तथा प्रकृति के इस साम्य को लक्षित करके कवि गुलाब-पुष्प के अनन्त उल्लास की व्यंजना के लिये उस पर मानव-जगत् के शैशव का आरोप करता है:—

मुसकुराते गुलाब के फूल।
कहाँ पाया मेरा बचपन।
सुभग, मेरा भोला बचपन[१]।

बाल-वर्ग तथा पुष्प-समुदाय से बहुत कुछ मिलता-जुलता तरंगों का हर्षोल्लास भी शाश्वत एवं अनन्त होता है। वे भी बिना किसी प्रकार की चिन्ता के प्रफुल्लित हो खिल उठती हैं। अतः उनकी स्वच्छन्दता, भोलेपन, आनन्दातिरेक एवं माधुर्य की व्यंजना के लिये कवि शैशव-स्मिति से उनका साम्य प्रदर्शित करता है:—

तुम शैशव - स्मिति - सी सुकुमार,
मर्म - रहित पर मधुर अपार,
खिल पड़ती हो बिना विचार[२]।

मानव-जगत् में जिस प्रकार भिखारिणी भिक्षाटन करके भी सतत सन्तुष्ट रहती है; मार्ग में पथिकों के सामने अंचल फैला कर कुछ माँग कर अपना पेट-पालन कर लेती है और कभी दुःखी नहीं होती, उसी प्रकार प्रकृति-जगत् में छाया शुष्क पत्रावलि को पाकर ही—उनके द्वारा अपनी क्षुधा-पूर्ति करके ही—सतत प्रसन्न रहती है। अतः काव्य-संसार में छाया की सन्तुष्टता तथा शाश्वत प्रसन्नता की व्यंजना के लिये उसकी तुलना भिखारिणी से की जाती है:—

सखि! भिखारिणी-सी तुम पथ पर फैला कर अपना अंचल,
सूखे-पातों ही को पा क्या प्रमुदित रहती हो प्रतिपल[३]?

कवि देखता है कि मुग्धा नायिका जिस प्रकार मुसकराते ही लज्जा से म्लान हो जाती है, उसी प्रकार जल-लहरियाँ भी उत्पन्न होकर तुरंत विनष्ट हो जाती हैं। अतः मानव तथा प्रकृति के इस रूप-व्यापार-साम्य के आधार पर कवि लहरों की स्मिति की अभिव्यक्ति के लिये उसकी उपमा मुग्धा नायिका की मधुर स्मिति से देता है:—

मुग्धा की-सी मृदु - मुसकान खिलते ही लज्जा से म्लान;
स्वर्गिक सुख की-सी आभास अतिशयता में अचिर, महान[४]।

इसी प्रकार कवि 'छाया' के विषाद की व्यंजना के लिये उसका साम्य दमयन्ती

१. पंत, विश्व-छवि, पल्लव, पृ० ८४।
२. पंत, वीचि-विलास, पल्लव, पृ० २५।
३. पंत, छाया, पल्लव, पृ० ५८।
४. पंत, वीचि विलास, पल्लव, पृ० २५।

से[1], वियोग-दुःख की अभिव्यक्ति के लिए विरह-विह्वला रमणी से[2] और श्रान्ति तथा अवसाद के व्यक्तीकरण के जिए द्रौपदी से प्रदर्शित करता है:—

तुम पथ-श्रान्ता, द्रुपद-सुता - सी कौन छिपी हो अलि ! अज्ञात ।
तुहिन-अश्रुओं से निज गिनती चौदह दुखद-वर्ष दिन रात[3] ?

इसके अतिरिक्त प्रकृति-भावांकन के लिये कवि प्रकृति-रूपों को बहुधा मानव-भावों से युक्त करके भी चित्रित करता है। दूसरे शब्दों में वह कभी उन्हें केवल विभिन्न मानव-भावों से युक्त मानव-रूप प्रदान करके, उस रूप में उनका अंकन करके ही अपना अभीष्ट सिद्ध कर लेता है। ऐसे स्थलों पर वह कभी निर्झरों के प्रेम की व्यंजना के लिये उन्हें अपनी शिलाओं रूपी प्रेयसियों का आलिंगन करते हुए मानववत् चित्रित करता है[4]; कभी प्रकृति में भक्ति-भाव की स्थिति दर्शाने के लिये पुष्पों को अपने इष्ट देव कानन पर पराग चढ़ाते हुए अंकित करता है[5], वनवल्लरियों को पुष्प-हार लेकर पूजा करती हुई सुन्दरियों के रूप में प्रस्तुत करता है[6]। वृक्षों को वन्दना और समीर को हर-हर करके हर-स्मरण करते हुए चित्रित करता है, सरिता को भगवान का कीर्तन करती हुई नायिका के रूप में प्रस्तुत करता है, झरनों को उनका गुण-गान करने वाले व्यक्तियों का रूप प्रदान करता है[7] और कभी प्रकृति के वात्सल्य की व्यंजना के लिये उसके विभिन्न उपकरणों को स्नेहमयी जननी के रूप में अंकित करता है:—

यह तेरी अति नूतन नीति, माँ ! यह तेरी न्यारी रीति
तेरी सुखमय सत्ता जग को, कहाँ नहीं जतलाती है ?
जहाँ छिपाती है अपने को माँ ! तू वहीं दिखाती है[8] !

तथा—

मधु ऋतु लेकर तुम्हें गोद में तृण-तृण में है छवि भरती[9] ।

---

१. पंत, छाया, पल्लव, पृ० ५५।
२. पीले-पत्रों की शय्या पर तुम विरक्त-सी मूर्च्छा-सी,
विजन विपिन में कौन पड़ी हो विरह-मलिन दुःख-विधुरा-सी !
—पंत, वीचि-विलास, पल्लव, पृ० ५५।
३. पंत, छाया, पल्लव, पृ० ५६।
४. कहीं शिलाओं का आलिंगन कर-कर झरने झरते हैं।
—गोपालशरणसिंह, कानन, कादम्बिनी, पृ० १२।
५. पुष्प पराग चढ़ाते तुमको। —पंत, छाया, पल्लव पृ० १३।
६. गोपालशरणसिंह, जीवनधन, कादम्बिनी, पृ० ६५।
७. 'हरिऔध', भेद की बातें, चोखे-चौपदे, पृ० १६२।
८. पंत, वीणा, वीणा-ग्रन्थि, पृ० २६।
९. गोपालशरणसिंह, कानन, कादम्बिनी, पृ १३।

मानव-भावों की आलम्बन-रूपा प्रकृति

प्रकृति को आलम्बन-रूप में गृहीत किया जा सकता है या केवल उद्दीपन-रूप में, प्रकृति-वर्णन में रस-निष्पत्ति होती है या वह केवल भाव की ही कोटि में आता है, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। प्राचीन आचार्य प्रकृति को केवल उद्दीपन-रूप में ही ग्रहण करते हैं; किन्तु आधुनिक विद्वान उसे केवल आलम्बन-रूप ही प्रदान नहीं करते, प्रत्युत उसमें रस की प्रतिष्ठा भी करते हैं। रससिद्धान्तानुयायी प्राचीन आचार्यों के अनुसार प्रत्येक रस का एक स्थायी भाव होता है, जो मानव-मन में संस्कार-रूप में सुषुप्तावस्था में सदैव वर्तमान रहता है। वही स्थायीभाव आलम्बन के दर्शनादि से उद्‌बुद्ध, उद्दीपन से उद्दीप्त, अनुभावों से व्यक्त और संचारी भावों से परिपुष्ट होकर रसावस्था को प्राप्त होता है[1]। स्थायीभाव की परिपुष्टि तब तक नहीं हो सकती, वह पूर्ण रसावस्था को तब तक प्राप्त नहीं हो सकता जब तक कि आश्रय और आलम्बन उभय पक्षों के बीच समुचित भाव-विनिमय न हो। प्रकृति जड़ है। उसकी जड़ता के कारण आश्रय में उद्‌बुद्ध स्थायीभाव अपने प्रेम के प्रत्युत्तर के अभाव में रस-दशा को प्राप्त नहीं हो सकता।

किन्तु आधुनिक हिन्दी आचार्यों ने इस विषय में गम्भीर विचार करके प्रकृति में आलम्बनत्व धर्म एवं रस की प्रतिष्ठा की है। रस प्रसंग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि प्रेम दो प्रकार का होता है—सौन्दर्य-संभूत और साहचर्य-संभूत। सौन्दर्य-संभूत प्रेम का हेतु संलक्ष्य होता है और साहचर्य-संभूत प्रेम से श्रेष्ठ होता है। मानव के प्रति हमारा प्रेम सौन्दर्य-संभूत होता है और प्रकृति के प्रति साहचर्य-संभूत। अपनी आदि सहचरी प्रकृति के विभिन्न रूपों के प्रति साहचर्य-संभूत प्रेम मानव-अन्तःकरण में संस्कार या वासना-रूप में सदैव विद्यमान रहता है और यही प्रेम प्रकृति-रूपों के दर्शन अथवा काव्यादि में उनके प्रदर्शन से उसकी अन्तः प्रकृति को अनुरंजित कर देता है। इस अनुरंजन को केवल दूसरे भाव का आश्रित या उत्तेजक कहना अपनी जड़ता का ढिंढोरा पीटना है।

"मैं आलम्बन मात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव (भावानुभव सही) उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ[2]।"

श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र प्रकृति-वर्णन में रस की प्रतिष्ठा का समर्थन करते हुए कहते हैं—

---

१. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। —भरत, नाट्य शास्त्र, अध्याय ६, कारिका ३२ और ३३ के बीच का गद्य-भाग, पृ० ९३।

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, काव्य में प्राकृतिक दृश्य, चिन्तामणि, दू० भा०, पृ० ३७।

'शास्त्रों' में रस-प्रक्रिया का विवेचन करते हुए प्राकृतिक विभूतियाँ शृंगार के उद्दीपन के रूप में रख दी गई हैं। जिस प्रकार व्यक्ति या वस्तु के मेल में आने से नाना प्रकार के भावों का उद्रेक होता है, उसी प्रकार स्वच्छंद प्रकृति के सम्पर्क में आने से जो भाव जगता है उसका कोई प्रथक् नामकरण नहीं किया गया है। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि प्रकृति के वर्णन से किसी प्रकार का रस व्यंजित होने की संभावना ही नहीं। यदि भानुभट्ट 'माया - रस' की कल्पना कर सकते हैं तो 'प्रकृति-रस' की कल्पना प्रकृति - प्रेमियों के लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं। संसार में लोकेषणा, धनेषणा, पुत्रेषणा नामक वांछाओं की पूर्ति में प्रवृत्त रहनेवाले 'माया-रस' के आश्रय होते हैं। प्रकृतिगत भाव की सीमा इससे भी विस्तृत है। संसारी और वीतराग सभी प्रकृति की विभूति पर मुग्ध होते देखे जाते हैं। प्रत्यक्षानुभूति और काव्यानुभूति दोनों में प्रकृति के आलम्बनत्व से उत्पन्न मनःस्थिति रसमय ही होती है। यह इसकी एक बहुत बड़ी विशेषता है[१]।'

बाबू गुलाबराय तथा श्री रामेश्वरदयाल खण्डेलवाल इसी प्रकार प्रकृति को आलम्बनत्व प्रदान करने तथा प्रकृति-वर्णन में रस की प्रतिष्ठा करने पर बल देते हैं—

'शास्त्रीय पद्धति केवल दाम्पत्य रति को ही गौरवपूर्ण स्थान देती है किन्तु जिस प्रकार वात्सल्य ने अपना स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित कर लिया है, उसी प्रकार प्रकृति भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व-स्थापन कर अपना एक विशेष रस बना लेगी या रति की शास्त्रीय परिभाषा को कुछ शिथिल करना पड़ेगा[२]।

'प्रकृति केवल बाहरी जड़सत्ता ही नहीं है, वह सचेतन है और हमारी आत्मा के साथ उसका घनिष्ठतम सम्बन्ध है। वह एक प्रत्यक्ष, प्राणवान व जीवित सत्ता है। ऐसी प्रकृति के चित्रण या वर्णन में स्वतंत्र रस की सत्ता न मानना कदापि न्यायोचित नहीं। मानवात्मा से प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध हमारी इस अनादि सहचरी के प्रति यह उपेक्षा - भाव त्याग कर अवश्य एक स्वतंत्र 'प्रकृति रस' को मान्यता मिलनी चाहिए[३]।'

डा० रघुवंश अपने शोध-ग्रन्थ "प्रकृति और काव्य" में संस्कृत आचार्यों की आलोचना करते हुए लिखते हैं—

"यदि तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाय तो ये (सौन्दर्य और शान्त भाव) रति या शम या निर्वेद के अन्तर्गत भी नहीं आ सकते। परन्तु इस ओर संस्कृत आचार्यों ने ध्यान नहीं दिया है परिणाम-स्वरूप इन दोनों भावों के आलम्बन-रूप

---

१. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, काव्य-और प्रकृति, वाङ्मय-विमर्श, पृ० १६६-२०० ।

२. गुलाबराय, काव्य में प्रकृति-चित्रण, आगरा विश्वविद्यालय, गद्य-संग्रह, पृ० १५५ ।

३. रामेश्वरलाल खण्डेलवाल, कविता में प्रकृति-चित्रण, पृ० ५०-५१ ।

में आनेवाली प्रकृति साहित्य में केवल उद्दीपन-रूप में स्वीकृत रही। मानव के मन में सौन्दर्य की भावना सामञ्जस्य का फल है और यह भाव रति स्थायी भाव का सहायक अवश्य है। परन्तु रति से अलग उसकी सत्ता न स्वीकार करना अतिव्याप्त दोष है। इसी प्रकार शान्त केवल निर्वेद जन्य संसार से उपेक्षा का भाव नहीं, वरन् भावों की एक निरपेक्ष स्थिति भी है। सौन्दर्य भाव और शान्त भाव..........स्वयं में पूर्ण आनन्द हैं[१]।"

इसी प्रकार डा० विजयेन्द्र स्नातक का कथन है—

वस्तुतः प्रकृति-निष्ठ सौन्दर्य का भाव इस चरम कोटि तक मानव-मन को उल्लसित और उद्बुद्ध कर देता है कि हम उसे एकदम भूल नहीं सकते। भक्तिरस की स्थापना करने वाले आचार्यों ने शान्त भाव को जिस आधार-भूमि पर प्रतिष्ठित किया है उतनी ही सुदृढ़ भूमि पर सौन्दर्य भाव को स्थापित किया जा सकता है[२]।"

यही नहीं, प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति कोई विशेष अनुराग न रखने वाले रीति-कालीन आचार्य कवि केशव ने भी आलम्बन - स्थान वर्णन में प्रकृति को स्थान दिया है—

कोकिल कलित वसंत फूलि फल दलि अलि उपवन।
जलयुत जलचर अमल कमल कमला कमलाकर।
चातक मोर सुशब्द तड़ित घन अम्बुद अम्बर।
× ×
नव नृत्य भेद वीणादि सब आलम्बन केसव बरनि[३]।

उक्त वर्णन में यद्यपि आचार्य केशव ने आलम्बन-उद्दीपन का एकीकरण करके गोलमाल कर दिया है तथापि अन्य आचार्यों के तर्क पुष्ट आधार-भूमि पर अवस्थित हैं और यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि प्रकृति मानव के आलम्बन-रूप में आती है और उसके दर्शन अथवा काव्यादि में उसके वर्णन में रस की उत्पत्ति होती है, इसमें संदेह नहीं। जहाँ तक प्राचीन आचार्यों के प्रकृति में तुल्यानुराग के अभाव का प्रश्न है, उसके उत्तर में केवल यही कहा जा सकता है कि साहित्यकार के लिये—भावुक कवि के लिए—प्रकृति जड़ नहीं, चेतन है, निष्प्राण नहीं, सप्राण है। सहृदय कवि को वह उसके प्रेम का प्रत्युत्तर देती है, उसके प्रति विश्वासघात कभी नहीं करती[४]। इसके अतिरिक्त यदि यह मान लिया जाय कि प्रकृति से मानव को उसके

१. डा० रघुवंश, प्रकृति और काव्य (हिंदी), पृ० १३-१४।
२. डा. विजयेन्द्र स्नातक, कविता में प्रकृति-चित्रण, रामेश्वरलाल, भूमिका, पृ. १३-१४।
३. केशव, रसिकप्रिया, सरदार कवि कृत टीका, पृ० ६६।
४. ....Nature never did betray
The heart that loved her.
—Wordsworth, poets of the Romantic Revival, p. 65.

प्रेम का प्रत्युत्तर नहीं मिलता, उसके साथ उसका समुचित भाव-विनिमय नहीं होता, तो भी उसमें रस की प्रतिष्ठा न मानने का कोई कारण नहीं। एकांगी प्रेम भी प्रेम ही होता है और कुछ नहीं। यही नहीं, वह तुल्यानुराग से कहीं अधिक श्रेष्ठ होता है और यही कारण है कि कवि विशेषकर उर्दू-शायर अपने काव्य में प्रेम के एकांगीपन तथा प्रेम-पात्र की उपेक्षा, निष्ठुरता एवं प्रेमाभाव का सदैव वर्णन करते हैं[१]। जहाँ तक प्रकृति में रस के अवयवों का प्रश्न है, उन्हें इस प्रकार निर्दिष्ट किया जा सकता है—

स्थायी भाव—प्रेम, भय, क्रोध, घृणा, विस्मय, निर्वेद, भक्ति, वात्सल्य, जुगुप्सा आदि।

आश्रय—पाठक, श्रोता, अभिव्यंजनकर्ता पात्र, कवि अथवा द्रष्टा।

आलम्बन—रम्य, चित्ताकर्षक, भव्य, रौद्र, उग्र-कराल, भयावह, विनाशकारी, वीभत्स एवं आश्चर्योत्पादक प्राकृतिक दृश्य।

उद्दीपन—वैविध्यपूर्ण सूक्ष्म, विराट तथा बहुरंगी प्रकृति-रूपाकार, वण, नाद, निष्ठुरता, भयंकरता, उग्र चेष्टाएँ तथा विनाशकारी एवं विगर्हित कृत्य।

अनुभाव—आत्मोल्लास-सूचक मुद्राएँ, रोमांच, कम्प, अश्रु, स्तम्भ, वैवर्ण्य, स्वरभंग, पलायन तथा मूर्च्छा आदि।

संचारी भाव—स्मृति, हर्ष, जड़ता, मूर्च्छा आदि।

यद्यपि इस प्रकार प्रकृति हमारे समक्ष विभिन्न स्थायी भावों के आलम्बनरूप में आयेगी और प्रकृति से सम्बन्धित विभिन्न रसों की कल्पना अलग से करनी पड़ेगी, तथापि सत्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। भयानक तथा रौद्र आदि रसों में प्रकृति मानव के भय एवं क्रोधादि भावों के आलंबन-रूप में आती है, इसे सभी जानते तथा मानते हैं।

प्रकृति में रस की प्रतिष्ठा को मान्यता दी अथवा न दी जाय, वह हमारे विभिन्न भावों के आलम्बन-रूप में आती है और काव्य में उसका चित्रण आलम्बन-रूप में होता है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। अतः हिंदी-काव्य में प्रकृति मानव के किन-किन भावों के आलंबन-रूप में, किन-किन रूपों और किन-किन विशिष्ट परिस्थितियों में प्रस्तुत हुई, इस पर यत्किंचित् विचार कर लेना आवश्यक है।

(क) मानव-प्रेम की आलम्बन-रूपा प्रकृति—

प्रकृति मानव-प्रेम के आलम्बन-रूप में आती है, इसका निर्देश 'मानव तथा प्रकृति के विभिन्न सम्बन्ध' शीर्षक अध्याय में किया गया है। अतः यहाँ इस विषय

---

१. कासिद के आते आते खत एक और लिख रखूँ।
मैं जानता हूँ जो वो लिखेंगे जवाब में॥ —गालिब, गंजूर, गालिब, पृ. ७६।

में बहुत संक्षेप में प्रसंगवश कुछ कह देना ही यथेष्ट होगा। जैसा कि आचार्य शुक्ल ने कहा है, प्रकृति के प्रति मानव का प्रेम साहचर्य-सम्भूत होता है। मानव प्रकृति के मध्य आदि काल से रहता आया है। अतः उसके प्रति उसके हृदय में प्रेम-भाव का वासना या संस्कार रूप में वर्तमान रहना स्वाभाविक ही है। मानव का यही प्रेम प्रकृति के रम्य रूप का दर्शन कर जागृत हो उसके विभिन्न रूप, आकार, वर्ण, नाद आदि से उद्दीप्त हो उठता है। इसीलिए कवि-समुदाय प्रायः प्रकृति के प्रति अपने इस प्रेम का उल्लेख करता रहता है। पंत प्रकृति के रूप-वैभव के साक्षात्कार से आत्मविभोर हो अपनी प्रेयसी कामिनी की भी उपेक्षा करने को उद्यत हो जाते हैं[1]। 'दिनकर' विकसित कलिकाओं से उनके प्रेमी भ्रमरों से भी अधिक प्रेम करते हैं; दूर्वादल को प्रेयसी के अधरों से भी अधिक मधुर समझते हैं; किशलय तथा निशा के माधुर्य एवं मादकता से मुग्ध-मस्त हो जाते हैं[2]। निराला के लिए लहर, मेघ, त्रिविध समीर, उषा, सन्ध्या, प्रपात, कण, यमुना, जूही की कली, शेफालिका तथा शरत्-पूर्णिमा आदि प्रकृति के विभिन्न रूप प्रेम एवं आकर्षण के आलंबन हैं[3]। श्रीधर पाठक

---

१. तज कर तरल - तरंगों को,
इन्द्र धनुष के रंगों को,
तेरे, भ्रू-भ्रंगों से कैसे बिँधवा दूँ निज मृग-सा मन ?
भूल अभी से इस जग को !—पंत, मोह, पल्लव, पृ० ३७।

२. कलिके, मैं चाहता तुम्हें
उतना जितना यह भ्रमर नहीं
अरी तटी की दूब, मधुर तू
उतनी जितना अधर नहीं
किसलय, तू भी मधुर,
चन्द्रवदनी निशि, तू मादक रानी
दुख है इस आनन्द-कुंज में
मैं ही केवल अमर नहीं। —दिनकर, द्वंद्वगीत, पृ० ११।

३. शरत् ! चाँद यह तेरा मृदु मुखड़ा ?
अथवा विजय-मुकुट पर तेरे, ऐ ऋतुओं की रानी,
हीरा है यह जड़ा !
कुछ भी हो, तू ठहर, देख लूँ भर नजर,
क्या जाने फिर क्या हो इस जीवन का,
तू ठहर-ठहर !
तेरे मुख-विकसित-सरोज का प्रेमी एक अनन्त,
किन्तु देर अब क्या है सखि !
कल आता है हेमन्त, साथ ही अन्त।
—निराला, परिमल, शरत्पूर्णिमा की बिदाई, पृ १३८,३९।

का मन-मयूर पर्वत, सरोवर, कमल, भ्रमर, वृक्षावलि, पक्षियों के कलरव, हँसों की स्वच्छन्द क्रीड़ा, मलय-समीर तथा द्रुम-वल्लरियों के नूतन पल्लवों की कमनीयता को देखकर प्रेमोन्मत हो नृत्य कर उठता है[1]। रामचन्द्र शुक्ल को प्रकृति के उग्र-कराल, रौद्र, भयावह एवं वीभत्स आदि सभी रूपों से प्रेम है। उन्होंने प्रकृति विषयक अपने विवेचन तथा 'बुद्ध-चरित' काव्य में प्रकृति के विभिन्न रूपों को मानव-प्रेम के आलम्बन-रूप में ग्रहण किया है। रामनरेश त्रिपाठी प्रकृति-सौंदर्य के साक्षात्कार से इतने आत्मोल्लसित हो उठते हैं कि उनका मन निम्नस्थ नीलाम्बुधि तथा ऊर्ध्वस्थनील गगन के मध्य मेघारूढ़ हो बिहार करने के लिये उत्कंठित हो उठता है[2]।

इसी प्रकार 'हरिऔध', देवीप्रसाद 'पूर्ण', गुरुभक्त सिंह 'भक्त' आदि हिंदी-कवियों ने भी अनेक स्थलों पर प्रकृति को अपने प्रेम के आलंबन-रूप में ग्रहण किया है। आंग्ल-साहित्य में भी वड्सवर्थ, शेली, कीट्स तथा कौलरिज आदि कवि अपने प्रकृति-प्रेम के कारण ही शीर्ष-स्थानीय हैं।

(ख) मानव-क्रोध की आलम्बन-रूपा प्रकृति—

जीवन की विषम परिस्थितियों में जिस प्रकार कभी-कभी अपने इष्ट मित्र, सम्बन्धी तथा प्रिय जन तक विपरीत आचरण करने लगते हैं, उसी प्रकार मानव की प्रेयसी प्रकृति के विभिन्न रूप भी यदा-कदा प्रतिकूल आचरण करते देखे जाते हैं। मानव इससे क्षुब्ध हो उठता है और प्रकृति पर क्रोध से भैरवहुँकार करता हुआ उसके नाश के लिए तत्पर हो जाता है। प्रकृति ऐसे स्थलों पर मानव-क्रोध के आलम्बन-रूप में प्रस्तुत होकर उसे क्षुब्ध एवं क्रुद्ध करके रौद्र रूप धारण करने के लिये विवश कर देती है। समुद्र पर राम के क्रोध और कालीनाग पर कृष्ण के क्रोध के स्थलों पर प्रकृति इसी प्रकार मानव-क्रोध के आलम्बन-रूप में प्रस्तुत हुई है—

विनय न मानत जलधि जड़, गये तीनि दिन बीत।
बोले राम सकोप तव, भय बिनु होइ न प्रीति।
लछिमन बान सरासन आनू। सोषौं बारिधि बिसिख कृसानू[3]।

---

१. द्रुम बल्लिन में नव पल्लव की कमनीयता देखि हिया हुलसै।
—श्रीधर पाठक, काव्य-कौस्तुभ, वर्षा-विभव, छंद ६, पृ० ८६।

२. प्रतिक्षण नूतन वेश बनाकर रंग-बिरंग निराला,
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिद माला।
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है,
धन पर बैठ बीच में बिचरूँ यही चाहता मन है।
—रामनरेश त्रिपाठी, पथिक, पृ० ५।

३. तुलसी, रामचरितमानस, सुन्दरकांड, पृ० ७३५।

तथा

स्व-लोचनों से इस क्रूर-काण्ड को। विलोक उत्तेजित श्याम हो गये।
तुरन्त आ, पादप-निम्न, दर्प, से। स-वेग दौड़े खल सर्प ओर वे[1]।

(ग) मानव-भय की आलम्बन-रूपा प्रकृति—

मानव-भय का आलम्बन कभी मानव होता है और कभी प्रकृति-जगत् के विभिन्न भयावह रूप। प्रकृति के भयोत्पादक एवं विनाशकारी रूपों को देखकर मानव भय से आतंकित हो उठता है। ऐसी दशा में आश्रय मानव के समक्ष प्रकृति उसके भय स्थायी भाव के आलम्बन-रूप में आती है। प्रकृति की उग्र चेष्टाएँ, भीषण आकृतियाँ तथा विनाशकारी कृत्य उसके जागृत भय को उद्दीप्त करते हैं। कम्प, रोमांच, वैवर्ण्य, स्वरभंग, पलायन आदि अनुभव और मूर्च्छा, जड़ता आदि संचारी भाव उसे क्रमशः व्यक्त एवं परिपुष्ट करते हैं। इस प्रकार आलम्बन-प्रकृति के कारण उद्बुद्ध भय स्थायी भाव रस की कोटि तक पहुँच जाता है। निम्नांकित उदाहरण इसका उत्कृष्ट प्रमाण है—

उन्हें वहीं से दिखला पड़ा वही, भयावना-सर्प दुरन्त काल सा।
बड़ी-बुरी निष्ठुरता-समेत जो, विनाशता वन्य-प्रभुत-जन्तु था।
पला रहे थे उसको विलोक के, असंख्य प्राणी बन में इतस्ततः।
गिरे हुए थे महि में अचेत हो, समीप के गोप स-धेनु-मण्डली[2]।

उक्त अवतरण में मानव आश्रय, सर्प आलम्बन, सर्प की निष्ठुरता, भयंकरता और विनाशकारी कृत्य उद्दीपन, पलायन, मूर्च्छा आदि अनुभाव और पलायन से व्यंजित आवेग, शंका, त्रास और मोह आदि संचारी हैं। इन समस्त रसावयवों से पुष्ट भय स्थायी भाव रसावस्था को प्राप्त हुआ है।

(घ) मानव-भक्ति की आलम्बन-रूपा प्रकृति—

मनुष्य की भक्ति का आलम्बन जिस प्रकार परमात्मा होता है, उसी प्रकार प्रकृति के विभिन्न रूप भी। मानव प्रकृति के प्रति अपने भक्ति-भाव को चिरकाल से प्रकट करता आया है। ऋग्वेदीय मानव सूर्य[3]

---

१. हरिऔध, प्रिय-प्रवास, त्रयोदश सर्ग, छंद ५२।

२. हरिऔध, प्रिय-प्रवास, त्रयोदश सर्ग, छन्द ५०-५१।

३. ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासो ऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे।
तेभिर्नो अद्य पथिभिः सुगेभी रक्षा च नो अधि च ब्रूहि देव।
(सविता देव ! तुम्हारा मार्ग पूर्व-निश्चित, धूलि-रहित और अन्तरिक्ष में सुनिर्मित है। वैसे ही मार्गों से आकर आज हमारी रक्षा करो। देव ! हमारी बातें देवों के पास पहुँचाइए।)—ऋग्वेद, मंडल १, सू० ३५, मं० ११, ऋ० सं० पृ० २३।

अग्नि[१] उषा[२] आदि विभिन्न प्रकृति-शक्तियों की उपासना करता था। आज भी मानव सूर्य, चन्द्र, अग्नि, जल, गंगा, यमुना आदि प्रकृति-शक्तियों को देवी-देवताओं का रूप देता हुआ उनकी उपासना करता है। वह उसकी भक्ति के आलम्बन हैं, उसके इष्ट देव हैं और मानव उनका भक्त है। हिंदी-काव्य में मानव-भक्ति के आलम्बन प्रकृति-रूपों का वर्णन एक नहीं, अनेक स्थलों पर प्रचुरता से हुआ है—

सूर्य : *दीन दयालु दिवाकर देवा। कर मुनि मनुज सुरासुर सेवा।*
हिम-तम-करि-केहरि करमाली। दहन दोष-दुख-दुरित-रुजाली[३]*।*

चंद्र : *जागो हे अविनाशी !*
जागो किरणपुरुष ! कुमुदासन ! विधु-मंडल के वासी।

+ +

विभा-सलिल का मीन करो हे।
निज में मुझको लीन करो हे।
विधु-मंडल में आज डूब जाने का मैं अभिलाषी।
जागो हे अविनाशी[४]

गंगा : *जय जय, जय जय, माधव-बैनी।*
जा परसैं जीतैं जम-सैनी, जमन, कपालिक, जैनी।
एक नाम लेत सब भाजे, पीर सो भव-भय-सैनी[५]*।*

यमुना : *जमुना ज्यौं-ज्यौं लागी बाढ़न।*
त्यों-त्यों सुकृत-सुभट कलि-भूपहिं, निदरि लगे बहि काढ़न[६]*।*

---

१. त्वेषासो अग्नेरमवन्तो अर्चयो भीमासो न प्रतीतये।
रक्षस्विनः सदमिद्यातुमावतो विश्वं समत्रिणां दह।
(अग्नि की शिखा प्रदीप्त, बलवती और भयंकर है। उसका विनाश नहीं किया जा सकता। अग्निदेव ! राक्षसों, यातुधानों और विश्वभक्षक शत्रुओं का दहन करो।)
—ऋग्वेद, मं० १, सू० ३६, मं० २०, ऋग्वेद संहिता, पृ० २१।

२. उषो वाजेन वाजिनि प्रचेताः स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि।
पुराणी देवि युवतिः पुरंधिरनु व्रतं चरसि विश्ववारे।
(हे अन्नवती तथा धनवती उषा, प्रकृष्ट ज्ञानवती होकर तुम स्तोत्र करनेवाले स्तोता के स्तोत्र का ग्रहण करो। हे सबके द्वारा वरणीया, पुरातनी युवती की तरह शोभा-मान और बहुस्तोत्रवती उषा, तुम यज्ञ कर्म को लक्ष्य कर आगमन करो।)
—ऋग्वेद, मं० ३, सू० ६१, मं० १, ऋग्वेद संहिता, पृ० २३१।

३. तुलसी, विनय-पत्रिका, पद २।

४. दिनकर, चन्द्राह्वान्, नील-कुसुम, पृ० २३।

५. सूर, सूरसागर, नवम् स्कंध, पद ११।

६. तुलसी, विनय-पत्रिका, पद २१।

काशी : सेइय सहित सनेह देह भरि, कामधेनु कलि कासी[१]

चित्रकूट : सब सोच-विमोचन चित्रकूट । कलिहरन, करन कल्यान बूट[२] ।

मातृभूमि : आते ही उपकार याद है माता ! तेरा,
हो जाता मन मुग्ध भक्ति-भावों का प्रेरा;
तू पूजा के योग्य कीर्ति तेरी हम गावें,
मन होता है तुझे उठाकर शीश चढ़ावें[३] ।

उक्त समस्त अवतरणों में आश्रय मानव, आलम्बन प्रकृति के विभिन्न रूप, स्थायी भाव प्रकृति की उक्त शक्तियों के प्रति उसका श्रद्धा संवलित प्रेम (भक्ति-भाव), उद्दीपन उक्त प्रकृति-शक्तियों के अद्भुत कार्य एवं गुण, अनुभाव रोमांच, गद्गद् वचन आदि और संचारी भाव औत्सुक्य, मति, निर्वेद, हर्ष एवं गर्व आदि हैं ।

(ङ) मानव-आश्चर्य की आलम्बन-रूपा प्रकृति—

अन्य भावों के समान ही प्रकृति मानव-आश्चर्य के आलम्बन-रूप में भी यदा-कदा प्रस्तुत होती है । मानव उसके विराट अथवा अद्भुत रूपों को देखकर आश्चर्य-चकित-सा रह जाता है । विस्तृत नील गगन के असंख्य नक्षत्र, जल में कल्लोल करती हुई मछलियाँ, रत्नाकर के विभिन्न देदीप्यमान रत्न, अग्नि की प्रज्ज्वलित लपटें, बहुरंगी पुष्प, विशाल अम्बुधि, वर्षा-काल की उमड़ती हुई सरिताएँ तथा प्रकृति के विभिन्न प्राणी उसे प्रायः आश्चर्य-स्तब्ध कर देते हैं—

गगन के न्यारे न्यारे तारन-कतार देखे, करत कलोल देखे मीनन को जल में ।
रतन-अमोल अवलोके रत्नाकर मैं, जगमग ज्योति देखे जगत अनल में ।
'हरिऔध' काको चित्त चकित बनत नाहिं, लाल-लाल फूल देखे हरे-हरे दल में ।
घहरत कारे-कारे घन की घटा निहारि, छहरत छाई छटा देखे छिति-तल में[४] ।

(च) मानव-निर्वेद की आलम्बन-रूपा प्रकृति—

प्रकृति का अस्थायी रूप, क्षणिक वैभव तथा उसमें व्याप्त दुःख एवं निराशा मानव में विरक्ति के प्रादुर्भाव का कारण बनती है । वसन्त का नाशवान् वैभव, वर्षाकालीन नदी के उमड़े हुए प्रवाह की अस्थिरता तथा पतझड़ में प्रकृति का विनष्ट वैभव विवेकशील मानव में निर्वेद की उत्पत्ति करते हैं । नगर, उपवन और

---

१. गोस्वामी तुलसीदास, विनय-पत्रिका, पद २२ ।
२. गोस्वामी तुलसीदास, विनय-पत्रिका, पद २३ ।
३. मैथिलीशरण गुप्त, मातृभूमि, मंगल-घट, पृ० १५ ।
४. हरिऔध, रस-कलस, पृ० २२ ।

वन कोई स्थायी नहीं। भी का जीवन नाशवान् है, क्षणभंगुर है[1]। वसंत सदैव वसंत नहीं रहता; मेघ सदैव जल-वृष्टि नहीं करते; सुन्दरी लतिकाएँ सदैव सुन्दर नहीं रहतीं; लहलहाते हुए वृक्ष सदैव नहीं लहलहाते; सुन्दर ध्वनिकर्ता सदैव सुन्दर ध्वनि नहीं करते; पुष्पित वल्लरियाँ सदैव पुष्पित नहीं होतीं; विकसित पुष्प सदैव प्रफुल्लित नहीं रहते। यह सब देखकर विवेकशील मानव निर्वेद-भाव से युक्त हो संसार से विरक्त-सा हो जाता है[2]।

(छ) मानव-जिज्ञासा की आलम्बन-रूपा प्रकृति—

भावुक कवि प्रकृति-दर्शन से आनंद-विभोर हो उसके विषय में जानने के लिये भी प्रायः समुत्सुक हो उठता है। ऐसे स्थलों पर उसकी कौतूहल वृत्ति अथवा जिज्ञासा के प्रादुर्भाव के कारण प्रकृति के रमणीय, विराट अथवा अद्भुत रूप या कृत्य होते हैं। अतः प्रकृति वहाँ मानव-जिज्ञासा के आलम्बन-रूप में प्रस्तुत होती है। आंग्ल-काव्य में वर्ड्सवर्थ और हिंदी-काव्य में प्रसाद, निराला और पंत के काव्य में ऐसे स्थल विशेष रूप से मिलते हैं—

उस फैली-हरियाली में, कौन अकेली खेल रही माँ।
वह अपनी वय-वाली में? सजा हृदय की थाली में—
क्रीड़ा, कौतूहल, कोमलता, मोद, मधुरिमा, हास, विलास,
लीला विस्मय, अस्फुटता, भय, स्नेह, पुलक, सुख, सरल-हुलास
ऊषा की मृदु लाली में[3]—

उक्त अवतरण में वसन्त-श्री के रूप-वैभव एवं मधुमय क्रीड़ाओं से जागृत कवि की जिज्ञासा-वृत्ति उसे उसके विषय में सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिये उत्सुक बना देती है और वह उससे प्रेरित हो प्रकृति माँ से प्रश्नशील होता है। अतः यहाँ आश्रय कवि और आलम्बन प्रकृति का अद्भुत सौन्दर्य-वैभव, मधुमय क्रीड़ाएँ एवं जिज्ञासोत्पादक भाव हैं।

उक्त भावों के अतिरिक्त प्रकृति यदा-कदा अन्य मानव-भावों के आलम्बन-

---

१. एक सौ वर्ष, नगर उपवन।
एक सौ वर्ष, विजन बन।
यही तो है असार संसार!
सृजन, सिंचन संहार।—पंत, परिवर्तन, पल्लव पृ० १०१।

२ कुसुमाकर सदा न बनत कुसुमाकर है, बारिद सदैव बारिधारा ना बहत हैं।
सब दिन ललित दिखावत नाहिं लोनी-लता, लहलहे तरु ना सदैव, उलहत हैं।
'हरिऔध' कौन काल-कवलित होत नाहिं, सदा कल-नाद कल-नदी ना लहत हैं।
फली-फूली बेली फूली-फली ही लखात नाहिं, फूले-फूले फूलहूँ न फूले ही रहत हैं।
—हरिऔध, रस-कलस, पृ० २४।

३. पंत वसंत-श्री, पल्लव पृ० ४१।

रूप में भी देखी जाती है। काव्य में ऐसे स्थलों का प्रस्तुतीकरण कवि की विशेष भावुकता की अपेक्षा रखता है। प्रकृति के ऐसे रूपों पर कवि की दृष्टि प्रायः तभी जाती है, जब कि उसके हृदय में उसके प्रति सच्चा अनुराग हो। अतः जिस साहित्य में प्रकृति से सच्चा प्रेम करनेवाले जितने ही अधिक कवि होंगे, उतने ही उसमें प्रकृति विषयक काव्य की प्रचुरता तथा इस प्रकार के स्थलों की प्राप्ति की संभावना भी होगी।

प्रकृति के भावों का आलम्बन मानव—

साहित्यकार की दृष्टि से प्रकृति के जड़-रूप भी चेतन हैं। वह उसके जड़-चेतन—उभय पक्षों में मानव-कार्य, भाव, गुण आदि का दर्शन करता है। उसकी दृष्टि में प्रकृति के सभी रूप मानव-सुलभ आचरण करते हैं, मानववत् भावों से युक्त होते हैं। उसके विभिन्न भावों का प्रादुर्भाव कभी तो मानव-जगत् के विभिन्न रूपों के कारण होता है और कभी प्रकृति जगत् के विभिन्न रूपों के कारण। किन्तु मानव तथा प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्धों की दृष्टि से हमें यहाँ केवल प्रकृति के भावों के आलम्बन मानव की ही अपेक्षा है। अतः हम यहाँ केवल प्रकृतिगत भावों के आलम्बन-रूप मानव पर ही यत्किंचित् विचार करेंगे।

(क) प्रकृति के वात्सल्य का आलम्बन मानव—

प्रकृति मानव की धात्री एवं स्नेहमयी जननी है। मानव इस बात को आदिकाल से मानता आया है। ऋग्वेदीय मानव पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश को माता और अग्नि, वायु और सूर्य को पिता मानता था। द्वितीय अष्टक के तृतीय अध्याय के १६४वें सूक्त के दसवें तथा तेंतीसवें मन्त्रों में इस प्रकार के स्पष्ट मिलते हैं[1]। प्रकृति माँ की गोद में पालित मानव-शिशु के लिये उसकी गोद वैसी ही शीतल एवं सुखद प्रतीत होती है, जैसी कि उसे अपनी जन्मदात्री मानवी माँ की। वह अपने श्रान्त-कलान्त एवम् सन्तप्त मानव-शिशु को देखकर

१. तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति।

[एक मात्र आदित्य तीन माताओं (पृथ्वी, अंतरिक्ष और आकाश) तथा तीन पिताओं (अग्नि, वायु एवं सूर्य) को धारण करते हुए ऊपर अवस्थित हैं, उन्हें श्रान्ति का अनुभव नहीं होता।]

—ऋग्वेद, मण्डल १, सू० १६४, मंत्र १०, ऋग्वेद-संहिता, पृ० १२५।

तथा—माता पृथिवी महीयम्।

[यह विस्तृत पृथ्वी मेरी माता है।]

—ऋग्वेद, मण्डल १, सू० १६४, मंत्र ३३, पृ० १२७।

अगाध वात्सल्य से भर कर उसे प्रत्येक सम्भव प्रकार से सुख-शान्ति प्रदान करती है—

मैं जब बेसुध-सा सो जाता, तू थपकी देती अज्ञात।
कभी मन्द स्वर भर कानों में, कह जाती है मन की बात।
सरल-सरल तेरा यह प्यार, तरल-तरल मेरा यह आधार।
माँ तेरे इस स्नेहाँचल में, है स्वर्गिक सौंदर्य बहार[१]।

उक्त अवतरण में आश्रय प्रकृति, आलम्बन मानव-शिशु की सुषुप्तावस्था, श्रान्ति, अचेतनता आदि, अनुभाव प्रकृति का उसे स्नेहपूर्वक देखना, पवन-रूप में चुम्बनादि करके थपकियाँ देना तथा कानों में मंद स्वर से कुछ कह कर उसके प्रति अपना स्नेह प्रदर्शित करना आदि और संचारी-भाव हर्ष, गर्व आदि हैं।

प्रकृति-जननी के इस अगाध वात्सल्य के कारण ही मानव को अपने जीवन की विषम परिस्थितियों में उससे प्रत्येक सम्भव सहायता एवं ममत्वपूर्ण मातृ-स्नेह की आशा होती है। इसी आशा से प्रेरित कवयित्री महादेवी वर्मा उसके शिशु मानव को उदास एवं खिन्न देखकर, उससे उसे दुलराने, बहलाने तथा चुम्बनादि द्वारा अपने ममत्वपूर्ण स्नेह से उसके दुःख-द्वन्द्व को दूर कर सुख-शान्ति प्रदान करने की अभ्यर्थना करती हैं—

इन स्निग्ध लटों से छा दे तन पुलकित अंगों में भर विशाल,
झुक सस्मित शीतल चुम्बन से अंकित कर इसका मृदुल भाल।
दुलरा दे ना बहला दे ना यह तेरा शिशु जग है उदास[२]।

(ख) प्रकृति के प्रेम का आलम्बन-रूप मानव—

मानव जिस प्रकार प्रकृति के विभिन्न रूपों से प्रेम करता है, प्रकृति भी उसी प्रकार अपने अनेक रूपों में मानव-प्रेम से युक्त पायी जाती है। मानव अपने विभिन्न रूपों में प्रकृति के प्रेम के आलम्बन-रूप में प्रस्तुत होता है और प्रकृति उसे देख कर प्रेम-विभोर हो जाती है। जिस प्रकार मानव-जगत् में मानव संयोगावस्था में प्रिय के प्रेम को प्राप्त करके सुखी होता है और वियोग में उसके अभाव के कारण दुःखानुभव करता है, उसी प्रकार प्रकृति भी अपने प्रेमी मानव के संयोग से सुखी और वियोग से दुःखी होती है। संयोग में गोपालशरणसिंह की 'कादम्बिनी' की चन्द्रिका सोती हुई रमणियों का मुख-चुम्बन करके अनन्त आनन्द का अनुभव करती हैं—

सोतीं अबलाओं के समीप वातायन से वह जाती है।
प्रिय शशि-समान उसके सुन्दर मुख चूम-चूम सुख पाती है[३]।

---

१. पद्मसिंह 'कमलेश', प्रकृति के प्रति, कुसुमकली, पृ० ३८।
२. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० ५५।
३. गोपालशरणसिंह, चाँदनी, कादम्बिनी, पृ० ५७।

'प्रसाद' की कामायनी के वासना सर्ग का पशु श्रद्धा के स्नेह-प्रदर्शन से कृत-कृत्य हो आनन्दातिरेक से उन्मत्त हो उठता है; रोमांचित हो शरीर उछाल-उछाल कर उसके चतुर्दिक चक्रव्यूह बना कर उसे उसमें छिपा लेना चाहता है और अपने मनःप्रदेश के अन्तराल में संचित उस सौंदर्य-मूर्ति के प्रति अपने समस्त स्नेह को दृष्टि-पथ से उडेल देने के लिए उसकी ओर अपलक प्रेम-पूर्ण दृष्टि से देखता है—

चपल कोमल कर रहा फिर सतत पशु के अंग।
स्नेह से करता चमर उद्ग्रीव हो वह संग।
कभी पुलकित रोम राजी से शरीर उछाल।
भाँवरों से निज बनाता अतिथि सन्निधि जाल।
कभी निज भोले नयन से अतिथि बदन निहार।
सकल संचित स्नेह देता दृष्टि पथ से ढार[१]।

वियोग में मानव-अभाव से दुःखी प्रकृति के दुःख का आलम्बन भी मानव ही होता है। 'सूर' की कालिन्दी कृष्ण-वियोग में शोकार्त ही नहीं, विरह-ज्वर से श्याम वर्ण हो पागल हो जाती है[२]। गायें उनके वियोग में अत्यधिक कृश एवं क्षीण हो जाती हैं[३]। 'कृष्णायन' के कृष्ण-वियोग में वृन्दावन द्युतिहीन हो जाता है; तृण सूख जाते हैं; वृक्ष एवं जीव म्लान हो जाते हैं; खग-मृग आतंकित हो उठते हैं; यमुना कृष्ण वर्ण हो जाती है; कुंज अग्नि के समान प्रज्ज्वलित होकर जलने लगते हैं[४]। 'मन्साराम' के कृष्ण-वियोग में वृन्दावन विरह-ज्वर से जलने लगता है; कचनार पागल हो जाते हैं; मृग अर्द्ध-मृत से हो जाते हैं; भ्रमर बिललाते फिरते हैं; कोयल कुहू-कुहू के रूप में कहाँ-कहाँ कह कर प्रिय कृष्ण को खोजती फिरती है—

प्यारे के वियोग आली! उठी आगि वृन्दावन, जरतीं सदेह कुंजें, सुन्दरी उहाँ-उहाँ।
बौरे कचनार, आँच उठति पलासन तें, कुसुम करील डाँठि परति जहाँ-जहाँ।
+ + +
मृग अधमारे, बिललात हैं भ्रमर कारे, कोयल हू कोइ ले पुकारती कहाँ-कहाँ[५]।

इसी प्रकार जायसी, तुलसी, नन्ददास, हरिऔध तथा अन्य अनेक कवियों की प्रकृति भी मानव-वियोग में दुःखानुभव करती है। रत्नसेन के वियोग में व्यथित

---

१. प्रसाद, कामायनी, पृ० ८३।
२. सूर, भ्रमरगीत-सार, पद २७८।
३. ऊधो इतनी कहियौ जाइ।
अति कृसगात भईं ये तुम बिनु परम दुखारी गाइ।
—सूर, सूर-सुषमा, पद १४६, पृ० ५५।
४. द्वारिकाप्रसाद मिश्र, कृष्णायन, पृ० २१७।
५. मन्साराम, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य, मीतल, पृ० २७।

जायसी की प्रकृति उसके चित्तौर-पुनरागमन पर ही प्रसन्न होती है । राम-वियोग में तुलसी की प्रकृति तड़पती-तलफती हुई द्युतिहीन, शुष्क एवं अर्द्ध-मृत-सी हो जाती है। राम-लक्ष्मण का अश्व-वर्ग उनके वियोग में हिम-विनष्ट कमल के समान दिन-प्रतिदिन सूखता जाता है। नन्ददास की गायें कृष्ण-वियोग में बिलखती हैं और हरिऔध की जड़-चेतन समग्र प्रकृति पर मुर्दनी-सी छा जाती है।

(ग) प्रकृति की लज्जा का आलम्बन-रूप मानव—

मानव यदा-कदा प्रकृति में लज्जा-भाव के आविर्भाव का कारण भी बनता है—प्रकृति की लज्जा के आलम्बन-रूप में भी प्रस्तुत होता है। काव्य में संवेदनशीला प्रकृति जहाँ कहीं भी मानव-रूप-वैभव से लज्जानुभव करती प्रदर्शित की जाती है, वहाँ उसकी लज्जा का आलम्बन मानव ही होता है—

प्रकृति की सारी सौन्दर्य-राशि लज्जा से
सिर झुका लेती जब देखती है मेरा रूप,
वायु के झकोरे से वन की लताएँ सब
झुक जातीं, नजर बचाती हैं,
अंचल से मानों हैं छिपाती मुख
देख यह अनुपम स्वरूप मेरा[१]।

उक्त अवतरण में प्रकृति आश्रय, मानव आलम्बन और प्रकृति का विनत वदन होना तथा मुख आदि को छिपाना लज्जा-भाव के आविर्भाव के लक्षण अथवा अनुभाव हैं। ऐसे स्थल जायसी, सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, देव, पद्माकर, मतिराम, प्रसाद तथा पंत आदि अन्य कवियों में भी यथास्थान उपलब्ध होते हैं।

(घ) *अन्य भाव*—उक्त भावों के अतिरिक्त मानव प्रकृति के गर्व, आश्चर्य, दुःख, भय, क्रोध, व्यंग्य एवं उपहास आदि भावों के आलम्बन-रूप में भी यदा-कदा प्रस्तुत होता है। अपने आक्रान्ता कृष्ण को बालक समझ कर कालीनाग "गर्व" से भर जाता है—

उरग लियौ हरि कौं लपटाइ।
गर्व-बचन कहि-कहि मुख भाषत, मोकौं नहिं जानत अहिराइ[२]।

उसकी फुफकार से उत्पन्न विष-ज्वालाओं से यमुना का जल जलने लगता है, किंतु कृष्ण के शरीर पर उसका रंचमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ता। यह देख कर कालीनाग की स्त्रियाँ आश्चर्य से भर जाती हैं। अतः इस स्थल पर कृष्ण उरग-नारियों के "आश्चर्य-भाव" के आलम्बन-रूप में आते हैं—

---

१. निराला, पंचवटी-प्रसंग, परिमल, पृ० २४७।

२. सूर, सूरसागर, ना० प्र० स०, दशम स्कन्ध पद ५५५, पृ ६६६।

उरग-नारि सब कहति परस्पर, देखौ या बालक की बात।
विष-ज्वाला जल जरत जमुन कौं, याकैं तन लागत नहिं तात[१]।

कृष्ण के शरीर-विस्तार से जब काली नाग का अंग-अंग टूटने लगता है, तो कृष्ण के उस शक्तिमय रूप को देख कर वह भयभीत एवं व्याकुल हो उठता है। अतः कृष्ण वहाँ उसके "दुःख एवं व्याकुलता" के आलम्बन-रूप में आते हैं—

सूरदास प्रभु तन बिस्तार्यौ, काली बिकल भयौ तब जाइ[२]।

कंचन-मृग-हन्ता राम को देख कर मृग-समूह का भयभीत होकर पलायन करना राम को उनके "भय" का आलम्बन-रूप प्रदान करता है—

हमहिं देखि मृग निकर पराहीं[३]।

कृष्ण को अपने घर में आये हुए आक्रान्ता-रूप में लक्षित करके कालीनाग क्रोध से भर जाता है। अतः कृष्ण उस स्थल पर उसके "क्रोध" के आलम्बन रूप में प्रस्तुत होते हैं—

पूँछ राखी चाँपि; रिसनि काली काँपि, देखि सब साँपि-अवसान भूले[४]।

सीता-वियोग से व्यथित-विह्वल कंचन-मृग-हन्ता राम को देख कर पलायन करने वाले अपने पति-मृगों के भय को आशंका का निवारण करती हुई मृगियाँ राम को अपने "व्यंग्य एवं उपहास" के आलम्बन-रूप में प्रस्तुत करती हैं—

हमहिं देखि मृग-निकर पराहीं। मृगी कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं॥
तुम्ह आनन्द करहु मृग जाए। कंचन मृग खोजन ए आए[५]॥

मानव-भावों की उद्दीपिका प्रकृति

प्रकृति जिस प्रकार मानव-भावों के आलम्बन रूप में प्रस्तुत होती है, उसी प्रकार उनके उद्दीपन-रूप में भी। जिस प्रकार वह मानव में प्रेम, हर्ष, शोक, भय, क्रोध, गर्व आदि विभिन्न भावों का आविर्भाव करती है, उसी प्रकार उसमें स्वतन्त्र रूप में उद्भूत प्रेम, सुख, दुःख, भय, क्रोध आदि विभिन्न भावों को उद्दीप्त भी। आदि काल से लेकर प्रकृति के इस रूप का वर्णन होता आया है। इसकी उपेक्षा किसी भी प्रकार नहीं की जा सकती। रस-सामग्री का यह एक प्रमुख अंग है। इसके अभाव में रस रूपी भवन, विशेष रूप से शृंगार-रस-प्रासाद किसी भी प्रकार खड़ा ही नहीं हो सकता।

१. सूर, सूरसागर, ना० प्र० स०, पद ५५४, पृ० ६६५-६६६।
२. सूर, सूरसागर, ना० प्र० स०, पद ५५५, पृ० ६६६।
३. तुलसी, रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, पृ० ६४२।
४. सूरदास, सूरसागर, ना० प्र० स०, दशम स्कन्ध, पद ५५२।
५. तुलसी, रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, पृ० ६४२।

(अ) सुखात्मक मानव-भावों की उद्दीपिका प्रकृति—

प्रकृति मानव के संयोग-सुख में उसके प्रेमोल्लास, आनन्द, काम, मद, उत्साह आदि सुखात्मक भावों को उद्दीप्त करती है। शीतल-मन्द-सुगन्धित समीर अपनी स्वाभाविक सुगन्ध एवं शीतलादि से उसे पुलकायमान कर देता है; चिड़ियों की चहक, भ्रमरों की गुंजार, कोकिल का कल-कूजन, कलिकाओं का विकास प्रेमोल्लास से भर देता है; सारिका की विनोदमयी वाणी, पुष्प की प्रफुल्लता, निर्झरों का प्रवाह, घटाओं का घुमड़ना, फुहारों का पढ़ना, हरीतिमा का प्रसार, मयूरों का नृत्य, विद्युत् प्रकाश उसके आनन्द की अभिवृद्धि करता है; वृक्षावलियों का झूमना, पुष्पों की मादकता, मधुपों की मुग्धता उसके मद को उद्दीप्त करती है और शरदागमन, आकाश की निर्मलता, जल की स्वच्छता, चन्द्रिका का रजत-वैभव तथा वातावरण का आकर्षण उसके हृदयस्थ अनुराग और सौन्दर्यानुभूति को उत्तेजित करता है। प्रकृति की छटा, उसका रूपोत्कर्ष, आनन्दोल्लास, केलि-क्रीड़ाएँ, मादक-माधुर्य, वन-उपवन, सभी उसके सुख-संबर्धन के उपकरण बन जाते हैं।

रस-रास-सहायक छवि-राशि चन्द्र तथा उसकी ज्योत्स्ना के स्निग्ध वातावरण में 'पद्माकर' के राधा-कृष्ण आनन्दोल्लसित हो मादक नृत्य में विभोर हो जाते हैं[1]। संयोग-सुख में आत्म-विभोर 'प्रसाद' के मनु सरिताओं के आलिगन-पाश में आबद्ध पर्वतों, अमृतमयी स्मित-रश्मियों के प्रकाश से समग्र सृष्टि को प्रकाश-दान करके अन्धकार से मुक्त करनेवाले चन्द्रदेव, शैल-श्रेणियों के चुम्बन में तन्मय नील-गगन, पर्वत-शिखरों का आलिगन करनेवाली सूर्य की अंतिम अस्तायमान रश्मि, प्रकृति का स्वप्निल वातावरण तथा मधुमय शासन को देख कर आनन्दातिरेक से प्रेमोन्मत्त हो उठते हैं[2]।

---

१. चन्द छबिराज चाँदनी को परकास राधिका
को मंदहास, रास-मंडल गोपाल को।
—पद्माकर, जगद्विनोद, छन्द ३८७।

२. भुज-लता पड़ी सरिताओं की
शैलों के गले सनाथ हुए।
—प्रसाद, कामायनी, पृ० ७३।

तथा—

इस निशामुख की मनोहर सुधामय मुसक्यान,
देख कर सब भूल जायें दुःख के अनुमान।
देख लो, ऊँचे शिखर का व्योम चुम्बन व्यस्त,
लौटना अन्तिम किरण का और होना अस्त।
चलो तो इस कौमुदी में देख आवें आज,
प्रकृति का यह स्वप्न शासन, साधना का राज।
—प्रसाद, कामायनी, पृ० ८७-८८।

इसी प्रकार 'हरिऔध', गुरुभक्तसिंह 'भक्त', अनूप शर्मा तथा आंग्ल कवि शैली की प्रकृति भी अपने विभिन्न प्रणय-व्यापारों से मानव के ऐन्द्रिय सुख एवं मादक-विलास की लालसा को उद्दीप्त करती हैं। पर्वतों के अंक में शोभायमान आनन्द-विभोर उपत्यकाएँ, समुद्रों से दौड़-दौड़ कर मिलती हुई सरिताएँ, उपवन-पुरुष के क्रोग में सुशोभित क्यारियाँ, वृक्षों के आलिंगनपाश में आबद्ध लताएँ,[1] पुष्प-सुरा के अनुपान से उन्मत्त उड़ती हुई तितलियाँ, मदोन्मत्त रसाल तथा रम्भा की पारस्परिक प्रेम-क्रीड़ाएँ, अनार-कलिकाओं की अरुणिमा, चातक की पी-कहाँ, पी-कहाँ की मधुमयी वाणी[2], सरिता का समुद्र से मिलने के लिये अभिसार और बक-पंक्ति का मेघ-समूह में अपना अस्तित्व विलीन कर देना[3] आदि को देखकर मानव-मन हर्षातिरेक से उन्मत्त एवं कामोद्दीप्त हो उठता है।

प्रेमोल्लास में आत्मविभोर मानव को निश्चल हँसमुख चन्द्रमा उसका आह्वान करता प्रतीत होता है। पवन के झोंके पुष्पासव का अनुमान करके मदोन्मत्त एवं मदान्ध होकर इतस्तत: झूमते-फिरते दृष्टिगोचर होते हैं। समस्त सृष्टि प्रेम-सुधा से स्नात होकर जागरणोत्सव मनाती दिखाई पड़ती है। अनुराग-रंग से अरुणाभ समग्र सृष्टि मुसकराती है, हँसती हैं। रति-कान्ता रजनी हिम-विन्दुओं की शय्या पर विश्राम करके अपनी श्रान्ति निर्धारित करती हुई प्रतीत होती है[4]।

१. गोद में गिरि गण के बैठी घाटियाँ शोभा पाती हैं।
दौड़ती जाकर के नदियाँ समुद्रों से मिल जाती हैं।
अंक में उपवन के विरची क्यारियाँ कान्त दिखाती हैं।
पादपों के सुन्दर तन में बेलियाँ लिपटी जाती हैं।
—हरिऔध, कल्पलता, पृ० १९।

२. 'मौलसरी' की कहीं कतारें, पारिजात की अवली।
परियों सी उड़ती फिरती हैं, तितली पुष्पासव पी।
बौराये 'रसाल' 'रम्भा' संग 'नारिकेल' में रत हैं।
विविध 'ताल' ऊँचे सुशाल रोके सिर पर नभ छत हैं।
नई 'अनारी-कलियों' ने कैसी है आग लगाई।
जो 'पय कहाँ' ! 'कहाँ पय' ! की चातक ने टेर लगाई।
—गुरुभक्तसिंह 'भक्त' नूरजहाँ, पृ० ४६।

३. लखो नदी सागर ओर जा रही, बकावली तोयद में समा रही।
—अनूप शर्मा, सिद्धार्थ, अभिज्ञान, सर्ग ८, पृ० १०७।

४. शिथिल अलसाई पड़ी छाया निशा की कान्त,
सो रही थी शिशिर कण की सेज पर विश्रान्त।
—प्रसाद, कामायनी, पृ० ८८।

वर्षा-ऋतु में बिजली की चमक, मयूर एवं दादुर का शब्द, चातक की पी-कहाँ, आकाश-मण्डल में उमड़ती-घुमड़ती घटाएँ और रिम-झिम वर्षा मानव-संयोगानन्द को द्विगुणित कर देती है। प्रकृति के उद्दीपक एवं मादक वातावरण में आनन्द हृदय में समाता नहीं, छातियों से 'छपट-छपट' कर, उछल-उछल कर निकल पड़ना चाहता है[१]। वही मेघ जो वियोग में विरहिणी के लिये यमराज-सहोदर हो जाते हैं, प्रिय-आगमन के साथ ही उसके आनन्दोल्लास को शतशः उद्दीप्त करने वाले होकर परम सुहावने बन जाते हैं[२]। प्रकृति की मादक मुग्धता तथा हर्षोल्लास को उद्दीप्त करनेवाला वातावरण कठोर से कठोर रमणी-हृदय को भी प्रिय-संयोग-सुख की कामना से ऐसा उत्प्रेरित कर देता है कि उसका अपने मान को एक क्षण भी स्थिर रख रोकना सम्भव नहीं हो पाता[३]।

हेमन्त ऋतु में 'पाला की बहार' प्याला, दुशाला और बाला के उपभोग के आनन्द को इतना उद्दीप्त कर देती है कि मानव-मन-मयूर आनन्दातिरेक से नृत्य कर उठता है[४]। इसी प्रकार शिशिर तथा शरद् के विभिन्न रूप मानव-हर्षोल्लास की अभिवृद्धि करते हुए उसके संयोगानन्द को अनेक प्रकार से उद्दीप्त करते हैं।

(आ) दुःखात्मक मानव-भावों की उद्दीपिका प्रकृति—

प्रकृति जिस प्रकार अपने विभिन्न रूपों द्वारा संयोग-काल में मानव के प्रेम, हर्ष, काम, मद आदि अनेक भावों को उद्दीप्त करती है, उसी प्रकार वियोग में भी उसके शोक, आकुलता, भय, कायरता, ईर्ष्या, स्मृति, ग्लानि, निराशा, काम तथा मिलन-लालसा आदि भावों को। सेनापति की नायिका वर्षा का आगमन जानकर प्रिय की प्रेम-पत्री के अभाव में चिंताकुला हो उठती है; मेघ-गर्जन से भयातंकित

---

१. रस रंग भरे, दोऊ उज्ज्वल अटा पै खड़े, हरैं-हरैं हेरत सुहेत हिए पटि उठै।
दमकि-दमकि जात दामिनी चहूँधा चाह, चमकि-चमकि चूनरी में अंग ठटि उठै।
कहै 'ऋषिनाथ' मोर-दादुर करत सोर, जोह-जोह जमकि पपीहा पीउ रटि उठै।
घुमड़ि-घुमड़ि घन घिरि-घिरि आवै मोद, उमड़ि-उमड़ि दोऊ छतियाँ छपटि उठै।
—ऋषिनाथ, ब्र० भा० सा० का ऋतु-सौन्दर्य मीतल, पृ० ११४।

२. घर आवत ही मन भावन के, घन सावन के मन भावन भे।
—गुलाब कवि, ब्र० भा० सा० का ऋतु-सौंदर्य, मीतल, पृ० ११६।

३. छोड़ै को न मान, रति सों भगोड़ै को न आली,
उनई घटा की छिति छबि अति छाई है।
—किशोर कवि, ब्र० भा० सा० का ऋतु-सौन्दर्य मीतल, पृ० १०६।

४. बाला की बहार जौ दुसाला की बहार आई,
पाला की बहार में, बहार बड़ी प्याला की,
—ग्वाल कवि, ब्र० भा० सा० का ऋतु-सौन्दर्य मीतल, पृ० २१५।

उसका निराशा-विह्वल हृदय विदीर्ण होने लगता है; संयोगकाल की सुखद स्मृतियाँ उसके हृदय में बाण के समान चुभने लगती हैं और मन-भावन प्रिय के आगमन की अवधि के व्यतीत हो जाने के कारण श्रावण-मास की रातें उसके लिए बावन के डग हो जाती हैं।

आई सुधि वर की, हिये में आनि खरकी, 'तू-मेरी प्रान-प्यारी' ये प्रीतम की बतियाँ।
बीती औधि आवन की, लाल मनभावन की, डग भई बावन की, सावन की रतियाँ[१]।

उक्त अवतरण में प्रोषितपतिका नायिका के कथन में अभिलाषा चिन्ता, स्मृति, क्षोभ, त्रास, व्याकुलता आदि अनेक भावों के उद्दीपक प्रकृति-रूप का सुरम्य चित्रांकन कितना मार्मिक है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

'श्रीपति' की विरहिणी नायिका प्रिय-संदेश के अभाव में जब अटारी पर बैठ कर प्रिय की प्रतीक्षा करती है, तो विद्युत की चमक से उसका हृदय विदीर्ण होने लगता है; कोकिल की कूक उसके हृदय में लू सदृश लगकर हूक उत्पन्न करती है और जल-वाहक मेघ शरीर-दाहक हो प्राण-हन्ता बन जाते हैं[२]। जायसी की नागमती को पपीहे का 'पी-कहाँ, पी-कहाँ' शब्द कामोद्दीप्त करके उन्मत्त बना देता है[३]। विरह-बाण उसके हृदय में ऐसा चुभता है कि उसका समस्त शरीर रक्त से भीग जाता है। उसकी समस्त नाड़ियाँ जवाब देने लगती हैं। यदि कभी किसी क्षण श्वास के आ जाने से कुछ आशा बँधती है, तो दूसरे ही क्षण पुनः उसके चले जाने से अत्यधिक निराशा होती है। सखियाँ उस पर व्यजन करती हैं, शीतल लेपादि लगाकर उसके विरह-ताप को शांत करने का प्रयत्न करती है, किंतु प्रियतम की मधुर वाणी के अभाव में, प्रकृति के उद्दीपक वातावरण के कारण, उसकी अवस्था में कोई सुधार नहीं होता[४]।

---

१. सेनापति, कवित्त-रत्नाकर, तीसरी तरंग, छन्द २८।

२. कोकिल कूकै लगै मन लूकै, उठै हिय हूकै बियोगिन ती कै।
बारि कै बाहक, देह के दाहक, आए बलाहक, गाहक जी के।
—श्रीपति, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौंदर्य, मीतल, पृ० १२५।

३. पिउ-बियोग अस बाउर जीऊ। पपिहा निति बोलै 'पिउ पीऊ'।
अधिक काम दाधै सो रामा। हरि लेइ सुआ गयेउ पिउ नामा॥
—जायसी, पद्मावत, जायसी-ग्रंथावली, पृ० १५१।

४. बिरह बान तस लगा न डोली। रकत पसीज भीजि गइ चोली।
सूखा हिया, हार भा भारी। हरे हरे प्रान तजहिं सब नारी।
खन एक आव पेट महँ! साँसा। खनहिं जाइ जिउ, होइ निरासा॥
पवन डोलावहिं सींचहिं चोला। पहर एक समुझहिं मुख-बोला।
प्रान पयान होत को राखा। को सुनाव पीतम कै भाखा॥
—जायसी, पद्मावत, जायसी-ग्रंथावली, पृ० १५१।

'नागर कवि' की विरहिणी को शरत् चन्द्रिका इतना अधिक कामोद्दीप्त कर देती है कि उसका सारा विवेक ही हवा हो जाता है। शरत् चन्द्रिका को देखकर उसे लगता है कि यह चाँदनी नहीं, प्रत्युत मानिनी को विजित करने के लिये महारथी कामदेव द्वारा चलाया गया अचूक ब्रह्मास्त्र है—

चाँदनी न होय ये, मानिनी के जीतिवे कौं, मैन महारथी ब्रह्म अस्त्रहिं चलायौ है[1]।

'मोतीराम की प्रोषितपतिका नायिका को शरद्-रात्रि में कुंज-कुंज पर मंडराने वाले भ्रमर विरहोन्मत्त कर देते हैं[2]। 'रसिक बिहारी' की नायिका के हृदय में चंद्र-रश्मियाँ कटार सदृश चुभती हैं; त्रिविध समीर टीस उत्पन्न करता है[3]। 'जगमोहन' कवि की नायिका के लिए ज्योत्स्ना अग्नि-ज्वाल के समान, शीतल कमल-पंखुड़ियों की शय्या अंगारों के समान और सरिता तटवर्ती समीर बाण तुल्य दुःख-दायक हो जाता है[4]। 'पद्माकर' की नायिका को चन्द्रमा प्राण-हन्ता कसाई के समान प्रतीत होता है[5]। 'सेनापति' की वियोगिनी नायिका हेमन्त ऋतु के शीतल, समीर शीतल जल तथा रात्रि की दीर्घता से अत्यधिक कामोद्दीप्त एवं विह्वल हो उठती है[6]। 'दिवाकर' कवि की नायिका को ऐसा लगता है कि हेमंत ऋतु में प्रिय-संयोग के अभाव में उसका जीवित रह सकना भी संभव नहीं[7]।

(क) मानव-मिलन-लालसा की उद्दीपिका प्रकृति—

प्रिय-वियुक्ता रमणी के हृदय में प्रिय-सम्मिलन की जो उत्कट लालसा होती है, प्रकृति के विभिन्न रूप उसे उत्तेजित कर देते हैं। वियोग-विह्वल नारी अपने दुःख को सहन करती हुई प्रिय-मिलन की उद्दीप्त लालसा के कारण ही जीवित रहती है, उसके प्राण प्रिय के रूप-साक्षात्कार के लिए ही उसके शरीर में बने रहते हैं—

---

१. नागर कवि, व्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौंदर्य, मीतल, पृ० १८२।

२ दरद करत ये भँवर - भीर कुंज-कुंज, बेदरद आली री ! सतावत सरद रात।
—मोतीराम, वृजभाषा साहित्य का सौन्दर्य, मीतल, पृ० १६२।

३. आतप-सी चाँदनी तपन तन दूनी देत, लागत हिए में चंद किरनैं करद-सी।
आवत उसाँस ऊँची, सुखद सुबास लहि, त्रिविध समीर पीर सालत दरस-सी।
—रसिकबिहारी, वृजभाषा साहित्य का ऋतु सौन्दर्य, मीतल, पृ० १६४।

४. जगमोहन कवि, व्रजभाषा-साहित्य का ऋतु सौंदर्य, मीतल, पृ० १६४।

५. ए रे मतिमंद चन्द ! आवत न लाज तोहिं, ह्वै कै द्विजराज, काज करत कसाई के।
—पद्माकर, जगद्विनोद, छंद ५३६, पद्माकर पंचामृत, पृ० १८८।

६. बरसै तुषार बहै सीतल समीर नीर, कंपमान उर क्यों हू धीर न धरत है।
राति ना सिराति सरसाति व्यथा विरह की, मदन अराति जोर जोबन करत है।
—सेनापति, कवित्त-रत्नाकर, तीसरी तरंग, छन्द ४८।

७. सखी इहिं पाख में, जो आयौ न हमारो कंत, होंगे प्रान अंत, नहिं पाइकै हेमंत में।
—दिवाकर कवि, ब्र० भा० सा० का ऋतु-सौंदर्य, मीतल पृ० २१६।

मिलन की आस तें उसास नाहिं छूटि जात, कैसे सहौं सासना मदन मयमंत की।
कहियौ पथिक परदेसी सों कि धन पीछे—ह्वै गई सिसिर, कछु सुधि है बसन्त की[१]।

(ख) मानव-भय की उद्दीपिका प्रकृति—

प्रकृति विरह-विदग्ध मानव को जिस प्रकार व्यथित-विह्वल एवं कामोद्दीप्त करती है, उसी प्रकार उसे भयाक्रान्त भी। नारी स्वभाव से ही कोमल, अबला और भीरु होती है। इसी से उसे अपनी रक्षा के लिए पुरुष के पौरुष का अवलंब ग्रहण करना पड़ता है। प्रिय-संयुक्ता रमणी विषमतम परिस्थितियों में भी अपने को प्रत्येक प्रकार से सुरक्षित समझती है; किंतु वियोग में जब वह पति-विहीन होती है, तो उसके लिए तृण का हिलना भी भयोत्पादक हो जाता है। 'सेनापति' की नायिका को प्रकृति के भयावह रूप इतना आतंकित कर देते हैं कि वह विषपान करके अपने प्राण दे देने के लिए तत्पर हो जाती है[२]। 'शेष कवि' की नायिका खद्योत-वर्ग की चमक तथा झिल्ली की झनकार से भयाक्रान्त हो उठती है[३]। 'रत्नाकर' की गोपियों को चन्द्रिका खड्ग के समान और त्रिविध समीर सर्प-समूह के समान फुफकारता प्रतीत होता है[४]। 'शेखर' कवि की नायिका के लिये वृक्षों पर लटकती हुई लताएँ धनुषों के समान प्रतीत होती हैं, 'नन्दराम' की गोपियों को पलाश-वृक्षों पर लगे हुए पुष्पों को देखकर ऐसा लगता है कि मानों वे वियोगियों के रक्ताभ कलेजे हों[५]। 'सूर' तथा 'मन्साराम' की गोपियों को कुंजें भयंकर अग्निज्वाल के समान प्रतीत होती हैं[६]। 'श्रीपति' की नायिका वर्षा के विभिन्न प्राणियों के शब्द, विद्युत् की चमक, अंधकार-समूह तथा मेघ-गर्जन से अत्यधिक भयभीत हो उठती है[७]। 'कमलापति की नायिका मयूरों के शब्द तथा विद्युत् की चमक के भय से अपने प्रासाद के बाहर नहीं निकलती—

भीत भरी भौन तें कढ़ौं न 'कमलापति' मैं, तऊ बेधे डारै हियौ तड़ित तरप सौं[८]।

नारी तो अबला और स्वभाव से कोमल होती है; प्रकृति से परुष पुरुष भी

१. सेनापति, कवित्त-रत्नाकर, तीसरी तरंग, छन्द ५७।
२. इकली डरी हौं, घन देखि कै डरी हौं, खाइ विष की डरी हौं, घनश्याम मरि जइहौं।
—सेनापति, कवित्त-रत्नाकर, तीसरी तरंग, छंद ३०।
३. शेष कवि, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौंदर्य, मीतल, पृ० १३०।
४. 'रत्नाकर', ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौंदर्य, मीतल पृ० ३१।
५. नंदराम, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौंदर्य, मीतल, पृ० २६।
६. सूर, भ्रमरगीत-सार, पद ८५, पृ० ३७ तथा मंसाराम, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौंदर्य, मीतल, पृ० २७।
७. श्रीपति, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौंदर्य, मीतल, पृ० १२६।
८. कमलापति, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु सौंदर्य, मीतल, पृ० १४३।

अपनी प्रेयसी के वियोग में भयाक्रांत हो उठता है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम जैसे दृढ़, निर्भीक एवं गम्भीर-हृदय व्यक्ति का पत्नी सीता के वियोग में सिंह को देखकर वन्य गयन्द के समान काँपना, दीर्घ गुफाओं में निवास करना, दिवस के वैभव से चकोर समान विमुख रहना, चन्द्र-दर्शन से चक्रवाक के समान भयभीत होना, मयूर की वाणी सुनकर सर्प के समान छिपना और मेघ-गर्जन से जवासे के समान तपना तथा दुःखी होना इसका उत्कृष्ट उदाहरण है[१]।

केशव के राम ही नहीं, तुलसी के राम भी वसन्त, भ्रमर-समूह, मेघ-गर्जन, लता, पादप, पुष्प, पिक, मयूर, चकोर, कीर कपोत, हंस, तीतर तथा लावक आदि के दर्शन से भयभीत हो उठते हैं—

घन घमंड गरजत नभ घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा[२]।

तथा— ÷ + +

चतुरंगिनी सैन सब लीन्हें। बिचरत सबहि चुनौती दीन्हें[३]।

(ग) मानव-क्रोध की उद्दीपिका प्रकृति—

प्रकृति जब प्रिय-वियुक्त मानव के प्रतिकूल उसकी व्यथा को उद्दीप्त करने-वाली तथा प्राण-नाशिका-रूप में प्रस्तुत होती है, तो मानव कभी तो उसकी भयंकरता से आतंकित होकर अपने नेत्र एवं कर्ण बन्द कर लेता है, पलायन करता है और कभी जब वह किसी भी प्रकार उसका पीछा नहीं छोड़ती, तो वह क्रोधोद्दीप्त होकर भैरव-हुंकार करता हुआ उसके प्राण ले लेने के लिये उद्यत हो जाता है—

कारे-कारे बदरा पवन लै प्रचंड करौं, घन की घनाक नैक चित हू न धरि हौं।
पापी ये पपीहा के सचान लै के प्रान लेउँ, कोकिला के कंठ कारे काटि-काटि डरि हौं।
झींगुर झंगार कौ बोलाइ लेउँ नीलकंठ, सेष कों बोलाइ सबै दादुर संहरि हौं।
आवन दे सावन रे, मेरे मन भावन कों, रहुरे अषाढ़, तेरे हाड़-हाड़ गरि हौं[४]।

(घ) मानव-स्मृति की उद्दीपिका प्रकृति—

प्रिय-वियुक्त मानव प्रिय का चिन्तन-मनन तो सदैव करता ही है, उसकी स्मृति उसके दुःख को उद्दीप्त करती ही रहती है, सदृश अथवा असमान प्रकृति-रूप

---

१. दीरघ दरीन बसैं 'केसोदास' केसरी ज्यों, केसरी को देखे बन करी ज्यों कँपत हैं।
बासर की संपदा चकोर ज्यों न चितवत्, चकवा ज्यों चन्द चितै चौगुनो चँपत हैं।
केका सुनि व्याल ज्यों बिलात जात घनस्याम, घननि की घोरनि जवासौ ज्यों तपत हैं।
भौंर ज्यों भँवत बन जोगी ज्यों जगत निसि, चातक ज्यों राम नाम तेरोइ जपत हैं।
—केशवदास, रामचन्द्रिका, प्रकाश १३, छन्द ८८, दीन, पृ० २४४।

२. तुलसी, रामचरितमानस, किष्किंधाकाण्ड, पृ० ६६७।

३. तुलसी, रामचरितमानस, अरण्यकांड, पृ० ६४३।

४. अज्ञात, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य, मीतल, पृ० १३१।

उसकी स्मृति को और भी उद्दीप्त करके उसे किंकर्तव्यविमूढ़ कर देते हैं। कृष्ण मेघ श्याम वर्ण कृष्ण की स्मृति उद्दीप्त करते हैं ; हरी-हरी लताएँ उनकी घड़ी-घड़ी याद दिलाती हैं और इन्द्र-वधुएँ उनकी गुंजाओं की माला का स्मरण कराती हैं[१]। आकाश में जब घनघोर घटाएँ छा जाती हैं, तो जिस प्रकार उनमें विद्युत् रह-रह कर चमकती है, उसी प्रकार घटनाओं को घिरते देख कर उसमें चमकने वाली विद्युत् के समान ही प्रिय की स्मृति भी रह-रह कर हृदय में चमक उठती है, चमक-चमक कर एक टीस उत्पन्न करती है और वियुक्त मानव को व्यथित-विह्वल कर देती है—

बिजली सी स्मृति चमक उठी तब, लगे जभी तम घन घिरने[२]।

प्रकृति के सदृश अथवा असदृश रूप ही नहीं, अन्य रूप भी वियुक्त मानव की स्मृति को विभिन्न प्रकार से जागृत एवं उद्दीप्त करते हैं। आंग्ल कवि स्टेफेन स्पैन्डर को सायंकालीन सूर्य तथा लावा आदि पक्षियों का शब्द उसकी प्रेयसी की स्मृति को इसी प्रकार उद्दीप्त करके शोक-विह्वल कर देता है[३]।

प्रकृति वियुक्त मानव में उक्त भावों को ही नहीं, अन्य भावों को भी उद्दीप्त करती है। कभी श्रावण मास के दुःखद प्राकृतिक दृश्यों से उद्दीप्त उसका "ग्लानि भाव" उसे यह कहने के लिये विवश कर देता है—

हुइकै निरसंक, अंक लैके उरजन लाइ, निरखि निरखि नैन, रूप-रस चाखती।
दीन ह्वै कै बोलती तुरन्त अँसुवन ढारि, दोऊ कर जोरिकै बिरह-बिथा भाखती॥
ल्यावती पकरि गुरुजन आगे आँगन लौं, 'संतन' कहत बेगि लाज-नदी नाँघती।
जो मैं सखी जानती, कै सावन बिदेस ह्वै है, पाँवन पकरि मनभावन को राखती[४]॥

कभी सुगन्धित मालती तथा शरद्-रजनी उसके "ईर्ष्या" भाव को उद्दीप्त करती है—

मालती सुगंध सनी, सालती हिए में साल, रहै नन्दलाल कहूँ या के ख्याल फँसिकै।
सरद विभावरी न होय सुनि बावरी तू, दाँव री लियौ है ये, सौति स्याम बसिकै[५]।

१. हरी-हरी लतिका करावैं घरी घरी याद, इंद्र-बधू लखि लाल गुंज-माल गन की।
नन्द के कुमार बिन, लागै उर आर ऊधौ, पपिहा-पुकार, झनकार झींगुरन की।
—अज्ञात, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य, मीतल पृ० १४४।

२. प्रसाद, कामायनी, पृ० १७५।

३. How strangely this sun reminds me of my love!
× × ×
Hope vanished, written amongst red wastes of sky.
—Stephen Spender, How strangely this sun, Collected Poems of Stephen Spender (London), Page 39.

४. संतन कवि, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य, मीतल, पृ० १३१।

५. अज्ञात, संतन कवि, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य, मीतल, पृ० १८६।

और कभी उसके अंतर्जगत् तथा प्रकृति-जगत् का वैषम्य उसके अन्तःस्थित नैराश्य को उद्दीप्त करके चरमोत्कर्ष पर पहुँचा देता है—

शैवलिनि! जाओ, मिलो तुम सिन्धु से,
अनिल! आलिंगन करो तुम गगन को,
चंद्रिके! चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणों! गाओ पवन वीणा बजा।
पर, हृदय! सब भाँति तू कंगाल है,
उठ, किसी निर्जन विपिन में बैठ कर
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी
भग्न भावी को डुबा दे आँख-सी[1]।

(ङ) संयोग-वियोग के अतिरिक्त अन्य परिस्थितियों में मानव-भावों की उद्दीपिका प्रकृति—

प्रकृति मानव-भावों को संयोग अथवा वियोग काल में ही नहीं, अन्य परिस्थितियों में भी उद्दीप्त करती है। शिवाजी के आतंक से भयभीत शत्रु-नारियाँ पावस का उदय देख कर विद्युत् को खड्ग, इन्द्र-धनुष को पताकाएँ, मेघों के दौड़ने को सेना के चलने से आकाश में छाई हुई धूल, मेघ-गर्जन को नगाड़ों का बजना और घटाओं को हाथियों पर लौह-कवचों से सुसज्जित शिवाजी की सेना समझ कर इसी प्रकार भयोद्दीप्त हो उठती हैं—

चमकतीं चपला न फेरत फिरंगैं भट, इन्द्र को न चाप रूप बैरख समाज को।
धाए धुरवा न छाए धूरि के पटल, मेघ गाजबो न बाजिबो है दुंदुभि दराज को।
भौंसिला के डरन डरानी रिपुरानी कहैं, पिय भजौ देखि उदौ पावस के साज को।
घन की घटा न गज-घटनि सनाह-साज, भूषन भनत आयो सैन सिवराज को[2]।

मानव तथा प्रकृति में भाव-वैषम्य

मानव तथा प्रकृति के पूर्व-कथित भाव-साम्य का तात्पर्य यह नहीं कि उनमें किसी प्रकार का भी भाव-वैषम्य नहीं है। मानव सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी है। भाव-विकास की जिस चरम सीमा पर वह अवस्थित है, प्रकृति उस पर नहीं। यही कारण है कि मानव का भाव-क्षेत्र उसके अपने जगत् तक ही सीमित नहीं, जड़-चेतन प्रकृति-जगत् में भी अन्तर्व्याप्त है, जब कि प्रकृति-जगत् के प्राणियों के भाव बहुत कुछ अपने सीमित क्षेत्र के बन्दीगृह में ही बन्द रहते हैं। 'बन्दर को शायद बन्दरिया के मुँह में ही सौन्दर्य दिखाई पड़ता होगा पर मनुष्य पशु-पक्षी, फूल-पत्ते और रेत पत्थर में भी सौन्दर्य पाकर मुग्ध होता है[3]।'

---

१. पंत, ग्रंथि, वीणा-ग्रंथि, पृ० १२५।
२. भूषण, शिवराज-भूषण, छन्द ८१।
३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'कविता क्या है', चिन्तामणि, भाग १, पृ० १५९-१६०।

कवि मानव में जिन भावों की स्थिति का निदर्शन करता है, वे उसमें वैज्ञानिक दृष्टि-विन्दु से भी उपलब्ध होते हैं—विज्ञान भी उसमें उनकी स्थिति का निषेध नहीं कर सकता। किन्तु प्रकृति के जड़ रूपों में विभिन्न भावों की स्थिति का दिग्दर्शन कवि-कल्पना की सृष्टि है, वैज्ञानिक सत्य नहीं। यही कारण है कि पाश्चात्य काव्याचार्य रस्किन प्रकृति में मानव-भावादि के आरोप को संवेदना का हेत्वाभास (Pathetic Fallacy) मानते हैं[१]। भावुक कवि प्रकृति के जड़ रूपों में विभिन्न भावों की अवस्थिति का अनुभव करता है, उनकी अभिव्यक्ति करता है, यह सत्य है और काव्य की दृष्टि से उसमें कोई दोष नहीं; क्योंकि काव्य में कवि जो कुछ भी अनुभव करता है, वह सभी सत्य होता है, असत्य नहीं। किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि साहित्य का प्रत्येक प्रकार का सत्य विज्ञान अथवा व्यवहार-जगत का सत्य नहीं होता।

यही कारण है कि प्रकृति मानव के विभिन्न भावों को जिस प्रकार उद्दीप्त करती हुई काव्य में वर्णित पाई जाती है, मानव नहीं। प्रकृति मानव-भावों को संयोग-वियोग अथवा अन्य परिस्थितियों में जिस प्रकार उद्दीप्त करती है, मानव भी सम्भवतः अपने विभिन्न रूपों द्वारा प्रकृति की विभिन्न परिस्थितियों में उसके विभिन्न भावों को उद्दीप्त करता होगा, किन्तु काव्य इस विषय में मौन है। प्रकृति के जड़-चेतन रूपों में भावों की वह स्थिति प्राप्त नहीं होती, जो मानव-जगत् में स्थूल दृष्टि को भी अनायास ही दृष्टिगोचर होती रहती है। अतः भावुक कवि भी प्रकृति-भावांकन में, विशेषकर उसके भावोद्दीपन में, मानव-जगत् का कोई योग नहीं दर्शाता।

मानव-जगत् में भावों की स्थिति जितनी प्रचुरता से व्यंजित की जाती है, प्रकृति में उतनी प्रचुरता से नहीं। यही नहीं, प्रकृति में घृणा, निर्वेद, आश्चर्य आदि कुछ भावों की स्थिति का निदर्शन भावुक कवि भी बहुत कम करता है। अतः इन सब दृष्टियों से देखने पर यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि मानव तथा प्रकृति में जहाँ एक ओर बहुत कुछ भाव-साम्य है, वहाँ दूसरी ओर बहुत कुछ भाव-वैषम्य भी।

---

१. Ruskin, The Pathetic Fallacy And Classical Landscape In Modern Painters, vol. III, Part IV.

पंचम अध्याय

मानवीय गुण तथा प्रकृति

गुणों की परिभाषा तथा महत्त्व—

संसार में बाह्य सौन्दर्य उतना महत्वपूर्ण नहीं, जितना आन्तर। आन्तर सौन्दर्य हृदय, अन्तःकरण अथवा आत्मा का आकर्षण है, जिसे सामान्य भाषा में हम गुण कहते हैं। इस सौन्दर्य अथवा आकर्षण के अभाव में विश्व-स्थिति सम्भव नहीं। मानव-जीवन के लिये; उसकी सुख-शान्ति-वृद्धि के लिये, इसकी महत्ता अनुपमेय है। अन्तरंग सौन्दर्य से शून्य बाह्य सौन्दर्य मानव-चर्म-चक्षुओं को कुछ क्षणों के लिये भले ही तृप्त कर दे, किन्तु उसके हृदय-चक्षुओं को तृप्त नहीं कर सकता, इसमें संदेह नहीं। अन्तरंग कुरूपता अथवा सामान्य भाषा में अवगुणों से पूर्ण बाह्य सौन्दर्य उस 'विष-रस भरे कनक-घट'[1] के समान है, जिससे मानव-जीवन की स्थिति तो नहीं, हाँ, नाश अवश्य निश्चित है। वस्तुतः आन्तर सौन्दर्य ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और सच्चिदानन्द ब्रह्म सब कुछ है। जहाँ इसकी स्थिति है, वहीं स्वर्ग है, क्योंकि स्वर्ग उसके समष्टि-रूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं—

स्वर्ग है नहीं दूसरा और।
सज्जन हृदय परम करुणामय यही एक है ठौर।
सुधा-सलिल से मानस जिसका पूरित प्रेम-विभोर।
नित्य कुसुममय कल्पद्रुम की छाया है इस ओर[2]।

उक्त अवतरण में प्रसाद जी ने यद्यपि जीवन-स्थिति के लिये आवश्यक सभी कल्याणकारी गुणों का उल्लेख नहीं किया है, तथापि उसमें उल्लिखित प्रधान गुणों का प्रयोग इतने व्यापक अर्थ में हुआ है कि उसमें लगभग समस्त मुख्य गुणों का अन्तर्भाव हो जाता है।

---

१. मनु मलीन तनु सुन्दर कैसें। विषरस भरा कनक घटु जैसें।
—तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० २६२।

२. प्रसाद, अजातशत्रु, पृ० १२२।

धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय अथवा वैयक्तिक जिस किसी भी दृष्टि से देखा जाय, गुणों का महत्त्व अप्रतिम है। विश्व-मांगल्य के उपकरण विविध गुण एक ही मंगल-विधायिनी शक्ति के विविध रूप हैं। उनमें परस्पर कोई विरोध नहीं, सभी परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं। विश्व-कल्याण के लिए सभी की अपेक्षा सभी का महत्व है, ठीक वैसे ही जैसे कि शरीर के लिए उसके समग्र अवयवों का। यही कारण है कि कोई परोपकार को श्रेष्ठतम धर्म घोषित करता है, कोई करुणा को ; कोई शक्ति की महिमा की व्यंजना करता है, कोई कर्मण्यता की ; कोई 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का पाठ पढ़ाता है, कोई सत्य और शुभ का, कोई सात्त्विक ग्लानि की कल्याण-कारिणी शक्ति की महत्ता की घोषणा करता है, कोई स्वतंत्रता, न्याय एवं धर्म-रक्षा की और कोई आध्यात्मिक शक्ति तथा प्रेम की सर्वशक्तिमत्ता में विश्वास रखता है और कोई मानवता के मंगल-विधायक तत्त्वों में[1]।

गुणों का यह महत्त्व-गान मानव-कल्याण के लिये परमावश्यक है। मानव इससे प्रेरणा प्राप्त कर विश्व-मांगल्य के अभीष्ट मार्ग पर अग्रसर होता है और विश्व-कल्याण में उसका अपना वैयक्तिक मंगल निहित है। अतः संसार में मंगलमय गुणों का होना व्यक्तिगत, कौटुम्बिक, जातीय, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय सभी दृष्टियों से हितकर है।

मानव तथा प्रकृति में गुण-साम्य

विश्व-स्थिति के अनिवार्य प्रसाधन गुण केवल मानव की ही निजी सम्पत्ति नहीं। प्रकृति का भी उन पर वैसा ही अधिकार है, जैसा मानव का। केवल मानव-वर्ग में ही उनकी स्थिति से विश्व स्थिर नहीं रह सकता। प्रकृति यदि विश्व-कल्याण में योग न दे, तो मानव अकेला कुछ भी नहीं कर सकता। अतः प्रकृति में भी, विशेषकर भावुक कवि के लिये, विभिन्न गुणों की स्थिति प्रायः उसी प्रकार पाई जाती है, जिस प्रकार मानव में। मानव जिस प्रकार परोपकार करता है ; सत्य, धर्म, न्याय आदि की रक्षा में प्रवृत्त होता है ; करुणा, क्षमा, त्याग, तप, धैर्य, दृढ़ता, उदारता, गम्भीरता आदि गुणों से युक्त देखा जाता है, उसी प्रकार प्रकृति भी। कवि जड़-चेतन प्रकृति के विभिन्न रूपों में स्वानुभूति तथा कल्पना के

१. पावन हो भव धाम,—अनिल, जल, स्थल, नभ पावन,
पावन हों गृह, वसन,—विभूषण, भाजन पावन !
हृदय-बुद्धि हो पावन, देह, गिरा, मन पावन,
पावन दिशि पल खाद्य स्वास, भव जीवन पावन !
सुन्दर ही पावन, संस्कृत ही पावन निश्चय,
सुन्दर हो भू का मुख, संस्कृत जीवन-संचय !
—पंत, भूत-जगत, युगवाणी, पृ० ४२।

बल पर, अनेक गुणों का साक्षात्कार करके संसार को उनकी ओर अभिमुख करता है। मानव तथा प्रकृति—उभय पक्षों—में इन गुणों की स्थिति किस प्रकार और कहाँ-कहाँ समान रूप से उपलब्ध होती है; हिन्दी-काव्य में उनका विवेचन किस प्रकार हुआ है, इसका दिग्दर्शन कराने के लिये अब हम विभिन्न गुणों पर पृथक्-पृथक् रूप से विचार करेंगे—

(क) *करुणा*—विश्व-जीवन की मूलाधार रूपिणी, जन्म-मरण तथा सन्ध्या-प्रभात को सार्थक करनेवाली करुणा[1] की स्थिति मानव तथा प्रकृति—उभय पक्षों—में अनिवार्य है और भावुक कवि को प्रायः दोनों में समान रूप से उपलब्ध भी होती है।

मानव, प्रकृति को शोक-विह्वल देख कर करुणा-विगलित हो उठता है। आदि कवि वाल्मीकि के हृदय की अन्तर्धारा प्रकृति के प्रति उनकी करुणा के आविर्भाव के कारण ही आदि काव्य रामायण के रूप में प्रवहमान हुई थी[2]। हिन्दी-काव्य-जगत् में भी मानव अपनी सहचरी प्रकृति के दुःख से प्रायः द्रवीभूत होता देखा जाता है। वह उसके शोक से विह्वल हो उससे उसका कारण पूछता है, उसे सान्त्वना प्रदान करता है और यथा-सम्भव उसके निवारण का प्रयत्न करता है।

पंत पुष्प के असमय पतन से शोक-विह्वल हो उसके प्रति संवेदना प्रकट करते हैं[3]। महादेवी वर्मा उसकी दीन दशा के प्रति केवल संवेदना ही प्रकट नहीं करतीं, प्रत्युत उसके निकटतम सम्बन्धी की भाँति अनेक प्रकार से समझा-बुझा कर सान्त्वना भी प्रदान करती हैं[4]। प्रसाद प्रियतम के कठोर वाक्य-वाणों से आहत-अपमानित सागर के हृदय का उद्वेलन अनुभव करते हुए उसके निष्ठुर प्रेमी का

---

१. करुणा है प्राण-वृन्त जग की अवलम्बित जिस पर जग-जीवन,
× × ×
करुणा ही से सार्थक होते चिर जन्म-मरण संध्या-प्रभात !
—पंत, कुसुम के प्रति, युगवाणी, पृ० ८३।

२. मा निषाद प्रतिष्ठाम्त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥
—वाल्मीकि, रामायण, बालकाण्ड, द्वितीय सर्ग, श्लोक १७।

३. झर गए हाय, तुम कान्त कुसुम सब रूप रंग दल गये बिखर,
रह सके न चारु-चिरन्तन तुम जीवन की मधु स्मिति गई बिसर।
—पंत, युगवाणी, कुसुम के प्रति, पृ० ८३।

४. मत व्यथित हो फूल ! किसको सुख दिया संसार ने।
स्वार्थमय सबको बनाया है यहाँ करतार ने।
—महादेवी वर्मा, नीहार, यामा, पृ० ३०।

नाम पूछते हैं[१]; भयाक्रान्त, त्रस्त वसुन्धरा के दुःख से करुणार्द्र हो कराह उठते हैं और उसकी व्यथा को जानने के लिये प्रश्नशील होते हैं[२]। महावीरप्रसाद द्विवेदी जल-वृष्टि के अभाव में दयनीय दशा को प्राप्त पशुओं को देख कर करुणा-विह्वल हो मेघ को उपालम्भ देते हैं[३]। हरिऔध होलिका के कपोलों की पीलिमा देख कर द्रवीभूत हो उसके दुःख का कारण जानने के लिये प्रश्न करते हैं[४]। गुप्त जी की यशोधरा रात्रि के हिम-विन्दुओं को इन्दु-कला के अश्रु समझ कर समदुःखी हो उसे सान्त्वना प्रदान करती है[५]। उर्मिला वृक्ष, लता, चक्रवाक, कोकिल आदि के दुःख का स्वयं भी समान रूप से अनुभव करती हुई उनसे उसका कारण पूछती और अनेक प्रकार से समझा-बुझा कर उनके दुःख-शमन का प्रयत्न करती है[६]।

पंत परित्यक्ता छाया के दुःख का अनुमान करके उसे जानने के लिये अधीर हो उठते हैं[७]। निराला धूलि-धूसरित, पद-दलित पुष्प की करुण दशा से द्रवीभूत हो आत्मीयता स्थापित करते हुए प्रश्न करते हैं[८]। माधवसिंह 'दीपक' निर्झर की करुण

---

१. लहरों में यह क्रीड़ा चंचल, सागर का उद्वेलित अंचल।
है पोंछ रहा आँखें छलछल, किसने यह चोट चलाई है?
—प्रसाद, लहर, पृ० १७।

२. दृष्टि जब जाती हिमगिरि ओर, प्रश्न करता मन अधिक अधीर।
धरा की यह सिकुड़न भयभीत, आह कैसी है? क्या है पीर?
—प्रसाद, कामायनी, पृ० ५१।

३. चारा नहीं, चरहिं काह पशू विचारे, सूखीहू घास मिलती नहिं खोजि हारे।
जो लोग कष्ट लखि तोहि दया न आवे, तो काह मूक पशु दुखहूँ ना दुखावे।
—महावीरप्रसाद द्विवेदी, द्विवेदी-काव्य-माला, पृ० २५८।

४. कहाँ गई मुखड़े की लाली, किसने छीनी छटा निराली।
पीला क्यों पड़ गया होलिके! तेरा गोरा गाल?
—हरिऔध, कल्पलता, पृ० ९३।

५. अब क्या रक्खा है रोने में! इन्दुकले, दिन काट शून्य के किसी एक कोने में।
—गुप्त, यशोधरा, पृ० ६५।

६. री, आवेगा फिर भी बसन्त,
जैसे मेरे प्रिय प्रेमवन्त।
दुःखों का भी है एक अन्त,
हो रहिए दुर्दिन देख मूक।
ओ कोइल, कह, यह कौन कूक? —गुप्त, साकेत, पृ० २३२।

७. पंत, छाया, पल्लव, पृ० ५५-६०।

८. झोली करुणा की भिक्षा की,
दलित कुसुम! क्यों कहो,
धूलि में नजर गड़ाए हो फैलाए? —निराला, रास्ते के फूल से, परिमल, पृ० १५५।

कहानी, विरह-दुःख तथा हृदय-ज्वाला का अनुमान कर उसका कारण पूछते, विभिन्न प्रकार से सान्त्वना देते और उसके दुःख के निवारणार्थ उसके साथ उसके प्रिय को खोजने का वचन देते हैं[१]। इसी प्रकार आंग्ल कवि शेली चन्द्रमा की पीलिमा को देखकर उसकी श्रान्ति का अनुमान कर उसके प्रति अपनी संवेदना प्रकट करता है[२]।

काव्य में करुणा की इसी महत्ता के कारण आंग्ल-भाषा में यह कहावत प्रसिद्ध है कि दीनों पर करुणा करने वाला परमात्मा के प्रति करुणा करता है और उसकी करुणा का प्रत्युत्तर परमात्मा उसके प्रति उतनी ही करुणा करके देता है[3] इस विषय में ओस्कर वाइल्ड ने तो यहाँ तक कह डाला है कि 'वह ग्रन्थ जिसमें करुणा का अभाव हो, बहुत अच्छा हो कि लिखा ही न जाय[४]।' संस्कृत के लब्ध-प्रतिष्ठ नाटककार भवभूति भी इसीलिये करुण रस को ही एक मात्र रस घोषित कर गये हैं[५]।

मानव-हृदय में जिस प्रकार प्रकृति के प्रति करुणा का प्रादुर्भाव होता है, उसी प्रकार कवि के लिये प्रकृति-जगत् में मानव के प्रति भी। काव्य संसार में प्रकृति के चेतन-रूप ही नहीं, जड़-रूप भी मानव-दुख से करुणा-विगलित हो उठते हैं। प्रकृति अपने सहचर मानव के दुख से द्रवित हो अश्रुपात ही नहीं करती, उसे

---

१. तेरे हित मैं भी खोजूँगा, पैरों पड़ उसको रोकूँगा,
चल उठ मत रो मेरे साथी।

—माधवसिंह 'दीपक', सात सौ गीत, पृ० ४४।

२. Art thou pale for weariness
Of climbing heaven, and gazing on the earth.
Wandering companionless.
Among the stars that have a different birth,—
And ever-changing, like a Joyless eye
That finds no object worth its constancy ?
—P. B. Shelley, To the Moon, Poets of the Romantic. Revival page 181.

३. He that bath pity upon the poor lendeth unto the Lord; and that which he hath given will He pay him again.

—THE BIBLE, Proverbs, XVIII, 24.

४. A book or Poem which has no pity in it had batter not be written. —Oscar wilde.

५. एको रसः करुणएव निमित्तभेदाद्भिन्नः पृथक्पृथगिव श्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुद्तरंगमयान्विकारा नंभो यथा, सलिलमेव हि तत्समस्तम्।।

—भवभूति, उत्तररामचरित, तृतीय अंक, छन्द ४७, पृ० २०२।

सान्त्वना ही नहीं प्रदान करती, प्रत्युत् उसके दुःख के निवारण के लिये सफल-असफल प्रयत्न भी करती है। हिन्दी के अनेक कवियों ने प्रकृति-जगत् के इस तथ्य की मार्मिक व्यंजना की है।

प्रोषितपतिका नागमती के दुःख से द्रवीभूत पलाश पत्र-शून्य हो जाते हैं; बिम्बाफल रक्त-वर्ण हो जाता है;[१] परवर का हृदय पक जाता है; गोधूम का हृदय विदीर्ण हो जाता है और पक्षी उसके दुःख से करुणार्द्र हो उसका सन्देश प्रिय रत्नसेन के पास सिंहल-द्वीप ले जाता है। उसके वियोग-दुःख से उसकी समस्त वाटिका सूख जाती है और तभी पल्लवित, पुष्पित तथा फलित होती है, जब कि उसका प्रिय सिंहल-द्वीप से लौट कर उसके पास आ जाता है—

पलुही नागमती कै बारी। सोने फूलि रही फुलवारी ॥
जावत पंखि रहे सब दहे। सबै पंखि बोले गहगहे[१] ॥

[उक्त अवतरण में यद्यपि श्लेष, अन्योक्ति तथा समासोक्ति द्वारा वाटिका के विभिन्न रूपों (वृक्ष, लता, पुष्प आदि) से नागमती के विभिन्न शरीरांगों और पक्षियों से उसकी इन्द्रियों का अर्थ भी व्यंजित होता है, तथापि दूसरी ओर प्रकृति-पक्ष का यह अर्थ भी ध्वनित होता है कि वाटिका तथा पक्षी उसके दुःख में दुःखी और सुख में हर्षोल्लास से भर जाते हैं।]

'हरिऔध' के कृष्ण के मथुरा-प्रयाण के समय शोकाकुल मानव-नेत्रों का दैन्य-दुःख लक्षित कर कमल करुणार्द्र हो संकुचित होने लगते हैं। पुत्र-वियोग की आशंका से विह्वला यशोदा को नक्षत्र धैर्य प्रदान करते हैं[२]। अपने पालक नन्द-यशोदा के दुःख से द्रवीभूत काकातुआ अत्यधिक व्याकुल हो चिल्ला-चिल्ला कर कृष्ण के मथुरा-गमन का निषेध करता है। यशोदा की व्याकुलता से द्रवीभूत रजनी हिम-विन्दुओं के व्याज से मूक-रुदन करती और ब्रज-मेदिनी अपने हृदय की अजस्र करुणा-धारा को कलिन्दजा के रूप में प्रवहमान कर देती है[३]। उनके दुःख से करुणा-विह्वला उषा के हृदय से रक्त-स्राव होने लगता है; पक्षी विकल हो उठते हैं; प्राची दिशा का हृदय दुःख-ज्वाला से दग्ध होने लगता है; समस्त दिशा में आग-सी लग जाती

---

१. जायसी, पदमावत, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० १६१।

२. चमक-चमक तारे धीर देते हमें हैं,
सखि, मुझ दुःखिया की बात भी क्या सुनेंगे।
—हरिऔध, प्रिय-प्रवास, पृ० ४०।

३. विपुल-नीर बहा कर नेत्र से, मिस कलिंद-कुमारि-प्रवाह के।
परम कातरता सँग मौन ही, रुदन थी करती ब्रज की धरा।
—हरिऔध, प्रिय-प्रवास, पृ० ३३।

है[1]। कृष्ण के मथुरा-गमन के अनन्तर समस्त प्रकृति आठ-आठ आँसू रोती है। वृक्ष अपने अंक से बारी-बारी से पुष्प-वर्षा कर अपना शोक प्रकट करते हैं[2]। सरिता का समस्त जल शोक-मग्न हो जाता है। भ्रमर पागल-से हो कुंजों से निकल-निकल कर इतस्ततः भ्रमित-से घूमते हैं[3]।

रामचरित उपाध्याय की सीता के करुण-क्रन्दन से समस्त वन विषण्ण हो उठता है। मयूर शोक-विह्वल हो मौन धारण कर लेते हैं; पशु-पक्षी विषादाधिक्य से व्यग्र हो उठते हैं[4]। वैदेही-वनवास की सीता के भावी वियोग (मृत्यु) की आशंका से खिन्न प्रकृति वस्त्र परिवर्तन नहीं करती—शोकाकुला मानवी के समान मलिन-वस्त्रा ही बनी रहती है; प्राची मुख खोलकर मुस्कराती नहीं; समीर निःश्वासें भरता है; प्रभात अपने वैभव से विमुख हो जाता है; सूर्य निकलना नहीं चाहता; हरे-भरे वृक्ष मन-मारे खड़े रहते हैं; पत्ते काँप-काँप कर अश्रुपात करते हैं और पक्षी मौन धारणकर अपने नीड़ों से निकलना बन्द कर देते हैं[5]।

मानव-जीवन की क्षणभंगुरता, अवसाद और उच्छ्वासों से द्रवीभूत प्रकृति समीर-रूप में निःश्वासें भरती, आकाश-रूप में अश्रुपात करती, समुद्र-रूप में सिसकती और नक्षत्रों के रूप में सिहरती है[6]। वियोग-दग्धा मानवी के दुःख से करुणार्द्र

१. छितिज निकट कैसी लालिमा दीखती है।
बह रुधिर रहा है कौन-सी कामिनी का।
विहग विकल हो-हो बोलने क्यों लगे हैं।
सखि सकल दिशा में आग-सी क्यों लगी है।
—हरिऔध, प्रिय-प्रवास ४-४६।

२. फूले-फूले कुसुम अपने अंक में से गिरा के।
बारी-बारी सकल तरु भी खिन्नता हैं दिखाते।
—हरिऔध, प्रिय-प्रवास ५-८।

३. सारा नीला-सलिल सरि का शोक-छाया पगा था।
कंजों में से मधुप कढ़ के घूमते थे भ्रम से।
—हरिऔध, प्रिय-प्रवास ५-१०।

४. केका रुकी केकिनी की भी व्यग्र हुए सब प्राणी,
करुण भरी सीता की सुनकर रोदन वीणा वाणी।
—रामचरित उपाध्याय, रामचरित-चितामणि, पृ० ३५५।

५. हरे-भरे-तरुवर मन मारे थे खड़े, पत्ते कँप-कँप कर थे आँसू डालते।
कलरव करते आज नहीं खग-वृन्द थे, खोतों से वे मुँह भी थे न निकालते।
—हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० २४५।

६. अचिरता देख जगत की आप, शून्य भरता समीर निःश्वास,
डालता पातों पर चुपचाप, ओस के आँसू नीलाकाश;
सिसक उठता समुद्र का मन, सिहर उठते उडगन।
—पंत, परिवर्तन, पल्लव, पृ० ६८।

हेमन्त उसके निवारणार्थ प्रचण्ड शीत की सेना लेकर आता है—'आया यह हेमन्त दया कर, देख हमें संतप्त सभीत'[1] मेघमाला ताप-जर्जर विश्व-हृदय से द्रवीभूत होकर, उसे शीतल करने के लिये चतुर्दिक घिरकर, अपनी हृदयस्थ अमृत-रस-धार उँडेल देती है[2]।

हल्दी-घाटी के महायुद्ध में होनेवाले महाविनाश से शोकाकुल सूर्य अपने रुदन को रोक न सकने के कारण मुख छिपा लेता है। श्रावण मास की अँधियाली रात्रि मेघों के व्याज से करुणा क्रन्दन करती है[3]। 'कवि की मृत्यु' पर चन्द्रमा मानव-जगत् के साथ रुदन करता है; चाँदनी कफन बनने के लिये मचलती है; मलय-समीर उसके शव को कन्धों पर उठाकर ले जाता है और वन उसके जलाने के लिये 'चन्दन-श्रीखण्ड' भेजता है[4]। महात्मा गाँधी की मृत्यु पर तृण, लता तथा वृक्ष शोकाकुल हो मर्मर-रूप में प्रार्थना करते हैं[5]। सरोजिनी नायडू की मृत्यु से विषाद-विह्वला वसुधा अश्रु-सिक्त हो जाती है, पवन-स्तब्ध हो जाता है, पक्षियों का गला भर आता, पुष्प-समूह मूर्च्छित हो जाता है और दिशाएँ शोकाधिक्य के कारण मौन धारण कर लेती हैं[6]।

१. मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ० २२०।

२. ताप-जर्जर विश्व-उर पर, तूल से घन छा गये भर;
दुःख से तप हो मृदुलतर उमड़ता करुणा भरा उर।
—महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१) पृ० ८४

३. मुख छिपा लिया सूरज ने, जब रोक न सका रुलाई।
सावन की अंधी रजनी, वारिद-मिस रोती आई।
—श्यामनारायण पाण्डेय, हल्दीघाटी, पृ० १४४।

४. जब गीतकार मर गया, चाँद रोने आया, चाँदनी मचलने लगी कफन बन जाने को।
मलयानिल ने शव को कन्धों पर उठा लिया, नभ ने भेजे चंदन-श्रीखंड जलाने को।
—रामधारीसिंह दिनकर, कवि की मृत्यु, नील कुसुम, पृ० ३२।

५. पंत, खादी के फूल, पृ० ३।

६. ओ अवसादमयी वंशी टुक देख गगन की ओर,
अश्रु-सिक्त हो उठा अचानक वसुधा का यह छोर।
चल बसी कोकिला भारत की
वह मधुर भाषिणी,
रुका-रुका-सा पवन, रुद्ध स्वर कल कंठों में
रुकी थकी सी ध्वनि वंशी की,
मूर्च्छित पुष्पावली धरा की, रे मन।
मूक दिशाओ आगे गहन अँधेरा है क्या !
अखिल एशिया टेर रहा है—
जयतु, जयतु जय जय सरोजिनी। —देवेन्द्र सत्यार्थी, वन्दनवार, पृ० ७५।

परतन्त्र भारतीयों की दयनीय दशा से द्रवीभूत गंगा, यमुना, कृष्णा, नर्मदा तथा कावेरी आदि नदियों का जल व्याकुलता के कारण रुक-रुक कर बहता है[१]। कलरवकारिणी दिशाएँ दुबककर बैठ रहती हैं। चंचल समीर ठगा-सा होकर ठिठक-ठिठक कर चलता है। आकाश के मुख पर एक शाश्वत निर्जीवता का आभास मिलता है, एक मुर्दनी-सी छा जाती है और तृण, लता, किशलय तथा वृक्ष विषण्णता के समुद्र में डूब जाते हैं[२]।

प्रकृति की इसी अनन्त करुणा के कारण मानव उससे दुःख-निवारण की आशा करता है; वियोग में उससे दूतत्व करके प्रिय को ले आने की अभ्यर्थना करता है और मृत्यु के अनन्तर अपना अभीष्ट पूर्ण करने के लिये प्रार्थना करता है:—

बिधिवश यदि तेरी धार में आ गिरूँ मैं, मम तन ब्रज की ही मेदिनी में मिलाना।
उस पर अनुकूला हो; बड़ी मंजुता से, कल-कुसुम अनूठी-श्यामता के उगाना[३]।

आंग्ल-कवि शेली ने भी इसी प्रकार अपनी दयनीय दशा में पश्चिमी प्रभंजन से करुणापूर्ण सहायता की याचना की थी[४]।

(ख) परोपकार—परोपकार मानव-शरीर का ही नहीं, उसकी आत्मा का भी आभूषण है। उसकी यह महत्ता किसी से छिपी नहीं। वह सूर्य के समान स्वयं-प्रकाश है। कवि-सम्राट 'हरिऔध' के शब्दों में परोपकार वह दिव्य कान्ति है, जो विश्व-विभूति को उद्भासित करती है[५]। स्वार्थान्धकार में मानव टटोलता रहता है और फिर भी सरलता से एक पग भी प्रगति नहीं कर पाता। किंतु परोपकार रूपी दिव्य प्रकाश में वह स्वयं भी भौतिक एवं पारमार्थिक प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सकता है और संसार को भी उसकी ओर उन्मुख कर सकता है, अज्ञानांधकार के गर्त से निकालकर प्रकाश के दिव्य उद्यान में ला सकता है।

---

१. गंगा, यमुना और नर्मदा, कृष्णा, कावेरी का जल।
रुक-रुक कर मानों बहता था, थम-थम कर कर रहा विकल।
—माखनलाल चतुर्वेदी, हिन्दुस्तान दैनिक, २६ जनवरी, सन् १६५८ ई०।

२. हरिवंशराय बच्चन, घायल हिंदुस्तान, धार के इधर-उधर, पृ० ३१।

३. हरिऔध, प्रिय-प्रवास, सर्ग १५, छन्द १२५।

४. Oh, lift me as a wave, a leaf, a cloud !
I fall up on the thorns of life : I bleed !
A heavy weight of hours has chained and bowed.
one too like thee: tameless, and swift, and proud.
—Shelley, ode to the west wind, poets of the Romentic Revival p. 165.

५. है परार्थ परमार्थ दिव्य वह ओप जो,
उद्भासित करता है विश्व-विभूति को। — हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० २४३।

हिन्दी-काव्य में परोपकार की स्थिति मानव तथा प्रकृति-उभय पक्षों में प्रायः समान रूप से पाई जाती है। यदि एक ओर मानव परोपकार की महती भावना से प्रेरित हो संसार के कल्याणार्थ अपना सर्वस्व लुटा देता है; दीन-दुखियों की अनेक प्रकार से सहायता एवं सेवा करता है—'रोगी, दुःखी विपत आपत में पड़े की सेवा अनेक करते निज हस्त से थे'[१]; प्रकृति के जड़-चेतन समस्त रूपों के सुख-दुःख का ध्यान रखता है; चींटियों पक्षियों तथा पशुओं को भोजन प्रदान करता है; कीटादि के प्रति सदय दृष्टि रखता है; वृक्षों के पत्ते तक नहीं तोड़ता; प्रत्येक सम्भव प्रकार से विश्व-मंगल के लिये प्रयत्नशील रहता है; सेवा, परोपकार, दान, बलिदान और त्याग को जीवन के श्रेष्ठ सिद्धान्त समझता है[२]; जाति, समाज, राष्ट्र तथा मानवता के लिये अपने शरीर तक का त्याग करने में रंचमात्र भी संकोच नहीं करता, तो दूसरी ओर प्रकृति-जगत् में भी न्यूनाधिक रूप में प्रायः यह समस्त गुण पाये जाते हैं। मेघ परोपकार के लिये ही शरीर धारण करता है—संसार के कल्याणार्थ अम्बुधि के खारी जल को अमृतमय रूप प्रदान करके बरसा देता है[३] और अपने उस अस्तित्व-त्याग में भी किसी भी प्रकार के दुःख का अनुभव नहीं करता, दुःखानुभव करना तो दूर रहा, सतत मुसकराता रहता है, केवल इसीलिये कि उसके अपने अस्तित्व-नाश से न जाने कितने प्राणियों का कल्याण होता है—

और निज अस्तित्व देकर, अश्रु में भी मुस्कराता[४]।

संसार का प्राण समीर छोटे-बड़े सभी पर सम दृष्टि रखता हुआ, सभी के लिये समान सुख का विधान करता है[५]। गंगा का दानी जल संसार का प्रत्येक सम्भव

१. हरिऔध, प्रिय-प्रवास, पृ० १५९, द्वादश सर्ग, छन्द ८७।

२. भू में सदा यदपि है जन मान पाता, राज्याधिकार अथवा धन-द्रव्य द्वारा।
होता परन्तु वह पूजित विश्व में है, निस्वार्थ भूत हित औ कर लोक-सेवा।
—हरिऔध, प्रिय-प्रवास, पृ० १६०।

तथा—
है भला धन लगे भलाई में, हो भले काम पर निछावर तन।
लोभ यश-लाभ का हमें होवे, लोक-हित-लालसा, लुभा ले मन।
—हरिऔध, प्रिय-प्रवास, लोक-सेवा, जन्म-लाभ, चुभते-चौपदे, पृ० १६६।

३. परकाजहि देह को धारि फिरौ, परजन्य! जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि-नीर सुधा के समान करौ, सब ही विधि सज्जनता सरसौ।
—घनआनंद, घनआनंद-कवित्त, छन्द १२८।

४. मेघराज 'मुकुल', उमंग, पृ० ८१।

५. जगत के प्राण, ओछे बड़े सों समान घन—
आनँद-निधान, सुखदान दुखियानि दै—घनआनंद, घनाआनंद-कवित्त, मिश्र, छंद ७०।

प्रकार से मंगल करता है[१]। वृक्ष परोपकारी मनुष्य के समान ही विश्व-कल्याण के लिये सतत प्रयत्नशील रहते हैं, श्रान्त पथिकों के ताप का निवारण कर शीतल-सुखदायक छाया प्रदान कर उनका दुःख-हरण करते हैं[२] और फल, पुष्प, लकड़ी, औषधियाँ तथा शरीर तक को विश्व-हितार्थ दान कर देते हैं[३]।

चन्द्रमा शुक्ल पक्ष भर जिस अमृत का कृपण व्यक्ति के समान संग्रह करता है, उसी को कृष्ण पक्ष में विश्व-मंगलार्थ क्रमशः दान कर देता है और स्वयं न जाने कौन-सा विष पीकर रह जाता है[४]। सूर्य के पास यद्यपि संसार को देने के लिये कुछ भी नहीं होता, तथापि उसकी दानशील प्रवृत्ति उसे दूसरों से लेकर दान करने के लिये प्रेरित करती है और वह सागर के खारी जल को लेकर विश्व-मंगलार्थ उसका दान कर देता है[५]। पुष्प संसार को शृंगार, सौन्दर्य, आभरण, सुरभि, मादकता एवं उल्लास प्रदान करता है[६]। पशु-पक्षी मानव-कल्याण के लिये न जाने कब से अपने प्राणों की बलि देते आये हैं[७]।

---

१. गंगा का दानी जल
लोक हित बहता है
वंशज भगीरथ के
उसका कल-कल निनाद
जन वाणी कहता है। —कुँवरनारायण, गंगा-जल, चक्रव्यूह, पृ० १६६।

२. बढ़ा स्वशाखा मिस हस्त प्यार का, दिखा घने पल्लव की हरीतिमा।
परोपकारी जन तुल्य सर्वदा, अशोक था शोक सशोक मोचता।
—हरिऔध, प्रिय-प्रवास, नवम सर्ग, छन्द ५०।

३. माधवसिंह 'दीपक', सात सौ गीत, पृ० ३१५।

४. इन्दु कहलाते,
सुधा से विश्व नहलाते,
पर न पहचाना तुम्हें जग ने अभी,
मेरे हृदय !
कौन ज्वाला है,
हृदय में जिसे पाला है ?
कौन विष पीकर सुधा-सीकर किया,
मेरे हृदय ! —नरेन्द्र शर्मा, इन्दु से, मिट्टी और फूल, पृ० १८।

५. सूरज की महिमा को सोचो, वसुधा से लेकर देता है;
सागर से थोड़ा जल लेकर, सब में जीवन भर देता है।
—माधवसिंह 'दीपक', सात सौ गीत, पृ० ५६।

६. पंत, विश्व-छवि, पल्लव, पृ० ८५।

७. मानव के कल्याण के लिये निश्चित
पशु ने अपनी बलि दी, देवों के हित। —पंत, मानव पशु, युग वाणी, पृ० ४५।

तात्पर्य यह कि परोपकार तथा तत्सम्बन्धी गुण-सेवा, दानशीलता, बलिदान तथा त्याग जिस प्रकार एक ओर मानव-जगत् में पाये जाते हैं, उसी प्रकार दूसरी ओर प्रकृति-जगत् में भी। यदि एक ओर मानव-जगत् में उनके आदर्श प्रतिष्ठित करने वाले मैथिलीशरण गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल तथा अनूप शर्मा आदि कवियों के नायक गौतम बुद्ध; तुलसी, गुप्त आदि के राम; हरिऔध के कृष्ण (एवं राधा) तथा अन्य कवियों के हरिश्चन्द्र , कर्ण, शिवि, दधीचि, शिवाजी तथा महात्मा गाँधी आदि महापुरुष हैं, तो दूसरी ओर प्रकृति-जगत् में उनके आदर्श सूर्य, चन्द्र, मेघ, सरिता, पुष्प, वन-उपवन, छाया तथा कण आदि प्रकृति-रूप हैं।

(ग) क्षमा, सहिष्णुता तथा विनम्रता—क्षमा, सहिष्णुता तथा विनम्रता परस्पर सम्बद्ध तथा अन्योन्याश्रित हैं। संसार में जहाँ क्षमा होती है, वहाँ सहिष्णुता स्वतः ही आ जाती है और जहाँ सहिष्णुता होती है, वहाँ क्षमा भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में विद्यमान रहती है। इसके साथ ही विनम्रता भी बहुधा इन गुणों का साथ नहीं छोड़ती। जिस प्राणी में क्षमा और सहिष्णुता होती है, वह प्रायः विनम्र भी होता है। अपने एक कपोल पर तमाचा मारने वाले व्यक्ति के सामने दूसरा गाल कर कर देने वाला व्यक्ति विनम्र होने के साथ ही क्षमाशील और सहिष्णु भी होगा। अतः इन सब पर पृथक्-पृथक् रूप से विचार करने की अपेक्षा एक साथ विचार करना अधिक उचित होगा।

क्षमा, सहिष्णुता तथा विनम्रता की आवश्यकता मानव तथा प्रकृति दोनों को है। परमाणु बम के इस वैज्ञानिक युग में इनके अभाव में संसार की सुरक्षा सम्भव नहीं—असहिष्णुता से प्रेरित आणविक-युद्ध से कुछ क्षणों में ही समस्त मानवता का ध्वंस हो सकता है। संकुचित राष्ट्रीयता के उपासकों तथा अन्तर्राष्ट्रीयता को उपेक्षा की दृष्टि से देखने वालों को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। हमारी विश्व-शान्ति की कामना तथा 'वसुधैवकुटुम्बकम्' की भावना चरितार्थ तभी होगी, जब कि मानव उक्त गुणों को आदर्श-रूप में कार्यान्वित करने के लिये तत्पर एवं कटिबद्ध होगा।

भावुक कवि के लिये उक्त गुणों की स्थिति जिस प्रकार मानव-वर्ग में है, उसी प्रकार प्रकृति-जगत् में भी। हिन्दी-काव्य में यदि एक ओर तुलसी, गुप्त तथा रामचरित उपाध्याय आदि कवियों के राम, सीता और कौशल्या, हरिऔध के कृष्ण और राधा तथा सोहनलाल द्विवेदी के कुणाल एवम् कांचना आदि पात्रों में सहिष्णुता की पराकाष्ठा है; दिनकर के युधिष्ठिर में क्षमा का उच्च आदर्श है, गाँधी की विनम्रता का देदीप्यमान प्रकाश है, तो दूसरी ओर प्रकृति-जगत् के विभिन्न रूपों में भी इन गुणों के उत्कृष्ट आदर्श हैं। जिस प्रकार गर्भस्थ शिशु माँ को अनेक प्रकार के कष्ट देता है, किन्तु क्षमा, सहिष्णुता तथा विनम्रता की प्रतिमूर्ति माँ उसके दोषों पर ध्यान न देकर प्रसवोपरान्त उसे अंक में धारण कर हर्षोल्लास से भर जाती है और

अनेक प्रकार से उसका पालन-पोषण करके, कालान्तर में उसे हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति का रूप प्रदान करती है[१], उसी प्रकार मानव यद्यपि माता वसुन्धरा को अनेक प्रकार से कुचलता, रौंदता तथा विभिन्न प्रकार के कष्ट देता है, तथापि विनम्र, सहिष्णु एवं क्षमाशील वसुधा उसके उत्पातों की ओर ध्यान न देकर, अपनी परम विश्रामदायिनी गोद में सुला कर, उसके दुःख द्वन्द्व को दूर कर सुख-शान्ति प्रदान करती है[२]। मानव हल लेकर उसका हृदय विदीर्ण करता है, किन्तु वह इस पर भी किसी भी प्रकार का रोष प्रकट नहीं करती, रोष तो दूर रहा, प्रत्युत स्वयं हेमन्त एवम् शिशिर का प्रचण्ड शीत तथा ग्रीष्म का प्रचण्ड ताप सह कर भी उसे विभिन्न प्रकार के खाद्यान्न प्रदान करती है[३]।

इसी प्रकार वृक्षावलि—विशेषकर मलय वृक्ष—तथा धूलि-कण में भी उक्त गुणों की अवस्थिति काव्य में प्रायः व्यंजित की जाती है। मानव कुठार लेकर मलय-वृक्ष पर प्रहार करता है, जड़ से काट कर गिरा देता है, किन्तु सहिष्णु, विनम्र एवं क्षमाशील मलय-वृक्ष अपनी स्वाभाविक सुगन्ध एवं शीतलता से उसकी श्रान्ति निवारित कर आनन्द प्रदान करता है[४]। 'कण' शताब्दियों से मानव-पाद-प्रहार का अत्याचार सहन करता आ रहा है, फिर भी कभी क्षुब्ध अथवा क्रुद्ध नहीं होता, क्षुब्ध या क्रुद्ध होना तो दूर रहा, प्रत्युत अकृतज्ञ मानव-पद को बदले में सस्नेह कोमलता का उपहार भेंट करता है[५]। पृथ्वी, जैसा कि संकेत किया जा चुका है,

---

१. जैसैं जननि-जठर-अन्तर्गत सुत अपराध करै।
तोऊ जतन करै अरु पोषै, निकसैं अंक भरै।—सूरदास, सूरसागर, विनय, पद ११७।

१. सर्वसहा क्षमा क्षमता की, ममता की वह प्रतिमा।
खुली गोद जो उसकी आवे, समता की वह प्रतिमा।
—मैथिलीशरण गुप्त, द्वापर, पृ० ४६।

२. धर बिधंसि नल करत किरषि हल, बारि, बीज बिथरै।
सहि सन्मुख तउ सीत-उष्न कौं, सोई सुफल करै।
—सूर, सूरसागर, ना० प्र० स०, विनय, पद ११७, पृ० ६१।

३. जद्यपि मलय-बृच्छ जड़ काटै, कर कुठार पकरै।
तऊ सुभाव न सीतल छाँड़ै, रिपु-तन-ताप हरै।
—सूर, सूरसागर, ना० प्र० स०, विनय, पद ११७ पृ० ६१।

४. ताक रहे आकाश,
बीत गये कितने दिन-कितने मास।
पड़े हुए सहते हो अत्याचार
पद-पद पर सदियों के पद-प्रहार;
बदले में पद में कोमलता लाते,
किन्तु हाय, वे तुम्हें नीच ही हैं कह जाते।—निराला, कण, परिमल, पृ० १७२।

सहिष्णु एवं क्षमामयी तो है ही, साथ ही विनम्रता का भी उत्कृष्ट आदर्श है[१]।

मानव तथा प्रकृति-जगत् के उक्त गुण दोनों के लिए अनुकरणीय अवश्य हैं, किन्तु तभी तक जब तक कि उनके पास शक्ति और सामर्थ्य है। क्षमा, सहिष्णुता तथा विनम्रता शक्तिवान के ही आभूषण हैं, शक्तिहीन के नहीं। शक्तिहीन के लिये तो वे गुण न होकर अवगुण हैं, कायरता के पर्याय हैं—

जेता के विभूषण सहिष्णुता-क्षमा हैं, किंतु हारी हुई जाति की सहिष्णुताऽभिशाप है[२]

उनका सम्मान तभी होता है जब कि उनके पीछे शक्ति, सामर्थ्य और उत्साह का दर्प देदीप्यमान रहता है, प्रदीप्त अग्नि-कुण्ड के समान सदैव धधकता रहता है—

सहनशीलता, क्षमा दया को तभी पूजता जग है,
बल का दर्प चमकता उसके पीछे जब जगमग है[३]।

क्षमा, सहिष्णुता तथा विनम्रता सभी मनुष्यों अथवा प्रकृति-रूपों की विशेषता नहीं। अनेक स्थलों पर अपने विभिन्न रूपों में मानव तथा प्रकृति दोनों ही अपनी बर्बरता का प्रदर्शन करते देखे जाते हैं। यद्यपि इस विषय में मतभेद हो सकता है; क्योंकि मानवता-प्रेमी कवि अपनी भावुकता के बल पर बहुधा हिंस्र मानव में भी इन गुणों की स्थिति दर्शाता है और प्रकृति-प्रेमी कवि को असंख्य प्राणियों के प्राण लेने वाला समुद्र भी अत्यधिक सहिष्णु एवं सज्जन प्रतीत होता है; तथापि यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मानव तथा प्रकृति दोनों के ही विभिन्न रूपों में इन गुणों की मात्रा में बहुधा न्यूनाधिक्य भी पाया जाता है। प्रकृति-जगत् में ही जहाँ पृथ्वी, कण, मलय-वृक्ष आदि रूप आदर्श सहिष्णु एवं क्षमाशील हैं, वहाँ सर्प तृण छूते ही रौद्र रूप धारण कर फुंकार उठता है; मृगेन्द्र बन में गजेन्द्र की चिंघाड़ सुनते ही गुफा में ही हुंकारने लगता है; शूल चरण पड़ते ही चुभ जाता है; अग्नि स्पर्श करते ही जला देती है; गर्जमान समुद्र निगलने को तैयार रहता है और ज्वालामुखी अपने मुख पर बैठ कर धुआँ करने वाले को नष्ट कर डालने के लिये उबल पड़ता है[४]।

१. प्रणता सदा से धरणी : इसका
चिर उदार वक्षस्थल। —पंत, मानवपन, युग वाणी, पृ० १७।

२. दिनकर, कुरुक्षेत्र, पृ० ३८।

३. दिनकर, कुरुक्षेत्र, पृ० ३६।

४. सटता कहीं भी एक तृण जो शरीर से तो, उठता कराल हो फणीश फुफकार है;
सुनता गजेन्द्र की चिंघार जो वनों में कहीं भरता गुहा में ही गजेन्द्र हुहुङ्कार है;
शूल चुभते हैं, छूते आग है जलाती; भू को लीलने को देखो, गर्जमान पारावार है;
× × ×
फूटेगा कराल कण्ठ ज्वालामुखियों का ध्रुव, आनन पर बैठ विश्व धूम क्यों मचाता है?
—दिनकर, कुरुक्षेत्र, पृ० ३८-३९।

(घ) *दृढ़ता, निर्भीकता एवं वीरता*—दृढ़ता, निर्भीकता तथा वीरता की स्थिति भी मानव तथा प्रकृति—उभय पक्षों में बहुधा बिम्ब-प्रतिबिम्ब-रूप में देखी जाती है। सिंह तथा वीर पुरुष दोनों ही समान रूप से निर्भीक होते हैं, जीवन-मरण की चिंता नहीं करते, काल के समक्ष भी उसी निर्भयता से बढ़ते चले जाते हैं, जैसे किसी सामान्य प्राणी के समक्ष। षोड़शवर्षीय अभिमन्यु यमराज से भी युद्ध करने में संकोच नहीं करता[१]। स्वामी रत्नसेन की रक्षा के लिये दृढ़-प्रतिज्ञ गोरा अपने प्राणों पर खेल कर अलाउद्दीन की समुद्रवत् विशाल सेना का सामना मुट्ठी भर सैनिकों को लेकर करता है। आंग्ल कवि ब्राउनिंग मृत्यु से भी संघर्ष करने के लिये उद्यत हो जाता है[२]। राम, कृष्ण, भीष्म, द्रोण, अर्जुन, भीम, कर्ण, बालि, अंगद, परशुराम, रावण, लक्ष्मण, मेघनाद तथा बभ्रुवाहन आदि वीरों की अमर कीर्ति उनकी वीरता, दृढ़ता एवं निर्भीकता के कारण ही आज भी अक्षुण्ण है।

मानव के समान ही प्रकृति-जगत् में भी उक्त गुणों की स्थिति बहुधा पाई जाती है। सिंह अपनी दृष्टि कभी पीछे नहीं फेरता, पश्चात्पद कभी नहीं होता, जीते जी अपने को पकड़ने नहीं देता—

सिंघ जियत नहिं आपु धरावा। मुए पाछ कोई घिसियावा॥
करै सिंघ मुख-सौंहहिं दीठी। जौ लगि जियै देह नहिं पीठी[३] ॥

चींटी निर्भीकता, दृढ़ता एवं वीरतापूर्ण उत्साह के साथ शत्रु-दल का सामना करती है[४]। अनागत कल सदैव अदम्य एवं निर्भीक रहता है[५]। आषाढ़ वियोगी-संसार को विजित करके उस पर अपनी प्रभु सत्ता स्थापित करने के लिये विभिन्न प्रकृति-रूपों की सेना सजा कर अपना वीरोत्साहपूर्ण एवं दर्प प्रदर्शित करता है।

---

१. मैं सत्य कहता हूँ सखे ! सुकुमार मत जानों मुझे।
यमराज से भी युद्ध में प्रस्तुत सदा मानों मुझे।
—मैथिलीशरण गुप्त, जयद्रथ-वध, पृ० ८।

२. I would hate that death bandaged my
eyes, and forbore
And bade me creep past.
No ! let me taste the whole of it, fare like my peers The
heroes of old.
—Browning, Prospice, Robert Browning: A Selection
Of Poems, Young, Page 208.

३. जायसी, पद्मावत, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० २९१।

४. लड़ती अरि से तनिक न डरती। —पंत, चींटी, युग वाणी, पृ० ६।

५. चल पड़े वे, तुम कभी के चिर अकुंठित,
है अदम्य, अभीक ! —सियारामशरण गुप्त, अनागत
कल के प्रति, हिन्दुस्तान दैनिक, २६ जनवरी, सन् १९५८ ई०।

इसी प्रकार बसन्त भी कभी पराक्रमी सम्राट के रूप में विभिन्न प्रकृति-वीरों की सेना के साथ विरही-संसार पर आक्रमण करके अपनी वीरता प्रदर्शित करने का उपक्रम करता है और कभी प्रचण्ड सेनापति के रूप में दृढ़ता, निर्भीकता एवं वीरोत्साहपूर्ण दर्प से युक्त देखा जाता है—

विरही बचैंगे कैसे, चाह करि अंत हेत, चढ़ी फौज प्रबल, बसंत पादसाह की[1]।

तथा—

अलि ! मिल बालम, अजों न तोहि मालुम, सो आयौ जंग जालिम, बसंत फौजदार है[2]।

उक्त अवतरणों में बसन्त यद्यपि वियुक्त मानव के भावोद्दीपक रूप में प्रस्तुत हुआ है, तथापि उसमें वीरोत्साहपूर्ण ओज तथा निर्भीकता की प्रतिष्ठा कवि-कल्पना की सृष्टि एवं विशेषता के कारण साहित्यिक सत्य अवश्य है, विज्ञान अथवा दर्शन भले ही उसका समर्थन न करें।

प्रकृति की वीरता, दृढ़ता तथा निर्भीकता आदि के दर्शन मानव-भावोद्दीपक-रूप में ही नहीं, अन्य रूपों में भी यदा-कदा होते हैं। स्वामी इन्द्र की ब्रज को बहा कर नष्ट कर देने की आज्ञा पाकर उनके सेवक 'सूर' के मेघ अत्यधिक वीरोत्साह के साथ अपनी सेना लेकर ब्रज पर आक्रमण करते हैं—

सैन साजि ब्रज पर चढ़ि धावहिं।
प्रथम बहाइ देउँ गोबर्द्धन ता पाछे ब्रज खोदि बहावहिं।
अहिरन करी अवज्ञा प्रभु की सो फल उनके तुरत दैखावहिं[3]।

इसी प्रकार पंत के मेघ वीर, दृढ़ तथा निर्भीक[4] और निराला के अदम्य वीर एवं त्रिलोकजित् हैं—

ऐ त्रिलोक जित् ! इन्द्र-धनुर्धर[5]।

(ङ) *गाम्भीर्य एवं धैर्यशीलता*—गाम्भीर्य तथा धैर्य भी मानव तथा प्रकृति के अन्तर्जगत के प्रकाशक प्रमुख गुण हैं। भावुक कवि के लिये अन्य गुणों के सदृश ही इन गुणों की स्थिति भी मानव तथा प्रकृति—उभय पक्षों—में प्रायः समान रूप से पायी जाती है। उसे यदि एक ओर मानव-जगत में इनके दर्शन होते हैं, तो दूसरी ओर प्रकृति-जगत् के विभिन्न रूपों में भी। यदि एक ओर वाल्मीकि, तुलसी,

---

१. प्रहलाद कवि, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य, मीतल, पृ० ३६।

२. अज्ञात, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य, मीतल, पृ० ३७।

३. सूरदास, सूरसागर दशम स्कन्ध, पद १४७४।

४. धूम धुँवारे काजर कारे, हमहीं बिकरारे कादर,
मदन राज के वीर बहादुर, पावस के उड़ते फणिधार।
—पंत, आधुनिक कवि (२) बादल, पृ० २८

५. निराला, बादल राग, परिमल, पृ० १७६।

गुप्त, रामचरित उपाध्याय तथा हरिऔध, आदि कवियों के राम और सीता, हरिऔध के' 'कठिन पंथ के पाँव'[1] कृष्ण और लोक-सेवा-समर्पिता राधा; गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल तथा अनूप शर्मा आदि के गौतम्; प्रसाद के मनु और श्रद्धा; श्यामनारायण पाण्डेय के महाराणा प्रताप और सोहनलाल द्विवेदी के कुणाल आदि पात्र गाम्भीर्य तथा धैर्य के उत्कट आदर्श हैं, तो दूसरी ओर समुद्र की गम्भीरता तथा पर्वतों की दृढ़ता एवं धैर्य प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त कविगण यदा-कदा अन्य प्रकृति-रूपों में भी इनकी स्थिति का सुरम्य निदर्शन करते हैं। कोई नक्षत्रों की गम्भीरता का उल्लेख करता है[2], कोई किसी देश-विशेष की गम्भीरता एवं धैर्य का[3], कोई संध्या की गम्भीरता से प्रभावित होता है[4]; कोई छाया के गाम्भीर्य से[5] और कोई रजनी की गम्भीरता की[6] मार्मिक काव्योचित अभिव्यक्ति करता है और कोई अन्य प्रकृति-रूपों की।

(च) *पावनता*—अन्य गुणों के समान ही पावनता की स्थिति भी मानव तथा प्रकृति-उभय पक्षों—में पाई जाती है। हिन्दी-काव्य में सीता, उर्मिला, सावित्री, अनुसूया, कौशल्या, रुक्मिणी, पद्मावती, संयोगिता, राधा, यशोधरा आदि भारतीय नारियों तथा राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, युधिष्ठिर, भीष्म, गौतम आदि महापुरुषों में पावनता के जिस भव्य रूप के दर्शन होते हैं, वह इस देश के लिये ही नहीं, समग्र विश्व के लिये कमनीय है। इसी प्रकार प्रकृति-जगत में भी गंगा, यमुना, सरस्वती, सरयू, कृष्णा, कावेरी आदि नदियाँ; हिमालय, विंध्य, चित्रकूट आदि पर्वतों के कुछ स्थल और प्रयाग, काशी, अयोध्या, नैमिषारण्य, मथुरा, वृदावन, रामेश्वरम् तथा द्वारावती आदि नगर विश्व-पावनता की स्पृहणीय विभूति हैं। गंगाजल की पवित्रता का महत्व केवल धार्मिक अथवा साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं,

---

१. हरिऔध, प्रिय प्रवास, षोडश सर्ग, छन्द ३७, पृ० २३३।

२. ऐ गंभीर गन्धर्व-साम-ध्वनि। —पंत, नक्षत्र, पल्लव, पृ० ६८।

३. गोपालशरणसिंह, भारत, कादम्बिनी, पृ० ४८।

४. तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर,—
किन्तु गम्भीर, नहीं है उनमें हास-विलास।
—निराला, सन्ध्या-सुन्दरी, परिमल, पृ० १३५।

५. ऋषियों के गम्भीर-हृदय-सी। —पंत, छाया, पल्लव, पृ० ५५।

६. बताओ किस भेद से गम्भीर हो तुम?
क्या सदा से ही अविचलित धीर हो तुम?
आँसुओं की ओस कैसे छिपाती हो?
यह मुझे भी बताओ, ओ तारकों में मुसकराती रात।
—नरेन्द्र शर्मा, रात, मिट्टी और फूल, पृ० ३५।

वैज्ञानिक दृष्टि से भी है। उसके रोग-नाशक तथा स्वास्थ्य-पोषक तत्व विज्ञान के इस युग में भी संसार की स्पृहा एवं आश्चर्य का विषय है। धार्मिक तथा साहित्यिक दृष्टि से तो वह इतनी पवित्र है कि धोखे से भी उसकी जय-ध्वनि के मुख से निकल जाने से ही सामान्य गायक तथा उसके साथी ब्रह्मा, विष्णु और महेश का उच्च पद प्राप्त कर लेते हैं—

धोखे 'सुरनदीजै' के कहत-सुनत, भए, तीन्यौ तीनि देव, तीनि लोकन के नाइकै।
गाइन गरुड़-केतु भयौ द्वै सखाऊ भए, धाता, महादेव, बैठे देव लोक जाइकै[1]।

कवि के उक्त वर्णन में उसका उद्देश्य अक्रमातिशयोक्ति का चमत्कार-प्रदर्शन भले ही रहा हो, उसकी इस उक्ति में विद्वानों को अस्वाभाविकता भले ही प्रतीत हो, किन्तु इतना निश्चित है कि गंगा-जल पवित्र है, स्वास्थ्यदायक है, रोग-निवारक है। कवि के अनुसार तो उसकी तीन रचनाएँ क्रमशः आकाश, पाताल और मृत्यु-लोक में प्रवहमान हैं। उसकी इस अनिंद्य पवित्रता के कारण ही कवि उसमें सामान्य मानव को ही नहीं, कानन को भी स्नान करके पवित्र होने का उपक्रम करते देखता है—

करते हो तुम स्नान नित्य ही पावन नभ-गंगा-जल से;
किस मुनि से वरदान मिला है यह तुमको निज तप-बल से[2]?

पावनता विश्व के लिये इतनी स्पृहणीय है कि कवि विश्व की प्रत्येक वस्तु को पावन देखना चाहता है। कवि पंत की यह अभिलाषा इसका उत्कृष्ट उदाहरण है—

पावन हो भव धाम, अनिल, जल, स्थल, नभ पावन,
पावन हों गृह, वसन, विभूषण, भाजन पावन!
हृदय-बुद्धि हो पावन, देह गिरा, मन पावन,
पावन दिशि पल, खाद्य श्वास, भव जीवन पावन[3]!

पावनता का अर्थ यद्यपि निर्मलता एवं पवित्रता है, किन्तु कवि यदा-कदा उसका प्रयोग सुन्दर तथा संस्कृत के अर्थ में भी करता है। इस विषय में कवि पंत का कथन है—

सुन्दर ही पावन, संस्कृत ही पावन निश्चय[4]।

(छ) संतोष—संतोष हमारे समक्ष गुण तथा अवगुण दोनों ही रूपों में आता है। जब संतोष के कारण मानव लौकिक एवं पारलौकिक प्रगति की ओर से

---

१. सेनापति, कवित-रत्नाकर, पाँचवी तरंग, छन्द ६३।
२. गोपालशरणसिंह, कानन, कादम्बिनी, पृ० ७।
३. पंत, भूत जगत, युगवाणी, पृ० ४२।
४. पंत, भूत जगत, युगवाणी पृ० ४२।

उदासीन हो आँख बन्द कर हाथ पर हाथ रखकर बैठा रहता है, तो उसका वह रूप मानव-प्रगति का बाधक होने के कारण विगर्हणीय अवगुण का रूप धारण कर लेता है। किन्तु जब वह मानव को मृग-मरीचिका से उदासीन कर, सांसारिक विषयों से विमुख कर, परमार्थ-चिंतन का सुअवसर प्रदान करता है, तो उसके उस कल्याणकारी रूप के कारण हम उसे गुण-कोटि में रखते हैं। संतोष के गुण-रूप की महिमा का सामगान मानव आदिकाल से करता आया है। 'संतोषं परमं सुखं', 'संतुष्टश्च महीपति', आदि उक्तियों द्वारा वह उसकी प्रशंसा के पुल बाँधता रहा है। विश्व-मांगल्य की दृष्टि से गुण-रूप संतोष की महत्ता अपरिमेय है। संतुष्ट मानव सांसारिक कल्याण में अनेक प्रकार से योग दे सकता है। संतोष के माहात्म्य से परिचित विश्व-मानव के कंधों पर ही आज उद्जन बम की महाग्रास यह मानवता रक्षित है।

संतोष मानव-वर्ग की ही विशेषता नहीं, प्रकृति-जगत् का भी उस पर वैसा ही अधिकार है, जैसा कि मानव का। यही नहीं, एक दृष्टि से तो यह भी कहा जा सकता है कि प्रकृति में उसकी स्थिति मानव वर्ग से कहीं अधिक पायी जाती है। मानव विश्व-सम्राट का पद पाकर भी प्रायः संतुष्ट नहीं होता। असंतोष उसकी—विशेषकर महत्वाकांक्षी मानव की—विशेषता है। इंद्र-सिंहासनासीन नहुष के पतन का कारण उसका काम-लिप्सा-जन्य असंतोष ही था। प्रकृति को विश्व-वैभव के उपकरणों की आवश्यकता नहीं। उदर-भरण ही उसके जीवन का प्रमुख ध्येय है। इसके अतिरिक्त उसे और चाहिये ही क्या ? न तो उसे बहुमूल्य वस्त्राभरणों की आवश्यकता है और न भव्य आवासों की। तृणादिक-निर्मित नीड़, पर्वत-कन्दराएँ तथा भूमि-गह्वर ही उसके भव्य भवन ; पंख, वल्कल तथा मुरझे पत्र आदि ही उसके दिव्य वस्त्र और कन्द-मूल, वन्य-फल तथा मृगव्य जीव ही उसके खाद्य-पदार्थ हैं। कवि पंत की दिनकर-कुलोत्पन्न, पादप-सहचरी छाया शुष्क-पत्रावलि रूपी भोजन को प्राप्त करके तथा मुरझे पत्रों की साटिका से अपने कोमल अंगों को ढक कर किस प्रकार संतुष्ट जीवन व्यतीत करती है, इसका भावात्मक एवं हृदयस्पर्शी चित्र कवि पंत की अग्रांकित पंक्तियों में देखिए—

सखि ! भिखारिणी-सी तुम पथ पर फैला कर अपना अंचल,
सूखे - पातों ही को पा क्या प्रमुदित रहती हो प्रतिपल ?
+ + +
मुरझे-पत्रों की साड़ी से ढक कर अपने कोमल अंग[1]।

(ज) *मित्र-वत्सलता*—मित्र-वत्सलता विश्व-स्थिति का एक अनिवार्य प्रसाधन है। विपत्ति में यदि मित्र मित्र की सहायता न करे, तो सम्भवतः उसकी स्थिति ही

१. पंत, छाया, पल्लव, पृ० ५८-५९।

संकट में पड़ जाय। यद्यपि सच्चे मित्र की प्राप्ति एक कठिन समस्या है, तथापि उस की प्राप्ति से मानव जीवन आपद्-रहित हो सकता है, इसमें संदेह नहीं। सच्चा मित्र वही है जो मित्र की विपत्ति में उसकी सहायता करने में अपने प्राणों की भी चिन्ता नहीं करता[1]। पाश्चात्य विद्वान फ्रैंकलिन के अनुसार पुरानी पत्नी, पुराना श्वान तथा प्रस्तुत धन, यह तीन मनुष्य के वास्तविक मित्र हैं[2]। मानव की सहधर्मिणी पत्नी प्रायः उसके लिए सच्चे मित्र का कार्य करती है। सावित्री के समान असंख्य नारियाँ अपने प्राण हथेली पर रख पति-रक्षा के लिए न जाने क्या-क्या करती हैं। पत्नी ही नहीं, कर्तव्यपरायण सच्चा पति की पत्नी का पोषण तथा रक्षण अपने प्राणों की बाजी लगाकर करता है और अबला नारी उसी के बल को प्राप्त कर सबला हो जाती है। इसके अतिरिक्त अन्य सच्चे मित्र भी मित्र की सहायता सुख-दुःख, भली-बुरी प्रत्येक प्रकार की परिस्थिति में करते हैं। राम ने विभीषण के लिए, कृष्ण ने पांडव बंधुवों के लिए, कर्ण ने दुर्योधन के लिये, दुर्योधन ने कर्ण के लिये और सुग्रीव ने राम के लिए क्या नहीं किया? द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा ने अपने मित्र दुर्योधन की दुर्दशा से पीड़ित होकर उसकी इच्छा को पूर्ण करने के लिए ही निरीह पाण्डव-पुत्रों का वध किया था, यह सर्वविदित है। मित्र-वत्सलता के इसी महत्व को लक्ष्य करके यह कहा जाता है कि जो व्यक्ति मित्र के दुःख से दुखी नहीं होता, उसका मुख-दर्शन भी महान् पाप है[3]।

मानव केवल मानव के प्रति ही अपनी मित्र-वत्सलता का परिचय नहीं देता, प्रत्युत प्रकृति-सहचरी के विभिन्न रूपों के प्रति भी सच्चे मित्र के समान व्यवहार करता है—प्रकृति के विभिन्न पशु-पक्षियों तथा वृक्षादि का पालन-पोषण करता है। राम ने गृद्धराज जटायु तथा सुग्रीव के प्रति अपनी मित्र-वत्सलता का जो परिचय

---

१. आपत्काले तु सम्प्राप्ते यन्मित्रं मित्रमेव तत्।
वृद्धिकाले तु सम्प्राप्ते दुर्जनोऽपि सुहृद्भवेत्।
—विष्णुशर्मा, पंचतन्त्रम्, द्वि० तन्त्र, श्लोक ११८, पृ० १३७।

अथवा

A friend in need is a friend indeed;
Fathers indeed are those who feed,
True comrades they, and wives indeed.
Whence trust and sweet content proceed.
—The panchatantra, Translated by A. W. Ryder, p.133

२. There are three faithful friends, an old wife, an old dog, and ready money.
—Franklin.

३. जे न मित्र दुःख होहिं दुखारी। तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी।
—तुलसी, रामचरितमानस, किष्किंधाकांड, पृ० ६५८।

दिया था, वह सच्चे मित्रों के लिए आदर्श एवं अनुकरणीय है। मानव श्वान में सच्चे मित्र की प्रवृत्तियों को देखकर ही उसे अपना मित्र बनाकर उसका पालन-पोषण तथा रक्षण करता है। यही नहीं, अपने द्वारा आरोपित एवं पोषित पौधौं तथा वृक्षों तक की रक्षा भी वह प्राण पण से करता है।

मानव के समान ही प्रकृति के विभिन्न प्राणियों में भी मित्र-वत्सलता का उक्त गुण प्रायः पाया जाता है। एक ओर तो वे स्वर्गीय मित्रों की सहायता में तत्पर रहते हैं—बंदर अपने मित्र बंदर को संकट में देखकर उसकी मुक्ति के लिये उसका साथ देता है, पत्नी बँदरिया के सतानेवाले के प्राण तक लेने के लिये उद्यत हो जाता है; सर्पिणी अपने पति के प्राण-हंता (मानव) के प्राणापहरण के बिना संतोष की साँस नहीं लेती; वृक्ष पर बैठे पक्षी, संकट का आभास पाते ही, अपने अन्य साथियों को भी अपने साथ उड़ा ले जाते हैं और दूसरी ओर वे अपने पालक मित्र मानव की विभिन्न प्रकार से सहायता करके अपनी मित्र-वत्सलता का परिचय देते हैं। श्वान अपने स्वामी-मित्र मानव की रक्षा के लिए रात्रि-पर्यन्त जागरण करता, सुख-दुःख, अच्छी-बुरी प्रत्येक परिस्थिति में उसका साथ देता और उसके प्राणों को संकट में देखकर अपने प्राणों की बाजी लगा देता है। मानव का साथी उसका पालित अश्व भी उसकी रक्षा के लिये प्रायः अपने प्राणों की चिंता नहीं करता। महाराणा प्रताप, अमरसिंह राठौर तथा वीरांगना लक्ष्मीबाई के अश्व अपने इसी दिव्य गुण के कारण इतिहास एवं साहित्य में अमर हैं। गृद्ध जटायु का अपने मानव मित्र राम की पत्नी सीता की रक्षा के लिये विश्ववीर रावण से लोहा लेना, उसके केश पकड़कर पृथ्वी पर गिरा कर चोंचों से मार-मार कर उसके पर्वत-तुल्य शरीर को विदीर्ण कर मूर्च्छित कर देना और अन्ततः स्वयं भी उसके द्वारा घायल हो वीर गति को प्राप्त करना प्रकृति की मानव के प्रति मित्र-वत्सलता का उत्कष्ट प्रमाण है—

धरि कच बिरथ कीन्ह महि गिरा। सीतहिं राखि गीध पुनि फिरा ।।
चोंचन्ह मारि बिदारेसि देही। दंड एक भइ मुरुछा तेही ।।
तब सक्रोध निसिचर खिसियाना। काढ़ेसि परम कराल कृपाना ।।
काटेसि पंख परा खग धरनी। सुमिरि राम की अद्भुत करनी ।।

× × ×

जल भरि नयन कहहि रघुराई। तात कर्म निज तें गति पाई[१] ।।

(झ) नियमबद्धता तथा समय-निष्ठा—नियमबद्धता तथा समय-निष्ठा भी अन्य मंगलकारी गुणों के समान ही विश्व-स्थिति एवं मांगल्य के लिये परमावश्यक है। संसार में व्यक्ति से लेकर विश्व के व्यापकतम क्षेत्र तक नियमों का ही एकच्छत्र साम्राज्य है। छोटा, बड़ा कोई भी—मनुष्य, प्रकृति का प्राणी अथवा पदार्थ-नियमों

---

१. तुलसी, रामचरितमानस, अरण्यकांड, पृ० ६३३-६३६।

के बंधन से मुक्त नहीं। नियमों के साथ ही समय-निष्ठा भी सम्बद्ध है और वह भी नियमबद्धता के समान ही महत्वपूर्ण है। पाश्चात्य विद्वान् होरैस मैन के अनुसार समय-निष्ठ न रहनेवाला व्यक्ति वह धोखेबाज तथा बेईमान है, जो दूसरों का समय चुराता है[1]। समय-निष्ठ व्यक्ति अपने भौतिक जीवन में प्रत्येक प्रकार से सुखी होता है। इसीलिए नेल्सन ने एक बार अपनी भौतिक प्रगति व वैयक्तिक विकास का समग्र श्रेय अपनी समय-निष्ठा को ही देते हुए कहा था—"मैं सदैव ही अपने समय से आधा घंटा आगे रहा हूँ और (मेरे) इस (कृत्य) ने मुझे मनुष्य बना दिया है[2]।"

नियमबद्धता मनुष्य को अपना गुलाम नहीं बनाती, प्रत्युत मुक्त करती है। राजनीति, समाज, राष्ट्र, कुटुम्ब तथा विश्व के नियम—उसके बन्धन—मनुष्य के स्वतन्त्र विकास में बाधक नहीं, साधक हैं। कुटुम्ब का एक सदस्य यदि अन्य सदस्यों के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करता है, कुटुम्ब के नियमानुसार उनके भरण-पोषण का ध्यान रखता है, तो कुटुम्ब के अन्य सदस्य भी उसके लिये सब कुछ करने के लिए प्रस्तुत रहते हैं। इसी प्रकार राजनीति के क्षेत्र में भी नागरिकों के लिए उसके विभिन्न नियमों का परिपालन प्रत्येक दृष्टि से कल्याणकारी है, क्योंकि वे उनके बन्धन नहीं, मुक्ति के प्रसाधन हैं[3]।

मानव ही नहीं, प्रकृति-जगत में भी नियमशीलता तथा समयनिष्ठता का अत्यधिक महत्व है। यही नहीं, एक दृष्टि से तो यहाँ तक कहा जा सकता है कि प्रकृति में इन गुणों की स्थिति मानव की अपेक्षा अधिक पायी जाती है। प्रकृति अपेक्षाकृत नियमों का परिपालन अधिक तत्परता से करती है, उसके समस्त कार्य नियमानुसार एवं समय पर होते हैं और वह अपने समय के विरुद्ध कभी नहीं जाती। मेघ समय पर आकर जल-वृष्टि कर सृष्टि को प्राण-दान देते हैं[4]। शरद्, हेमन्त, शिशिर

---

१. Unfaithfulness in keeping of an appointment is an act of clear dishonesty. You may as well borrow a person's money as his time............Horace Mann.

२. I have always been a quarter of an hour before my time, and it has made a man of me.—Nelson.

३. जन पद के बन्धन मुक्ति-हेतु हैं सबके।
यदि नियम न हों, उच्छिन्न सभी हों कबके।
—मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ० १६४।

४. बरु ये बदराऊ बरसन आए।
अपनी अवधि जानि, नँदनंदन ! गरजि गगन घन छाए ॥
चातक कुल की पीर जानि कै तेउ तहाँ ते धाए।
द्रुम किए हरित हरिष बेली मिलि, दादुर मृतक जिवाए ॥
—सूर, भ्रमरगीत-सार, पद २८२।

तथा बसन्त आदि ऋतुएँ अपने समय पर आकर निश्चित समय तक रहकर पुनः चली जाती हैं। कोकिल तथा चातक अपने निश्चित समय पर विशेष रूप से बोलते हैं। मयूर वर्षा-ऋतु में विशेष रूप से प्रफुल्लित होकर नृत्य करता है। शरद्-चन्द्रिका सदैव आकर्षक एवं माधुर्य-मंडित प्रतीत होती है। कुमुदिनी रात्रि के समय चन्द्रमा को देखकर सदैव आनंद विभोर रहती है। कमल दिवस-काल में प्रफुल्लित तथा रात्रि में संकुचित हो जाता है। चक्रवाक सदैव रात्रि में ही वियुक्त होते हैं, रात्रि में ही कराहते हैं और प्रातःकाल अपने प्रेम-पात्र से मिलते हैं। श्वान आदि कुछ पशुओं तथा पक्षियों के प्रणय-व्यापार भी एक निश्चित समय पर ही होते हैं। इसी प्रकार वृक्ष, लता, पुष्प, वन-उपवन, सरिता-सरोवर, समीर, आकाश आदि सभी अपने निश्चित नियमों के अनुसार अत्यधिक समय-निष्ठा के साथ अपने विभिन्न कार्य करते हैं[१]।

प्रकृति केवल नियमानुसार समय पर कार्य ही नहीं करती—केवल समय-निष्ठ तथा नियमबद्ध नहीं—प्रत्युत मानव तथा प्रकृति समस्त सृष्टि के नियमों की सृष्टि भी करती है। उनका निर्धारण भी करती है, उनके पालन के लिये बाध्य भी करती है और उनका परिपालन न करनेवाले को कटोर दण्ड भी देती है[२]।

(ञ) *प्रेम*—पूर्व अध्याय में प्रेम के भाव-रूप पर विचार किया गया था, यहाँ उसके गुण-रूप पर विचार करना है—विश्ववन्दनीय प्रेम का गुण-रूप मानव तथा प्रकृति दोनों के ही लिये कितना कमनीय है, जग-जीवन के किन-किन क्षेत्रों में परि-व्याप्त है, मामव तथा प्रकृति में उसकी इस स्थिति की दृष्टि से कहाँ-कहाँ साम्य है, आदि बातों पर संक्षिप्त प्रकाश डालना है।

प्रेम एक विशुद्ध भाव, राजसी वृत्ति, वासनात्मक अवगुण तथा दिव्य गुण आदि अनेक रूपों में हमारे समक्ष आता है। वह यदि एक ओर शैतान, अग्नि अथवा नरक-रूप है, तो दूसरी ओर स्वर्ग का निर्माता अथवा साक्षात् स्वर्ग[३]। किन्तु क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से उसके विभिन्न रूपों की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता के विषय में यदि यह ध्यान रखा जाय कि उसका सम्बन्ध जितने ही अधिक व्यापक क्षेत्र से होगा, उतना ही वह श्रेष्ठ तथा कल्याणकर होगा, तो वह सदैव मंगलमय एवम् गुण-रूप

---

१. समय पर जल देते हैं मेघ। — हरिऔध, वैदेही वनवास, पृ० २६।

२. है वह विविध विधानमयी भव नियमन-शीला।
लोक-चकित-कर है उसकी लोकोत्तर लीला।

—हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० १३।

३. Love is a fiend, a fire, a heaven, a hell,
Where pleasure, pain, and sad repentance dwell.
—Richard Barnfield, The Shepherd's Content, St. 38 (1594)

ही होगा। वैयक्तिक क्षेत्र से लेकर समग्त विश्व के व्यापकतम क्षेत्र तक उसके विभिन्न रूप लक्षित होते हैं। कहीं वह आत्म-प्रेम के रूप में दृष्टिगोचर होता है, कहीं दाम्पत्य-प्रेम के रूप में; कहीं कुटुम्ब-प्रेम के रूप में कमनीय प्रतीत होता है, कहीं जाति-प्रेम के रूप में और कहीं समाज, जन्म-भूमि अथवा राष्ट्र-प्रेम के रूप में अभिनंदनीय लक्षित होता है और कहीं विश्व, मानवता अथवा सृष्टि-प्रेम के रूप में।

प्रेम के उक्त सभी रूप यद्यपि अपने-अपने क्षेत्र में महत्वपूर्ण हैं, तथापि यदि कहीं उसके किन्हीं दो रूपों के मध्य संघर्ष अथवा विरोध लक्षित हो, तो अधिकतम प्राणियों के कल्याण को महत्व देकर—उसके व्यापकतर रूप को श्रेष्ठ मान कर—उसी के अनुसार कार्य करना चाहिये। प्रेम की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता के विषय में पाश्चात्य विद्वान् फ्रैंसिस बेकन का कथन है कि वैवाहिक प्रेम मानवता की सृष्टि करता है, मित्रतापूर्ण प्रेम उसे पूर्णता को पहुँचाता है और लम्पट तथा वासनात्मक प्रेम उसे पतनोन्मुख करता है[1]। प्रेम की व्यापक महत्ता के विषय में कवि पंत का विचार है कि संसार के दारुण हा-हाकार से उसकी रक्षा करने वाला, उसका विश्वव्यापक रूप समीर के समान लोक-लोक में, श्वास के समान विश्व-प्राणियों के हृदय-स्पन्दन में, हर्ष एवं शोक में प्रतिक्षण परिव्याप्त रहने वाला है[2]।

हिन्दी-काव्य में जहाँ तक प्रेम के विभिन्न रूपों की स्थिति का प्रश्न है, मानव-जगत् में उसके सभी रूप अपने स्पृहणीय रूप में अभिव्यक्त हुए हैं, किन्तु प्रकृति में उसके कुछ रूपों के अतिरिक्त अन्य रूपों के दर्शन प्रायः कम होते हैं। उदाहरण के लिये प्रकृति के राष्ट्र-प्रेम एवं विश्व-प्रेम को लिया जा सकता है, कवि मानव के राष्ट्र तथा विश्व-प्रेम की व्यंजना जितनी प्रचुरता से करता है, प्रकृति के राष्ट्र अथवा विश्व-प्रेम की उतनी प्रचुरता से नहीं।

प्रेम के उक्त रूपों में से आत्म-प्रेम की स्थिति प्रायः मानव तथा प्रकृति—उभय पक्षों—में समान रूप से पायी जाती है। अपना उदर-भरण तथा शरीराच्छादन मनुष्य ही नहीं, कवि के अनुसार, प्रकृति के विभिन्न रूप भी करते हैं। उषा-कामिनी लैसयुक्त साटिका को प्राप्त कर हर्षोल्लास से भर जाती है, निशासुन्दरी कभी श्वेत साटिका तथा तारकावलि का मुक्ताहार धारण करती है और कभी स्वर्णिम बूटियों से सुशोभित काली चादर ओढ़ती है—

---

१. Nuptial love maketh mankind, friendly love perfecteth it; wanton love corrupteth and debaseth it.
—Francis Bacon, Essay "on love," Lines 64-66.

२ अनिल सा लोक-लोक में,
हर्ष में और शोक में,
कहाँ नहीं है स्नेह ? साँस-सा सब के उर में।
—पंत, स्नेह, आधुनिक कवि (२), पृ० ७।

(१) किरणों का आगमन देख ऊषा मुसकाई।
मिले साटिका-लैस-टँकी लसिता बन पाई[1] ॥

(२) कुछ पहले थी निशा सुन्दरी कैसी लगती,
सिता-साटिका मिले रही कैसी वह हँसती,
पहन तारकावलि की मंजुल-मुक्ता-माला,
चन्द्र-वदन अवलोक सुधा का पी-पी प्याला[2]।

(३) काली चादर ओढ़ रही थी यामिनी,
जिसमें विपुल सुनहले बूटे थे बने[3]।

इसी प्रकार प्रकृति कभी चन्द्रिकारूपी श्वेत साटिका से अपने शरीर की शोभा-वृद्धि करके आनन्दोल्लास से भर जाती है[4] और कभी दिव्य वस्त्रों से सुसज्जित होकर हर्षातिरेक से उन्मत्त हो उठती है[5]। इसके अतिरिक्त छाया भी मुरझे पत्रों की साटिका से अपना शरीराच्छादन करती और उन्हीं को प्राप्त कर उन्हीं से अपना उदर-भरण कर सन्तुष्ट रहती है[6]।

प्रकृति के उक्त विभिन्न रूपों का आत्मप्रेम गुण की कोटि में ही आता है, क्योंकि प्रेम का यह रूप अवगुण की श्रेणी में स्थान पाने का अधिकारी तभी होगा, जब कि उसका संघर्ष व्यापकतर प्रेम अथवा अन्य किसी गुण से होगा। अपना उदर-भरण तथा शरीराच्छादन (यदि उसका संघर्ष व्यापकतर धर्म अथवा गुण से नहीं होता) भौतिक दृष्टि से आवश्यक तथा हितकर ही है। अतः मानव तथा प्रकृति का अपने शरीर का पोषण, आच्छादन एवं उससे प्रेम करना भौतिक दृष्टि से हितकर होने के कारण गुण ही है, अवगुण नहीं; किन्तु तभी तक जब तक कि वह दूसरों के आत्म-प्रेम में बाधक नहीं बनता, जब तक कि वह अन्य गुणों के विरोधी रूप में प्रस्तुत नहीं होता।

दाम्पत्य अथवा वैयक्तिक प्रेम की महत्ता उसकी अनन्यता में है। प्रेमी जब तक एकनिष्ठ नहीं होता, संसार की कोई भी शक्ति उसके जीवन को सुखमय नहीं बना सकती। पीपल के पत्ते के समान जब तक उसका मन अस्थिर रहता है, तब तक न तो वह किसी से वास्तविक प्रेम कर सकता है और न ही कोई उसका

१. हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० १।
२. हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० ६।
३. हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० १०४।
४. पहन श्वेत-साटिका सिता की वह लसिता दिखलाती थी।
—हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० ५५।
५. प्रकृति-सुन्दरी रही दिव्य-वसना बनी। —हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० १७७।
६. पंत, छाया, पल्लव, पृ० ५८-५९।

विश्वास कर सकता है। यही नहीं, संसार में उसके द्वारा अनेक अनर्थ तथा अकरणीय कृत्य भी होते हैं। उसका जीवन तथा स्थिति मानवता के लिये असह्य भार हो जाती है और वह उसके अस्तित्व-भार को सहन न कर सकने के कारण उसका नाश कर डालती है। इसके विपरीत प्रेमी में जितनी ही अधिक अनन्यता होती है, उतनी ही उससे उसकी वैयक्तिक सुख-शान्ति तथा विश्व-मांगल्य की संभावना रहती है; क्योंकि विश्व व्यक्तियों का ही समष्टि-रूप है और व्यक्तियों के कल्याण में ही विश्व का कल्याण है।

हिन्दी-काव्य में अनन्यता की स्थिति के दर्शन मानव तथा प्रकृति-उभय पक्षों —में प्रायः समान रूप से होते हैं। यदि एक ओर मानव-जगत् में तुलसी, गुप्त, रामचरित उपाध्याय आदि रामकाव्यकारों के राम, लक्ष्मण आदि; जायसी के रत्नसेन (अप्सरा रूपिणी पार्वती तथा पदमावती रूपिणी लक्ष्मी की उपेक्षा के स्थलों पर); सोहनलाल द्विवेदी के कुणाल तथा रामचन्द्र शुक्ल, मैथिलीशरण गुप्त एवं अनूप शर्मा आदि कवियों के गौतम आदि पुरुषों और रामकाव्यकारों की सीता, उर्मिला, माण्डवी, कौशिल्या तथा सुमित्रा: हरिऔध की राधा तथा अन्य कवियों की यशोधरा, सावित्री और अनुसूया आदि नारियों की अनन्यता समस्त विश्व की स्पृहा का विषय है, मानव-समाज का गौरव है और समस्त मानवता के लिये अनुकरणीय है; तो दूसरी ओर प्रकृति-जगत् में चातक, मीन, चकोर, मृग, सर्प, कमल तथा कुमुदिनी की अनन्यता काव्य-संसार का गौरव ही नहीं, समग्र सृष्टि के लिये कमनीय, अभिनन्दनीय एवं वन्दनीय है।

प्रकृति-जगत् के अनन्य प्रेमियों की अनन्यता की व्यंजना द्वारा कवि अप्रत्यक्ष रूप में संसार को प्रेम की अनन्यता का उपदेश भी देता है। अतः प्रकृति के इन प्राणियों की अनन्यता का विस्तृत विवेचन यहाँ अपेक्षित नहीं। यहाँ केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि स्वाति नक्षत्र-प्रेमी चातक प्रिय की निष्ठुरता तथा उसके अन्य अवगुणों की ओर ध्यान नहीं देता। स्वाति-नक्षत्र के जल को छोड़ कर परम पवित्र गंगा जल को भी ग्रहण नहीं करता। मरते समय भी इसी चिन्ता में पड़ा रहता है कि किसी प्रकार मरणोपरान्त भी उसकी अनन्यता में कोई अन्तर न आये। मीन अपने प्रिय जल द्वारा परित्यक्ता होकर भी उसके वियोग में अपने प्राण त्याग देती है। विषमिश्रित जल को भी बिना किसी संकोच के पीकर सुख-शान्ति की नींद सो जाती है। मृग बाण तथा अपने प्राणों की चिन्ता न करके नाद-रस का अनुपान कर अपने जीवन को धन्य समझता है। सर्प मणि के प्राणनाशक रूप को भली प्रकार जान कर भी उसके वियोग में अन्धा हो जाता है। मयूर वर्षा-काल में आकाश में छाई हुई मेघमाला को देख कर आनन्दातिरेक से नृत्य कर उठता है। कमल सूर्य के वियोग में उसके प्रति अपनी अनन्यता के कारण संकुचित हो जाता है। कुमुदिनी अपने प्रिय चन्द्रमा के घातक अवगुणों को जान कर भी रात्रि-पर्यन्त अपलक दृष्टि से उसी को देखती है—उसके द्वारा हिमपात किये जाने पर भी उससे विमुख नहीं

होती। चकोर चन्द्रमा के प्रति अपने अनन्य प्रेम के कारण उसके वियोग में अंगार-भक्षण करता है[1]।

दाम्पत्य अथवा वैयक्तिक प्रेम गुणों की कोटि में तभी आयेगा, जब कि उसमें अनन्यता की पूरी-पूरी मात्रा के दर्शन होंगे। दाम्पत्य प्रेम मानव तथा प्रकृति दोनों की ही विशेषता है—दोनों में ही उसकी स्थिति है। दोनों को ही सृष्टि-क्रम-संचालन के लिये उसकी आवश्यकता है। यदि एक ओर उसकी स्थिति मानव-वर्ग में है; तो दूसरी ओर प्रकृति-जगत् में विभिन्न पशु-पक्षी भी उसके पवित्र सूत्र में आबद्ध हैं[2]; यही नहीं, तृणादिक वस्तुओं तक में भी उसकी अटल व्यवस्था स्थापित है[3]।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सात्विक प्रवृत्तियों का पुष्प-समूह, विश्व-मंगल का कल्पतरु, प्रकाश का दिवाकर, मरुस्थल का जलद तथा वैभिन्य को नष्ट करने वाला अभिन्नता का साक्षात् रूप दाम्पत्य-प्रेम केवल मानव की ही विशेषता नहीं। प्रकृति का भी उस पर उतना ही अधिकार है, जितना कि मानव का; प्रकृति-जगत् में भी उसकी स्थिति उसी प्रकार है, जिस प्रकार मानव में।

कुटुम्ब, जाति, समाज, जन्म-भूमि, राष्ट्र तथा विश्व के प्रति प्रेम की स्थिति मानव-वर्ग में जितनी प्रचुरता से उपलब्ध होती है, प्रकृति में नहीं। प्रकृति के जड़-चेतन रूपों में प्रेम के इन रूपों का आरोप भी उसी प्रकार किया जा सकता है, जिस प्रकार अन्य गुणों का प्रायः मिलता है। किन्तु कल्पना से कुछ दूर की वस्तु होने के कारण हिन्दी ही क्या, अन्य भाषाओं के साहित्य में भी प्रकृति में इन गुणों का आरोप बहुत कम मिलता है। हाँ, प्रकारान्तर से कहीं-कहीं इनके दर्शन अवश्य हो जाते हैं।

मानव-वर्ग में कौटुम्बिक प्रेम तथा उसके विभिन्न आदर्शों की प्रतिष्ठा तुलसी, गुप्त, हरिऔध, रामचरित उपाध्याय आदि कवियों के काव्य में अपने उत्कृष्टतम रूप में हुई है। जाति-प्रेम, समाज-प्रेम तथा जन्म-भूमि के प्रति प्रेम के उच्च आदर्श भी अनेक कवियों में उपलब्ध होते हैं। राष्ट्र-प्रेम तो इस शताब्दी के सहस्रों कवियों का विषय रहा है। न जाने कितने कवियों ने अपनी लेखनी की इस पावन सृष्टि से परतन्त्र भारत की शृंखलाओं को तोड़ फेंकने की प्रेरणा देकर देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति में अपना बहुमूल्य योग दिया है; न जाने कितने कवियों ने राष्ट्र के सुषुप्त नागरिकों में नूतन जागृति, नव्य उत्साह तथा नूतन शक्ति-सामर्थ्य का शंख फूँक कर परतन्त्र राष्ट्र की बेड़ियों को काट फिंकवाया है; भारतेन्दु, प्रसाद, पंत, निराला,

---

१. सौंदर्य-सुधा बलिहारी चुगता चकोर अंगारे। —प्रसाद, आँसू, पृ० ४३!

२. पशु-पक्षी के जोड़े भी हैं दीखते।
वे भी हैं दाम्पत्य बंधनों में बँधे। —हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० १८६।

३. प्राणी में ही नहीं, तृणों तक में यही,
अटल व्यवस्था दिखलाती है स्थापिता। —हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० १८५।

दिनकर, गुप्त आदि न जाने कितने कवियों ने हिन्दी-काव्य के इस अंग की श्रीवृद्धि की है—

(१) *वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान,*
वही है शान्ति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य-सन्तान।
जिएँ तो सदा इसी के लिये, यही अभिमान रहे, यह हर्ष,
निछावर कर दें हम सर्वस्व हमारा प्यारा भारतवर्ष[१]।

(२) *हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती, स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती।*
अमर्त्य वीर-पुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो, प्रशस्त पुण्य-पंथ है बढ़े चलो बढ़े चलो[२]।

(३) *क्या यह वही देश है—*
भीमार्जुन आदि का कीर्ति क्षेत्र,
चिर कुमार भीष्म की पताका ब्रह्मचर्य-दीप्त
उड़ती है आज भी जहाँ के वायु मंडल में[३]।

विश्व-प्रेम यद्यपि प्रेम का सर्वोत्कृष्ट रूप है, तथापि मानव अभी इस क्षेत्र में अभीष्ट प्रगति नहीं कर सका है। प्रथम महायुद्ध के महाविनाशकारी दुष्परिणाम से वह बहुत कुछ जागरूक हो उठा था और उसने इस दिशा में संसार को विश्व-प्रेम का पाठ पढ़ा कर 'वसुधैवकुटुम्बकम्' के अकलुष सौन्दर्य की प्रतिष्ठा भी की थी। किन्तु अब वह कदाचित् उसे पुनः भूल गया है। हाँ ! मानव-जगत्-का जो वग विश्व-प्रेम की महत्ता को समझता है, वह आज भी उसकी महती भावना से भावित हो विश्व-शान्ति तथा विश्व-कुटुम्ब की स्थापना के लिये प्रयत्नशील है। हिन्दी-काव्य में जहाँ तक मानव में स्थित विश्व-प्रेम का सम्बन्ध है, हरिऔध के राम, सीता, कृष्ण तथा राधा; रामचन्द्र शुक्ल, गुप्त तथा अनूप शर्मा के गौतम बुद्ध; प्रसाद के मनु तथा श्रद्धा; दिनकर के युधिष्ठिर; गुप्त जी की उर्मिला तथा ठाकुर प्रसाद सिंह के महामानव गाँधी आदि पात्रों में उसके उत्कृष्टतम रूप के दर्शन होते हैं।

प्रकृति में उक्त गुणों की स्थिति, जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, प्रकारान्तर से यत्र-तत्र ही मिलती है। पंत की 'चींटी' में कुटुम्ब, जाति आदि के प्रति उसके प्रेम का यत्किंचित् आभास मिलता है। माखनलाल चतुर्वेदी की एक कविता में परतन्त्र भारत के दैन्य-दुख से विह्वल गंगा, यमुना, नर्मदा, कृष्णा और कावेरी आदि नदियों के राष्ट्र-प्रेम का उल्लेख किया गया है[४]। 'बच्चन' की 'घायल

१. प्रसाद, स्कन्दगुप्त, पृ० १६३।
२. प्रसाद, चन्द्रगुप्त, पृ० १७७।
३. निराला, दिल्ली, अनामिका, पृ० ५८।
४. ये सौ वर्ष कि प्रखर प्रतीक्षा में बीतीं घड़ियाँ,
ये सौ वर्ष कि कटीं विदेशी कारा की कड़ियाँ।

हिन्दुस्तान' शीर्षक कविता में परतन्त्र भारत की दीन दशा से विह्वल दिशाओं, गतिशील हवाओं, आकाश, तृण, तरुवर, पल्लव तथा लतिकाओं में राष्ट्र-प्रेम की स्थिति का काव्योचित संकेत किया गया है। देश की परतन्त्रता से दुःखित, खिन्न प्रकृति उसकी मुक्ति के लिये भीषण तूफान मचा देने के लिये एक न एक दिन अवश्य उठ खड़ी होगी, कवि को इसकी आशा ही नहीं, विश्वास भी है[1]।

इसी प्रकार सोहनलाल द्विवेदी के स्वतन्त्रता-सूर्य के उदय से राष्ट्र-प्रेम की भावना से भाषित वसुधा प्रसन्न-पुलकित हो उठती है, खिलखिला कर हँसती है; आकाश मुसकराता है; दिशाएँ सौरभ-दान करती हैं और स्वर्णिम सूर्य-रश्मियाँ भारतमाता के स्वर्ण-मुकुट को स्वर्ण-रंग में रँग देती हैं[2]।

प्रकृति में विश्व-प्रेम की स्थिति का निर्देश काव्य में प्रायः कम उपलब्ध होता है। किन्तु सर्वसहिष्णु, क्षमा-क्षमता तथा ममत्व की प्रतिमूर्ति प्रकृति समग्र संसार को अपना समझती है—सभी को शीतल, सुखद जल-दान करती, सभी को अन्न-वस्त्र प्रदान करती, सभी को रत्नादि का दान देकर उनके अलंकरण में योग देती और सभी को औषधियाँ प्रदान करके उनका रोग-निवारण करती है। उसकी शीतल गोद सभी के लिये खुली है; उसके विभिन्न सुखदायक रूप सभी के लिये हैं; उसकी शान्ति, सान्त्वना, प्रेम एवं ममत्व सब के लिये—समग्र सृष्टि के लिये है[3]; उसकी दृष्टि में किसी के भी लिये भेद-भाव नहीं। अतः इस दृष्टि से उसके विश्व, मानवता

गंगा, यमुना और नर्मदा कृष्णा कावेरी का जल,
रुक-रुक कर मानों बहता था, थम-थम-थम कर-कर रहा विकल।
—माखनलाल चतुर्वेदी, हिन्दुस्तान दैनिक, २६ जनवरी, सन् १९५८ ई०।

१. दबी हुई दुबकी बैठी हैं कलरवकारी चार दिशायें,
ठगी हुई ठिठकी-सी लगतीं नभ की चिर गतिमान हवायें,
अंबर के आनन के ऊपर एक मुर्दनी-सी छाई है,
एक उदासी में डूबी हैं तृण तरुवर-पल्लव-लतिकायें;
आँधी के पहले देखा है कभी प्रकृति का निश्चल चेहरा ?
इस निश्चलता के अन्दर से ही भीषण तूफान उठेगा।
—बच्चन, घायल हिन्दुस्तान, धार के इधर-उधर, पृ ३१।

२. लो तिरंग ध्वज नभ में फहरा। धरा हँसी, अंबर मुसकाया,
दिग-दिगन्त ने सुरभि लुटाया, कंचन किरणों ने जननी का
हेम-किरीट रँग दिया गहरा। —सोहनलाल द्विवेदी, हिन्दुस्तान दैनिक। २६-१-५८

३. सर्वसहा क्षमा-क्षमता की, ममता की वह प्रतिमा।
खुली गोद जो उसकी आवे, समता की वह प्रतिमा। —गुप्त, द्वापर, पृ० ४६।

अथवा सृष्टि-प्रेम का निषेध नहीं किया जा सकता क्योंकि इस रूप में उसका उल्लेख भावुक कवि-समुदाय यत्र-तत्र करता ही है।

(ट) *सौजन्य*—सौजन्य सहिष्णुता, क्षमाशीलता, उदारता, निस्पृहता, परोपकार, कृतज्ञता, त्याग एवं बलिदान आदि विभिन्न गुणों का समष्टि रूप है। भावुक कवि को उसकी स्थिति जहाँ एक ओर मानव-जगत् में प्राप्त होती है, वहाँ दूसरी ओर प्रकृति-जगत् में भी; जहाँ एक ओर उसे कृष्ण, राधा, युधिष्ठिर, गौतम, राम, सीता, उर्मिला तथा लक्ष्मण आदि पात्रों में सौजन्य के उत्कृष्टतम आदर्श उपलब्ध होते हैं, वहाँ दूसरी ओर प्रकृति-जगत् के विभिन्न सज्जन रूपों में भी और जहाँ एक ओर मानव-वर्ग में उसे मानव के लिये प्राण-त्याग तक कर देनेवाले सज्जन मिलते हैं—'वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिये मरे', वहाँ दूसरी ओर प्रकृति-जगत में भी धूलि-कण, पृथ्वी, पुष्प, मलय-वृक्ष तथा सरसों के सौजन्य के सर्वोत्कृष्ट आदर्श प्राप्त होते हैं। पृथ्वी, पुष्प, मलय-वृक्ष, मेघ, वायु आदि के सौजन्य का उल्लेख तो प्रायः मिलता ही है, सरसों की सज्जनता का एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है:—

काटा हमने और खूब पीटा मर मर कर, पेर-पेर कर तेल निकाला तुम्ह से जी भर।
फिर दीपक में भर कर थोड़ा तूल मिलाया, निर्दयता से खोद खोद कर तुम्हें जलाया।
हमने तो अस्तित्व तक नष्ट तुम्हारा कर दिया।
तुमने अहा! प्रकाश से अखिल भुवन को भर दिया[1]।

(ठ) *शक्तिमत्ता*—विश्व-कल्याण के लिए अपेक्षित अन्य गुणों के समान ही शक्तिमत्ता का महत्व भी असंदिग्ध है। मानव-वर्ग में राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, कृष्ण, बलराम, भीम, अर्जुन, भीष्म आदि महापुरुषों की शक्तिमत्ता जगत्‌विख्यात है। पुत्र-शोकाकुल अन्धे धृतराष्ट्र ने अपनी अनन्त शक्ति के कारण ही प्रतिशोध की चरम भावना से भावित हो पुत्र-हन्ता भीम की लौह-मूर्ति को मसल कर चूर-चूर कर दिया था। पाश्चात्य देशों में भी हरक्यूलिस, एचलिस आदि व्यक्ति अपनी अपार्थिव शक्ति के लिये ही विख्यात हैं। कवि के अनुसार शक्ति आकाश को भी झुकाकर अपनी चरण-बन्दना के लिये वाध्य कर सकती है—

बल के सम्मुख विनत भेड़ सा अम्बर शीश झुकाता है[2]।

शक्ति के दो रूप हैं—शारीरिक तथा आध्यात्मिक। शारीरिक शक्ति तो महत्वपूर्ण है ही, आध्यात्मिक शक्ति उससे भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। ब्रह्मर्षि वसिष्ठ के अध्यात्म-बल के समक्ष क्षत्रिय विश्वामित्र तथा उनके पुत्रों की शारीरिक

---

१. मोहनलाल महतो 'वियोगी', सरसों का सौजन्य, निर्माल्य, पृ० १०४।

२. दिनकर, 'शक्ति या सौंदर्य' धूप-छाँह, पृ० ६।

एवं सैनिक शक्ति को किस प्रकार विनत होना पड़ा था और आध्यात्मिक शक्ति की प्रबल लालसा से उद्दीप्त क्षुब्ध विश्वामित्र ने ब्रह्मर्षि-पद-प्राप्ति के लिये कितनी कठोर साधना की थी, यह सर्वविदित है। हिंदी-काव्य तथा इतिहास के लब्ध-प्रतिष्ठ महापुरुष गौतम बुद्ध ने आध्यात्मिक शक्ति की प्राप्ति के लिये ही सुन्दरी यशोधरा, पुत्र राहुल तथा राज्य-वैभव को तिलांजलि दे दी थी। महावीर स्वामी, सम्राट अशोक तथा महात्मा गाँधी अपनी आध्यात्मिक शक्ति के लिये ही प्रख्यात हैं। धर्मराज युधिष्ठिर का रथ उनकी आध्यात्मिक शक्ति के कारण ही पृथ्वी से ३ अंगुल ऊपर चलता था। भारतीय नारियाँ अपनी आध्यात्मिक शक्ति के कारण ही काल को भी चुनौती देकर अपने पतियों की रक्षा करती रही हैं।

प्रकृति की शक्तिमत्ता पर विचार करने से विदित होता है कि उसमें शारीरिक शक्ति की स्थिति अपने चरम रूप में है। मृगेन्द्र, व्याघ्र, चित्रक, गयन्द, मगर, नक्र आदि प्रकृति के प्राणियों, तूफानी समुद्रों तथा झंझावात, उपल-वृष्टि, सूर्य-चंद्र आदि प्रकृति-शक्तियों में कितनी शक्ति है, यह सभी जानते हैं। कवि-समुदाय जिस प्रलय की कल्पना करता आया है, वह भी प्रकृति-शक्तियों द्वारा ही की जाती है। मनुष्य ने अपने बुद्धि-बल से प्रकृति-शक्तियों को यद्यपि विजित कर रक्खा है, तथापि प्रकृति अपनी शारीरिक शक्ति के बल पर उसे आज भी चुनौती देती है—

नियति अब भी हँसती है किन्तु, विहँस कर कहती मृत्यु कराल,
'जरा सी मिट्टी का तू ढेर, पड़ी हैं जिसमें साँसें चार'[1]।

यही नहीं, क्रुद्ध होने पर वह लाखों का सर्वनाश भी कर डालती है और बुद्धि-गर्वी मानव असहाय-निरुपाय हो उसका लक्ष्य बनता है[2]।

प्रकृति में आध्यात्मिक शक्ति की स्थिति उसके विभिन्न गुणों की महती शक्ति के रूप में देखी जा सकती है और इस दृष्टि से पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, मेघ, रज-कण, पुष्प, मलय-वृक्ष तथा समीर आदि प्रकृति-रूपों में कवियों द्वारा आध्यात्मिक शक्ति का आरोप प्रायः किया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रकृति-शक्तियों में देवत्व की प्रतिष्ठा करनेवाले मानव के अनुसार भी उनमें आध्यात्मिक शक्ति होती है। किंतु वैज्ञानिक तथा बौद्धिक दृष्टि-विन्दु से प्रकृति में उसके अभाव के कारण कविगण भी प्रायः उसमें उसका उल्लेख कम करते हैं।

(ड) *बुद्धिमत्ता*—बुद्धिमत्ता को कभी-कभी शक्ति का एक रूप मान कर

---

१. विराज, वसंत के फूल, पृ० ११।

२. कड़क कर ज्वालामुखी प्रचण्ड, पूछते कैसा अणु विस्फोट
और कोई आ शिशु भूकम्प, लगा जाता युग-व्यापी चोट
दूर वर्षा आँधी औ बाढ़ हवा का ठंडा झोंका एक
न जाने कैसी करता मार, कि लाखों पल में जाते लोट

—विराज, वसंत के फूल, पृ० १२।

बौद्धिक शक्ति की संज्ञा भी दी जाती है। किन्तु बुद्धि को शक्ति मान लेने पर शक्ति का क्षेत्र इतना व्यापक हो जाता है कि उसमें एक नहीं, अनेक प्रकार की शक्तियों—अनेक गुणों—को समाहित किया जा सकता है। सहनशक्ति, क्षमा-शक्ति, न्याय-शक्ति सेवा-शक्ति, दान-शक्ति, धैर्य-शक्ति, संतोष-शक्ति, कार्य-शक्ति तथा उपदेश-शक्ति अनेक प्रकार की शक्तियाँ हो सकती हैं। शक्ति को इतने व्यापक रूप में ग्रहण करना उचित नहीं। अतः बुद्धिमत्ता को भी शक्ति से पृथक् मानकर उसका पृथक् उल्लेख करना ही उचित है।

बुद्धिमत्ता की दृष्टि से मानव सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। चेतना के जिस सोपान पर वह अधिष्ठित है, प्रकृति उस पर नहीं। प्राकृतिक विज्ञान, मानव-विज्ञान, रसायन-विज्ञान आदि के द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि समान आकार, आयतन तथा तोलवाले पशु-पक्षियों की अपेक्षा मानव-मस्तिष्क अधिक विकसित, गुरुतर एवं अधिक भारवाला होता है। उदाहरण के लिए यदि प्रकृति के किसी प्राणी के शरीर का आकार, आयतन तथा भार किसी मनुष्य के ही बराबर है, तो उस मनुष्य का मस्तिष्क प्रकृति के उस प्राणी के मस्तिष्क के समान आकार अथवा भार वाला न होकर उससे कहीं बड़ा तथा भारी होगा। इसी प्रकार यदि किसी भैंस के शरीर का भार २५ मन और मनुष्य ५/२ (ढाई) मन है, तो उस मनुष्य के मस्तिष्क का भार भैंस के मस्तिष्क के भार का ५/२ × १/२५ अर्थात् १/१० न होकर—जैसा कि दोनों के भार के अनुपात की दृष्टि से होना चाहिये—इससे कहीं अधिक होगा।

मस्तिष्क के भार अथवा आयतन की दृष्टि से ही नहीं बुद्धि-विकास की दृष्टि से भी मानव प्रकृति से बहुत आगे है। अपनी बुद्धि के बल पर ही वह आज प्रकृति का अधीश्वर है। वारि, विद्युत, वाष्प सभी उसके अधीन हैं; पवन का ताप उसके आदेश के अनुसार चढ़ता-उतरता है; वरुणेश उसका हुक्म मानते हैं; अम्बर उसकी आज्ञानुसार उसका शब्द-वहन करता है, संदेश प्रसारित करता है; भूगोल उसके चरणों के नीचे है; आकाश उसकी मुट्ठी में है; पर्वत, समुद्र, सरिताएँ उसके मार्ग में बाधा नहीं दे सकतीं[१]; प्रकृति अपने रहस्य उसके लिये उसका हुक्म होते ही हस्तामलकवत् प्रकट कर देती है; मेघ उसकी इच्छानुसार जल-वृष्टि करते हैं; निसर्ग से कुरूप व्यक्ति को वह आदर्श सौंदर्य प्रदान कर सकता है; प्रकृति की अनेक शक्तियों को छीनकर उनका उपयोग करता है और समस्त प्रकृति-तत्वों से अपनी इच्छानुसार कार्य कराता है। प्रकृति-शक्तियाँ आज उसकी बुद्धि के कारण ही उससे भयातंकित एवं त्रस्त हैं[२]।

---

१. दिनकर, कुरुक्षेत्र, पृ० १०६-११०।

२. प्रकृति की प्रच्छन्नता को जीत, सिंधु से आकाश तक सबको किये भयभीत;
सृष्टि को निज बुद्धि से करता हुआ परिमेय, चीरता परिमाणु की सत्ता असीम, अजेय
—दिनकर, कुरुक्षेत्र, पृ० ११२।

प्रकृति में मानव के समान बुद्धिमत्ता तो नहीं, पर कुछ न कुछ पायी अवश्य जाती है। "सुबुधि सों ससा सिंघ कहँ मारा' वाली जन-श्रुति सर्व विदित है। यही नहीं, पंचतन्त्र के अनुसार मूषक, कच्छप, मृग तथा काक-वर्ग में प्रथम श्रेणी की बुद्धिमत्ता होती है[1]। इसके अतिरिक्त श्वान, अश्व, गयन्द, कीर, मैना, चींटी तथा बया आदि पशु-पक्षियों में भी बहुधा उसके उत्कृष्ट रूप के दर्शन होते हैं। बया तथा चींटियों[2] की गृह-निर्माण-कला उनकी बुद्धिमत्ता की ही परिचायिका है।

कवि के लिये बुद्धिमत्ता के उप-रूप दूरदर्शिता तथा स्मरण-शक्ति की स्थिति भी मानव तथा प्रकृति दोनों में ही प्रायः समान रूप से लक्षित होती है। यदि एक ओर मानव-जगत् में कृष्ण की दूरदर्शिता से पाण्डव-बन्धुओं की रक्षा तथा विजय हुई ; भीष्म, द्रोण, कर्ण तथा अन्य प्रख्यात महारथियों का वध हुआ ; कर्ण के भयंकर बाणों तथा पुत्र-शोकाकुल धृतराष्ट्र की भीम को नष्ट कर डालने की योजना का विफलीकरण हुआ, तो दूसरी ओर प्रकृति-जगत् में भी दूरदर्शी शशक ने सिंह को नष्ट कर डालने की न केवल योजना ही तैयार की, प्रत्युत उसे नष्ट भी कर दिया। इसके अतिरिक्त चींटी, मधुमक्खी तथा बया आदि प्रकृति के प्राणी अपनी दूरदर्शिता का परिचय प्रायः देते पाये जाते हैं। चींटियाँ वर्षा के आगमन का संकेत पाते ही भविष्य के लिये अनाद्य-संग्रह का कार्य प्रारम्भ कर देती हैं। मधु-मक्खियाँ भविष्य के लिये मधु का संग्रह करती हैं और बया अपने निवास के लिये सुरक्षित नीड़ का निर्माण करता है।

स्मरण-शक्ति की स्थिति जहाँ एक ओर मानव-वर्ग में पायी जाती है, वहाँ दूसरी ओर प्रकृति के कुछ प्राणियों में भी। इसके अतिरिक्त भावुक कवि उसका आरोप कभी-कभी प्रकृति के जड़-रूपों अथवा पदार्थों में भी करता है। उदाहरण के लिये बालुका-राशि के विभिन्न कणों में स्मरण-शक्ति की तीव्रता की स्थिति-निर्देश का यह अवतरण लिया जा सकता है—

ओ चरवाहे के बालू, टुक झाँक हृदय में।
ग्रहणशील है तेरा कण-कण,
पूरम्पूर ग्राम का सब इतिहास तुम्हें रहता याद[3]।

---

१. The mouse and turtle, deer and crow,
Had first-rate sense and learning, so
Though money failed and means were few,
They quickly put their purpose through.
—The pancha tantra, Translated by A. W. Ryder, P. 183

२. पंत, चींटी, युगवाणी, पृ० ६।

३. देवेन्द्र सत्यार्थी, सरोजिनी नायडू, वन्दनवार, पृ० ७७।

(ढ) *न्यायशीलता*—न्यायशीलता विश्व-मंगल के लिये कितनी अपेक्षित है, न्याय-रक्षा तथा अत्याचार-दमन कितना अनिवार्य है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। अधर्म तथा अत्याचार से क्षुब्ध क्रोधोद्दीप्त न्याय-निष्ठ मानव उसके कर्ता को नष्ट कर डालने के लिये कटिबद्ध हो उग्रतम रूप धारण करता है और या तो उसे नष्ट करके ही दम लेता है, या उसके क्षमा-याचना करने पर उसके सुधर जाने की आशा से उसे क्षमा करके सात्विक जीवन व्यतीत करने तथा विश्व-कल्याण में अपने कर्मों द्वारा योग देने के लिये बाध्य कर देता है। वाल्मीकि, तुलसी, केशव, गुप्त, रामचरित उपाध्याय आदि कवियों के राम ने रावण तथा उसके साथियों के अत्याचार से पीड़ित मानवता के दुःख से विह्वल हो, राक्षसों द्वारा खाये गये मुनियों की हड्डियों के ढेर को देख कर क्रोधोद्दीप्त हो, उनको नष्ट कर डालने का प्रण करके (निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह[1]) और कालान्तर में उस प्रण को पूरा करके अत्याचार-दमन तथा न्याय-रक्षा में जो योग दिया, वह सर्वविदित है। इसके अतिरिक्त कुत्ते को सताने वाले ब्राह्मण को उचित दण्ड देकर भी उन्होंने न्याय के जिस रूप की प्रतिष्ठा की, वह इस देश के लिये ही नहीं, समग्र वसुन्धरा के लिये अनुकरणीय है। सूर आदि भक्तिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों तथा हरिऔध, द्वारिकाप्रसाद मिश्र आदि आधुनिक कवियों के कृष्ण में भी न्यायशीलता के जिन विभिन्न रूपों के दर्शन होते हैं, वे भी समस्त विश्व की स्पृहा के विषय हैं। इसी प्रकार युधिष्ठिर, कुणाल तथा गौतम आदि महापुरुषों में भी न्याय-प्रेम के जिन भव्य आदर्शों की प्रतिष्ठा हुई है, वे भी समग्र सृष्टि के लिये कमनीय एवं कल्याणकारी हैं।

प्रकृति की न्यायशीलता के विषय में कवि का विश्वास है कि वह अत्याचार, अनाचार और अन्याय को देख कर कुपित हो उग्र रूप धारण कर उसके कर्ता के नाश के लिये कटिबद्ध ही नहीं होती, प्रत्युत उसका नाश भी कर डालती है। इसी विश्वास के बल पर 'पृथ्वी फट जायेगी', 'दिग्गज हिल उठेंगे', 'आकाश क्रुद्ध हो उठेगा', 'बज्र टूट पड़ेगा', 'गाज गिरेगी' आदि उक्तियाँ किसी अत्याचार, अन्याय अधर्म अथवा अनाचार को देख कर मानव-मुख से प्रायः निकल पड़ती हैं, इसके अतिरिक्त वैदिक काल के ही नहीं, आधुनिक मानव का भी बहुत कुछ यह विश्वास है कि पृथ्वी पर अत्याचार और अनाचार की जब वृद्धि होती है, तो प्रकृति कुपित हो अत्याचारियों को अंधड़, उपल-वृष्टि, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी तथा अन्य अनेक रूपों में उचित दण्ड देकर अपनी न्यायशीलता का परिचय देती है। किन्तु जब वह ऐसा नहीं करती—अत्याचारियों को उचित दण्ड देने के लिये उग्र रूप धारण नहीं करती—तो उसकी न्याय-प्रियता के प्रति

१. तुलसी, रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, दोहा ९।

मानव के विश्वास को आघात पहुँचता है और वह क्षोभपूर्ण आश्चर्य से भर जाता है—

और रहा जीवित मैं, धरणी फटी न दिग्गज डोला,
गिरा न कोई वज्र, न अम्बर गरज क्रोध में बोला[1]।

(*ग*) *शीतलता*—शीतलता मानव तथा प्रकृति दोनों की ही विशेषता है। जिस प्रकार मनुष्य की वाणी, कर्म तथा स्नेह में शीतलता एवं तरलता होती है; उनसे अमृत-वृष्टि का सा आनन्द प्राप्त होता है, जननी के अंक की सुखद शीतलता स्वर्गीय सुख प्रदान करती है, उसी प्रकार प्रकृति के विभिन्न रूपों में भी शान्ति एवं शीतलता की उपलब्धि होती है। त्रिविध समीर, सरिता-तट, सरोवर, शीतल जल, लता-पादप, पुष्प-पल्लव, कुंज, चन्दन एवं कर्पूर आदि सभी में सुखद शीतलता प्रदान करने का महान् गुण विद्यमान है। यही नहीं, भावुक कवि को मृत्यु की चिर निद्रा में भी अनन्त शान्ति, सुखद शीतलता तथा अपार विश्राम का अनुभव होता है—उसका अंक भी जननी के सुखद, सुशीतल एवं स्नेहमय अंक के समान प्रतीत होता है[2]।

उक्त गुणों के अतिरिक्त मानव तथा प्रकृति-उभय पक्षों में सामाजिकता, एकता, कर्तव्यपरायणता, उत्तरदायित्वशीलता, धैर्य, साहस तथा दृढ़ता आदि गुणों की स्थिति भी यत्र-तत्र पायी जाती है। हिन्दी-काव्य में यदि एक ओर मानव-वर्ग में राम, लक्ष्मण तथा पाण्डव-बन्धुओं आदि में उक्त समस्त गुण विद्यमान हैं, तो दूसरी ओर प्रकृति-जगत् में कवि पंत की 'चींटी' में भी—

वह है पिपीलिका पाँति !

÷ + +

बच्चों की निगरानी करती, लड़ती, अरि से तनिक न डरती,
दल के दल सेना सँवारती; घर, आँगन, जनपथ बुहारती !

\+ + +

चींटी है प्राणी सामाजिक, वह श्रमजीवी, वह सुनागरिक[3]।

उक्त वातावरण की पहली पंक्ति के 'पिपीलिका पाँति' शब्दों में चींटी

---

१. दिनकर, कुरुक्षेत्र, पृ० ६३।
२. मृत्यु, अरी चिर निद्रे ! तेरा
अंक हिमानी-सा शीतल। —प्रसाद, कामायनी, पृ० १८।

तथा—

तू धूल भरा ही आया ओ चंचल जीवन बाल।
मृत्यु जननी ने अंक लगाया। —महादेवी वर्मा, दीपशिखा, पृ० ६२।

३. पंत, चींटी, युगवाणी, पृ० ६-१०।

की एकता तथा सामाजिकता; 'बच्चों की निगरानी करती' में उसकी उत्तरदायित्व-शीलता, कर्तव्यपरायणता तथा मातृ-प्रेम; 'लड़ती अरि से तनिक न डरती' में उसका धैर्य, साहस, दृढ़ता तथा वीरता; 'घर आंगन जनपथ बुहारती' में स्वच्छता तथा पवित्रता; 'सामाजिक' में सामाजिकता, एकता, मित्रवत्सलता, समाज तथा जाति-प्रेम; 'श्रमजीवी' में अध्यवसाय तथा कर्मण्यता और 'सुनागरिक' में न जाने कितने गुणों की व्यंजना है।

(त) *कलात्मक नैपुण्य*—कलात्मक नैपुण्य भी अन्य गुणों के समान ही मानव तथा प्रकृति दोनों की ही विशेषता है। कवि के अनुसार उसकी स्थिति यदि एक ओर मानव-जगत् में है, तो दूसरी ओर जड़-चेतन प्रकृति के विभिन्न रूपों में भी। यदि एक ओर मानव-जगत् में कृष्ण की मुरली-वादन-कला प्रसिद्ध है[1], जायसी की पदमावती का वीणा-वादन अद्वितीय है[2], तो दूसरी ओर प्रकृति-जगत् में रजनी-सुन्दरी अपनी मरकत-वीणा पर अगाध विश्वास के साथ किरणों के तार सँभाल सकती है[3] और भ्रमर अपनी वीणा-वादन-पटुता से मानव-मन को आनंद-विभोर कर सकता है[4]। यदि एक ओर सुन्दरी रमणियों में पौस-मास को वर्षाऋतु में परिणत करवाकर भयंकर जल-वृष्टि करा सकने की संगीत-निपुणता है[5], तो दूसरी ओर प्रकृति-जगत् में कोकिल, बुलबुल, सरिता, मधुप-बालाओं, शैल-कुमारियों, निर्झरों तथा निर्झरियों में भी मानव-मन को आश्चर्य-स्तब्ध कर देनेवाला संगीत-नैपुण्य है[6]।

---

१ मुरली सुनत अचल चले।
थके चर, जल झरत पाहन, विफल वृच्छहु फले।
—सूर, सूर-पंचरत्न, चौथा रत्न, मुरली-माधुरी, पद २६।

२. गहै बीन मकु रैनि बिहाई। ससि-बाहन तहँ रहै ओनाई॥
पुनि धनि सिंघ उरेहै लागै। ऐसिहि बिथा रैनि सब जागै॥
—जायसी, पद्मावत, जायसी-ग्रंथावली, पृ० ७३।

३. रजनी ने मरकत वीणा पर हँस किरणों के तार सम्भाले।
—महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० १०१।

४. मधुकर की वीणा अनमोल। —पंत, मोह, पल्लव, पृ० ३७।

५ पूस मास सुनि सखिन सों, साईं चलत सवार।
गहि कर बीन प्रबीन तिय, राग्यो राग मलार।
—बिहारी, बिहारी-बोधिनी, दोहा ४७७।

६. सुना दो ना, तब हे सुकुमारि! मुझे भी ये केसर के गान॥
—पंत, मधुकरी, पल्लव, पृ० २८।

तथा—
यह कैसा जीवन का गान अलि, कोमल कल मल टल मल।
अरी शैल-बाले नादान, यह अविरल कल - कल छल - छल॥
—पंत, निर्झरी, पल्लव, पृ० ७३।

यदि एक ओर मानव की वास्तुकला-पटुता ताजमहल जैसे भव्य स्मृति-भवनों का निर्माण करा सकती है, तो दूसरी ओर प्रकृति-जगत् में चींटी तथा बया आदि प्राणियों का वस्तु - कला-नैपुण्य आश्चर्योत्पादक है[१]। इसी प्रकार यदि मानव में लेखन-कला की निपुणता है, तो प्रकृति-जगत् में सरिता-सुन्दरी अपनी तरंगों की भव्य लिपि-माला में आकर्षक एवं मनोहर लेख लिखने की सामर्थ्य रखती है[२]।

तात्पर्य यह कि भावुक कवि के अनुसार मानव तथा प्रकृति—उभय पक्षों में संगीत, वाद्य, वास्तु तथा लेखन आदि विभिन्न कलाओं की निपुणता का गुण लगभग समान रूप से ही विद्यमान है। कवि के लिये प्रकृति के जड़-चेतन रूपों में भी विभिन्न प्रकार के कला-नैपुण्य की स्थिति उसी प्रकार है, जिस प्रकार मानव में, वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक भले ही उसका निषेध करे। काव्य और विज्ञान में अन्तर है। काव्य-जगत् में भाव-जगत् तथा कल्पना-जगत् भी उसी प्रकार सत्य होता है, जिस प्रकार वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक सत्य।

(घ) गुण-शबलता—काव्य में गुण-शबलता किसी व्यक्ति में एक ही स्थल पर एकाधिक विभिन्न गुणों की स्थिति के उल्लेख की संज्ञा है। मानव गुणों का समुच्चय मनुष्य-स्वर्ग का निर्माता, पाप-पुण्य का ज्ञाता, सत्य-स्वप्न का शोधकर्ता, सृजन तथा संहार का करने वाला, वुद्धि के सर्वोच्च सोपान पर अवस्थित, ईश्वर का सर्वाधिक महत्वपूर्ण आविष्कार है[३]। अतः उसके अनेक गुणों का किसी एक ही व्यक्ति में होना असंगत नहीं। तुलसी के राम और कृष्ण-भक्तों के कृष्ण तो क्रमशः भगवान की बारह और सोलह कलाओं के अवतार हैं ही। उनको अवतार रूप में न ग्रहण करने वाले बुद्धिवादी हरिऔध के राम और कृष्ण महापुरुष भी अनेक गुणों के आलय हैं। वैदेही-वनवास के राम में त्याग, धैर्य, दृढ़ता, सहिष्णुता, लोक-प्रेम, कर्तव्य-परायणता, उदारता तथा नीति-मर्मज्ञता आदि अनेक गुणों की जो स्पृहणीय स्थिति है, उसकी मार्मिक, रसात्मक एवं चित्ताकर्षक अभिव्यक्ति हरिऔध की निम्नांकित पंक्तियों में दर्शनीय है—

---

१. देखो वह बाल्मीकि सुवर, उसके भीतर हैं दुर्ग, नगर!
अद्भुत उसकी निर्माण-कला, कोई शिल्पी क्या कहे भला!
उसमें है सौध, धाम, जनपथ; आँगन, गो, गृह, भंडार अकथ;
हैं डिम्ब-सद्म, वर सिविर रचित, ड्योढ़ी बहु, राजमार्ग विस्तृत!

— पंत, चींटी, युग-वाणी, पृ० ६।

२ सहज-सरलता, मोहकता सरिता है कहती।
ललित लहर-लिपि-माला में है लिखती रहती॥

—हरिऔध, वैदेही-वनवास, प्रथम सर्ग, छंद २३।

३. मनुज के हाथ सृजन संहार, मनुज के साथ युगों का प्यार;
मनुज ईश्वर का आविष्कार, मनुज का पूज्य मनुज अवतार।

—जीवनप्रकाश जोशी, माला, पृ० ६।

त्याग आपका है उदात्त, धृति धन्य है, लोकोत्तर है आपकी सहनशीलता।
है अपूर्व आदर्श लोकहित का जनक, है महान भवदीय नीति-मर्मज्ञता[१]।

भूषण के नायक शिवाजी के सौन्दर्य, गम्भीरता, यश-गौरव, सौजन्य, दयालुता, विनम्रता, दानशीलता, परोपकार, सेवाशीलता, धैर्य, साहस, दृढ़ता, निर्भीकता, कोमलता, उदारता, विवेकशीलता, लोक-प्रेम तथा प्रजानुरंजन आदि अनेक गुणों की मर्मस्पर्शी व्यंजना उनके निम्नांकित अवतरण में कितनी कमनीय है, यह कहने का नहीं, सहृदय मानव की अनुभूति का विषय है—

सुन्दरता गुरुता प्रभुता भनि भूषन होत है आदर जामैं।
सज्जनता औ दयालुता दीनता कोमलता झलकै परजा मैं॥
दान कृपानहु को करिबो करिबो अभै दीनन को बर जामैं।
साहन सों रन टेक बिबेक इतैगुन एक सिवा सरजा मैं[२]॥

'वैदेही-वनवास' की सीता के धैर्य, साहस, शक्ति, महत्ता, विज्ञता, उदारता, सहृदयता, करुणा, परोपकार, दृढ़ता, सतीत्व, पति-प्रेम, कर्तव्य-परायणता तथा आज्ञाकारिता आदि विभिन्न गुणों की 'हरिऔध' की यह सम्यक् योजना भी गुण-शबलता का उत्कृष्ट उदाहरण है—

पुत्रि आपकी शक्ति, महत्ता, विज्ञता। धृति उदारता सहृदयता दृढ़ चित्तता॥
मुझे ज्ञात है किन्तु प्राण-पति प्रेम की। परम - प्रबलता वदीयता एकान्तता॥
ऐसी है भवदीय कि मैं संदिग्ध हूँ। क्यों वियोग-वासर व्यतीत हो सकेंगे[३]॥

इसी प्रकार पंत की ग्राम-नारी में स्थित करुणा, परोपकार, उदारता, कृतज्ञता, सेवाशीलता, सात्विकता, मानवता-प्रेम, ममत्व, माधुर्य, निर्माल्य, पवित्रता, सतीत्व, अनन्यता, सहिष्णुता, धैर्य तथा त्याग आदि गुणों की व्यंजना भी निम्नांकित पंक्तियों में अत्यधिक सुष्ठु रूप से हुई है—

वह स्नेह, शील, सेवा, ममता की मधुर मूर्ति,
यद्यपि चिर दैन्य, अविद्या के तम से पीड़ित,
कर रही मानवी के अभाव की आज पूर्ति,
अग्रजा नागरी की, यह ग्राम वधू निश्चित[४]।

मानव के समान ही प्रकृति भी अनेक गुणों का आलय है। अतः भावुक कवि उसकी गुण-शबलता की व्यंजना अनेक प्रकार से करते हैं। कभी वे उसके समष्टि रूप के कोमलता, सौन्दर्य, निर्मलता, निश्छलता, सरलता, भोलेपन, करुणा, उदारता, परोपकार, सेवाशीलता तथा विश्व-प्रेम आदि गुणों की सुरम्य व्यंजना

१. हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० ५२।
२. भूषण, शिवराज भूषण, छंद २५५।
३. हरिऔध, वैदेही-वनवास, अष्टम सर्ग, छंद ५१-५२।
४. पंत, ग्राम-नारी, ग्राम्या, पृ० २१।

करते हैं[१] और कभी उसके विभिन्न अंगों की गुण-शबलता की अभिव्यक्ति पृथक्-पृथक् रूप से करते हैं। कभी उनकी भावुक दृष्टि मातृ-भूमि के क्षमाशीलता, करुणा, सेवाशीलता, परोपकार, उदारता, मंगलमयता, सुधामयता, वात्सल्य, प्रेम-मयता, विश्व-पालन, दुःख-हरण, भय-निवारण तथा सुख, शांति एवम् शरण-दान आदि विभिन्न गुणों का साक्षात्कार कर आनंदपूर्ण कृतज्ञता के भाव से भर जाती है[२] और कभी वह चन्द्रिका के सुकृतिमयता, सहृदयता, उदारता, सेवाशीलता, परोपकार, करुणा तथा ममत्व आदि गुणों से पूर्ण दिव्य रूप के साक्षात्कार से प्रभावित हो उसके समक्ष विश्व के श्रेष्ठतम प्राणी को भी हेय समझती है[३]। कभी उसका मन-मयूर किसी निर्जन टीले के सहचर वृक्षों की मित्रता, सह-अस्तित्वशीलता, एकत्व-प्रेम, गाम्भीर्य, सुन्दरता, सहिष्णुता, धैर्य, साहस, दृढ़ता तथा सामाजिकता आदि गुणों को देखकर आनन्दातिरेक से नृत्य कर उठता है[४] और कभी उसका हृदय मेघ के

---

१. कितनी है कमनीय-प्रकृति कैसे बतलायें। उसके सकल-अलौकिक गुण-गण कैसे गायें।
है अतीव-कोमला विश्व-मोहक-छवि वाली। बड़ी सुंदरी सहज स्वभावा भोली-भाली।
करुणभाव से सिक्त सदयता की है देवी। है संसृति की भूति-राशि पद-पंकज-सेवी॥
—हरिऔध, वैदेही-वनवास, प्रथम सर्ग, छंद २६-२७।

२. क्षमामयी तू, दयामयी है, क्षेममयी है, सुधामयी वात्सल्यमयी, तू प्रेममयी है,
विभवशालिनी, विश्वपालिनी, दुःख हर्त्री है, भय निवारिणी, शांतिकारिणी,
सुख कर्त्री है;
हे शरण दायिनी देवि तू, करती सब का त्राण है,
हे मातृ-भूमि संतान हम, तू जननी, तू प्राण है।
— मै० श० गुप्त, मातृ०-भूमि, मंगल-घट, पृ० १४।

३. जैसी तुम हो सुकृतिमयी, जैसी तुम में सहृदयता है।
जैसी हो भव-हित विधायिनी, जैसी तुम में ममता है।
मैं हूँ अति साधारण नारी, कैसे वैसी मैं हूंगी।
—हरिऔध, वैदेही वनवास, पृ० १२८।

४. उस निर्जन टीले पर
दोनों चिलबिल
एक दूसरे से मिल,
मित्रों से हैं खड़े,
मौन मनोहर!
दोनों पादप,
सह वर्षातप
हुए साथ ही बड़े
दीर्घ सुदृढ़तर! —पंत, दो मित्र, युगवाणी, पृ० ७४।

परोपकार, त्याग, सहिष्णुता, धैर्य, साहस, दृढ़ता, दान, बलिदान, सेवा, उदारता, विनम्रता तथा विश्व एवम् सृष्टि-प्रेम आदि कल्याणकारी गुणों की अनुभूति से गद्गद हो प्रशस्तिगान कर उसकी वंदना करता है[1]।

मानव तथा प्रकृति में गुण-वैभव

कवि मानव तथा प्रकृति दोनों में जहाँ एक ओर समान गुणों की अवस्थिति पाता है, वहाँ दूसरी ओर उनके विभिन्न प्रकार के गुण-वैषम्य का भी अनुभव करता है। कहीं उसे मानव में प्रकृति की अपेक्षा गुणाधिक्य के दर्शन होते हैं और कहीं प्रकृति में मानव की अपेक्षा गुणाधिक्य के। कहीं उसे मानव उत्कृष्ट प्रतीत होता है और कहीं प्रकृति। तात्पर्य यह कि जहाँ एक ओर वह मानव तथा प्रकृति के विभिन्न गुणों के मात्रा-साम्य की अपेक्षा करके उनके गुण-साम्य का समर्थन करता है—उसका दिग्दर्शन कराता है[2], वहाँ दूसरी ओर उनके विभिन्न गुणों के मात्रा-वैषम्य अथवा अभावादि के आधार पर दोनों के गुण-वैषम्य का भी।

करुणा, दया, क्षमा, उदारता, एकता, मित्रता, कर्तव्यपरायणता, सेवा, परोपकार, समता, ममता, क्षमता, सत्यनिष्ठता, अहिंसा, आत्मनिर्भरता, बुद्धिमत्ता तथा विश्व-प्रेम-आदि गुण जितनी मात्रा में मानव में हैं, प्रकृति में उतनी मात्रा में नहीं। यही नहीं, अहिंसा, प्रेम आदि गुण तो एक प्रकार से मानव की ही विशेषता हैं। प्रकृति में अहिंसा तो नहीं, हाँ, हिंसा के उग्रतम रूप के अनेक स्थलों पर दर्शन होते हैं; 'लाठी और भैंस' तथा 'जीवो जीवस्य जीवनम्' का सिद्धान्त प्रायः चलता दृष्टिगत होता है। जहाँ मानव अपने सजातीय मानव ही नहीं, प्राणिमात्र के दुःख को देख कर दयार्द्र हो उठता है, वहाँ प्रकृति-जगत् के अनेक हिंस्र जन्तु मानव तथा अपने सजातीय प्राणियों सभी को मार कर उनके रक्त-मांस

१ मेघ तू! कृषि का प्रवर्तक,
प्रीति का सुख,
लोचनों से पिया जाता—
अन्न पर लिखता ऋचाएँ!
और निज अस्तित्व देकर,
अश्रु में भी मुसकुराता!
काव्य रचता—
धूल से वेष्टित कठिनतम,
रजकणों से मिल धरा का रूप भरता।

—मेघराज 'मुकुल' मेघ आया, उमंग, पृ० ८१-८२।

२. जड़ चेतन हैं एक नियम के वश परिचालित,
मात्रा का है भेद, उभय हैं अन्योन्याश्रित!

—पंत, भूत जगत युगवाणी, पृ० ४२।

से अपना उदर-भरण कर सन्तोष-लाभ एवं आनन्दानुभव करते हैं। मृगेन्द्र अपनी इसी हिंसक वृत्ति के कारण मानव तथा प्रकृति समस्त सृष्टि के प्राणियों के भय का विषय तथा पशु-जगत् का सम्राट माना जाता है। इसी प्रकार न जाने कितने अन्य पशु-पक्षी अपने सजातीयों को मार कर अपना उदर-भरण कर जीवन-यापन करते हैं। नेवला तथा मयूर सर्प के प्राण-हन्ता हैं। गरुड़ उसे खा जाता है। छिपकली न जाने कितने छोटे-मोटे कीड़े-मकोड़ों को निगल कर अपनी क्षुधा-पूर्ति करती है। गयन्द और मृगेन्द्र परस्पर एक दूसरे के प्राणापहरण के लिये सदैव उद्यत रहते हैं। भेड़िया अपने से दुर्बल पशुओं को खाकर अपना पेट-पालन करता है। बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को और छोटी मछलियाँ अपने से छोटी मछलियों को खाकर अपनी क्षुधा-पूर्ति करती हैं। नक्र, मगर आदि जल-जन्तु न जाने कितने प्राणियों को नित्य-प्रति निगल जाते हैं। बाज पक्षियों और गृध्र मृतकों का रक्त-मांस खाकर अपना जीवन-निर्वाह करते हैं।

इसके अतिरिक्त प्रकृति में मानव-वर्ग में प्राप्त होने वाले अन्य गुणों की भी मात्रा प्रायः कम दृष्टिगत होती है। काव्यकार के लिये तो फिर भी उसमें विभिन्न गुणों की स्थिति है और यदि नहीं भी है, तो भी वह अपनी भावुकता के बल पर उनकी सृष्टि करता है, उनका आरोप करता है और अनेक प्रकार से उसमें उनकी स्थिति की मार्मिक व्यंजना करता है। किन्तु वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक दृष्टिकोण से उसमें एक नहीं, अनेक गुणों का अभाव है, जिसका उल्लेख यदा-कदा भावुक कवियों की लेखनी से भी हो जाता है।

मानव में जिन गुणों का अस्तित्व है, उनका क्षेत्र समस्त सृष्टि में अन्तर्व्याप्त है, किन्तु प्रकृति-स्थित गुणों का क्षेत्र प्रायः संकुचित ही होता है। गुण-जगत के जिस उच्च सोपान पर मानव अधिष्ठित है, प्रकृति उस पर नहीं। मानव अपने परिजनों, इष्ट-मित्रों, पड़ोसियों, राष्ट्रवासियों तथा विश्व के समस्त मानव-वर्ग से ही नहीं, प्राणिमात्र तक से प्रेम करता है; उनके दुःख से समदुःखी होकर उसे दूर करने का प्रयास करता है; किन्तु प्रकृति-जगत् के पशु-पक्षियों अथवा अन्य प्राणियों का प्रेम प्रायः अपने दाम्पत्य-क्षेत्र तक ही सीमित होता है। मानव अपने प्रति ही नहीं, सृष्टि के किसी भी प्राणी के प्रति किये गये अन्याय अथवा अत्याचार का विरोध तथा उसके निवारण का प्रयत्न करता है, किन्तु प्रकृति प्रायः ऐसा नहीं करती। महात्मा गौतम बुद्ध का व्याध द्वारा आहत पक्षी की रक्षा करना तथा राजा शिवि का शरणागत कबूतर की रक्षा के लिये अपना मांस काट-काट कर देना और अन्ततः स्वयं पलड़े पर बैठ कर प्राण दे देने के लिये तत्पर हो जाना, मानव के प्राणि-मात्र के प्रति प्रेम के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। किन्तु प्रकृति-जगत् में इस प्रकार के व्यापक प्रेम का अस्तित्व प्रायः नहीं मिलता। बन्दर अपनी बन्दरिया अथवा अधिक से अधिक अपने साथी वानर को सताने वाले के प्रति रोष प्रकट भले ही करे, उसकी रक्षा के लिये प्रयत्नशील भले ही हो, किन्तु अन्य प्राणियों

के प्रति दूसरों द्वारा किये जाने वाले अत्याचार अथवा सबल आततायियों को निर्बलों की रक्षा से उसे कोई प्रयोजन नहीं होता।

मानव-जगत् में जहाँ गुणों की स्थिति है, वहाँ प्रायः अवगुणों की नहीं। किन्तु प्रकृति के जिन रूपों में गुणों की स्थिति हैं, उनमें भी प्रायः उन गुणों के साथ ही अनेक अवगुणों की स्थिति भी देखी जाती है। उदाहरण के लिये मेघ को ही लिया जा सकता है। वह जहाँ करुणा, परोपकार, लोक-कल्याण, त्याग, दान, बलिदान तथा उदारता आदि गुणों का भांडार है, वहाँ उनके साथ ही विभिन्न अवगुणों का समुच्चय भी। मानव-जगत् में यह बात प्रायः नहीं मिलती। उदाहरण के लिये वैदेही-वनवास के गुणाम्बुधि राम को ही ले लीजिए। उनमें केवल गुण ही गुण हैं, मेघ के समान गुणों के साथ अवगुण नहीं[1]।

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि मानव में प्रकृति की अपेक्षा गुणाधिक्य की स्थिति सदैव पायी जाती है अथवा मानव प्रकृति से इस दृष्टि से उत्कृष्ट है। भावुक कवि जब मानव-गुणाधिक्य से प्रभावित होता है अथवा उसमें गुणाधिक्य का साक्षात्कार करता है, तो वह उस समय बहुधा मानव को श्रेष्ठ और उसकी अपेक्षा प्रकृति को हेय घोषित करता है। किन्तु सदैव यह स्थिति नहीं रहती। बहुधा उसका विपर्यास भी देखा जाता है। प्रकृति के आन्तर सौन्दर्य के साक्षात्कार में तन्मय कवि प्रायः मानव-जगत् की उपेक्षा भी करता है, प्रकृति-स्थित विभिन्न गुणों की तुलना में मानव को अश्रेष्ठ भी ठहराता है। प्रकृति उसे सुन्दरी एवं उदार हृदया प्रतीत होती है और मानव संकुचित हृदय एवं स्वार्थान्ध[2]। चन्द्रिका उसे उत्कृष्टतम सात्त्विक नारी से भी अधिक सुकृतिमयी, सहृदय, उदार, सेवाशील, करुणार्द्र-हृदया, परोपकारिणी तथा महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है[3]। मानव-जगत्

१. मैं सारे गुण जलधर के जीवन धन में पाती हूँ।
उसकी जैसी ही मृदुता अवलोके बलि जाती हूँ॥
पर निरपराध को प्रियतम ने कभी नहीं कलपाया।
उनके हाथों से किसने कब कहाँ व्यर्थ दुःख पाया॥
पुर नगर ग्राम कब उजड़े कब कहाँ आपदा आई।
अपवाद लगाकर यों ही कब जनता गई सताई॥
प्रियतम समान जन-रंजन भव-हित-रत कौन दिखाया।
पर सुख निमित्त कब किसने दुःख को यों गले लगाया॥
घन गरज-गरज कर बहुधा भव का है हृदय कँपाता।
पर कान्त का मधुर प्रवचन उर में है सुधा बहाता॥
—हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० १३७-१३८।

२. प्रकृति के सुन्दर परम उदार,
नर हृदय परिमित पूरित स्वार्थ। —प्रसाद, असन्तोष, झरना, पृ० २८।

३ हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० १२८।

उसे संघर्ष एवं कोलाहल से परिपूर्ण प्रतीत होने के कारण उसकी विरक्ति का विषय बन जाता है और वह उसके अश्रुओं और हास्य से ऊब कर[1] प्रकृति के स्नेहांचल में, उसकी शीतल, सुखदायक तथा महत्त्वपूर्ण गोद में शरण लेकर शान्ति-सुख-लाभ के लिये आकुल हो उठता है।

प्रकृति-जगत् स्वास्थ्य-पोषक तथा रोगनाशक तत्वों का भी आगार है। मानव के भयंकर से भयंकर रोगों, भीषणतम महामारियों को क्षणमात्र में नष्ट कर देने वाली औषधियों एवम् जड़ी-बूटियों का अनन्त भाण्डार है। चन्द्र अपने स्वास्थ्य-पोषक तत्वों के कारण ही ओषधीश कहलाता है। सूर्य अनेक रोग-नाशक तत्वों का समुच्चय तथा जीवनी शक्ति (सूरज से प्राण धरा से पाया है शरीर[2]) का दाता है। गंगा अपने रोग-निवारक तत्वों के कारण ही पापनाशिनी एवं पवित्र मानी जाती है। पीपल-वृक्ष के पंचांग न जाने कितने रोगों के काल हैं[3]। वायु, अग्नि, लता, पादप, जल, वनस्पति-जगत्, पृथ्वी सभी में रोगनाशक तत्व हैं, सभी एक प्रकार से महारसायन हैं[4]।

मेघनाद की शक्ति से मूर्च्छित लक्ष्मण के पुनर्जीवन का एकमात्र साधन संजीवनी बूटी प्रकृति-जगत् की ही अद्भुत देन थी। मगध-सम्राट् बिम्बसार के महा-दुःसाध्य रोग को नष्ट करने वाले उनके राजवैद्य जीवक के तक्षशिला के वैद्य गुरू ने उनकी आयुर्वेद की शिक्षा की पूर्णता तभी घोषित की थी, जब कि उन्होंने गुरु को यह उत्तर दिया था—'आचार्य ! तक्षशिला के योजन-योजन चारों ओर में घूम आया, (किन्तु) कुछ भी अभैषज्य नहीं देखा[5]। तात्पर्य यह कि प्रकृति की कोई

---

१ I am tired of tears and laughter,
And men that laugh and weep.
—A C Swinburne, Swinburne : Poems and Prose, R Church, Page 65

२. सूरज से प्राण धरा से पाया है शरीर
ऋण लिया वायु से है हमने इन साँसों का—नीरज, मृत्यु-गीत, दो गीत, पृ० २७।

३. पा इसके पंचांग रोग कितने टलते हैं।
—हरिऔध, वैदेही-वनवास, प्रथम सर्ग, छन्द ५६।

४. सुरभित वृक्ष, वनस्पति, औषधि, का रहस्यमय ले विज्ञान।
वात बवंडर चलते इसमें, लेकर अपना विद्युत् गान।।
मिट्टी जल निर्मित पृथवी में, प्राणों की रहती जो शक्ति।
रहता उसमें महा-रसायन, मानव की वह चिर अभिव्यक्ति।
—मेघराज 'मुकुल', धरती और मानव उमंग पृ० ७।

५. "आचार्य ! तक्षशिला के योजन योजन चारों ओर मैं घूम आया,
(किन्तु) कुछ भी अभैषज्य नहीं देखा। सीख चुके भणे
जीवक ! यह तुम्हारी जीविका के लिए पर्याप्त है।"
—विनय-पिटक, जीवक-चरित, पृ० २६७।

भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो किसी न किसी रोग के निवारण के लिये औषधि-रूप में प्रयुक्त न की जा सकती हो। प्रकृति, जैसा कि कहा जा चुका है, एक महा रसायन है, अनन्त औषधियों का भाण्डार है, अनन्त उपयोगी रहस्यों से पूर्ण है। विज्ञ-जिज्ञासु उसके रहस्यों को जान कर लाभ उठाता है और संसार को भी उनका उपयोग करने का उपदेश देता है। 'हरिऔध' के कृष्ण ऐसे ही जिज्ञासु एवम् विज्ञ महापुरुष थे[1], प्रकृति की इसी महती रोग-निवारक शक्ति के समर्थक थे[2]।

प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों ने इसी व्यापक दृष्टि से प्रकृति-जगत् की तुच्छातितुच्छ वस्तु का भी महान् से महान् उपयोग खोज निकाला था। आधुनिक आयुर्वेद की प्रगति भी, प्रकृति के अनन्त रहस्यों को खुली पुस्तक के समान पढ़ लेने का प्रयत्न करके, उनका मानव-जीवन के लिये अधिकतम उपयोग करने का ज्ञान प्राप्त कर लेने से ही, हो सकती है।

प्रकृति मानव की स्वास्थ्य-पोषिका तथा रोगनाशिका महारसायन है। मानव जिन दुर्गन्धमय दूषित तत्वों को अपनी श्वास, मल, मूत्रादि के रूप में बहिष्कृत करता है, प्रकृति उन्हें शिवजी के विष के समान स्वयं ग्रहण कर लेती है और मानव को स्वच्छ वायु, विभिन्न खाद्यान्न तथा अन्य पौष्टिक तत्व प्रदान करके उसके स्वास्थ्य-वर्धन में विभिन्न प्रकार से योग देती है। किन्तु मानव में अपने अथवा प्रकृति के लिये स्वास्थ्य-पोषक ऐसे कोई गुण नहीं।

अतः स्पष्ट है कि मानव तथा प्रकृति दोनों में जहाँ कुछ दृष्टियों से बहुत गुण-साम्य है, वहाँ अन्य दृष्टि-विन्दुओं से पर्याप्त वैषम्य भी। कहीं मानव में गुणाधिक्य है, तो कहीं प्रकृति में; कहीं मानव श्रेष्ठ है, तो कहीं प्रकृति। गुणों का समुच्चय, बुद्धि के उच्चतम सोपान पर अवस्थित मानव अपने मस्तिष्क की गुरुता तथा बुद्धि-प्रसार के क्षेत्र में प्रकृति से बहुत आगे है। प्रकृति में न तो मानव के समान मस्तिष्क की गुरुता है, न बुद्धि का विकास और न मानव-जगत् में प्राप्त होने वाले अहिंसा आदि कुछ गुण। फिर भी प्रकृति अपने कुछ क्षेत्रों में मानव से आगे है। शारीरिक (भौतिक) शक्ति के क्षेत्र में, रोग-नाशक तत्वों के जगत् में और शान्ति, सन्तोष के संसार में वह जितनी आगे बढ़ी हुई है, मानव उतना नहीं। मानव तथा प्रकृति में यही असमानता है, यही अन्तर और यही गुण-वैषम्य।

मानव-गुणों की अभिव्यक्ति में प्रकृति

जिस प्रकार मानव-रूप-व्यंजना में प्रभावोत्पादकता तथा मार्मिकता की

---

१. वनस्थली उर्वर-अंक उद्भवा, अनेक बूटी उपयोगिनी-जड़ी।
हुई परिज्ञात रही मुकुन्द को, स्वकीय-संधान-करी सु-बुद्धि से।
—हरिऔध, प्रिय-प्रवास, त्रयोदश सर्ग, छन्द ३१।

२. हरिऔध, प्रिय-प्रवास, त्रयोदश सर्ग, छन्द ३५।

वृद्धि के लिये विभिन्न उपमान-प्रकृति-रूपों का प्रयोग होता है, उसी प्रकार मानव-गुणाभिव्यक्ति को आकर्षक एवं मर्मस्पर्शी रूप देने के लिये विभिन्न प्रकृति-रूपों का भी। मानव-रूप, भावादि के उपमानों के समान ही गुणों के प्राकृतिक उपमान भी बहुत कुछ निश्चित से हैं। फिर भी इसका तात्पर्य यह नहीं कि गुणों के परंपरा-मुक्त उपमानों के अतिरिक्त अन्य उपमानों का प्रयोग वर्जित है अथवा नवीन उपमानों को खोज कर उनकी संख्या-वृद्धि नहीं की जा सकती। उपमानों के निश्चित होने का तात्पर्य केवल यही है कि रूप, गुण, वर्ण अथवा प्रभाव-साम्य को दृष्टि में रख कर गत सहस्रों वर्षों से कवियों ने जिन उपमानों को खोज निकाला है, उनकी संख्या में बहुत अधिक वृद्धि सम्भव नहीं। सहस्रों वर्षों से प्रकृति के मध्य रहने वाले करोड़ों कवियों की दृष्टि से किसी भी गुण अथवा रूपादि के बहुत से उपयुक्त उपमान ओझल रहते आये हों, यह अधिक सम्भव नहीं प्रतीत होता। प्रकृति के उपमानों में वृद्धि हो सकती है अवश्य, किन्तु बहुत अधिक नहीं और यदि होगी भी तो सम्भवतः रूप, गुण, वर्ण अथवा प्रभाव-साम्य की उपेक्षा करके ही। ऐसे उपमानों में न तो औचित्य होगा, न उसके द्वारा बिम्ब निर्माण हो सकेगा और न ही काव्य में मार्मिकता, रसात्मकता अथवा प्रभावोत्पादकता की अभिवृद्धि हो सकेगी। यद्यपि रूप, गुण आदि के साम्य को लक्ष्य करके बिम्ब ग्रहण करा सकने की सामर्थ्य तथा सौन्दर्य-मूर्ति की पूर्ण प्रतिष्ठा में योग दे सकने वाले नवीन उपमानों की खोज तथा काव्य में उनकी योजना की जा सकती है तथापि नवीनता की सनक में अनुपयुक्त उपमानों की योजना उचित नहीं। स्वर्गीय महात्मा गाँधी का तेज चिताग्नि की लपटों के समान, यश श्वेत अस्थि-पंजर के समान, गम्भीरता गड्ढे के समान, साहस गर्दभ के समान और शक्ति शृगाल के समान थी, ऐसा कहना नितांत अनुचित तथा काव्य - सौन्दर्य को नष्ट करना होगा। इससे मनुष्य की काव्य, मानव अथवा किसी भी प्रकार के सौन्दर्य के प्रति अनुरक्ति नहीं हो सकती; हाँ, विरक्ति एवम् विगर्हणा की वृद्धि अवश्य होगी।

प्राचीन कवियों ने प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण के आधार पर मानव तथा प्रकृति के विभिन्न प्रकार के साम्य को लक्ष्य करके जिन उपमानों का निर्धारण किया है, उनमें इस प्रकार का अनौचित्य नहीं है। वे सभी बिम्ब-निर्माण की सामर्थ्य रखने वाले, सौन्दर्य-मूर्ति की प्रतिष्ठा में अपना महत्वपूर्ण योग देने वाले तथा काव्य एवम् काव्यगत सौन्दर्य को मानव-स्पृहा की वस्तु बनाने वाले हैं। काल, तर्क तथा परिस्थितियों की कसौटी पर अनेक प्रकार से कसे जाते रहने और उस पर शुद्ध स्वर्ण के समान खरे उतरने के कारण वे आज भी कमनीय एवं अभिनंदनीय हैं और भविष्य में भी रहेंगे—किसी भी काल अथवा परिस्थिति की कसौटी पर वे कच्चे नहीं उतर सकते। शक्ति का सिंह; तेज के सूर्य तथा अग्नि; यश के ऐरावत, क्षीर समुद्र, सुरसरिता, हंस, मानसरोवर, चन्दन, चन्द्र; कैलाश पर्वत, कर्पूर, श्वेत कमल तथा शरद्-मेघ; गम्भीरता का समुद्र; दृढ़ता, धैर्य तथा निश्चलता का पर्वत

और अनन्यता के चातक, चकोर, मीन, कुमुदिनी, कमल, मृग तथा पतंग आदि उपमानों का अमर वैभव आज भी पूर्ववत् अक्षुण्ण है और भविष्य में भी रहेगा, यह निस्संदेह कहा जा सकता है। अतः हिंदी-काव्य में मानव-गुणों की मार्मिक व्यंजना के लिये किन किन उपमान प्रकृति-रूपों की अपेक्षा है, किन-किन प्राकृतिक उपमानों का योग लिया जाता है, इसके दिग्दर्शन के लिए अब हमें विभिन्न मानव-गुणों की अभिव्यक्ति तथा उसके प्रयुक्त उपमानों पर पृथक्-पृथक् रूप से विचार करना होगा।

(क) *यशस्विता*—यश का वर्ण श्वेत माना जाता है। अत: उसकी व्यंजना के लिये प्रकृति के उन समस्त उपमान उपकरणों को प्रयुक्त किया जा सकता है, जो अपने सुन्दर एवं आकर्षक रूप के कारण मानव-अनुराग के विषय हैं और यश के गुण रूप की पूर्ण सौन्दर्य-प्रतिष्ठा करके उसके बिम्ब-निर्माण द्वारा काव्य को उसके गौरवप्रद स्थान का अधिकारी तथा मानव-जगत् के लिये अभिनन्दनीय बना सकने की सामर्थ्य रखनेवाले हैं। जैसा कि कहा गया है, यश के श्वेत वर्ण के कारण उस के उपमान ऐरावत, क्षीर समुद्र, सुरसरिता, हंस, चंद्र, कैलाश पर्वत, मानसरोवर आदि श्वेत वर्ण पदार्थ तथा प्राणी ऐसे ही हैं। अतः कवि उसके इन विभिन्न उपमानों के बहु-विध योग द्वारा उसकी मार्मिक, सुष्ठु एवं चित्ताकर्षक अभिव्यक्ति करता है।

हिंदी-काव्य में मानव-यश का मार्मिक चित्रण कविवर भूषण के काव्य में अपने उत्कृष्टतम रूप में प्राप्त होता है। शिवाजी के श्वेत यश में उसके उपमान इस प्रकार मिल गये हैं कि उन्हें खोजना दुष्कर हो गया है—इन्द्र अपने श्वेत वर्ण गजराज (एरावत) को, विष्णु क्षीर-सागर को, हंस गंगा को, ब्रह्मा अपने वाहन हंस को, चकोर चंद्रमा को, शिव कैलाश पर्वत को और पार्वती शिव को आश्चर्य-चकित हो खोजती फिरती हैं। कवि ने इस कथन द्वारा मानव तथा प्रकृति के वर्णसाम्य एवम् तादात्म्य के आधार पर मीलित की आलंकारिक शैली में शिवा जी के यश की जो मर्मस्पर्शी एवम् आकर्षक व्यंजना की है, वह कितनी कमनीय है, यह कहने की आवश्यकता नहीं[१]।

शिवाजी के गुणोत्कर्ष से चमत्कृत कवि को जब ऐसा लगता है कि प्रकृति के उपमान उनके यश की समता नहीं कर सकते—सामान्य रूप में तो दूर रहा, अन्य उपमानों के साथ मिलकर भी, उनका योग लेकर भी वे उसके मान नहीं हो सकते—तो वह यह कहकर कि मानसरोवर के रहनेवाले हंस, चन्दन से घिसा हुआ कपूर,

---

१. इन्द्र निज हेरत फिरत गज-इन्द्र अरु, इन्द्र को अनुज हेरैं दुगध-नदीस को।
'भूषन' भनत सुरसरिता को हंस हेरैं, विधि हेरैं हंस को चकोर रजनीस को।
साहितनै सिवराज करनी करी है तैं जु, होत है अचम्भो देव कोटियों तेंतीस को।
पावत न हेरे तेरे जस में हेराने निज, गिरि को गिरीस हेरैं गिरिजा गिरीस को।

—भूषण, शिवराज-भूषण, छन्द, ३००।

शारदीय सुरसरिता का श्वेत कमल, क्षीर-सागर के फेन से लिपटा हुआ ऐरावत आदि श्वेत वर्ण प्रकृति के उपमान श्वेत वस्तुओं के सम्पर्क में रहकर भी शिवाजी के श्वेत यश की समता नहीं कर सकते, प्रौढ़ोक्ति की आलंकारिक शैली में कारण के अभाव में भी उसकी कल्पना करके—समान गुण वाले प्रकृति के श्वेत वर्ण पदार्थों के संसर्ग का अनुमान करके उनके यश की व्यंजना उक्त प्रकृति-रूपों के भव्य योग द्वारा अत्यधिक प्रभावोत्पादक ढंग से करता है[१]।

इसी प्रकार कभी मानव-यश के उपमान विभिन्न प्रकृति-रूपों को सदोष घोषित कर—चन्दन को नागों से लिपटा हुआ, ऐरावत को मदजल से भरा हुआ, शेषनाग को विषयुक्त, प्रातःकाल को अस्थिर और कपूर को उड़ जाने वाला कहकर तथा श्वेताभ शतदल में कृष्ण वर्ण भ्रमरों, क्षीरसागर में कीचड़ और चंदमा में कलंक की अवस्थिति बताकर—उन्हें मानव-यश की अपेक्षा निकृष्ट व्यंजित करके, प्रतीपालंकार की शैली में उसकी मार्मिक व्यंजना की जाती है[२] और कभी अधिक अभेद रूपक की शैली के अवलम्ब से मानव-यश पर उपमान प्रकृति-रूपों के आरोप तथा यश में प्रकृति की अपेक्षा गुणाधिक्य के निदर्शन द्वारा उसका आकर्षक बिम्ब प्रस्तुत किया जाता है—

नव विधु विमल तात जसु तोरा। रघुबर किंकर कुमुद चकोरा।।
उदित सदा अँथइहि कबहूँ ना। घटहि न जग-नभ दिन-दिन दूना[३] ।।

(ख) *तेजस्विता*—जिस प्रकार प्रकृति-जगत् में अग्नि, सूर्य तथा बड़वानल[४] के विभिन्न रूपों के जाज्वल्यमान तेज के समक्ष अन्य समस्त प्रकृतिरूपों का तेज हेय प्रतीत होता है, उसी प्रकार मानव-जगत् में प्रतापी एवम् तेजस्वी मनुष्य का तेज भी अनुपमेय होता है। अतः मानव-तेज तथा प्रताप की उत्कर्ष-व्यंजना में सर्वाधिक प्रयोग प्रकृति-जगत् के उपमान अग्नि, सूर्य और बड़वानल का ही किया जाता है—कभी उनकी उनसे तुलना की जाती है, कभी उन पर उनका आरोप किया जाता है,

---

१. मानसरबासी हंसबंस न समान होत चन्दन सों घस्यो घनसारऊ घरीक है।
नारद की सारद की हाँसी मैं कहाँ की आब सरद की सुरसरी को न पुंडरीक है।
'भूषन' भनत छक्यो छीरधि मैं थाह लेत फेन लपटानौ ऐरावत को करी कहै।
कयलास-ईस, ईस-सीस रजनीस बहौ अवनीस सिवा के न जस को सरीक है।
—भूषण, शिवराज-भूषण, छन्द २६७।

२. भूषण, शिवराज भूषण, छंद, ४८।

३. तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ४६६।

४. बड़वानल वस्तुतः मानव के दृष्टि-भ्रम की उत्पत्ति तथा कवि-कल्पना की सृष्टि है। अम्बुधि में अग्नि का अस्तित्व कहाँ! वैज्ञानिक दृष्टि से समुद्र में पाए जानेवाले रक्त-वर्ण सूक्ष्मकाय कीटाणुओं के समूह, जो देखने में अग्निपुंजवत प्रतीत होते हैं, काव्य-जगत् की बड़वाग्नि का तात्विक रूप हैं।

कभी उन्हें उनसे उत्कृष्ट घोषित किया जाता है और कभी उन्हें उपमेय रूप में प्रस्तुत करते हुए मानव-प्रताप एवम् तेज के समान बताया जाता है ।

हिंदी-काव्य में भूषण ने शिवाजी के प्रताप की अभिव्यक्ति अग्नि सूर्य तथा बड़वानल आदि प्राकृतिक उपमानों के विभिन्न प्रकार के सादृश्य, तादात्म्य, आरोप तथा संभावनादि द्वारा अत्यधिक मर्मस्पर्शी रूपों में की है । कभी उन्होंने उनके प्रताप पर सूर्य का आरोप करके उसके प्रकाश में उनके सैनिकों के श्रावण तथा भाद्रपद की अन्धकारमयी रात्रि में सलहेरि और परनाल के गगनचुम्बी दुर्गों पर चढ़ने की भव्य कल्पना की है[1]; कभी उनके प्रताप की उपमा सूर्य से और उसे देखकर बन्द हो जानेवाले शत्रु तुर्कों के नेत्रों की सूर्योदय के समय अस्त हो जानेवाले तारों से देकर उनके प्रताप का प्रभावोत्पादक, चित्ताकर्षक एवम् रसात्मक बिम्ब प्रस्तुत किया है[2], कभी बड़वानल, अग्नि और सूर्य को उनके प्रताप के समक्ष निकृष्ट घोषित करके मानव-प्रताप की महत्ता व्यंजित की है—

गरब करत केहि हेत है, बड़वानल तो तूल[3] ।

तथा

भूषन भानु कृसानु कहाऽब खुमानु प्रताप महीतल पागे[4] ।

और कभी उसे सूर्य के समान शत्रुओं के मान रूपी जल को शोषित करने वाला कह कर उसका भव्य, आकर्षक एवम् रसात्मक चित्र खींचा है—

सिव प्रताप तव तरनि सम अरि पानिप हरि मूल[5] ।

भूषण के अतिरिक्त अन्य कवियों ने भी कहीं-कहीं मानव-प्रताप के आकर्षक बिम्ब प्रस्तुत किये हैं और इसके लिये अग्नि, सूर्य तथा द्वादशादित्य आदि प्रकृति के उपमानों का अनेक प्रकार से प्रयोग किया है । उदाहरण के लिये 'लछिराम' का यह चित्र लिया जा सकता है, जिसमें उन्होंने द्वादशादित्य को मानव-प्रताप के समान कह कर प्रकृति की अपेक्षा मानव-गुण (प्रताप) की उत्कृष्टता की स्पृहणीय व्यंजना की है—

त्यों 'लछिराम' प्रताप सों रावरे, सूरज बारहौ को अवतार है[6] ।

१. सावन भादौं की भारी कुहू की अँध्यारी, चढ़ि दुग्ग पर जात मावलीदल सचेत हैं ।
भूषन भनत ताकी बात मैं बिचारी, तेरे परताप-रबि की उज्यारी गढ़ लेत हैं ।
—भूषण, शिवराज-भूषण, छंद १०६ ।

२. ग्रीषम के भानु सों खुमान को प्रताप देखि, तारे सम तारे गये मूँदि तुरकन के ।
—भूषण, शिवराज-भूषण, छंद ३८ ।

३. भूषण, शिवराज-भूषण छंद ४४ ।

४. भूषण, शिवराज-भूषण छंद ५१ ।

५. भूषण, शिवराज-भूषण छंद ४४ ।

६. लछिराम, काव्यांग-कौमुदी, मिश्र, पृ० ६६ ।

मानव-तेजस्विता के उपमान भी वर्ण, गुण एवम् प्रभाव-साम्य के आधार पर सूर्य तथा अग्नि आदि ही माने जाते हैं और कवि उसके वर्णन के लिये भी उनका विभिन्न प्रकार से प्रयोग करता है। कभी वह उसके आकर्षक बिम्ब-निर्माण के लिये उसकी अग्नि और सूर्य से उपमा देता है; कभी उस पर अग्नि, सूर्य आदि उपमानों का आरोप करता है; कभी उसका उनसे तादात्म्य प्रदर्शित करता है और कभी मानव-तेज की उत्कृष्टता तथा उपमान प्रकृति-रूपों की निकृष्टता का उल्लेख करके उसकी सुरम्य व्यंजना करता है। हरिऔध साध्वी सीता के तेज के समक्ष प्रज्ज्वलित अग्नि-पुंज के तेज को नत एवम् म्लान चित्रित करके मानव-तेज की महत्ता व्यंजित करते हैं[1], तुलसी अपनी नायिका सीता के कथनमात्र से ही अग्नि-पुंज को चन्दन-तुल्य शीतल करवा कर उनकी तेजस्विता की महती महिमा की अभिव्यक्ति करते हैं[2] और भूषण शिवाजी के तेज का प्रभावोत्पादक एवम् रसात्मक बिम्ब प्रस्तुत करने के लिये उसकी उपमा द्वादशादित्य के प्रचण्ड तेज-पुञ्ज से देते हैं—

'भूषन' भनत भौंसिला भुवाल को यों तेज, जेतो सब बारहौ तरनि में बढ़त है[3]।

(*ग*) *वीरता*—गुण, व्यापार एवम् प्रभाव-साम्य की दृष्टि से यद्यपि मानव वीरता के उपमान सिंह, गयन्द तथा नाग आदि सभी माने जाते हैं, तथापि उसकी मर्मस्पर्शी, आकर्षक, प्रभावोत्पादक एवम् रसात्मक अभिव्यक्ति के लिये कवि की दृष्टि प्रायः सिंह पर ही जाती है। वह देखता है कि सिंह जिस प्रकार शत्रु-नाश के लिये तत्पर हो जाने पर अपने प्राणों की चिन्ता नहीं करता, पश्चात्पद नहीं होता, सामने ही देखता है, पीछे मुड़ कर भी नहीं देखता, अपने शत्रु हस्ति-समूह को पवन द्वारा विकीर्ण की जाने वाली मेघ-घटाओं के समान विदीर्ण कर डालता है, उसी प्रकार वीर मानव भी संग्राम में पीठ नहीं फेरता, आगे ही बढ़ता है। और सामान्य शत्रु तो दूर रहा, यमराज से भी लोहा लेने में संकोच नहीं करता। अतः मानव तथा प्रकृति के इस साम्य के आधार पर वह मानव-वीरता के मार्मिक चित्रांकन के लिये उपमान सिंह के साम्य, आरोप, तादात्म्य, सम्भावना आदि का अनेक प्रकार से आश्रय लेता है—

कोपि सिंघ सामुहँ रन मेला। लाखन्ह सौं नहिं मरै अकेला।
लेइ हाँकि हस्तिन्ह कै ठटा। जैसे पवन बिदारै घटा[4]।

---

१. परम देदीप्यमान हो अंग। बन गये थे बहु-तेज-निधान।।
दृगों से निकल ज्योति का पुंज। बनाता था पावक को म्लान।।
— हरिऔध, वैदेही-वनवास, द्वितीय सर्ग, छन्द २३।

२. श्रीखंड सम पावक प्रबेस कियो सुमिर प्रभु मैथिली।
जय कोसलेस महेस बंदित चरन रति अति निर्मली।।
—तुलसी, रामचरितमानस, लंका काण्ड, पृ० ८४६।

३. भूषण, शिवराज-भूषण, छन्द ३३१।

४. जायसी, पदमावत, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० २६१।

प्रकृति-जगत् में जिस प्रकार सिंह के होते हुए सिंहिनी की ओर कोई दूसरा पशु आँख उठा कर भी नहीं देख सकता, मानव-जगत् में उसी प्रकार वीर मनुष्य की पत्नी की ओर भी दूसरे मनुष्य आँख उठाने का भी साहस नहीं कर सकते। अतः मानव तथा प्रकृति के इस साम्य के आधार पर कवि मानव पर सिंह के आरोप द्वारा उसकी वीरता और शक्ति का अनेक प्रकार से वर्णन करता है—

सींव न चापि सक्यो तब कोऊ, हुते बल कुँवर कन्हाई।
अब सुनि सूर स्याम केहरि बिनु ये करिहैं ठकुराई[1]।

मानव-वीरता की मार्मिक अभिव्यक्ति के लिये कवि कभी-कभी मानव को सिंह से भी अधिक वीर, पराक्रमी एवम् साहसी चित्रित करता है और इसके लिये वह सिंह में मानव का भ्रम उत्पन्न करके पुनः उसके निवारण द्वारा वास्तविकता का ज्ञान कराता है—

एक समै सजि कै सब सैन सिकार को आलमगीर सिधाए।
'आवत हैं सरजा सम्हरौ', इक ओर ते लोगन बोल जनाए।
'भूषन' भो भ्रम औरँग के सिव भौंसिला भूप की धाक धुकाए।
धायकै सिंह कह्यो समुझाय करौलनि आय अचेत उठाए[2]।

उक्त अवतरण में औरंगजेब सिंह से भयभीत नहीं होता। उसके शिकार के लिये आया ही है। किन्तु सिंह के आगमन की बात को सुनकर जब उसे इस बात का भ्रम हो जाता है कि सिंह के स्थान पर शिवा जी आ गये, तो यह अत्यधिक भयातंकित हो मूर्च्छित हो जाता है, क्योंकि उसके लिये वीर शिवा जी शतशः सिंहों के समान शक्तिवान, भयोत्पादक एवम् वीर हैं। इसीलिये जब उसके साथी उसे वास्तविकता का ज्ञान कराते हैं, तो वह पुनः भयमुक्त एवम् निश्चिन्त होकर स्वस्थ हो जाता है।

सिंह के अतिरिक्त मानव-वीरता की व्यंजना कभी-कभी गयन्द, नागेन्द्र (अथवा नाग) तथा अन्य प्राकृतिक उपमानों के विभिन्न प्रकार के योग द्वारा भी की जाती है। ऐसे स्थलों पर कवि कभी तो मानव के वीरतापूर्ण कृत्यों की आकर्षक, सरस तथा बिम्बात्मक अभिव्यक्ति के लिये उसकी उपमा गजराज के कमल-वन के नष्ट करने के व्यापार से देता है[3]; कभी परस्पर युद्धरत वीरों का

१. सूर, भ्रमरगीत-सार, पद २८१।
२. भूषण, शिवराज-भूषण, छन्द ६०।
३. अम्भोज-वन को मत्त गज करता यथा मर्दित स्वतः,
मारा वृकोदर ने उन्हें झट झपट भूम इतस्ततः।
—मैथिलीशरण गुप्त, जयद्रथ-वध, पृ० ७४।

संघर्ष-रत नागों से साम्य प्रदर्शित करता है[1] और कभी वीर मानव-रूप की महत्ता की अभिव्यक्ति के लिये उसकी धनुष-टंकार पर मेघ-गर्जन, बाण-वृष्टि पर जल-वृष्टि, रोषपूर्ण दृष्टि पर विद्युत-दीप्ति, धनुष पर इन्द्र-धनुष, रथ पर प्रभंजन और उसके समष्टि रूप पर अद्भुत गम्भीर मेघ का आरोप करता है—

टंकार ही निर्घोष था शर-वृष्टि ही जल-वृष्टि थी।
जलती हुई रोषाग्नि से उद्दीप्त विद्युत् दृष्टि थी।
गांडीव रोहित-रूप था रथ ही सशक्त समीर था।
उस काल अर्जुन वीर वर अद्भुत जलद गम्भीर था[2]।

(घ) *दानशीलता*—मानव-दानशीलता की अभिव्यक्ति के लिये भी कवि विभिन्न उपमान प्रकृति-रूपों का समुचित योग लेता है। कभी तो वह गुण एवम् प्रभावादि के साम्य के आधार पर मानव-दानशीलता को मेघ के समकक्ष व्यंजित करता है[3] ; कभी अन्योक्ति की शैली में कल्प-वृक्ष आदि उपमानों की दानशीलता की व्यंजना द्वारा उसका प्रभावोत्पादक चित्र प्रस्तुत करता है[4] ; कभी प्रतीपालंकार की शैली में दानशील मानव की तुलना में प्रकृति के उपमान मेघ, पृथ्वी, कल्प-वृक्ष तथा कामधेनु आदि के निरादर एवम् अनुत्कृष्टता की अभिव्यक्ति द्वारा उसका मार्मिक चित्रांकन करता है[5] ; कभी दानशील मानव-करों से नदी-नद की उत्पत्ति की भव्य कल्पना करके उसकी महत्ता प्रदर्शित करता है और कभी दानी मानव

---

१. दो नाग करते हैं समर जैसे परस्पर रोष से,
उन्मत्त दोनों लड़ रहे वैसे परस्पर रोष से।
—श्यामनारायण पाण्डेय, तुमुल, पृ० ६२।

२. मैथिलीशरण गुप्त, जयद्रथ-बध, पृ० ८४।

३. प्राय: आर्य्या जाती थीं प्रात: समय। पावन-सलिला-सरयू-सरिता तीर पर।
और वहाँ थीं दान-पुण्य करती बहुत। वारिद-सम वर-वारि-विभव की वृष्टि कर।
—हरिऔध, वैदेही-वनवास, नवम सर्ग, छन्द ३०।

४. दानी हौ सब जगत में, एकै तुम मंदार।
दारन दु:ख दु:खियान के अभिमत-फल-दातार।
अभिमत-फल-दातार, देवगन सेवैं हित सौं।
सकल संपदा सोह छोह किन राखौं चित सौं।
बरनै 'दीनदयाल' छाँह तब सुखद बखानी।
ताहि सेइ जो दीन रहै दु:ख तौ कस दानी।
—दीनदयाल गिरि, अन्योक्ति कल्पद्रुम, पृ० ५।

५. और नदी नदन ते कोकनद होत तेरो कर कोकनद नदी-नद प्रगटत है।
—भूषण, शिवराज-भूषण, छन्द १९२।

द्वारा प्रदत्त अश्व तथा गयन्द-वर्ग की बहुलता एवम् भव्यता के वर्णनों द्वारा उसकी दानशीलता का प्रशस्ति-गान करके उसका मार्मिक बिम्ब-विधान करता है—

ऐसे बाजिराज देत महाराज सिवराज 'भूषन' जे बाज की समाजै निदरत हैं।
पौन पाँयहीन, हग घूँघट में लीन, मीन जल में विलीन, क्यों बराबरी करत हैं।
सब ते चलाक चित्त तेऊ कुलि आलम के रहैं उर अन्तर मैं, धीर न धरत हैं।
जिन चढ़ि आगे को चलाइयतु तीर तीर एक भरि तऊ तीर पीछे ही परत हैं[1]।

तथा—

साहि तनै सिवराज ऐसे देत गजराज जिन्हें पाय होत कविराज बेफिकिरि हैं[2]।

(ङ) *अनन्यता*—मानव-अनन्यता के उपमान प्रकृति के अनन्य प्रेमी पतंग, चातक, चकोर, मीन, कुमुदिनी, सर्प, कमल तथा मयूर-शिखा आदि माने जाते हैं। मानव-जगत् के लिये उनके कृत्य एवम् आदर्श अनुकरणीय तथा अनन्य मानव के कृत्यों एवम् आदर्शों से बहुत कुछ साम्य रखने वाले होते हैं। अतः कवि मानव-अनन्यता के मार्मिक चित्रांकन के लिये उनका अनेक प्रकार से योग लेता है। कभी तो वह मानव की उनसे तुलना करके 'बिनु जल कँवल सूखि जल बेली[3]', 'सूरदास स्वामी के बिछुरे जैसे मीन बिनु बारि[4]' तथा 'चातक-से जिसके दृग हैं छबि-स्वाति-सुधा के प्यासे[5]' आदि उक्तियों द्वारा उसकी अनन्यता का मार्मिक एवं हृदयद्रावक चित्र अंकित करता है; कभी मानव पर उक्त अनन्य प्रकृति-रूपों का आरोप करता है—

(१) *से धनि बिरह-पतंग भइ, जरा चहै तेहि दीप[6]।*

(२) *निरखहिं सूर स्याम-मुख-चन्दहिं अँखियाँ लगनि-चकोरी[7]।*

(३) *एक भरोसो, एक बल, एक आस विस्वास।*
एक राम-घनस्याम हित, चातक तुलसीदास[8]।

(४) *बिना सलिल की सफरी वह होगी न क्यों,*
पति-वियोग में जिसका विफल निजस्व है[9]।

१. भूषण, शिवराज-भूषण, छन्द ३६६।
२. भूषण, शिवराज-भूषण, छन्द ३३६।
३. जायसी, पदमावत, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० २६४।
४. सूर, भ्रमरगीत-सार, पद १४।
५. हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० १३६।
६. जायसी, पद्मावत, जा० ग्रं०, पृ० ७३।
७. सूर, भ्रमरगीत-सार, पद ११६।
८. तुलसी, दोहावली, दोहा २७७।
९. हरिऔध, वैदेही-वनवास, नवम-सर्ग छन्द १८।

कभी केवल प्रकृति के उपमानों के कथन द्वारा रूपकातिशयोक्ति अथवा अन्योक्ति की शैली में मानव-अनन्यता की अद्वितीय महत्ता की व्यंजना करता है—

कँवल जो बिगसा मानसर, बिनु जल गएउ सुखाइ।
अबहुँ बेलि फिरि पलुहै, जौ पिउ सींचै आइ[1]।

तथा—

आँच लगे कनकाभा परमोज्ज्वल बनी,
स्वाति-बिंदु चातकी चारु मुख में चुआ[2]।

और कभी उसकी पुष्टि के लिये प्रकृति के अनन्य प्रेमी उपमानों के दृष्टान्त प्रस्तुत करता है—

सब जल तजे प्रेम के नाते।
तऊ स्वाति चातक नहिं छाँड़त प्रकट पुकारत ताते।
समुझत मीन नीर की बातैं तऊ प्रान हठि हारत।
सुनत कुरंग नादरस पूरन, जदपि व्याध सर मारत।
निमिष चकोर नयन नहिं लावत, ससि जोवत जुग बीते।
कोटि पतंग जोति बपु जारे, भए न प्रेम-घट रीते।
अब लौं नहिं बिसरीं वे बातें सँग जो करीं ब्रजराज।
सुनि ऊधो! हम सूर श्याम को छाँड़ि देहिं केहि काज[3]।

(च) *सतीत्व*—सतीत्व वस्तुतः अनन्यता से विशेष भिन्न नहीं। नारी का पति के प्रति अनन्य प्रेम तथा निष्ठा आदि ही सतीत्व है। अतः उसकी व्यंजना भी प्रायः प्रकृति के अनन्य प्रेमी उपमानों के योग से विभिन्न प्रकार से की जाती है। कवि देखता है कि प्रकृति-जगत् में कमलिनी जिस प्रकार सौरभ वहन करती हुई अपने प्रिय सूर्य के संयोग-काल में सदैव प्रफुल्ल रहती है, मानव-जगत् में उसी प्रकार प्रिय-संयुक्ता सती रमणी भी संसार रूपी सरोवर में संयम, नियम, अनन्यता एवं पति-भक्ति से युक्त होकर सदैव प्रमुदित रहती है। अतः मानव तथा प्रकृति के इस गुण-व्यापारादि-साम्य के आधार पर वह साध्वी रमणी के पतिव्रत धर्म तथा उसके द्वारा प्राप्त दिव्य रूप एवं प्रफुल्लता की मार्मिक व्यंजना के लिए प्रकृति के उपमान सरोवर तथा कमलिनी का बहु-विध योग लेता है—सादृश्य, साधर्म्य एवं तादात्म्यादि प्रदर्शन के लिए उनका अनेक प्रकार से प्रयोग करता है। पुनः मानव-जगत् में पतिव्रता रमणी अपने पति से उसी प्रकार प्रेम करती है, जिस प्रकार प्रकृति-जगत् में हंसिनी मानसरोवर, चकोरी चन्द्रिका और सिंह-बाला सिंह से। अतः मानव तथा प्रकृति के इस गुण-साम्य के आधार पर कवि साध्वी रमणी के सतीत्व को व्यंजना के लिए

---

१. जायसी, पदमावत, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० १५६।

२. हरिऔध, वैदेही-वनवास, त्रयोदश सर्ग, छन्द ५०।

३. सूरदास, भ्रमरगीत-सार, पद ३४२।

मानसरोवर निवासिनी हंसिनी, चंद्र-प्रेमिका चकोरी और सिंह को छोड़कर अन्य का वरण न करने वाली सिंह-बाला के अनन्य-व्यापारों से उसकी तुलना एवं पुष्टि करता है—

मानस में ही हंस-किशोरी सुख पाती है। चारु चाँदनी सदा चकोरी को भाती है।
सिंह-सुता क्या कभी स्यार से प्यार करेगी। क्या पर नर का हाथ कुल-स्त्री कभी धरेगी[1]।

(छ) *उत्तरदायित्वशीलता*—अत्याधिक उत्तरदायित्वशील व्यक्ति अपने कर्तव्य भार को उसी प्रकार वहन करता है, जिस प्रकार पृथ्वी का अनन्त भार शेषनाग तथा दिग्गज। अतः अपने कर्तव्य के अनन्त भार को सम्भालने वाले मानव के काव्यगत प्रकृतिक उपमान और दिग्गज हैं। भूषण के शिवाजी पृथ्वी मंडल के प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह करने वाले हैं। अतः कवि उनकी उत्तरदायित्वशीलता की व्यंजना के लिये, तुल्ययोगिता अलंकार की शैली में उन्हें पृथ्वी के भार को भुजाओं पर धारण करने वाला कहकर, शेषनाग और दिग्गजों को अपने भार से मुक्त एवं निश्चिन्त घोषित करता है—

सिव सरजा भारी भुजन भुव भरु धर्‍यौ सभाग।
'भूषन' अब निहचिंत हैं सेसनाग दिगनाग[2]।

(ज) *गुण-शबलता*—गुण-शबलता दो से अधिक गुणों की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति की संज्ञा है। मानव अनेक गुणों का भाण्डार है। कवि उसके विभिन्न गुणों को अनेक प्रकार से व्यक्त करता है। कभी एक स्थल पर एक गुण को और दूसरे स्थल पर दूसरे गुण को अभिव्यक्त करता है और कभी एक ही स्थल पर अनेक गुणों की व्यंजना करता है। अतः उसके विभिन्न गुणों के संश्लिष्ट व्यक्तीकरण में प्राकृतिक उपमानों का किस-किस प्रकार और कहाँ-कहाँ योग लिया जाता है, इस पर यत्किंचित विचार कर लेना आवश्यक है—

गम्भीरता, उच्चता, दृढ़ता तथा नियमनिष्ठता—मानव-गम्भीरता का उपमान समुद्र, उच्चता का पर्वत, दृढ़ता का ध्रुव तारा और नियमनिष्ठता का दिवाकर है। अतः कवि मानव के इन गुणों की मार्मिक एवं सुष्ठु व्यंजना के लिये इन विभिन्न उपमानों के साम्य, आरोप, तादात्म्य तथा सम्भावना आदि का अनेक प्रकार से योग लेता है—

सागर सा गम्भीर हृदय हो, गिरि-सा ऊँचा हो जिसका मन।
ध्रुव-सा जिसका लक्ष्य अटल हो, दिनकर सा हो नियमित जीवन[3]।

तेज, यश, उदारता एवं दानशीलता—मानव-तेज का उपमान सूर्य, यश का

---

१. रामचरित उपाध्याय, रामचरित-चिंतामणि, सर्ग १५, पृ० २१६।
२. भूषण, शिवराज-भूषण, छन्द १२५।
३. रामनरेश त्रिपाठी, स्वप्न, पृ० ५८।

चन्द्र, उदारता एवं हृदय की विशालता का अम्बुधि और दानशील करों का कल्पतरु है। अतः कवि मानव तथा प्रकृति के गुण-साम्य के आधार पर निर्धारित प्रकृति के इन उपमानों का अनेक प्रकार से योग लेकर—बहु-विध प्रयोग करके—उक्त गुणों की स्पृहणीय अभिव्यक्ति करता है। कभी वह इन गुणों का प्रकृति के उक्त उपमानों से साम्य प्रदर्शित करता है, कभी इन पर उनका आरोप करता है, कभी उपमेय एवं उपमानों का तादात्म्य स्थापित करता है और कभी इन मानव-गुणों की उपमा प्रकृति से और प्रकृति की उपमा इन मानव-गुणों से देकर इनकी महत्ता का मर्मस्पर्शी बिम्ब प्रस्तुत करता है। वीर कवि भूषण ने अपने नायक शिवाजी के तेज, यश, उदारता एवं दानशीलता की अभिव्यक्ति इसी प्रकार मानव-गुणों तथा उनके उक्त उपमान प्रकृति-रूपों को परस्पर एक दूसरे के उपमान घोषित करके अत्यधिक प्रभावोत्पादक ढंग से की है—

तेरो तेज, सरजा समत्थ! दिनकर सो है, दिनकर सो है, तेरे तेज के निकर सो।
भं सिला-भुवाल! तेरो जस हिमकर सो है हिमकर सोहै, तेरे जस के अकर सो।
'भूषन' भनत तेरो हियो रतनाकर सो, रतनाकरो है, तेरे हिय सुखकर सो।
साहि के सपूत सिव साहि दानि! तेरो कर सुरतरु सो है, सुरतरु तेरे कर सो[1]।

यहाँ यदि यह कहा जाता कि शिवाजी बहुत बड़े तेजस्वी, यशस्वी, उदार एवं दानी हैं तो कवि के उस कथन में न तो कोई काव्यात्मकता होती, न कोई आकर्षण और न ही उसका मानव-हृदय पर कोई प्रभाव पड़ता। किन्तु प्रकृति के उक्त उपकरणों के सादृश्य—प्रदर्शन से उक्त कथन में बिम्ब-निर्माण की जो अद्भुत शक्ति आ गई है, उनकी योजना से उसकी मार्मिकता में जो अभिवृद्धि हुई है, वह पाठक को रस-विभोर कर आत्मोल्लास से भर देने वाली है। पाठक उक्त पंक्तियों को पढ़ कर उस दिव्य कल्पना-लोक में पहुँच जाता है, जहाँ शिवाजी तथा प्रकृति-जगत् के उपमान सूर्य, चन्द्र, रत्नाकर तथा कल्पवृक्ष परस्पर प्रतिद्वन्द्विता करते हुए एक दूसरे से बाजी मार ले जाने का प्रयत्न करते हैं और इस प्रकार अपने दिव्य रूप की महत्ता से उसके मन को चमत्कृत एवं आकर्षित करके अनन्त आनन्दोल्लास से भर देते हैं।

शक्ति, कान्ति एवं शीतलता—मानव-शक्ति के उपमान सिंह, गज एवं मरुत्, कान्ति का सूर्य और शीतलता का चन्द्र हैं। अतः कवि मानव-शक्ति, वर्ण-दीप्ति तथा शीतलता की व्यंजना प्रकृति के इन उपमानों के साम्य, आरोप तथा तादात्म्य आदि के द्वारा अनेक मर्मस्पर्शी एवं आकर्षक शैलियों में करता है। प्रकृति के इन उपमानों के विभिन्न प्रकार के योग एवं प्रयोग से काव्याभिव्यक्ति कितनी चमत्कारोत्पादक, आकर्षक, रसात्मक तथा स्पृहणीय हो जाती है, यह कहने का नहीं, सहृदय मानव की अनुभूति का विषय है—

---

१. भूषण, शिवराज-भूषण, छन्द ५४।

मरुत कोटि सत बिपुल बल रबि सत कोटि प्रकास।
ससि सत कोटि सुसीतल समन सकल भव त्रास[१] ।।

पवित्रता, लोक-कल्याण एवं मानवता-प्रेम—प्रकृति-जगत् में दृष्टिपात करने पर कवि देखता है कि विशाल एवं अगाध अंबुधि अनेक रत्नों की खान है; गंगा-जल की पवित्रता अनुपमेय है; शरद्-पूर्णिमा की चन्द्रिका का प्रकाश अनन्त अंधकार को विदूरित करने वाला तथा मंगलकारी है और यह प्रकृति-रूप क्रमशः मानव-लोकाराधन, पावनता तथा विश्व-प्रेम के सर्वाधिक उपयुक्त उपमान हैं। अतः मानव-जगत् के इन महान् गुणों की महत्ता की मार्मिक व्यंजना के लिए वह प्रकृति-जगत् के इन उपमानों—रत्नाकर, सुर-सरिता तथा राका-चन्द्रिका—का बहु-विध योग लेता है—साम्य, आरोप एवं तादात्म्यादि के लिए अनेक प्रकार से प्रयोग करता है—

हैं लोकाराधन-निधि-शुचिता-सुरसरी। हैं मानवता-राका-रजनी की सिता[२] ।।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मानव-गुणों की अभिव्यक्ति में उनके उपमान प्रकृति-रूपों का योग निस्संदेह परम महत्वपूर्ण है। प्रकृति के योग के बिना उनका सम्यक् चित्रांकन तथा सुष्ठु बिम्ब-निर्माण सम्भव नहीं। प्रकृति के जिन चिर-सहचर रूपों के मध्य मानव आदि-काल से रहता आया है, उनके उल्लेखमात्र में उसे रस-विभोर कर देने की अनन्त शक्ति निहित है। उनके विभिन्न प्रकार के योग एवं प्रयोग से अमूर्त मानव-गुणों के स्वरूप-निर्देश तथा उनकी पूर्ण सौन्दर्य-मूर्ति की प्रतिष्ठा में जो योग मिलता है, उसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।

प्रकृति-गुणाभिव्यंजन में मानव

जिस प्रकार मानव-गुणों की व्यंजना के लिये उपमान प्रकृति-रूपों का योग अपेक्षित है, उसी प्रकार प्रकृति-गुणाभिव्यंजन के लिये उपमान-रूप-मानव का भी। मानव-वर्ग में जो विभिन्न गुण प्राप्त होते हैं, उनके आश्रय—उनके आदर्श रूपों की प्रतिष्ठा तथा अपने जीवन में उन्हें विशेष रूप से कार्यान्वित करने वाले—महापुरुषों की तुलना, आरोप आदि अथवा सामान्य रूप से किसी भी गुणवान व्यक्ति के साम्यादि द्वारा प्रकृति के गुणों की अभिव्यक्ति प्रायः की जाती है। कभी किसी वृक्ष की परोपकार-परायणता की अभिव्यक्ति के लिये कवि उसे परोपकारी मानव के समान चित्रित करता है—

बढ़ा स्व-शाखा मिस हस्त प्यार का। दिखा घने-पल्लव की हरीतिमा।
परोपकारी-जन तुल्य सर्वदा। अशोक था शोक स-शोक मोचता[३]।

---

१. तुलसी, रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, दो० ६१, पृ० ६५२।
२. हरिऔध, वैदेही-वनवास, नवम सर्ग, छन्द ३६।
३. हरिऔध, प्रिय-प्रवास, नवम सर्ग, छन्द ५०।

कभी प्रकृति के किसी उपकरण की दानशीलता की महत्ता प्रकट करने के लिये—उसकी दानशील प्रवृत्ति के सम्यक् बिम्ब-विधान के लिये—औढर दानी मानव से उसकी उपमा देता है[१], कभी किसी भूर्ज वृक्ष की यशस्विता, त्याग, बलिदान एवं दानशीलता की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति के लिये शिवि तथा दधीचि से उसका साम्य-प्रदर्शन करता है[२]; कभी मेघ आदि की अध्ययनशीलता की चमत्कारोत्पादक अभिव्यंजना के लिये सव्यसाची (अर्जुन) से उसकी तुलना करता है—

तरु के सुमन !

+ + +

स्वर्ग के अभिलाषी हे वीर,
सव्यसाची से तुम अध्ययन अधीर[३] ।

कभी पर्वतों की सहिष्णुता के उल्लेख के लिये उनकी उपमा सर्वसहिष्णु सन्त-समुदाय से देता है[४] और कभी किसी प्रकृति-रूप की विनम्रता के सुष्ठु चित्रांकन के लिये उसकी तुलना विद्या प्राप्त करके विनम्र हो जाने वाले विद्वान से करता है—

बरषहिं जलद भूमि निअराएँ । जथा नवहिं बुध विद्या पाएँ[५] ।

जिस प्रकार परीक्षक किसी उत्तम वस्तु की परीक्षा करके उसकी उत्तमता की घोषणा करता है, उसी प्रकार प्रकृति के विभिन्न रूपों का द्रष्टा-परीक्षक मानव भी उसके विभिन्न गुणों को प्रकाश में लाता है। मानव के द्वारा ही प्रकृति के गुणों को अभिव्यक्ति का जामा मिलता है। उसके बिना काव्य में उनका अस्तित्व भी सम्भव नहीं। अतः उनकी अभिव्यक्तिकर्त्ता के रूप में भी मानव का योग अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

इसके अतिरिक्त कवि प्रायः प्रकृति-गुणाभिव्यक्ति को मर्मस्पर्शी सुरम्य, रसात्मक तथा प्रभावोत्पादक रूप देने के लिये गुणशाली प्रकृति-रूपों का मानवीकरण

१. औढर दानी-सा नालों का
घर बेन माँग भरता। —दिनकर, पानी की चाल, धूप-छाँह, पृ० २४।

२. शिवि दधीचि के सम सुयश इसी भूर्ज-तरु ने किया।
जड़ भी होकर के अहो त्वचा दान इसने दिया।
—रामचरित उपाध्याय, रामचरित-चिंतामणि, पृ० १६६, सर्ग १२, छन्द ५६।

३. निराला, बादल राग, परिमल, पृ० १८०।

४. बुंद अघात सहैं गिरि कैसे। खल के वचन संत सह जैसे।
—तुलसी, रामचरितमानस, किष्किंधाकाण्ड, पृ० ६६७।

५. तुलसी, रामचरितमानस, किष्किंधाकाण्ड, पृ० ६६७।

भी करता है। ऐसे स्थलों पर भी उपमान-मानव का योग प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष किसी न किसी रूप में अवश्य वर्तमान रहता है। प्रकृति के मानवीकृत रूप मानव के समान ही विभिन्न गुणों से युक्त हो, काव्य-जगत् में इतस्ततः विचरण करते हुए अपने परम मनोमुग्धकारी रूप में प्रस्तुत होते हैं और उन्हें देख कर पाठक अथवा श्रोता को ऐसा लगता है कि मानों वे जड़ नहीं, चेतन हैं—निष्प्राण नहीं सप्राण हैं—मानों वस्तुतः वहाँ आकर मानव तथा प्रकृति का व्यवधान ही मिट गया हो।

हिन्दी-काव्य में मानव तथा प्रकृति के गुण-साम्य के आधार पर प्रकृति के जड़-चेतन तथा मूर्त-अमूर्त उपकरणों के मानवीकरण के स्थल आधुनिक-काल में विशेष रूप से उपलब्ध हैं। जैसा कि कहा गया है, ऐसे स्थलों पर भी प्रकृति-गुणाभिव्यंजन में मानव के उपमान रूप का योग कम महत्त्वपूर्ण नहीं—बिना उसके योग के प्रकृति के किसी भी रूप का मानवीकरण हो ही नहीं सकता। कवि जब कहता है कि कानन गंगा-जल में पवित्र होने के लिये स्नान करता है[1] अथवा प्रकृति सर्वसहिष्णु, क्षमा तथा क्षमता की प्रतिमा और ममत्त्व एवं समता का आदर्श है[2] अथवा चन्द्रिका परम सुकृतिमयी, सहृदया, उदार, सेवाशील, करुणामयी, परोपकारिणी तथा विश्व-प्रेम के अभूतपूर्व गुण से युक्त है[3], तो वहाँ भी उपमान-मानव का योग प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष किसी न किसी रूप में अवश्य होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रकृति-गुणाभिव्यंजन में उपमान-मानव का योग अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। मानव उनका द्रष्टा, स्रष्टा तथा उपभोक्ता आदि सभी कुछ है। वही उसके विभिन्न गुणों की कल्पना करता है और वही उन्हें मानव-जगत् के विभिन्न प्रकार के योग द्वारा आकर्षक अभिव्यक्ति का जामा पहनाता है।

मानव तथा प्रकृति के रूप-गुणादि की व्यंजना में केवल उनके पारस्परिक उपमानों का ही नहीं स्वर्गीय उपमानों का भी बहुधा योग लिया जाता है। मानव-गुणाभिव्यंजन में उपमान-मानव और प्रकृति-गुणाभिव्यंजन में उपमान-प्रकृति-रूपों

१. करते हो तुम स्नान नित्य ही पावन नभ-गंगा-जल से।
—गोपालशरणसिंह, कानन, कादम्बिनी, पृ० ८।

२. सर्वसहा क्षमा क्षमता की, ममता की वह प्रतिमा।
खुली गोद जो उसकी आवे, समता की वह प्रतिमा।
—मैथिलीशरण गुप्त, द्वापर, पृ० ४६।

३. जैसी तुम हो सुकृतिमयी, जैसी तुम में सहृदयता है।
जैसी हो भवहित विधायिनी, जैसी तुम में ममता है।
मैं हूँ अति साधारण नारी, कैसे वैसी मैं हूँगी।
—हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० १२८।

का प्रयोग प्रायः अनेक स्थलों पर होता है। किन्तु यहाँ हमें उनसे प्रयोजन नहीं; क्योंकि हमारा विषय मानव तथा प्रकृति के परस्पर सम्बद्ध रूपों से ही सम्बन्धित है, उनके किसी पृथक् असम्बद्ध रूप से नहीं।

मानव-गुणों का प्रकृति पर प्रभाव

मानव गुणों का प्रभाव उसकी सहचरी प्रकृति के विभिन्न रूपों पर अनेक प्रकार से पड़ता है। उसकी सात्विक शांतिमयता तथा उदात्त वृत्तियाँ प्रकृति के कुटिल से कुटिल प्राणियों की भी दुष्टता छुड़ाकर उन्हें शान्तिप्रिय एवं सरल हृदय बना देती हैं। उसकी अहिंसामयता हिंस्र प्राणियों की भी हिंसा-वृत्ति को शांत कर देती है[1]। अपने सम्पर्क में आनेवाले प्राणियों को त्रस्त करनेवाली निर्मम तथा कठोर प्रकृति गुणाम्बुधि मानव के सम्पर्क साहचर्य में उसके गुणों से प्रभावित हो सात्विक वृत्तियों तथा सौम्य रूप वाली हो जाती है[2]। उसका संयम तथा ब्रह्मचर्य प्रकृति में भी संयम का प्रादुर्भाव करता है। लोलुप, कामुक तथा वासना से अभिभूत भ्रमर-वर्ग की कामान्धता उसके गुणों से प्रभावित हो नष्ट हो जाती है। उसके सृष्टि-प्रेम से प्रभावित हो पशु-पक्षी भी उसके स्वजन बन जाते हैं। जिन पशु-पक्षियों का वह लालन-पालन करता है, वे प्रायः उसके लिये अपने प्राणों तक को न्यौछावर करते देखे जाते हैं। उसके शान्त, सात्विक तथा सदाचारशील रूप से प्रभावित हो प्रकृति-जगत के पशु-पक्षी अपनी पारस्परिक शत्रुता का विस्मरण कर परस्पर मित्र बन जाते हैं। गयन्द और मृगेन्द्र, मयूर और सर्प अपने पारस्परिक शत्रु-भाव को त्याग-कर एक साथ रहते है। शृगाल सिंह के भय को विस्मृत कर निर्भय रूप से उसके पास बैठकर विश्राम करता है और सिंह अपनी हिंसक वृत्ति से रहित हो उसके प्रति मित्रवत प्रेमाचरण करता है। मृगशावक सिंह-कुमारों के साथ विविध क्रीड़ाएँ करते

---

१. काक कुटिलता वहाँ न था करता कभी, काँ काँ रव कर था न कान को फोड़ता।
पहुँच वहाँ के शांत-वात-आवरण में, हिंसक खग भी हिंसकता था छोड़ता।।
—हरिऔध, वैदेही-वनवास, चतुर्थ सर्ग छन्द १०।

२. निर्मम कठोर प्रकृति त्रस्त किया करती प्राण,
मरु-भूमि-सी थी जगह,
उड़ती उत्तप्त धूलि—झुलसाती थी शरीर
पथिकों को देती थी कठोर दण्ड
चण्ड मार्तण्ड की सहायता से
और आज कितना परिवर्तन है।
× ×
जड़ों में हुआ है नव-जीवन-संचार, धन्य।
—निराला, पंचवटी प्रसंग, परिमल, पृ० २४५।

हैं[1]। उसके तप, संयम तथा सात्विकता का प्रकृति पर इतना प्रभाव पड़ता है कि वह स्वयं भी शांत, संयत तथा सात्विक प्रवृत्तियों वाली हो जाती है। समीर संयत हो सुरभि-प्रसार करता हुआ चतुर्दिक वातावरण में शान्ति की स्थापना करता है। वृक्ष, लता, पुष्प, पल्लव सभी अत्यधिक सौम्य एवं शांत रूप वाले बन जाते हैं। लताएँ प्रसन्न-पुलकित हो फलों-फूलों के दान में संलग्न हो जाती हैं। समस्त प्रकृति उसके दर्शन करके कृतकृत्य हो स्वजन के समान उसका स्वागत करती है, भोजन के लिए फलादिक भेंट करती है, आभरणों के लिये मुक्तावलि अर्पित करती है और अपना समस्त वैभव, अनन्त कोष उसके समक्ष खोलकर रख देती है[2]। गुणसागर मानव के गुणों से प्रभावित समुद्र के पारस्परिक शत्रुता रखनेवाले विभिन्न जल-जंतु अपना वैर-भाव भूलकर उसके रूपामृत-पान में तन्मय हो आत्मविस्मृत हो जाते हैं[3] और वृक्ष ऋतु-कुऋतु तथा समय की गति को भूलकर उसकी सेवा के लिये फलने लगते हैं[4]।

चेतन प्रकृति ही नहीं, जड़ प्रकृति पर भी उनका प्रभाव पड़ता है। राम, सीता, तथा लक्ष्मण के वियोग में उनके गुणों से प्रभावित अयोध्या की भूमि, सरिता, सरोवर सभी खिन्न रहते हैं। सिद्धार्थ के गृह-त्याग से दुःखी प्रकृति विलाप करती

१. करि केहरि कपि कोल कुरंगा, बिगत बैर बिचरहिं सब संगा।
—तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ४४३।

तथा

मृग-शावक थे सिंह-सुअन से खेलते, उछल कूद में रत कपि मोद-निमग्न थे।
—हरिऔध, वैदेही-बनवास, पृ० ६१।

२. किसलय-कर स्वागत-हेतु हिला करते हैं।
मृदु मनोभाव-सम सुमन खिला करते हैं।
डाली में नव फल नित्य मिला करते हैं।
तृण-तृण पर मुक्ता-भार झिला करते हैं।
निधि खोले दिखला रही प्रकृति निज माया,
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।
—मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ० १५८।

३. देखन कहुँ प्रभु करुना कंदा। प्रगट भए सब जलचर बृन्दा।
मकर नक्र नाना झष ब्याला। सत जोजन तन परम बिसाला।
अइसेउ एक तिन्हहि जे खाहीं। एकन्ह के डर तेपि डेराहीं।
प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे। मन हरषित सब भए सुखारे।
—तुलसी, रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, पृ० ७४३।

४. सब तरु फरे राम हित लागी। रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी।
—तुलसी, रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, पृ० ७४४।

हुई दृष्टिगोचर होती है[1]। कृष्ण के मथुरा-गमन पर उनके वियोग में यमुना विरह-ज्वर-पीड़िता हो कृष्ण वर्ण हो जाती है[2]। रजनी उनके मथुरा-गमन के समय हिम-विन्दुओं के व्याज से अश्रुपात करती है; पृथ्वी रुदन करती है[3]; दिशाओं का हृदय विषादाग्नि से जलने लगता है और प्राची-सुन्दरी के हृदय से रक्त-श्राव होने लगता है[4]।

प्रकृति-गुणों का मानव पर प्रभाव

जिस प्रकार मानव-गुणों का प्रभाव प्रकृति-जगत पर पड़ता है, उसी प्रकार प्रकृति के गुणों का मानव-जगत् पर भी। प्रकृति के स्वच्छता, सरसता, पवित्रता, उदारता, करुणा, भक्तवत्सलता, परोपकारशीलता आदि गुणों के प्रभाव से मानव-हृदय में पवित्रता, सात्विकता, उदारता, निर्मालय आदि गुणों का आविर्भाव होता है[5]। उसके विभिन्न दिव्य गुणों के प्रभाव से मानव देवत्व को प्राप्त होता है। उसके सम्पर्क से प्रभावित हो मानवी देवी बन जाती है[6]। उसके निर्मल जल में अवगाहन कर मलिन-मति व्यक्ति पवित्र-हृदय और पतित प्राणी मुक्त हो जाते हैं[7]।

इसी प्रकार मेघ के त्याग, बलिदान, दानशीलता, परोपकार तथा उदारता, पृथ्वी, रज, वृक्ष एवं पुष्प आदि के सहिष्णुता, क्षमा, विनम्रता तथा सेवाशीलता; पुष्प के राष्ट्र-प्रेम; कानन की दानशीलता; पर्वत की उच्चता तथा दृढ़ता; समुद्र की गम्भीरता; ध्रुव तारे की स्थिरता, चातक, मीन, चकोर, आदि की अनन्यता; पतंग का बलिदान; मृग का संगीत-प्रेम और लता-वृक्ष तथा छाया-पुष्पादि की लोकसेवा आदि विभिन्न गुणों की भी मानव-जीवन के आदर्श-निर्माण तथा प्रगति पर यथेष्ट प्रभाव पड़ता है।

———

१. अनूप शर्मा, सिद्धार्थ, पृ० १९२-१९३।

२. विरह विकल यमुना अति कारी, हहरति बहति बिरह-ज्वर-जारी।
—द्वारिकाप्रसाद मिश्र, कृष्णायन, मथुरा काण्ड, २१७।

३. हरिऔध, प्रिय-प्रवास, पृ० ३३।

४. हरिऔध, प्रिय-प्रवास, चतुर्थ सर्ग, छन्द ४९।

५. हृदय-शुद्धता की है परम-सहायिका, सुर-सरिता स्वच्छता सरसता मूल है।
—हरिऔध, वैदेही वनवास, पंचदश सर्ग, छन्द ५६।

६. है उपकार परायणा सुकृति-पूरिता।
\+ \+
देवी बनती है उससे मिल मानवी।
—हरिऔध, वैदेही-वनवास, पंचदश सर्ग, छंद ६१-६२।

७. अवगाहन कर उसके निर्मल - सलिल में।
मल - विहीन बन जाते हैं यदि मलिन-मति।
तो विचित्र क्या है जो नितपत पथ रुके।
सुर - सरिता से पा जाते हैं पतित गति।
—हरिऔध, वैदेही-वनवास, पंचदश सर्ग, छंद ६३।

षष्ठ अध्याय

मानवीय अवगुण तथा प्रकृति

काव्य का प्रमुख उद्देश्य सौन्दर्य तथा वैरूप्य का सम्यक् चित्रांकन है। सौन्दर्य मानव-आकर्षण का विषय है और वैरूप्य उसके विकर्षण का। सौन्दर्य की ओर मानव-मन जिस द्रुत गति से बढ़ता है, वैरूप्य की ओर से उसी द्रुत गति से पलायमान होता है। काव्य सौन्दर्य के भव्य रूपों के प्रति मानव-मन की प्राकृतिक रुझान की अभिवृद्धि में जिस प्रकार योग देता है, उसी प्रकार जागतिक विरूपता के विभिन्न रूपों के प्रति उसकी विरक्ति-वर्द्धन में भी। सौन्दर्य विश्व का प्राण, स्पन्दन एवं स्थिति है और वैरूप्य उसके नाश का मूल। सौन्दर्य तथा वैरूप्य दोनों के ही दो रूप हैं—आन्तर एवं बाह्य। विश्व-स्थिति के लिये जिस प्रकार आन्तर सौन्दर्य जितना कमनीय है, बाह्य वैरूप्य उतना नहीं। आततायी रावण तथा कंस की बाह्य विरूपता-मानव-विगर्हणा की उतनी उत्तेजक नहीं, जितनी कि आन्तरिक। देवत्व तथा मानवत्व विरोधी रावण का कज्जल पर्वत के समान शरीर, वृक्षों के समान भुजाएँ, पर्वत-शिखरों के समान सिर, लताओं के समान रोमावली तथा पर्वत-कन्दराओं के समान मुख, नासिका, नेत्र एवं कर्ण उतने विकर्षक नहीं—विश्व-कल्याण में उतने बाधक नहीं—जितने कि उसके राक्षसी अवगुण।

आन्तर सौन्दर्य के निर्माणक अवयव विश्वमंगलकारी गुण हैं और आन्तर वैरूप्य के विधायक सृष्टि-स्थिति-विरोधी अवगुण। संसार में जिस दिन अवगुणों का एकच्छत्र साम्राज्य हो जायेगा—विभिन्न गुणों को कहीं स्थान नहीं मिलेगा उस दिन संसार में मानवता के केवल ध्वंसावशेष ही दृष्टिगोचर होंगे; क्योंकि गुण सृष्टि की स्थिति, रक्षा एवं कल्याण के उपादान हैं और अवगुण उसके विनाश के; गुण स्वास्थ्य हैं और अवगुण भयंकर महामारियाँ[1]; गुण प्राणदायक सुधा-स्रोत हैं और अवगुण प्राणहन्ता भीषण मरुस्थल; गुण जीवन-यात्रा के संबल हैं और अवगुण प्राण-लेना हिंस्र-जन्तु। संसार में मानव अपने अवगुणों के विकास के लिये

१. Virtue is health; vice is sickness.

—Petrarch.

जितने अवसर पाता है, सद्गुण-प्रसार के उतने नहीं—बुराई करने के अवसर दिन में सैकड़ों बार प्राप्त हो सकते हैं, पर भलाई का बर्षों में कहीं एक बार[१]।

मानव तथा प्रकृति में अवगुण-साम्य

मानव तथा प्रकृति में विभिन्न अवगुणों की अवस्थिति पर विचार करने से ज्ञात होता है कि दोनों में इस दृष्टि से पर्याप्त साम्य है। मानव-जगत् में जहाँ एक ओर विभिन्न अवगुणों की अवस्थिति है, वहाँ दूसरी ओर प्रकृति भी उनका अपवाद नहीं। यदि एक ओर मानव स्वार्थान्धता का लक्ष्य है, तो दूसरी ओर प्रकृति भी ; यदि एक ओर मानव में निष्ठुरता, निर्वीर्यता, हिंसा तथा अज्ञान का प्राबल्य है, तो दूसरी ओर प्रकृति-जगत् में भी ; यदि मानव निद्रा, भय, मैथुन, काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा वासना की प्रबलता से पीड़ित है, तो प्रकृति भी और यदि मानव पर-पीड़क, प्राण-हन्ता, मूर्ख, अभिमानी एवं दुराग्रही है तो प्रकृति भी।

मनुष्य को यह सोच कर आश्चर्य होता है कि मानव-मति अवगुण रूपी नक्षत्रों के परिदर्शन के लिये गगनस्थल की नीलिमा क्यों बन जाती है ? प्रेम के रंग में रँगी उसके नेत्रों की अरुणिमा अवगुणों की प्रतिकूल कालिमा से परिवर्तित क्यों हो जाती है ? प्रेम-निकेतन हृदय में अप्रीति स्थान कैसे बना लेती है ? कर्ण-रसायन मधुमय वाणी कटु-कर्कश कैसे हो जाती है[२] ?

जीवन में आज इतने अवगुणों ने घर कर लिया है कि मानवता को भावी स्थिति में ही संदेह होने लगा है। समग्र विश्व में निष्ठुरता, स्वार्थान्धता, पर-पीड़न, अत्याचार, अन्याय, वासना, कामुकता, हिंसा, बर्बरता और पशुता का ही ताण्डव-नर्तन है। मानव अथवा प्रकृति कोई भी इसका अपवाद नहीं। भाई-भाई का शत्रु है। पुत्र पिता का हन्ता है। जीव जीव का भक्षक है। मानवता केवल सात्त्विक प्राणियों के सत्प्रयत्न से ही रक्षित है। अवगुण-विरोधी गुण—विनाश-विरोधी स्थिति-रक्षा के प्रसाधन—ही उसे पूर्णतः ध्वस्त हो जाने से रोके हुए हैं। जब तक उनका अस्तित्व है, जब तक वे दुर्वृत्त मानव के अवगुणों से पराभूत हो इस संसार-नीड़ को छोड़ कर कहीं और नहीं चले जाते, तब तक सृष्टि का सर्वथा नाश नहीं हो सकता। किन्तु अवगुणोन्मुख मानव के भयंकर तामसी अवगुण मानवता की स्थिति के लिये भीषण चुनौती ही नहीं, बहुत बड़ा खतरा है, इसमें सन्देह नहीं। अतः मानव तथा प्रकृति-उभय पक्षों—में उनके भयंकर रूप कौन-कौन और कहाँ-कहाँ पाये जाते हैं और मानव-जाति के लिये वे कितनी लज्जा के विषय हैं,

---

१. The opportunity of doing mischief is found a hundred times a day and of doing good once in a year.
—Voltair.

२. हरिऔध, वैदेही-वनवास, चतुर्दश सर्ग, पृ० १८६।

यह देखने के लिये अब हमें उनकी स्थिति पर पृथक्-पृथक् रूप से विचार करना होगा।

(क) *स्वर्थान्धता*—स्वार्थलिप्सा के प्रेमी कुछ लोगों का विचार है कि संसार में आत्म-सुख ही मानव का प्रधान अभीष्ट है। उनका कथन है कि नरक, स्वर्ग, अपवर्ग, जन्मान्तर अथवा लोकान्तर की कल्पना परोक्ष की बातें हैं, जो आज तक कभी प्रत्यक्ष नहीं हो सकीं। अतः परार्थ की बातें करना व्यर्थ की बकवास है[1]। किन्तु उनका यह विचार उनकी स्वार्थान्धता के ही कारण है। इससे मानवता की रक्षा नहीं, ध्वंस ही निश्चित है। स्वार्थ वह अंधकारमय गर्त है, जिसमें पड़ा हुआ मानव बाहर निकलने का प्रयत्न करके भी नहीं निकल सकता, प्रकाश के धरातल के दर्शन नहीं कर सकता। दुर्मति-मानव इस बात को समझता नहीं। यही कारण है कि वह अपनी स्वार्थपरायणता से प्रेरित होकर न जाने कितने अकरणीय कृत्य करता है।

स्वार्थ की संकीर्ण चहारदीवारी में बन्द मानव उसके बाहर जाने का प्रयास नहीं करता, संसार के सुख-दुःख की चिन्ता नहीं करता, अपने ही सुख-विधान की योजनाओं में निमग्न रहता है—व्यस्त रहता है। दूसरों के लिये उसके पास समय कहाँ[2] ?

'स्वकार्य साधयेत्' का अनुयायी मानव अपने स्वार्थ-साधन के लिये संसार का न जाने कितना अहित करता है, अपने सुख के लिये अन्य प्राणियों के दुःख तथा संसार के परिताप को तृणवत् समझ कर न जाने कितने दुष्कृत्य करता है[3]।

१. यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥
--चार्वाक, चार्वाक-दर्शन, सर्वदर्शन-संग्रह, पृ० १४।

तथा—
वे कहते हैं नरक, स्वर्ग, अपवर्ग की। जन्मान्तर या लोकान्तर की कल्पना॥
है परोक्ष की बात हुई प्रत्यक्ष कब। है परार्थ भी अतः व्यर्थ की जल्पना॥
—हरिऔध, वैदेही-वनवास, सप्तदश सर्ग, छन्द ८१।

२. पर हमें फुरसत कहाँ जो सुन सकें कुछ।
क्योंकि अपने स्वार्थ की
संकुचित सीमा में बँधे हम,
देख-सुन पाते नहीं हैं
और का दुःख
और का सुख।
—दुष्यन्तकुमार, कागज की डोंगियाँ, सूर्य का स्वागत, पृ० ५८।

३. अपने हित साधन की ललकों में पड़े। अहित लोक लालों के लोगों ने किये॥
प्राणिमात्र के दुःख को भव-परिताप को। तृण गिनता है मानव निज सुख के लिये॥
—हरिऔध, वैदेही-वनवास, चतुर्थ सर्ग, छन्द ३४।

सामान्य मनुष्य ही नहीं, चन्दन-तिलकधारी तथा कथित धर्मान्धकारी भी प्राय: स्वार्थ से मुक्त नहीं होते । वाह्य रूप से साधु-वेश धारण किये हुए, ऊपर से धर्म के ठेकेदार बने हुए, हृदय में न जाने कितनी कुत्सित दुर्वृत्तियों को छिपाये हुए, स्वार्थ-साधन के लिये अगणित अकरणीय कृत्य करते हैं[1] ।

यद्यपि स्वार्थ एक महाभयंकर मानसिक रोग है, जिससे मनुष्य आधा मर जाता है[2], तथापि भले ही यह रोग कितना ही भयंकर क्यों न हो—भले ही इससे मनुष्य आधा ही नहीं, पूरा ही क्यों न मर जाय, भले ही इससे मानवता का कितना ही नाश क्यों न हो—स्वार्थ-पिशाच मानव इसे छोड़ता नहीं—इससे मुक्त होना नहीं चाहता । परमात्मा के समान इसकी सत्ता घट-घट में अन्तर्व्याप्त है ।

मानव ही नहीं, प्रकृति-जगत् में भी स्वार्थान्धता की इसी कुत्सित प्रवृत्ति का साम्राज्य है । भ्रमर, भुजंग, कोकिल, दिशाएँ, पर्वत, आकाश, सूर्य, चन्द्र, वायु सभी स्वार्थान्धता के वशीभूत हैं । भ्रमरगीत-परम्परा का भ्रमर अपनी स्वार्थ-परायणता के कारण ही जगविख्यात है । जब तक उसे स्वार्थ-साधन की आशा रहती है, तब तक तो वह कलियों के पास आता है, उनसे प्रणय-निवेदन करता है, अपनी चिकनी-चुपड़ी बातों द्वारा उन्हें फुसलाता है और उनका रस लेता है ; किन्तु उनके विरस हो जाने पर, जब उसे उनसे किसी भी प्रकार के स्वार्थ-साधन की आशा नहीं रह जाती, तब वही उनका सर्वस्व-हरणकर्ता स्वार्थी भ्रमर उन्हें त्याग देता है, पुनः उनसे बात भी नहीं करता, मरणावस्था में भी उनके निकट नहीं जाता[3] ।

सर्प केवल स्वार्थ-साधन ही नहीं, अपने पालक मानव की हत्या करने में भी

---

१. ढके हृदय में स्वार्थ चढ़ाए ऊपर चन्दन,
करते समय नदीश नंदिनी का अभिनन्दन,
तुम्हें चढ़ाया कभी किसी ने था देवी पर,
+ + +
फेंक दिया पृथ्वी पर तुमको
रक्खे हुए हृदय में अपने उस निर्दय ने पत्थर ।
—निराला, रास्ते के फूल से, परिमल, पृ० १५६ ।

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, कविता क्या है, चिन्तामणि, भाग १, पृ० १६० ।

३. जौ लौं गरज निकट तौ लौं रहै, काज सरे पै रहै धूर ।
सूर स्याम अपनी गरजन कौं कलियन रस लै धूर धूर ।
—सूर, भ्रमरगीत-सार, पद ३५२ ।

तथा—

पुहुए गए बहुरे बलिन के नेकु न नेरे जात । —सूर, भ्रमरगीत-सार, पद २७४ ।

संकोच नहीं करता[1]। कोकिल-शिशु काक द्वारा अत्यधिक प्रेम एवं भक्ति-भाव से लालित-पालित होकर भी, बड़े होने पर बसन्त आते ही कुहकुहा कर अपने कुल में जाकर मिल जाते हैं, पुनः अपने पालक पिता के पास फटकते भी नहीं[2]। दिशाएँ, पर्वत तथा वायु आदि प्रकृति-रूप सायंकालीन सूर्य को समुद्र द्वारा डुबोये जाते हुए देख कर भी, उसके प्रति किये जाने वाले उसके निष्ठुर कृत्य का विरोध करना तो दूर रहा, चूँ तक नहीं करते। इसीलिए कि उन्हें दूसरों से क्या प्रयोजन ? दूसरों के लिये उनके पास समय कहाँ[3] ? आकाश, सूर्य, चन्द्र आदि भी अपने-अपने कार्य में व्यस्त रहते हैं। दूसरों के दुःख-सुख से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। संसार के हर्ष-शोक में भाग लेने से उन्हें कोई मतलब नहीं। उन्हें तो केवल अपने काम से काम है, अपनी स्वार्थ-सिद्धि से प्रयोजन है। अन्य बातें उनके लिए व्यर्थ हैं। उनकी उन्हें आवश्यकता नहीं[4]।

तात्पर्य यह कि मानव तथा प्रकृति दोनों में ही स्वार्थान्धता का यह

१. भुवन भुजंग पिटारे पाल्यो ज्यों जननी जनि तात।
कुल-करतूति जाति नहिं कबहूँ सहज सो डसि भजि जात।
—सूर, भ्रमरगीत-सार, पद, २६६।

२. ज्यों कोइलसुत काग जिआवत भाव-भगति भोजनहिं खवाय।
कुहकुहाय आए बसंत ऋतु, अंत मिलै कुल अपने जाय॥
—सूर, भ्रमरगीत-सार, पद ६१।

३. लज्जा से अरुण हुई
तरुण दिशाओं ने
आवरण हटा कर निहारा दृश्य निर्मम ने यह।
क्रोध से हिमालय के वंश वर्तियों ने,
मुख लाल कुछ उठाया
फिर मौन सिर झुकाया
ज्यों—'क्या मतलब' ?
एक बार सहमी
ले कम्पन रोमांच वायु
फिर गति से बही
— जैसे कुछ नहीं हुआ।—दुष्यन्तकुमार, सूर्यास्त : एक इम्प्रेशन, सूर्य का स्वागत, पृ० ५२-५३।

४. लग रहा ऐसा कि नभ के पास भी मस्तिष्क है, पर मन नहीं है,
चाँद सूरज गीत सुनने को किरण-रथ रोक दें, ऐसा अनोखा क्षण नहीं है,
जो झकोरा भी हवा का हाँफता-सा जा रहा, उसको दिशाओं से गरज है।
—वीरेन्द्र मिश्र, 'लिखता जा रहा हूँ', ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० १०७।

महाविनाशकारी रोग समान रूप से परिव्याप्त है। संसार के समस्त प्राणी केवल स्वकार्यसाधन से ही प्रयोजन रखते हैं, अपनी कार्य व्यस्तता को ही जीवन का चरम लक्ष्य समझते हैं[1]। परोपकार के लिये उनके पास अवकाश नहीं। विश्व में बहुत कम प्राणी इस महाभयंकर मानसिक रोग से मुक्त हैं।

(ख) निर्दयता, बर्बरता तथा हिंसा—निर्दयता यद्यपि पशुओं की विशेषता है, तथापि मानव में भी वह कुछ कम नहीं। प्रत्युत कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि समस्त पशुओं में मानव-पशु सर्वाधिक अधम है, क्योंकि वह अपने तथा दूसरों के लिए निर्दयतम शत्रु है[2]। मानव आज इतना निर्मम, निष्ठुर एवं बर्बर है कि अपने लक्षाधिक सहवर्तियों को प्राण विसर्जित करते देखकर भी चूँ तक नहीं करता। मानवता के अश्रु-विन्दुओं से अपनी मुक्ता-लड़ियों, हीरक-हारों एवं संगमरमर के श्वेत भवनों का निर्माण करता है; उसके रक्त-विन्दुओं से अपने लाल, मूँगे, माणिक्यादि का मूल्य चुकाता है। उसकी निर्दयता का ही आज यह परिणाम है कि मानव-जाति कीड़ों से भी गयी-गुजरी है। उसकी निर्दयता एवं अनुदारता के परिणाम-स्वरूप ही ग्राम-बालकों की यह दशा है कि देख कर आश्चर्य-स्तब्ध हो जाना पड़ता है[3]।

मानव ही नहीं, प्रकृति-जगत् के प्रति भी उसकी यह निर्दयता कम नहीं। अपनी निर्दयता के कारण ही कभी वह अपनी पालिका, पोषिका, धात्री एवं माँ वसुन्धरा के वक्षःस्थल को चीर कर बीज-वपन करता है; कभी विभिन्न प्रकार से शांतिसुख प्रदान करने वाले मलय-वृक्ष पर कुठाराघात करके धराशायी बनाता है; कभी पशु-पक्षियों की निर्मम हत्या करके अपनी स्वाद-लोलुपता की तृप्ति करता है; कभी अपने स्वार्थ-साधन के लिये हरे-भरे वनों का समूलोन्मूलन कर वनस्पति-जगत् का प्राण-हंता बनता है और कभी निरीह पुष्पों को तोड़कर अपनी शोभा-वृद्धि करता है, देवी-देवताओं की भेंट करता है और जरा-जर्जर हो मुरझाया देखकर पुनः उन्हें

---

१. पेड़ बढ़ने में लगा है, फूल खिलने में, शिकारी भृंग अपनी ताक में है।
—वीरेन्द्र मिश्र, 'लिखता जा रहा हूँ', ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० १०८।

२. Of all beasts the man beast is the worst;
To others and himself the cruellest foe.
—R. Bexter.

३. मिट्टी से भी मटमैले तन, अधफटे, कुचैले जीर्ण वसन,
ज्यों मिट्टी के हों बने हुए ये गँवई लड़के भू के धन।
कोई खंडित, कोई कुण्ठित, कृश बाहु, पसलियाँ रेखांकित,
टहनी सी टाँगें, बढ़ा पेट टेढ़े-मेढ़े विकलांग घृणित।
—पंत, गाँव के लड़के, ग्राम्या, पृ० २७।

निर्दयता से ठुकरा देता है[1]।

मानव-जगत् के समान ही प्रकृति-जगत् में भी निर्दयता, पशुता और बर्बरता का ही प्राबल्य है, उन्हीं का आधिक्य है और उनकी स्थिति केवल एक-दो स्थलों पर ही नहीं, अनेक स्थलों पर देखी जा सकती है। सूर्य दुष्ट दुःशासन के समान सरिता-द्रौपदी का अत्यधिक निर्दयता के साथ चीर-हरण करता है; दिन की भरी सभा में उसे नग्न करने के लिए अपने सहस्रों करों से उसकी जल रूपी साटिका का कर्षण करता है और वह नग्न होने के भय से रक्षा के लिये कृष्ण कृष्ण चिल्लाती, मीन-व्याज से तड़पती, लहर-व्याज से लचकती, बल खाती, रोष प्रकट करती और लज्जा खोकर लज्जित हो विलाप करती है; किंतु निर्लज्ज, निष्ठुर, बर्बर, पत्थर-हृदय पर्वत टस से मस हुए बिना ही उसकी यह दुर्दशा देखते रहते हैं—

गहन विपिन में भूली-भूली आई इक सरिता के तीर।
सहस करों से खींच रहा है दिननायक जिसका वर चीर।
बे पानी होने के भय से कृष्ण कृष्ण चिल्लाती हैं।
मीन व्याज तड़ती जाती है लहर व्याज बल खाती है।
अचल बने गिरि निरख रहे हैं पत्थर की करके छाती।
पानी खो, पानी-पानी हो, तरुणी है रोती जाती[2]।

प्रकृति-जगत् की उक्त निर्दयता यद्यपि अन्योक्ति-रूप में मानव-जगत् के ही अवगुणों का प्रतिबिम्ब है, तथापि प्रकृति में उसके अस्तित्व का निषेध नहीं किया जा सकता। आरोप ही सही, आरोप होकर भी वह काव्य-जगत् में उतना ही सत्य है, जितने कि अन्य प्राकृतिक, वैज्ञानिक अथवा व्यावहारिक सत्य।

मानव-विनाश के विषादपूर्ण दृश्य को देखकर भी निर्दय प्रकृति-रूपों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। युद्ध में न जाने कितने व्यक्ति मरते हैं; न जाने कितनी अबलायें पति-विहीन हो जाती हैं; न जाने कितने पुत्र पितृ-हीन हो जाते हैं; मृतकों की दुर्दशा—उनका वेदना से कराहना, असहायावस्था में प्राणों का तड़प-तड़प कर निकलना—वैधव्यावस्था को प्राप्त युवतियों, पितृहीन पुत्र-पुत्रियों तथा बन्धु-बान्धवों का शोक इतना हृदय-विदारक होता है कि पत्थर-हृदय प्राणी भी द्रवीभूत हो उठता है। किन्तु निर्दय सूर्य उस करुणतम दृश्य को देखकर भी अप्रभावित बना रहता है। उस पर उसका कोई दुःखद प्रभाव पड़ना तो दूर रहा, प्रत्युत उसे देखकर उसे

१. फेंक दिया पृथ्वी पर तुमको
रक्खे हुए हृदय में अपने उस निर्दय ने पत्थर!
—निराला, रास्ते के फूल से, परिमल, पृ० १५६।

२. गुरुभक्तसिंह 'भक्त', नूरजहाँ, पृ० ३९।

प्रसन्नता होती है[१]। सूर्य ही नहीं, पृथ्वी भी मानव के उस महानाश के साक्षात्कार से हर्षातिरेक से भर जाती है; उसकी रक्त-सरिता के रक्त का अनुपान कर तृप्त होती है; शरीर मल-मल कर उसमें स्नान करती है और अपना हरिताभ अंचल उसके रक्त में रँग कर आनन्दातिरेक से नृत्य कर उठती है[२]।

इसी प्रकार 'स्वीट पी' अपनी स्वार्थान्धता, निर्दयता, बर्बरता तथा विलास-प्रियता के कारण सहचर मानव की करुणतम पुकार की भी उपेक्षा करती है; उसकी विनम्रतम मनुहार से भी द्रवीभूत नहीं होती; उसकी दुःखद दशा तथा अभ्यर्थना पर भीध्यान नहीं देती—

वधिरा तुम निष्ठुरा, जनों की विफल सकल मनुहार[3]।

आंग्ल-काव्य में भी यत्र-तत्र प्रकृति के विभिन्न रूपों की निर्दयता, बर्बरता आदि अवगुणों का उल्लेख हुआ है। उदाहरण के लिये 'मेरी' की मृत्यु के कारण सरिता के फेन की निर्दयता को लिया जा सकता है। अपने भयंकर अवगुणों के कारण ही वह कवि किंग्सले की विगर्हणा एवम् रोष का विषय है[४]।

तात्पर्य यह कि मानव तथा प्रकृति समग्र सृष्टि में निर्दयता, पशुता और बर्बरता का ही ताण्डव-नर्तन है[५], उन्हीं का साम्राज्य है। वह्नि, बाढ़, उल्का, झंझा आदि सभी प्रकृति-रूप निर्दय, बर्बर तथा विनाशकारी प्रवृत्तियों वाले हैं[६], विश्व-विनाश के कारण हैं।

---

१. While the sun looked smiling bright
O'er a wide and woeful sight,
Where the fires of funeral light
Died away.
—T. Campbell, Battle of the Baltic, THE GOLDEN TREASURY. BOOK FOURTH, page 206.

२. प्यास धरती ने बुझाई, देह मल-मल कर नहाई,
हरित अंचल रक्त रंजित हो गया अज्ञात, रक्त मानव का हुआ इफरात।
—बच्चन, मानव का रक्त, धार के इधर-उधर पृ०, १६।

३. पंत, 'स्वीट पी' के प्रति, ग्राम्या, पृ० ८०।

४. The cruel crawling foam,
The cruel hungry foam,
To her grave beside the sea. —C. Kingsley, The Sands of The Dee, The English Poets, P. 612.

५. निष्ठुर निर्दयता का नर्त्तन-पशुता का तर्जन;
बर्बरता की घोर घटा का बज्र-नाद गर्जन।
वसुधा-उर-कम्पन, है अनन्त जीवन।
—गोपालशरणसिंह, अनन्त जीवन, कादम्बिनी, पृ० ६५।

६. पंत, युगवाणी, पृ० १६।

(ग) *अज्ञान तथा दुर्बुद्धिः*—अज्ञान तथा दुर्बुद्धि की स्थिति भी मानव तथा प्रकृति—उभय पक्षों—में प्रायः समान रूप से दृष्टिगोचर होती है। प्रकृति चेतना के उस उच्च सोपान पर अवस्थित नहीं, जिस पर कि मानव अधिष्ठित है। अतः उसमें अज्ञान अथवा दुर्बुद्धि का अस्तित्व उतना आश्चर्योत्पादक नहीं, जितना कि प्राणि-शिरोमणि बुद्धिगर्वी मानव में उनके महाविनाशकारी रूपों का। दुर्बुद्धि मानव अपने हाथ में खड्ग लेकर अपने ही सहवर्तियों के हृदय में घाव करके उन्हीं के रक्त का अनुपान कर, हर्षातिरेक से उन्मत्त हो उठता है[1]—यह नहीं सोचता कि संसार के सभी मनुष्यों के शरीर का निर्माण एक ही प्रकार के तत्वों से हुआ है; सभी पर आकाश की समान छाया है; सूर्य, चन्द्र, अग्नि, मरुत्, सरिता, सरोवर, समुद्र, वन, उपवन आदि प्रकृति-रूप सभी के लिये समान रूप से कृपाशील हैं—ईश्वर के यहाँ से कोई विशेष वरदान लेकर नहीं आया। पृथ्वी ने मानव की सृष्टि की, मनुष्य ने देश बसाये, समस्त देशों में एक ही धरा-सन्तान का निवास है। देश पृथक् हैं तो क्या, वेश अलग हैं तो क्या, रंग-रूप भिन्न हैं तो क्या, मानव का मानव से अन्तःकरण तो पृथक् नहीं[2] ?

अपनी कठोर तपस्या तथा अविरत साधना से पशुत्व के निम्न पद से ऊँचे उठ कर देवत्व के उच्चतम पद को प्राप्त होनेवाला मानव आज अपने अज्ञान तथा दुर्बुद्धि के कारण पुनः पशु बन बैठा है। उसका यह अधःपतन उसके सात्त्विकशील साथियों के क्षोभ, विषाद और आश्चर्य का विषय है। वे उसे अनेक प्रकार से समझा-बुझा कर सद्मार्ग पर आरूढ़ कर मंगलोन्मुख करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वह दुराग्रही मानता नहीं। अपने सदाचारशील एवं दूरदर्शी सहवर्तियों के सत्परामर्श पर ध्यान न देकर, वह दुर्बुद्धि, अपना ही संहार करता, अपने ही घर में आग लगाता और लग जाने पर भी सचेत होकर बुझाने का प्रयत्न न करके और अधिक प्रज्ज्वलित करता है और इस प्रकार अपने विभिन्न मूर्खतापूर्ण कृत्यों द्वारा अपने

१. किन्तु इसका अर्थ क्या है,
खड्ग ले मानव खड़ा है,
स्वयं उर में घाव करता,
स्वयं घट में रक्त भरता,
और अपना रक्त अपने आप करता पान। —बच्चन, धार के इधर-उधर, पृ० ८।

२. देश अलग हैं, देश अलग हों,
वेश अलग हैं, वेश अलग हों,
रंग-रूप निःशेष अलग हों,
मानव का मानव से लेकिन अलग न अन्तर प्राण।
भूल गया है क्यों इन्सान ?
—बच्चन, इन्सान की भूल, धार के इधर-उधर, पृ० १०।

महानाश में योग देता है। कवि को उसका यह अज्ञान, उसकी यह मूर्खता देखकर आश्चर्य होता है और वह विकलतापूर्ण क्षोभ से भर कर उससे प्रश्न करता है—

मानव ! क्यों आग लगाता है।

\+ + +

क्यों अपना संहार कर रहा,
अपने पग पर वार कर रहा,
कर्तव्य भूल कर, पागल, क्यों घर में ही आग लगाता है।
रे मिट्टी होने से पहले,
मिट्टी के पुतले कुछ करले,
तू आग बुझाने के बदले क्यों और अधिक सुलगाता है[1] ।

संसार में ईसा, सुकरात, दयानन्द, गाँधी जैसे अनेक परोपकारियों ने जन-हित के लिये अपने प्राण समर्पित कर दिये। लैला, मजनू, शीरीं, फरहाद आदि न जाने कितने प्रेमियों ने संसार को प्रेम की अनन्यता के महान् आदर्श भेंट किये। न जाने कितने त्यागी पुरुषों ने अपने भौतिक सुखों को ठुकरा कर, त्याग के आदर्श प्रस्तुत किये। मानवता के पुजारियों ने संसार के समक्ष मानवता की भिक्षा के लिये अपनी झोली फैलाई। किन्तु अज्ञानी, कृतघ्न मानव का उनसे कुछ सीखना तो दूर रहा, विपरीत इसके उसने उनका अपमान किया, निन्दा की, पत्थर-प्रहार द्वारा शारीरिक कष्ट दिया, फाँसी दी, विष पिलाया और गोली चलाई[2] ।

मानव ने आज विज्ञान के क्षेत्र में इतनी अधिक प्रगति कर ली है कि यदि उसके दो-चार शताब्दी पूर्व के पूर्वज इस संसार को देखें, तो आश्चर्य-स्तब्ध हो देखते ही रह जायें, पहचानने का प्रयत्न करके भी पहचान न पायें । मानव आज प्रकृति-शक्तियों का अधीश्वर है। प्रकृति उसकी अनुचरी है। उसके समस्त तत्व उसकी आज्ञानुसार कार्य करते हैं। वह उनके योग को पाकर अपने जीवन को स्वर्ग बना सकता है। किन्तु अपने अज्ञान के कारण वह अपनी विज्ञान की प्रगति के अनन्त लाभ से वंचित ही नहीं, अपने आविष्कारों रूपी महाकाल के विराट मुख का ग्रास, भी हो रहा है ; अबोध शिशु के समान विज्ञान-खड्ग से अपने ही अंग काट रहा है[3] , विज्ञान-बाणों से अपना ही शिरच्छेद कर रहा है।

---

१. माधवसिंह 'दीपक', सात सौ गीत, पृ० ८।

२. जग में मानवता लाने को, रे, जिनने झोली फैलाई।
जग ने उन पर पत्थर फेंके, सीने पर गोली चलवाई।
सम्मानों का तो ज्ञान कहाँ, करना अपमान नहीं आया।
—माधवसिंह 'दीपक', सात सौ गीत, पृ० १६१।

३. सावधान मनुष्य ! यदि विज्ञान है तलवार,
तो इसे दे फेंक, तज कर मोह स्मृति के पार।
—दिनकर, कुरुक्षेत्र, पृ० ११७।

मानव-जगत् के समान ही प्रकृति-जगत् भी उक्त अवगुणों का अपवाद नहीं। प्रकृति-जगत् में भी उसके उक्त अवगुणों के ही कारण सर्वत्र त्राहि-त्राहि की पुकार है, सर्वत्र ही 'लाठी और भैंस (MIGHT IS RIGHT) का सिद्धांत चलता है, जीव-जीव का भोजन है—सबल प्राणी अपने से निर्बलों का और बड़े अपने से छोटों का रक्त-मांस भक्षण कर अपना उदर-भरण कर अनन्त सुख-शान्ति का अनुभव करते हैं। मृगेन्द्र, व्याघ्र, चित्रक, मगर, नक्र, मीन, छिपकली आदि अनेक प्राणियों का जीवन अन्य प्राणियों के रक्त-मांस पर अवलम्बित है।

प्रकृति के चेतन प्राणी ही नहीं, जड़ रूप भी अज्ञान एवं दुर्बुद्धि के आगार हैं। जड़-मेघ यदि एक ओर आर्त सृष्टि की पुकार सुन कर संसार को प्राण-दान देकर पर्जन्य, परोपकारी, त्यागी, करुणावान, कर्तव्यपरायण एवं समय-निष्ठ कहलाता है; तो दूसरी ओर अपनी दुर्बुद्धि, अज्ञान एवं मूर्खता के कारण जो अकरणीय कृत्य करता है—संसार पर अत्याचार करता है—उसके कारण अपने अर्जित यश को खो देता है और निर्बन्ध, अन्ध-तम-अगम-अनर्गल, स्वच्छन्द, उच्छृंखल, उद्दाम, विप्लव का प्लावन, उन्मत, अत्याचारी आदि न जाने क्या-क्या कहा जाता है[1]।

(घ) *कामुकता तथा व्यभिचारिता*—काम अपने मंगलमय संयमित रूप में विश्व का अभिराम उन्मूलन, सृष्टि का मूलाधार तथा परमात्मा का रहस्य-वरदान है[2]। किन्तु उसका अतिरेक तथा अन्धत्व प्राणी की रूप-कुरूप, अच्छे-बुरे, विवेक-अविवेक, उचित-अनुचित का विचार कर सकने की शक्ति नष्ट कर देता है और मानव को विनाश के गर्त में गिरा कर उसका सर्वनाश कर डालता है। कामातिरेक से मानव का जितना अनिष्ट होता है, उतना कदाचित् उसके अन्य किसी भी अवगुण

१. ऐ निर्बन्ध!—
अन्ध-तम-अगम अनर्गल-बादल!
+ + +
ऐ अटूट पर छूट टूट पड़ने वाले—उन्माद!
विश्व-विभव को लूट-लूट लड़ने वाले—अपवाद।
श्री बिखेर, मुख-फेर कली के निष्ठुर पीड़न!
छिन्न-भिन्न कर पत्र-पुष्प-पादप-वन-उपवन,
बज्र घोष से ऐ प्रचण्ड!
आतंक जमाने वाले!
कम्पित जंगम,-नीड़ विहंगम। —निराला, बादल-राग परिमल, पृ० १७७-१७८

२. विश्व का उन्मील अभिराम, इसी में सब होते अनुरक्त।
+ + +
ईश का वह रहस्य वरदान, कभी मत इसको जाओ भूल।
—प्रसाद, कामायनी, पृ० ५३।

से नहीं। अपने इसी अवगुण के कारण देवराज इन्द्र को गौतम ऋषि के कठोर शाप का भाजन एवम् सहस्त्र-भग-रूप हो संसार के उपहास का पात्र बन कर, अनन्त दु:खों को सहन करना पड़ा[१]; इन्द्र-सिंहासनासीन नहुष को स्वर्ग-भ्रष्ट हो सर्पयोनि में जाना पड़ा[२]; स्वयं भगवान शंकर को महर्षि भृगु के भयावह शाप का पात्र हो विगर्हणीय योनि-लिंग-रूप धारण कर ब्राह्मणों की पूजा से वंचित होना पड़ा[३]; सम्राज्ञी तिष्यरक्षिता को सपत्नी-पुत्र कुणाल को नेत्र-विहीन करवा कर देश-निष्कासन का कठोर दण्ड देने का कुकृत्य करके, रहस्य खुलने पर, संसार के उपहास का पात्र तथा पति अशोक के प्रचण्ड क्रोध का लक्ष्य होना पड़ा[४] और न जाने कितने इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्तियों को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े।

मानव वर्ग में कामान्धता तथा व्यभिचारिता की अभिव्यक्ति से हिन्दी-काव्य भरा पड़ा है। 'राति की केलि अघाने नहीं, दिनहूँ में लला पुनि घात लगाई' आदि उक्तियाँ मानव-विषयान्धता तथा लम्पटता की घोषणा करती हुई अनेक स्थलों पर मिलती हैं[५]। उसकी इसी कामुकता, लम्पटता तथा व्यभिचारिता के कारण कवि पंत का विश्वास है कि संसार में यदि कहीं नरक है, तो नारी के भीतर ही; मानव को वासना के आवर्त में डाल कर चिरकाल के लिये अनन्त अंधकारमय गर्त में ढकेल

---

१. पद्मपुराण, भारतीय-चरिताम्बुधि, पृ० ३३।

२. पामर पतित हो तू होकर भुजङ्ग ही।

+ + +

मूल में तो प्रेरणा थी काम के विकार की।

— मैथिलीशरण गुप्त, नहुष, पृ० ३७-३८।

३. पद्मपुराण, उत्तरखण्ड।

४. सोहनलाल द्विवेदी, कुणाल, पृ० १०८-११०।

५. (क) जबहिं सरोज धरयो श्रीफल पर तबहीं जसुमति आई।

—सूर, सूरसागर, दशम स्कंध, पद ६८२।

(ख) लीजिए लाल उढ़ाय जरी पट, कीजिए जू जिय जो अभिलाखौ।
प्यारै हमैं तुम्हैं अन्तर पारत, हार उतारि इतै धरि राखौ।

—देव, देव-रत्नावली, पृ० ५५।

(ग) टूक-टूक कीनी मेरे कंचुकी हूँ कोर वारी,
सारी जरतारी फारी जेवर नसायो है।
तिलरी हूँ मंजु मान मोतिन की तोरि डारी,
बेनी हूँ बिथोरि डारी छोरि दधि खायो है।

—हरिऔध, रस-कलस, पृ० १३१।

(घ) कनक-लता श्रीफल फरी, रही विजन बन फूल।
ताहि तजत क्यों बावरे, अरे मधुप-मत भूल।

—पद्माकर, जगद्विनोद, छन्द ६८, पद्माकर-पंचामृत, पृ० १०४।

कर सुला देने की शक्ति-सामर्थ्य उसी में है[१]।

हिन्दी काव्य में रीतिकालीन कवियों ने अपनी भद्दी कुरुचि तथा आश्रयदाताओं की कामुक प्रवृत्ति के कारण मानव के इन अवगुणों का जितना अधिक प्रसार किया, उतना अन्य किसी काल के कवियों ने नहीं। इस काल में राष्ट्र की अधोगति तथा दुरवस्था का प्रमुख कारण मानव की विभिन्न कामुक प्रवृत्तियों का प्रचुरता से वर्णन तथा उनके द्वारा तत्ससंबंधी अवगुणों को प्रश्रय देकर जनता को वासना के अंधकारमय गर्त में ढकेलना ही था। विलास के गर्त में ढकेल देनेवाले मानव के इन्हीं अवगुणों ने राष्ट्र को कई शताब्दियों तक उसमें से निकलने नहीं दिया! फलतः वह उसी में पड़ा सड़ता, गलता और नष्ट होता रहा।

मानव के समान ही प्रकृति-जगत् भी विषयान्धता तथा लम्पटता आदि अवगुणों से मुक्त नहीं। भ्रमर की कामुकता तथा विषयान्धता प्रसिद्ध ही है। श्रीमद्‌भागवत से लेकर अब तक न जाने कितने कवियों ने उसके उक्त अवगुणों का उल्लेख किया है। 'ब्रीड़ा रहित सबन अवलोकत लता-कली-मुख चूमत[२]' आदि पंक्तियों में महात्मा सूरदास ने तो उसके अनेक अवगुणों की व्यंजना की ही है, अन्य कवियों ने भी उसके उक्त अवगुणों का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है[३]। इसके अतिरिक्त 'तुम जानत हमहूँ वैसी हैं जैसे कुसुम तिहारे'[४] तथा 'मधुकर! हम न होहिं वे बेली'[५] आदि पंक्तियों में भ्रमर के साथ ही पुष्पों तथा लताओं की भी कामुकता, लम्पटता तथा विषयाधीनता की अभिव्यक्ति की गई है।

पशु-पक्षियों में ही नहीं, पेड़-पौधों, लता-पुष्पों तथा जड़ प्रकृति-रूपों में भी इन अवगुणों की स्थिति यदा-कदा पाई जाती है। निराला की शेफालिका में इसी प्रकार कामुकता अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची हुई उपलब्ध होती है[६]। इसके

---

१. यदि कहीं नरक है इस भू पर, तो वह भी नारी के अन्दर।
वासनावर्त में डाल प्रखर
वह अंध गर्त में चिर दुस्तर
नर को ढकेल सकती सत्वर। —पंत, स्त्री, ग्राम्या, पृ० ८२।

२. सूर, भ्रमरगीत-सार, पद २७२।

३. कोउ कहै रे मधुप कहा तू रस को जानै।
बहुत कुसुम पै बैठि सबै आपन सम मानै। —नन्ददास, भँवरगीत, छन्द ५०।

४. सूर, भ्रमरगीत-सार, पद ६१।

५. सूर, भ्रमरगीत-सार, पद १४०।

६. बन्द कंचुकी के सब खोल दिये प्यार से
यौवन उभार ने
पल्लव-पर्यंक पर सोती शेफालिके।
मूक आह्वान भरे लालसी कपोलों के।
व्याकुल विकास पर
झरते हैं शिशिर से चुम्बन गगन के। —निराला, शेफालिका, परिमल, पृ० १६६।

अतिरिक्त एक आधुनिक कवि ने रात्रि को कुलटा कहकर उसकी कामुकता, बहुनायक-निष्ठता तथा लम्पटता की ओर काव्योचित संकेत किया है[1]।

मानव हो अथवा प्रकृति उसकी यह निर्लज्जा कामुकता तथा लम्पटता निस्संदेह विगर्हणीय है। उसके यह अवगुण उसे चिर-पतन के अन्ध-गर्त में ही ढकेलेंगे, उसका सर्वनाश करके ही छोड़ेंगे। संसार में दाम्पत्य क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में काम के लिये कोई स्थान नहीं। यही नहीं, दाम्पत्य क्षेत्र में भी निर्लज्ज काम अभीष्ट नहीं। वहाँ भी सदैव संयमित, लज्जाशील, विश्वमंगलकारी तथा वेद-मर्यादा के अनुकुल उसका पावनतम रूप ही स्पृहणीय है, अन्य कोई रूप नहीं।

(ङ) *अवगुणशबलता*—जिस प्रकार किसी व्यक्ति के विभिन्न भावों की युग-पत् व्यंजना को भाव-शबलता कहते हैं, उसी प्रकार मानव अथवा प्रकृति के एक ही स्थल पर अभिव्यक्ति विभिन्न अवगुणों को अवगुण-शबलता कहा जा सकता है। संसार में जिस प्रकार किसी प्राणी में एक अवगुण और किसी में अनेक होते हैं, उसी प्रकार काव्य-जगत् में भी कवि कभी किसी मनुष्य अथवा प्रकृति-रूप में किसी एक अवगुण की अर्वा थति दर्शाता है और कभी एकाधिक की। हिंदी-काव्य में मानव तथा प्रकृति दोनों के ही विभिन्न अवगुणों की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति अनेक स्थलों पर हुई है। यदि एक ओर मानव की हिंसा, स्वाद-लोलुपता, बर्बरता, निर्दयता, स्वार्थान्धता, पर-पीड़न, अत्याचार तथा अन्याय आदि कुत्सित वृत्तियों की व्यंजना है[2]; दुर्बुद्धि, दानवता, अहंकार, अज्ञान, हिंसा, पशुत्व, क्रुरता, अधमता, मलिनता, वासनात्मकता तथा पाखण्ड-दम्भ आदि विनाशकारी प्रकृत्तियों की घोषणा है[3]; ग्रामीण मानव के

१. रूठी साँझ के शृंगार बिखरे,
   और कुलटा रात, हँसकर छा गई। —कुँवरनारायण, चक्रव्यूह, पृ० २८।

२. अयि प्रकृति ! लेते हैं प्राण वे
   अपने प्राणों के लिए—
   रूप, रस, गन्ध, स्पर्श—
   काकली कोकिल की,
   राग सान्ध्य षोडशी का
   निज भोग के लिये। —निराला, कवि, परिमल, पृ० २०७।

३. वह अभी पशु है; निरा पशु, हिंस्र, रक्त-पिपासु
   बुद्धि उसकी दानवी है स्थूल की जिज्ञासु।
   कड़कता उसमें किसी का जब कभी अभिमान,
   फूँकने लगते सभी हो मत्त मृत्यु-विषाण।
   × × +
   यह मनुज संहार-सेवी, वासना का मृत्य।
   छद्म इसकी कल्पना पाखण्ड इसका ज्ञान,
   यह मनुष्य मनुष्यता का घोरतम अपमान। —दिनकर, कुरुक्षेत्र, पृ० ११५।

अहम्मन्यता, बर्बरता, राग-द्वेष, स्वार्थलिप्सा, तृष्णा, अन्धविश्वास, कायरता, असामाजिकता, अनुदारता, अधिकारलोलुपता आदि विगर्हणीय अवगुणों की भर्त्सना है[1] और विभिन्न प्रकार की साज-सज्जा से अपने बाह्य रूप को चमत्कारोत्पादक बनाने का प्रयत्न करनेवाली आधुनिक नारी की चंचलता, चपलता, कामुकता, वासनाप्रियता, लम्पटता, वाह्याडम्बर, मद, लोभ एवं स्वार्थ-लिप्सा आदि दुर्वृत्तियों का विकर्षक बिम्ब-विधान है[2]; तो दूसरी और प्रकृति-जगत् भी अनेक अवगुणों का आलय है। कहीं उसमें हिंसा, वर्बरता, अत्याचार और अनाचार का ताण्डव-नर्तन है और कहीं वासना, लम्पटता, कामुकता, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार तथा स्वार्थान्धिता का भैरव-गर्जन; कहीं अन्याय, आतंक और विनाश का प्राबल्य है और कहीं अज्ञान, दुर्बुद्धि, दानवता, निर्दयता तथा संघर्षमयता का साम्राज्य; कहीं मेघ में हिंसा, अत्याचार, अन्याय, पर-पीड़न, दानवता आदि अवगुणों की पराकाष्ठा है[3] और कहीं चन्द्रमा में अन्याय, अत्याचार, पक्षपात, निष्ठुरता, हिंसा तथा बर्बरता आदि अवगणों की विनाशकारी स्थिति[4] और कहीं तितली में चंचलता, कपटाचार, कृत्रिमता, स्वार्थ-लिप्सा, वाह्याडम्बर, लोभ, विश्वासघात, कामुकता तथा व्यभिचार आदि अवगुणों की प्रचुरता है[5] और कहीं सरिता में हिंसा, निष्ठुरता, अत्याचार, अन्याय तथा

---

१. वे सामाजिक जन नहीं, व्यक्ति हैं अहंकाम।
 है वही क्षुद्र चेतना, व्यक्तिगत राग-द्वेष,
 लघु स्वार्थ वही, अधिकार सत्व तृष्णा अशेष,
 आदर्श अंधविश्वास वही,—हो सभ्यवेश।—पंत, भारत-ग्राम, ग्राम्या, पृ० ६१।

२. लहरी-सी तुम चपल लालसा श्वास-वायु से नर्तित,
 तितली-सी तुम फूल-फूल पर मँडराती मधुक्षण हित।
 मार्जारी तुम, नहीं प्रेम को करती आत्म-समर्पण,
 तुम्हें सुहाता रंग प्रणय, धन पद मद, आत्म प्रदर्शन।
 —पंत, आधुनिका, ग्राम्या, पृ० ८३।

३. देखिये पंत, बादल, पल्लव, पृ० ७७ तथा निराला, बादल-राग २, परिमल, पृ० १७८।

४. एहौ निसापति ऐस सासन तुम्हार है कि,
 गुनसील कँवल पै संकट महान माँ।
 जेतने तुम्हार ताल मेली हैं सनेही मीत,
 कुमुद कुमुदनी हैं फूली अभिमान माँ।
 —रमई काका, चन्द्रमा, ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० ६६।

 तथा—
 निरमोही नहिं नेह कुमुदिनी अंतहि हेम हई।—सूर, भ्रमरगीत-सार, पद १०७।

५. माधवसिंह 'दीपक', सात सौ गीत, पृ० २४८।

बर्बरता की[1]।

निष्कर्ष यह कि यदि एक ओर मानव-जगत् में विभिन्न अवगुण हैं, तो दूसरी ओर प्रकृति में; यदि एक ओर सृष्टि दूषित मानवता से मुक्ति पाकर सुखी हो सकती है[2], तो दूसरी ओर दूषित पशुत्व को मानवत्व की शिक्षा देकर।

मानव तथा प्रकृति में अवगुण-वैषम्य

मानव तथा प्रकृति में जहाँ एक ओर बहुत कुछ अवगुण-साम्य है, वहाँ दूसरी ओर बहुत कुछ अवगुण-वैषम्य भी, जहाँ एक ओर दोनों में अनेक अवगुण समान रूप से उपलब्ध होते हैं, वहाँ दूसरी ओर अनेक अवगुणों की दृष्टि से दोनों में प्राप्त होनेवाली उनकी मात्रा में पर्याप्त अन्तर भी है; जहाँ कुछ अवगुण मानव में अधिक प्रबल रूप में पाये जाते हैं, वहाँ कुछ प्रकृति में। इसके अतिरिक्त कुछ अवगुणों का अस्तित्व प्रायः मानव-वर्ग में ही होता है और कुछ का केवल प्रकृति में ही। अतः दोनों में अवगुण-वैषम्य की स्थिति का दर्शन कभी तो प्रकृति की अपेक्षा मानव में अवगुणाधिक्य के कारण होता है और कभी मानव की अपेक्षा प्रकृति में अवगुणाधिक्य के कारण; कभी प्रकृति में प्राप्त न होने वाले अवगुणों की मानव में स्थिति के कारण और कभी मानव में प्राप्त न होने वाले प्रकृति के अवगुणों के कारण। अतः मानव तथा प्रकृति के अवगुण-वैषम्य के निदर्शन के लिये इन सभी दृष्टि-विन्दुओं से विचार करना आवश्यक है।

(क) *मानव मे प्रकृति की अपेक्षा अवगुणाधिक्य*—मानव अपने वास्तविक रूप में सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी है। किन्तु आज उसने अपने इस उच्च पद को खो दिया है। आज वह वस्तुतः मानव कहलाने का अधिकारी नहीं और इसका प्रमुख कारण उसके अधिकांश सहवर्तियों का अपने वास्तविक स्वरूप को विस्मृत कर अवगुणों के अनन्त अन्धकारमय गर्त में गिर जाना है। आज के मानव ने अपने को इतना अधःपतित कर दिया है कि कवि को उसका मूल्य चींटी के समान

---

१. प्लावन का कर संग वही पातक करती है।
कर निमग्न बहु जीवों का जीवन हरती है।
डुबा बहुत से सदन गिराकर तट-विटपों को।
करती है जल-मग्न शस्य श्यामला मही को।
—हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० ७।

२. सूर्य निकलता, पृथ्वी हँसती,
चाँद निकलता, वह मुसकाती,
चिड़ियाँ गातीं साँझ सकारे,
यह पृथ्वी कितना सुख पाती।
अगर न इसके वक्षस्थल पर यह दूषित मानवता होती।
—बच्चन, धार के इधर-उधर, पृ० १२।

भी नहीं प्रतीत होता ; चींटी उसे चेतन और मानव जड़ दिखाई पड़ता है ; चींटी उससे श्रेष्ठ तथा उसकी पथ-प्रदर्शिका है और मानव उसका अनुगामी अबोध शिशु—

मूल्य न उनका चींटी के सम
वे हैं जड़, चींटी है चेतन।
जीवित-चींटी, जीवन-वाहक,
मानव जीवन का वर नायक,
वह स्वतंत्र वह आत्म-विधायक[1]।

चींटी ही नहीं, उसकी दृष्टि में वह आज शृगालों और श्वानों से भी हीन है, निकृष्ट है[2]।

मानव में ईर्ष्या, द्वेष, पर-निन्दा, राज-मद, कृत्रिमता एवं बाह्याडम्बर आदि अवगुण जितनी प्रबलता से प्राप्त होते हैं, प्रकृति में उतनी प्रबलता अथवा प्रचुरता से नहीं। समस्त बुराइयों की जड़ यह अवगुण मानव-जीवन के घातक शत्रु हैं, किन्तु दुर्वृत्त मानव यह समझता नहीं, अपनी करनी से बाज आता नहीं। विश्व-स्थिति के विरोधी इन अवगुणों ने ही महाभारत-युद्ध में देश के १८ अक्षौहिणी सर्वश्रेष्ठ वीरों को नष्ट कर दिया था ; युधिष्ठिर द्वारा अपनी निन्दा को सुन कर परम भ्रातृ-भक्त अर्जुन क्रुद्ध हो उनसे खड्ग-युद्ध के लिये तत्पर हो गये थे और यदि कृष्ण ने उन्हें समझा-बुझा कर शान्त न कर दिया होता तो युधिष्ठिर की उस परनिन्दा का क्या परिणाम होता, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

कृत्रिमता तथा बाह्याडम्बर भी मानव में प्रकृति की अपेक्षा अधिक मात्रा में हैं। प्रकृति में तितली तथा 'स्वीट पी' आदि में यत्र-तत्र उनका आरोप भले ही किया जाता हो, पर अन्य प्रकृति-रूपों में उनका प्रायः अभाव है। किन्तु दूसरी और मानव का समस्त जीवन ही कृत्रिमता तथा बाह्याडम्बर से परिपूर्ण है। उसकी वेश-भूषा, उसके खान-पान, उसके रहन-सहन, उसके वार्तालाप तथा व्यवहार सभी में कुछ न कुछ कृत्रिमता है, सभी में कुछ न कुछ बाह्याडम्बर है।

गर्व तथा मद की स्थिति भी मानव में प्रकृति की अपेक्षा अधिक है। मानव में उनका जितना प्राबल्य है, प्रकृति में उतना नहीं। प्रकृति में यदा-कदा उनका आरोप ही किया जाता है, किन्तु मानव में वे अपने वास्तविक विनाशकारी रूप में

---

१. पंत, चींटी, युग वाणी, पृ० ११।

२. यह मनुज ज्ञानी, शृगालों, कुक्कुरों से हीन,
हो किया करता अनेकों, क्रूर कर्म मलीन।

—दिनकर, कुरुक्षेत्र, पृ० ११५।

विद्यमान हैं। नहुष, बेन, इन्द्र और त्रिशंकु का राज-मद इसका प्रमाण है[१]।

(ख) *प्रकृति में मानव की अपेक्षा अवगुणाधिक्य*—जिस प्रकार मानव में कहीं-कही प्रकृति की अपेक्षा कुछ अवगुण अधिक मात्रा में और अधिक प्रबलता से पाये जाते हैं, उसी प्रकार प्रकृति में भी कुछ अवगुण मानव की अपेक्षा अधिक भयंकर रूप में विद्यमान हैं। हिंसा, निर्भयता, निर्लज्जता, लोभ, स्वार्थलिप्सा, क्रोध, अन्याय तथा अत्याचार आदि अवगुण मानव की अपेक्षा प्रकृति में अधिक उग्र एवं प्रबल रूप में हैं। प्रकृति-जगत् में जीव जीव की केवल हत्या ही नहीं, उसके रक्त-मांसादि का भक्षण भी करता है। सिंह, चित्रक, नक्र, मगर, गरुड़, बाज तथा मीन आदि प्रकृति-जगत् के प्राणी अन्य प्राणियों के रक्त-मांसादि का भक्षण करके ही अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। किन्तु मानव किसी परिस्थिति विशेष में किसी व्यक्ति की हत्या भले ही कर डाले, उसके रक्त-मांसादि का भक्षण करके अपना उदर-भरण नहीं करता। मानव-रक्त का अनुपान करने वाले भीम यदि कहीं मिलते भी हैं, तो बहुत कम और उनके वे अवगुग भी प्रकृति के समान विगर्हणीय नहीं कहे जा सकते। कारण, अपनी पत्नी, परिजन, देश, समाज अथवा अपने स्वयं के प्रति अपराध तथा अबला नारी की लज्जा का अपहरण करने वाले नर-पिशाचों से मानवता की रक्षा करना अथवा अपने प्रति किये गये अपराधों का प्रतिशोध लेना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है—धर्म की रक्षा, अन्याय-निवारण तथा धर्म की महती महिमा में मानव का विश्वास उत्पन्न करने के लिये आवश्यक है, बिना इसके मानवता का कल्याण नहीं। अतः भीम जैसे वीर पुरुषों द्वारा किये जाने वाले इस प्रकार के कार्य प्रकारान्तर से मानवता के कल्याण में सहायक होने के कारग स्पृहणीय हैं, जब कि प्रकृति की उक्त हिंसात्मक दुर्वृत्तियाँ विगर्हणीय।

मानव पशु-पक्षियों अथवा कीट-पतिंगों के ही नहीं, जड़ प्रकृति के भी कष्ट से द्रवीभूत हो जाता है—पृथ्वी की सिकुड़न को देखकर भी सजल नेत्र हो उठता है[२]; किन्तु प्रकृति के मूर्ख प्राणी प्रायः अपने सहवर्तियों के कष्ट से भी द्रवीभूत नहीं होते; विपरीत इसके अपने बन्धु-बान्धवों तक का प्राणान्त कर आनन्दोल्लास से भर जाते हैं। इसके अतिरिक्त मानव, कितना ही लोभी क्यों न हो, मरते हुए व्यक्ति के लिये, कम से कम अपने सहवर्ती के लिये तो अवश्य ही कुछ न कुछ त्याग

---

१. ससि गुरु तिय गामी, नहुषु चढ़्यो भूमि सुर जान।
लोक वेद तें बिमुख भा, अधम न बेन समान ॥
सहसबाहु सुरनाथु त्रिशंकू। केहि न राजमद दीन्ह कलंकू ॥
—तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ५१५।

२. धरा की यह सिकुड़न भयभीत,
आह कैसी है! क्या है पीर?
—प्रसाद, कामायनी, पृ० ५१।

करता देखा जाता है ; जब कि प्रकृति के प्राणी एक टुकड़े के लिये भी अपने सहवर्तियों तक की हत्या कर डालते हैं।

पशु-पक्षियों का निर्लज्ज काम, अत्याचार, तथा राक्षसी क्रोध भी मानव की अपेक्षा अधिक विगर्हणीय होता है। चेतन प्राणियों में ही नहीं, अचेतन पदार्थों तक में कवि-दृष्टि को उनके भीषण विनाशकारी अवगुणों के दर्शन होते हैं। क्रुद्ध मेघों का भयंकर जलपात तथा उपलवृष्टि, वर्षा की उद्दाम सरिताओं के जल-प्लावन द्वारा किये जाने वाल हिंसात्मक कार्य, तूफानी समुद्र द्वारा की जाने वाली निरीह प्राणियों की हत्याएँ और ग्रीष्म की प्रचण्ड लू तथा दह्यमान सूर्य, शीत के भयंकर प्रकोप और भीषण अंधड़ द्वारा किये जाने वाले अत्याचार[1], आदि प्रकृति-जगत् में प्राप्त होनेवाले इसी प्रकार के अवगुण हैं।

जिस प्रकार प्रकृति के भव्य रूप मानव-सौन्दर्य के आदर्श मापदण्ड तथा उपमान हैं, उसी प्रकार उसके विभिन्न दुर्वृत्त प्राणी एवं पदार्थ मानव-अवगुणों के। प्रकृति के अवगुणी रूप उसी प्रकार जगद्विख्यात हैं, जिस प्रकार उसके सुन्दर रूप। मानव-अवगुणों की अभिव्यक्ति में प्रकृति-रूपों का उपमान-रूप में प्रयोग जितनी प्रचुरता से होता है, प्रकृति के अवगुणों की व्यंजना में मानवीय उपमानों का उतनी प्रचुरता से नहीं। इससे स्पष्ट है कि प्रकृति के अवगुण जितने प्रसिद्ध हैं, प्रकृति में उनकी जितनी बहुलता एवं प्रबलता है, मानव में उतनी नहीं। मानव-जगत् के अवगुणों का प्रकृति के समान प्रसिद्ध न होना यही व्यंजित करता है कि प्रकृति में अवगुणों की मात्रा मानव की अपेक्षा अधिक है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अवगुणों की स्थिति तथा मात्राभेद की दृष्टि से मानव तथा प्रकृति में बहुत-कुछ वैषम्य है, पर्याप्त अन्तर है। जिन अवगुणों की प्रबलता मानव में है, उनकी प्रकृति में नहीं और जिनकी प्रकृति में है, उनकी मानव में नहीं। इसी प्रकार बहुत से अवगुण ऐसे हैं, जिनका अस्तित्व केवल मानव में ही होता है, प्रकृति में नहीं और बहुत से ऐसे, जिनका अस्तित्व प्रायः प्रकृति में ही होता है, मानव में नहीं।

मानव-अवगुणों की अभिव्यक्ति में प्रकृति

काव्य में केवल भावगत रमणीयता अथवा अनुभूति की विशेषता ही अभीष्ट नहीं, अभिव्यंजना-कौशल अथवा अभिव्यक्ति की रमणीयता भी नितांत अनिवार्य है। रसाचार्यों का विचार है कि काव्य में उक्ति की रसात्मकता अथवा भावगत रमणी-

१. दूर वर्षा आँधी औ बाढ़ हवा का ठण्डा झोंका एक
न जाने कैसी करता मार कि लाखों पल में जाते लोट।
—विराज, वसन्त के फूल, पृ० १२।

तथा—
दिनकर, कुरुक्षेत्र, पृ० १६।

यता ही प्रधान होती है[१]। इसके विपरीत अभिव्यक्ति को अधिक महत्व देने वाले अलंकार-सम्प्रदाय के कट्टर समर्थक आचार्य उक्ति की रमणीयता को ही काव्य का सर्वस्व मानते हैं[२]। विदेशी नवीन सौन्दर्य-शास्त्र भावगत रमणीयता को उक्ति की ही रमणीयता मानता है। आधुनिक हिन्दी-आलोचकों का एक वर्ग भी इस बात से सहमत है कि 'भाव की रमणीयता और उक्ति की रमणीयता अथवा अनुभूति के सौन्दर्य और अभिव्यक्ति के सौन्दर्य में सहज सम्बन्ध है। ·········· वस्तु की समृद्धि बहुत कुछ-आकार की समृद्धि पर आश्रित है[३]'।

अभिव्यक्ति का सौन्दर्य उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना कि अनुभूति अथवा भाव का। अभिव्यक्ति की रमणीयता के अभाव में भावाभिव्यक्ति काव्य-कोटि में आ ही नहीं सकती। काव्य-जगत् की वस्तु वह तभी होगी, जब कि उसमें सरसता एवं माधुर्य के साथ ही साथ अभिव्यक्ति का आकर्षण भी विद्यमान होगा। सामान्य वार्तालाप में भी प्रायः देखा जाता है कि भिन्न-भिन्न व्यक्ति एक ही प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं। कुछ वक्ताओं की अभिव्यक्ति में एक विशेष आकर्षण, लावण्य, वैचित्र्य, रसात्मकता एवं मादव विशेष होता है और कुछ की अभिव्यक्ति में एक अजीब भद्दापन तथा नीरसता। प्रथम वर्ग के वक्ताओं की उक्तियाँ श्रोताओं के शाश्वत आनन्द, चिन्तन, मनन तथा आह्लाद-जनक स्मृति का विषय बन जाती हैं, किन्तु द्वितीय वर्ग के वक्ताओं की भद्दी, बेढंगी, नीरस तथा कुरुचिपूर्ण अभिव्यक्ति से उन्हें विगर्हणा हो जाती है। एक की सामान्यतम उक्तियाँ भी श्रोताओं को हर्षोल्लास से भर देती हैं, किन्तु दूसरे के उत्कृष्टतम विचार भी अभिव्यक्ति की रमणीयता के अभाव में उनकी उपेक्षा एवं उपहास के विषय बन जाते हैं। ठीक यही बात काव्य के विषय में भी लागू होती है। रसाचार्य रस को काव्य की आत्मा मानते हैं, किन्तु उन्हें यह नहीं भूलना चाहिये कि अभिव्यंजना की रमणीयता भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है, जितनी कि अभिव्यंजित भावों की रसमयता; काव्य में अभिव्यंजना तथा भावों की रमणीयता दोनों परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व नहीं। दोनों का मणि-कांचन संयोग ही उक्ति को काव्य की सरसता एवं आकर्षण प्रदान कर सकता है, काव्य की कमनीय वस्तु बना सकता है। अभिव्यंजना-कौशल के कारण ही गद्य के अनेक अंश भी काव्य के समान ही आह्लादकारी एवं

---

१. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।

—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद, कारिका ३, पृ० २०।

२. जदपि सुजाति सुलच्छणी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त।

—केशवदास, कवि-प्रिया, पाँचवाँ प्रभाव, छन्द १, प्रिया-प्रकाश, पृ० ४७।

३. डा० नगेन्द्र, देव और उनकी कविता, पृ० १८१।

रसात्मक हो जाते हैं और उसके अभाव में पद्य-बद्ध भाव भी नीरस एवं शुष्क गद्यवत् होकर काव्य-कोटि से पृथक् आ पड़ते हैं। अतः विषय अथवा भाव की रमणीयता के साथ ही साथ अभिव्यक्ति का सौन्दर्य भी नितांत आवश्यक है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

विषय की रमणीय अभिव्यक्ति के लिये कवि को विभिन्न प्रसाधनों का उपयोग करना पड़ता है; छन्द-योजना, शब्द-चयन, ओज, प्रसाद, माधुर्य, लाघव तथा कान्ति आदि गुण और अप्रस्तुत विधान आदि सभी की आवश्यकता होती है। किन्तु यहाँ हमें इनमें से केवल अप्रस्तुत-योजना पर विचार करना है। मानव-अवगुणों की सम्यक् व्यंजना के लिये अप्रस्तुत-योजना प्रायः तीन प्रकार से की जाती है—प्रकृति-रूपों की, मानवीय रूपों की और मानव तथा प्रकृति के सम्मिलित रूपों की। किन्तु इनमें से भी यहाँ हमारा विषय केवल प्रकृति-रूपों की उपमान-योजना के विवेचन तक ही सीमित है।

मानव-अवगुणों की सबल-सशक्त अभिव्यक्ति के लिये अप्रस्तुत प्रकृति-रूपों का प्रयोग जितनी प्रचुरता से किया जाता है, अन्य रूपों का नहीं। उलूक, गृध्र, काक, कोकिल, सर्पिणी, भ्रमर, पशुता, तितली, बिहगी, मार्जारी, प्रलय-घन, चन्द्र, जोंक, टिड्डी, अग्नि-ज्वाल, विष आदि प्रकृति-रूपों की ही उपमान-योजना द्वारा मानव-अवगुणों की अभिव्यक्ति प्रायः की जाती है। इसके अतिरिक्त प्रकृति के अन्य अनेक रूप-व्यापारों के अप्रस्तुत विधान द्वारा भी कवि अपनी अभिव्यक्ति को मार्मिक रूप प्रदान करता है। अतः मानव-अवगुणाभिव्यंजन में विभिन्न उपमान प्रकृति-रूपों का योग कहाँ-कहाँ और किन-किन रूपों में लिया जाता है, इसके निदर्शन के लिये जब हम कतिपय प्रमुख अवगुणों की अभिव्यक्ति पर संक्षिप्त विचार करेंगे।

(क) *पर-छिद्रान्वेषण तथा निन्दा*—संसार में दिन-रात (प्रकाश-अंधकार) दोनों ही होते हैं, किन्तु उलूक केवल रात्रि अथवा अंधकार को ही देखता है, दिन (प्रकाश) की ओर से विमुख हो नेत्र बन्द कर लेता है। इसी प्रकार गुण तथा अवगुण भी संसार के सभी मनुष्यों में होते हैं, किन्तु पर-छिद्रान्वेषक व्यक्ति उनके अवगुणों की ही और दृष्टिपात करते हैं, गुणों की ओर नहीं। अतः मानव तथा प्रकृति के इस व्यापार अथवा अवगुण-साम्य के आधार पर, पर-छिद्रान्वेषक व्यक्ति का उपमान उलूक माना जाता है और मानव के इस अवगुण की व्यंजना उपमान उलूक के सादृश्य, आरोप तथा तुलनात्मक उत्कृष्टता-निकृष्टता आदि के प्रदर्शन के द्वारा विभिन्न प्रकार से की जाती है।

मानव ! क्यों निन्दा करता है ?
होते दिवस रात जग में हैं,

गुण अवगुण जब सब ही में हैं,
तब तेरा चित क्यों उल्लू-सा, अंधकार को ही तकता है[१] ।

पर-छिद्रान्वेषण तथा निन्दा की दुर्वृत्तियाँ यद्यपि परम विनाशकारी तथा गर्हित हैं, तथापि पर-छिद्रान्वेषक, निन्दक, दुर्वृत्त मानव अपने इन अवगुणों का त्याग नहीं करता । वह केवल अपने शत्रुओं अथवा अन्य सहवर्तियों के ही दोषों की निन्दा नहीं करता ; उनके गुणों को ही अवगुण-रूप में नहीं देखता ; प्रत्युत दाम्पत्य-क्षेत्र में भी पारस्परिक अवगुणों की निन्दा करता है ; अवगुण ही नहीं, कभी-कभी गुणों को भी अवगुणों के रूप में ग्रहण करता है, जिसका परिणाम अत्यधिक भयंकर एवं विनाशकारी होता है । अतः उसके इन अवगुणों के बिम्बात्मक चित्रण के लिये कवि उसकी बुद्धि पर निरभ्र नभ की नीलिमा और उसके द्वारा देखे जाने वाले अवगुणों पर तारक-समूह का आरोप करता है; क्योंकि नीला स्वच्छ आकाश जिस प्रकार तारक-समूह का स्पष्ट परिदर्शन कराता है, उसी प्रकार मानव-मति भी अपनी कुत्सित कालिमामयी प्रवृत्ति के कारण मानव-अवगुणों का स्पष्ट परिदर्शन कराती है—

अवगुण-तारक-चय परिदर्शन के लिए,
क्यों मति बन जाती है नभ-तल-नीलिमा[२] ।

यहाँ मानव-मति के कुत्सित कृष्ण (नीले) रूप और नभ-तल की नीलिमा में रूप, वर्ण एवं व्यापार-साम्य और अवगुण तथा तारक-समूह में रूप एवं वर्ण-साम्य प्रदर्शित किया गया है । किन्तु अवगुणों को तारक-समूह का रूप प्रदान करना, उनके समान कान्तिमान बताना अधिक उपयुक्त नहीं ; क्योंकि सारे मानव-घृणा की वस्तु नहीं, उसके आकर्षण के विषय हैं । इसी प्रकार मानव-दुर्मति के विगर्हित रूप पर नीले, निरभ्र गगन-मण्डल का आरोप भी उचित नहीं ; क्योंकि प्रकृति का इतना सुन्दर उपकरण, जिसे देखकर कवि-समुदाय ही नहीं, सामान्य मानव का हृदय-पुष्प आनन्दातिरेक से खिल उठता है, गर्हित पर-छिद्रान्वेषी एवं निन्दक दुर्मति के समान नहीं हो सकता । मानव-अवगुण, जैसा कि कहा गया है, सुन्कर नहीं, कुरूप एवं विगर्हणीय ही होते हैं । उनकी अभिव्यक्ति का प्रमुख उद्देश्य मानव-मन में उनके प्रति विरक्ति एवं विगर्हणा की उत्पत्ति करना ही होता है, अनुरक्ति नहीं । इसके अतिरिक्त कुरूप वस्तु का उपमान कुरूप ही हो सकता है, सुन्दर एवं आकर्षक नहीं । अतः इस दृष्टि से कवि की उक्त उपमान-योजना उचित नहीं । हाँ, यह अवश्य है कि इस उपमान-विधान में मानव तथा प्रकृति में थोड़ा-बहुत वर्ण आकार एवं व्यापार-साम्य अवश्य लक्षित होता है ; क्योंकि मानव-दुर्बुद्धि की अनन्तता छिपे हुए अवगुणों को उसी प्रकार प्रकाश में लाती है, उसी प्रकार स्पष्ट कर देती है, जैसे विराट नीला-

---

१. माधवसिंह 'दीपक', सात सौ गीत, पृ० १२ ।
२. हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० १८६ ।

निरभ्र आकाश तारक-पुंज को । इसके साथ ही कुत्सित दुर्बुद्धि का वर्ण भी उसी प्रकार कृष्ण अथवा नीला होता है, जिस प्रकार आकाश का ।

इस विषय में कवि के पक्ष-समर्थन में यह अवश्य कहा जा सकता है कि उसका उद्देश्य यहाँ मानव-बुद्धि के विगर्हित व्यापार पर अधिक बल देना रहा है, अवगुणों पर नहीं । इसके अतिरिक्त मानव-दुर्बुद्धि उन्हें अवगुण-रूप प्रदान करती है, वस्तुतः वे अवगुण नहीं, गुण ही होते हैं । अतः गुणों को तारक-रूप देना सर्वथा उचित ही है, क्योंकि गुण तथा तारक-समुदाय दोनों ही दिव्य प्रकाश से युक्त होते हैं । इसके अतिरिक्त राम और कृष्ण का कृष्ण अथवा नीला वर्ण भले ही सुन्दर माना जाता हो, सामान्य मानव का कृष्ण वर्ण मानव-विकर्षण एवं विगर्हणा का ही विषय होता है, आकर्षण अथवा अनुराग का नहीं । इसी प्रकार आकाश का नीला अथवा कृष्ण वर्ण भी शुक्ल वर्ण-प्रिय मानव-जगत् के लिये एक प्रकार से विकर्षक ही होता है, आकर्षक नहीं । अतः ऐसी दशा में मानव-दुर्बुद्धि की नीले आकाश से उपमा देना अधिक अनुचित नहीं ।

(*ख*) *दुर्बुद्धि*—अवगुण अमूर्त होते हैं । उन्हें अप्रस्तुत उपमान-योजना द्वारा मूर्त रूप देना, उनका बिम्ब प्रस्तुत करना, सरल कार्य नहीं । अतः कवि उनकी व्यंजना के लिये, उनके द्वारा होने वाले विभिन्न व्यापारों, अनर्थों अथवा उनके आश्रय दुर्वृत्त मानव के तादृश उपमान-प्रकृति-रूपों के साथ साम्यादि प्रदर्शन का आश्रय लेता है । कवि देखता है कि मानव-जगत् में अनुराग की लालिमा उतनी प्रबला नहीं होती ; जितनी दुर्बुद्धि एवम् तज्जन्य, घृणा आदि भयंकर अवगुणों की कुत्सित कालिमा और प्रकृति-जगत् में रक्त-वर्ण उतना सबल नहीं होता जितना कि कृष्ण वर्ण । दुर्बुद्धि एवं तज्जन्य घृणा, द्वेष और ईर्ष्या आदि अवगुण मानव-मन के अनुराग को उसी प्रकार आक्रान्त कर लेते हैं, उसके अस्तित्व को उसी प्रकार नष्ट कर डालते हैं ; जिस प्रकार कृष्ण-वर्ण की प्रबलता रक्त-वर्ण को आच्छादित कर लेती है, उसका अस्तित्व मिटा देती है । अतः व्युत्पत्ति-ज्ञान-पटु कवि मानव तथा प्रकृति के इस साम्य के आधार पर मानव-दुर्बुद्धि, जो उसके प्रेमी-हृदय के प्रेम को नष्ट करके उसे घृणादि से भर देती है, की चित्रात्मक व्यंजना के लिये, दुर्बुद्धि-जन्य घृणा पर कालिमा और अनुराग पर लालिमा का आरोप करता है[1] । इसी प्रकार दुर्बुद्धि की प्रबलता परिस्थितियों की विषमता में मानव-सुबुद्धि को किस प्रकार नष्ट कर देती है, इसकी व्यंजना के लिये कवि दुर्बुद्धि पर सरिता, परिस्थितियों पर उसकी आवर्त-मयी वीचियों और सुबुद्धि पर नौका का आरोप करता है—

१. जाती है प्रतिकूल कालिमा से बदल,
क्यों अनुराग रँगी आँखों की लालिमा ।

—हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० १८६ ।

किन्तु पड़ प्रकृति और परिस्थिति-लहर में,
कुमति-सरी में है डूबती सुमति-तरी[1]।

जिस प्रकार सरिता की आवर्तमयी वीचियों में पड़ कर नौका डूब जाती है, उसी प्रकार मानव-दुर्बद्धि उसकी सुबुद्धि को आक्रान्त कर लेती है। अतः प्रकृति-जगत् के उपमान सरिता का दुर्बुद्धि, आवर्तमयी वीचियों का परिस्थितियों और नौका का सुमति पर आरोप बिम्ब-विधायक होने के कारण उचित ही है।

(ग) *क्षोभ, क्रोध, ईर्ष्या एवं घृणा*—प्रकृति-जगत् में जिस प्रकार प्रचंड निदाघ से जमा हुआ प्रकृति के प्राणों का आवेग उसका हृदय-ताप तूफान रूपी ज्वालामुखी के विस्फोट के रूप में उबल पड़ता है, उसी प्रकार मानव-हृदय में क्रमशः घनीभूत होती रहनेवाली क्षोभ, घृणा, ईर्ष्या तथा द्वेषादि की भयंकर ज्वाला भी युद्ध रूपी ज्वालामुखी के रूप में प्रस्फुटित हो पड़ती है। अतः मानव तथा प्रकृति के इस रूप अवगुण, व्यापार और परिणाम-साम्य के आधार पर कवि ईर्ष्या, द्वेष और घृणा के भयंकर एवं विनाशकारी परिणाम की बिम्बात्मक व्यंजना के लिये प्रकृति के उक्त तथ्य का साम्य मानव अवगुणों के विनाशकारी परिणाम से प्रदर्शित करता है[2]।

(घ) *वैरूप्य*—मानव-वैरूप्य की व्यंजना अनेक प्रकार से की जाती है और की जा सकती है। प्रकृति की सुन्दर वस्तुएँ जिस प्रकार उसके सौन्दर्य-व्यंजना के लिये उपमान-रूप में प्रयुक्त की जाती हैं, उसी प्रकार उसकी कुत्सित वस्तुएँ उसके वैरूप्य की अभिव्यक्ति के लिए। उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति के वैरूप्य की व्यंजना के लिये उसके वर्ण की उपमा कज्जल अथवा काक की कालिमा है, नेत्रों की मटर अथवा बिज्जू से, मुख के कुत्सित रूप की गड्ढे अथवा खोह से, उँगलियों की सूखी लकड़ियों से, भुजाओं की सूखे बाँसों अथवा झाँखरों से और केलों की शुष्क घास, काँस अथवा सेवार से दी जा सकती है। इसके अतिरिक्त भयंकर एवं

१. हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० १८८।

२. यह प्रभंजन शस्त्र है उसका नहीं—,
किन्तु, है आवेगमय विस्फोट उसके प्राण का,
जो जमा होता प्रचण्ड निदाघ से,
फूटना जिसका सहज अनिवार्य है।
यों ही, नरों में भी विकारों की शिखाएँ आग-सी,
एक से मिल एक जलती हैं प्रचण्डावेग से,
तप्त होता क्षुद्र अन्तर्व्योम पहले व्यक्ति का,
और तब उठता धधक समुदाय का आकाश भी,
क्षोभ से, दाहक घृणा से, गरल, ईर्ष्या, द्वेष से,
भट्ठियाँ इस भाँति जब तैयार होती हैं, तभी
युद्ध का ज्वालामुखी है फूटता। —दिनकर, कुरुक्षेत्र, पृ० १७।

विशाल राक्षस के समान शरीर वाले व्यक्ति की कुरूपता की व्यंजना के लिये प्रकृति के भीषण, विरूप एवं कुत्सित उपमानों का योग लिया जाता है। गोस्वामी तुलसीदास ने इसी प्रकार राक्षस-राज रावण के विशाल शरीर की कुरूपता की व्यंजना के लिये उसके वर्ण, आकार तथा भीषणता की उपमा कज्जल-गिरि से, भुजाओं की वृक्षों से और सिरों की पर्वत शिखरों से देकर उसकी रोमावली में लताओं और मुख, नासिका, नेत्र तथा कानों में पर्वत-कन्दराओं और खोहों की सम्भावना की है[1]।

(ङ) *विलास-लिप्सा, निर्ममता तथा अकरुणा*—मानव-जगत् में जिस प्रकार आधुनिक नारी-वर्ग, रूप-गर्व, कृत्रिमता और विलास-लिप्सा आदि अवगुणों का लक्ष्य है, उसी प्रकार प्रकृति-जगत् में कवि को 'स्वीट पी' में उक्त समस्त अवगुणों के दर्शन होते हैं। अतः कवि 'स्वीट-पी' को सम्बोधित करता हुआ उसके अवगुणों के लिये उसकी भर्त्सना करके, अन्योक्ति-रूप में आधुनिक नारी-समाज के विलास-लिप्सा, कृत्रिमता एवं अकरुणा आदि अवगुणों का विगर्हणीय रूप प्रस्तुत करके, मानव-मन के विकर्षण एवं विराग का विषय बनाता है[2]।

(च) *स्वार्थपरायणता*—स्वार्थपरायण मानव जिस प्रकार अपने स्वार्थ-साधन के लिये बहुधा दूसरों के साथ विश्वासघात करता है; अपने कपटपूर्ण आचरण द्वारा कुछ काल तक उन्हें भ्रम में रखता है और अपना कार्य सिद्ध हो जाने पर पुनः उनके पास फटकता भी नहीं; उसी प्रकार प्रकृति-जगत् में भ्रमर, कोकिल और सर्प अपने स्वार्थ-साधन के लिये स्वार्थी मनुष्य के समान ही आचरण करते हैं। भ्रमर कलिकाओं का रस लेने के अनन्तर उनके पास पुनः बात पूछने के लिये

१. अंगद दीख दसानन बैसें। सहित प्रान कज्जलगिरि जैसें।
भुजा विटप सिर सृंग समाना। रोमावली लता जनु नाना।
मुख नासिका नयन अरु काना। गिरि कंदरा खोह अनुमाना।
—तुलसी, रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, पृ० ७५६।

२ हाय नहीं करुणा ममता है मन में कहीं तुम्हारे।
तुम्हें बुलाते
रोते गाते
युग-युग से जन हारे।
+ + +
केवल हास विलासमयी तुम।
केवल मनोविलासमयी तुम।
विभव भोग उल्लासमयी तुम।
वधिरा तुम निष्ठुरा,—जनों की विफल सकल मनुहार।
—पंत, स्वीट पी के प्रति, ग्राम्या, पृ० ८०।

भी नहीं जाता। कोकिल-शिशु अपने पालक काक को छोड़ कर, उसकी उपेक्षा कर, अपने कुल में मिल जाते हैं ; पुनः उसे अपना मुख भी नहीं दिखाते। सर्प पालक मानव को छोड़ कर ही नहीं भाग जाता, प्रत्युत उसके प्राण भी ले लेता है। अतः बाह्य-जगत् के इस तथ्य-ज्ञान से भिज्ञ कवि ; मानव-स्वार्थपरायणता की व्यंजना, मानव तथा प्रकृति के इस साम्य के आधार पर, भ्रमर, सर्प तथा कोकिलादि उपमानों के साम्य, आरोप एवं तादात्म्यादि द्वारा अनेक प्रकार से करता है[1]।

(छ) *ईर्ष्या*—ईर्ष्यालु मानव दूसरे के सुख को नहीं देख सकता। अतः उसे दूसरों के सुख से दुःखी चित्रित करके, उसकी ईर्ष्या की व्यंजना, प्रकृति के विभिन्न उपमान-रूपों के अनेक प्रकार के योग से विभिन्न शैलियों में की जाती है। कभी उसके लिये दूसरों का सुख रूपी सुर-उद्यान बन के समान, पुष्प कण्टकों के समान, चन्दन-ताप के समान और त्रिविध समीर दुःख-दायक प्रभंजन के समान होता हुआ वर्णित किया जाता है—

हमारे सुख का मुख अवलोक। बना किसको बन सुर उद्यान ॥
कुसुम कंटक, चन्दन तप-ताप। प्रभंजन मलय-समीर समान[2] ॥

और कभी उस पर राकेन्द्र-विकास को देखकर दुःखी होनेवाले चक्रवाक, सूर्य के दिव्य प्रकाश से अन्धे हो जानेवाले उलूक, अखिल सृष्टि के लिए प्राणदायक वर्षा का आगमन देखकर जलने वाले अर्क एवं जवास और सौरभित मलय समीर के संस्पर्श से प्रल्लवित होना छोड़ देनेवाले करील आदि उपमानों का आरोप अथवा उसमें उनका अध्यवसान[3] किया जाता है।

---

१. ज्यों षटपद अम्बुज के दल में बसत निसा रति मानी।
दिनकर उए अनत उड़ि बैठैं फिर न करत पहिचानी।
भवन भुजंग पिटारे पाल्यो ज्यों जननी जनि तात।
कुल-करतूति जाति नहिं कबहूँ सहज सो डसि भजि जात।
कोकिल, काग, कुरंग, स्याम की छनछन सुरति करावत।
सूरदास, प्रभु को मुख देख्यो निसदिन ही मोहिं भावत।
—सूरदास, भ्रमरगीत-सार, पृ० १०४, पद २६६।

२. हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० २१।

३. किंतु देखे राकेन्दु विसास, सुखित कब हो पाता है कोक।
फूटती है उलूक की आँख, दिव्यता दिनमणि की अवलोक।
जगत जीवनप्रद पावस काल, देख जलते हैं अर्क जवास।
पल्लवित होते नहीं करील, तन लगे सरस-वसन्त-बतास।
—हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० ३०।

(*ञ) अन्य अवगुण*—जिस प्रकार उक्त मानव-अवगुणों की व्यंजना में उपमान प्रकृति-रूपों का प्रयोग अनेक प्रकार से किया जाता है, उसी प्रकार अन्य मानव-अवगुणों की अभिव्यक्ति में भी विभिन्न प्रकृति-रूपों का योग अनेक प्रकार से लिया जाता है। मानव-अत्याचार की व्यंजना के लिए अत्याचारी की कभी टिड्डी-दल से उपमा दी जाती है—

टिड्डियों-सा छा अत्याचार चाट जाता संसार[१]।

कभी उसके अत्याचार से पीड़ित व्यक्तियों पर क्रौंचादि प्रकृति-रूपों का आरोप अथवा उनमें उनका अध्यवसान किया जाता है[२]; कभी दूसरों के धन का शोषण करनेवाले अत्याचारियों के अत्याचार की अभिव्यक्ति के लिये अन्य प्राणियों का रक्त चूसकर उस पर आश्रित रहनेवाले प्रकृति के कुत्सित प्राणी जोंक का अनेक प्रकार से आश्रय लिया जाता है, बहु-विध प्रयोग किया जाता है और कभी उनके पशुवत् कृत्यों के कारण उन पर पशुत्व का आरोप किया जाता है।

मानव-आलस्य की अभिव्यक्ति के लिये कवि कभी प्रकृति के अजगर तथा पक्षी आदि उपमानों की निष्क्रियता की कल्पना करके, आलसी व्यक्तियों द्वारा, उनके साम्यादि के आधार पर, उसके औचित्य का समर्थन कराता है[३] और कभी प्रकृति के सक्रिय उपमानों की उनके द्वारा निन्दा करवा कर[४]। कहने की आवश्यकता नहीं कि आलसी व्यक्तियों का अपने आलस्य का यह औचित्य-समर्थन उन्हें उपहासास्पद रूप में प्रस्तुत कर, उनके अवगुणी रूप को मानव-विगर्हणा का ही विषय बनाता है।

इसी प्रकार मानव-कटुता की व्यंजना के लिये कवि उसके उपमान काक का विभिन्न प्रकार से योग लेता है[५]; हिंसा के विनाशकारी रूप की अभिव्यक्ति के लिये

---

१. पंत, परिवर्तन, पल्लव, पृ० १०३।

२. लाखों क्रौंच कराह रहे हैं, जाग आदि-कवि की कल्याणी ?

—दिनकर, 'कस्मै देवाय ?' रेणुका, पृ० ३२।

३. अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गये सबके दाता राम॥

—मलूकदास, भारत दुर्दशा, चौथा अंक, पृ० ३५।

४. बिस्तर पे मिस्ले लोथ पड़े रहना हमेशा।
बंदर की तरह धूम मचाना नहीं अच्छा।

—भारतेन्दु, भारत-दुर्दशा, भारतेन्दु-नाटकावली, पृ० ४७३।

५. जहाँ सोचा था मधुवन बीच सुनूँगा कोकिल पंचम-तान।
वहाँ पर कटु-कर्कश-स्वर काग, प्रतिक्षण खाये जाते कान॥

—बच्चन, विप्लव-गान, धार के इधर-उधर, पृ० १३।

हिंस्र मानव की प्रलय-मेघ से तुलना करता है;[1] रोष की व्यंजना के लिये रौद्र रूपधारी मानव की उपमा क्रुद्ध सर्प से देता है; लोभ की अभिव्यक्ति के लिये गृद्ध को उपमान रूप में प्रयुक्त करता है और असंयम एवं वासना की प्रबलता की अभिव्यक्ति के लिए उसकी उपमा तूफानी समुद्र[2], असत्यता के निदर्शन के लिये दिवस के प्रकाश का सामना न कर सकनेवाले अंधकार से[3] और कृत्रिमता तथा वाह्याडम्बर के बिम्बात्मक चित्रण के लिये तितली तथा सूर्य-रश्मियों से नष्ट हो जानेवाली कुहेलिका से देता है[4]।

प्रकृति के अवगुणों की अभिव्यक्ति में मानव

मानव-अवगुणों की अभिव्यक्ति में उपमान-प्रकृति का योग जितना अधिक लिया जाता है, प्रकृति के अवगुणों की व्यंजना में उपमान-मानव का उतना नहीं। प्रकृति के अवगुणों की व्यंजना की ओर कवि-समुदाय का ध्यान उतना अधिक आकृष्ट नहीं होता, जितना कि मानव-जगत् के अवगुणों की ओर। संसार में विनाश और हाहाकार की स्थिति आज मानव-अवगुणों के कारण है, प्रकृति के अवगुणों के कारण नहीं। मानव चेतना की सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त विश्व का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्राणी है। विश्व-कल्याण का उत्तरदायित्व उसी पर है। यद्यपि इसका यह तात्पर्य नहीं कि विश्व-मंगल में प्रकृति का योग बिल्कुल नहीं है। विश्व-कल्याण में प्रकृति का योग भी, जैसा कि यथास्थान उल्लेख किया जा चुका है, अत्यधिक महत्वपूर्ण है; किन्तु प्रकृति जैसी है, वैसी ही रहती है और वैसी ही रहेगी। कुछ पशु-पक्षियों के अतिरिक्त उस पर कोई प्रभाव डाला जा सकना सम्भव नहीं है और यदि उस पर किसी प्रकार के प्रभाव की वात कही भी जाती है, तो वह कवि-कल्पना की वस्तु होती है, यथार्थ-जगत् की नहीं। इसके अतिरिक्त प्रकृति-प्रेमी कवि, जिनके द्वारा प्रकृति के गुण-अवगुणादि का चित्रांकन किया जाता है, प्रायः अपनी प्रेयसी प्रकृति में गुण ही गुण देखते हैं,

१. बहा नर शोणित मूसलधार रुण्ड मुण्डों की कर बौछार।
प्रलय घन-सा घिर भीमाकार गरजता है दिगंत संहार।
—पंत, परिवर्तन, पल्लव, पृ० १०४।

२. इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।
—गीता, अध्याय २, श्लोक ६७।

३. सत्य के सम्मुख ठहरेगा, भला कैसे असत्य जन-रव।
तिमिर सामना करेगा क्यों, दिवस का जो है रवि-संभव॥
—हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० ४०।

४. कृत्रिमता है उस कुज्झटिका सदृश जो, नहीं ठहर पाती विभेद-रविकर परस।
उससे कलुषित होती रहती है सुरुचि असरस बनता रहता है मानस-सरस।
—हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० १८४।

अवगुण नहीं। अतः वैज्ञानिक दृष्टि से प्रकृति में किसी प्रकार के परिष्कार की सम्भावना न होने के कारण तथा प्रकृति-प्रेमी कवियों के उसके प्रति प्रेम के कारण, प्रकृति के अवगुणों की अभिव्यक्ति काव्य में कम उपलब्ध होती है और जहाँ कहीं उपलब्ध होती भी है, वहाँ मानव-जगत् से उसकी तुलना प्रायः कम की जाती है। इन्हीं सब कारणों से प्रकृति के अवगुणों की अभिव्यक्ति में मानव-रूपों का प्रयोग प्रायः कम होता है। फिर भी बिल्कुल न होता हो, ऐसी बात नहीं।

प्रकृति के अवगुणों की अभिव्यक्ति में मानवीय उपमानों का योग यद्यपि कम होता है, तथापि काव्य-स्रष्टा मानव का जो कुछ भी योग होता है, वह उपेक्षणीय नहीं। अतः उस पर भी किंचित् दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है।

मानव काव्य-जगत् का स्रष्टा एवं मूलाधार है। उसके अभाव में प्रकृति के गुणों की अभिव्यक्ति संभव नहीं। अतः प्रकृति-गुणाभिव्यंजन में उसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योग यही है कि वही अपनी भावुकता और कल्पना के बल पर उनका साक्षात्कार करके उनकी अभिव्यक्ति करता है। दूसरे रूप में उसका योग उन स्थलों पर होता है, जहाँ कवि प्रकृति के अवगुणों का चित्रण उपमान-मानव के योग से करता है। ऐसे स्थलों पर कवि कभी तो प्रकृति के अवगुणों के निर्देश के लिये उसे ठीक मानव के समान चित्रित करता है—मानव-रूप में उसके विभिन्न अवगुणों का निदर्शन कराता हुआ उसका मानवीकरण करता है—और कभी उपमान-मानव का आलंकारिक प्रयोग करके, विभिन्न प्रकार का योग लेकर, उनके सम्यक् बिम्ब-विधान द्वारा मानव-मन में उनके प्रति विगर्हणा उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है[१]।

प्रकृति के मानवीकरण द्वारा उसके अवगुणों का निदर्शन, अपनी मार्मिकता

---

१. (क) तुम नृशंस नृप से जगती पर चढ़ अनियंत्रित;
करते हो संसृति को उत्पीड़ित, पद मर्दित;
नग्न नगर कर, भग्न भवन, प्रतिमाएँ खंडित,
हर लेते हो विभव, कला, कौशल चिर संचित!
आधि, व्याधि, बहु वृष्टि, वात उत्पात, अमंगल;
वह्नि, बाढ़, भूकम्प,—तुम्हारे विपुल सैन्य दल;
अहे निरंकुश! पदाघात से जिनके विह्वल
हिल-हिल उठता है टल मल
पद दलित धरा तल!
—पंत, परिवर्तन, पल्लव, पृ० ६६।

(ख) कुल वधुओं सी अयि सलज्ज, सुकुमार!
शयन कक्ष, दर्शन गृह की श्रृंगार!
—पंत परिवर्तन, स्वीट पी के प्रति, ग्राम्या, पृ० ७८।

(ग) 'दिनकर', दिल्ली, पृ० ३।

के कारण उसके दुर्वृत्त रूपों को, पाठकों की विगर्हणा का विषय बना देता है और फलतः उसे मानव अथवा प्रकृति में जहाँ कहीं भी वैसे अवगुणों का साक्षात्कार होता है, वह उनसे विमुख होकर दूर भागता है, स्वयं उन अवगुणों से मुक्त रहने का यथासम्भव प्रयत्न करता है और दूसरों को भी उनसे बचने का उपदेश देता है। प्रकृति के मानवीकृत रूपों में उसके विभिन्न अवगुणों की अभिव्यक्ति कितनी मार्मिक होती है, उसके विगर्हित अवगुणों का बिम्बात्मक रूप कितना विकर्षक होता है, इसके परिदर्शन के लिये निम्नांकित उद्धरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

(क) *कामुकता—बन्द कंचुकी से सब खोल दिये प्यार से*
यौवन उभार ने
पल्लव पर्यंक पर सोती शेफालिके।
मूक आह्वान-भरे लालसी कपोलों के
व्याकुल विकास पर
झरते हैं शिशिर से चुम्बन गगन के[१]।

(ख) *निर्लज्जता एवं अज्ञान—*
दो दिन ही के बाल डांस में नाच हुई बे पानी दिल्ली।
कैसी यह निर्लज्ज नग्नता, कैसी यह नादानी दिल्ली[२]।

(ग) *निर्दयता—वधिरा तुम निगठुरा,-जनों की विफल सकल मनुहार*[३]।

(घ) *निर्ममता, हत्या, विश्वासघात तथा प्रवंचना—*
सूरज जब
किरणों के बीज-रत्न
धरती के प्रांगण में
बोकर
हारा-थका
स्वेद-युक्त
सिन्धु के किनारे
निज थकन मिटाने को
नये गीत पाने को
आया
तब निर्मम उस सिन्धु ने डुबो दिया,
ऊपर से लहरों की अँधियाली चादर ली ढाँप
और शान्त हो रहा[४]।

---

१. निराला, शेफालिका, परिमल, पृ० १६६।
२. दिनकर, दिल्ली, पृ० ५।
३. पंत, स्वीट पी के प्रति, ग्राम्या, पृ० ८०।
४. दुष्यन्तकुमार, सूर्यास्त: 'एक इम्प्रेशन', सूर्य का स्वागत, पृ० ५२।

उक्त अवतरणों में प्रकृति की कामुकता, विषयान्धता, निर्लज्जता, दुर्बुद्धि, व्यभिचार, प्रवंचना, विश्वासघात, निर्ममता, हत्या तथा निर्दयता आदि विभिन्न अवगुणों की व्यंजना में प्रकृति-रूपों के मानवीकरण से जो मार्मिकता, स्पष्टता और प्रभावोत्पादकता आ गई है, वह मानव-योग के परिणाम का ही प्रताप है। साथ ही प्रकृति के उक्त अवगुणों के निदर्शन द्वारा, अन्योक्ति रूप में, मानव-अवगुणों की भी बिम्बात्मक अभिव्यक्ति हुई है, यद्यपि इसका प्रथम पक्ष अर्थात् प्रकृति के उक्त अवगुणों का उल्लेख भी अप्रधान नहीं।

अन्त में कहा जा सकता है कि मानव तथा प्रकृति में विभिन्न अवगुणों की स्थिति कहीं-कहीं समान रूप से और कहीं-कहीं कुछ वैषम्य के साथ पायी जाती है—कहीं मानव में अवगुणाधिक्य है और कहीं प्रकृति में; कहीं कुछ अवगुण केवल मानव-वर्ग की ही विशेषता हैं और कहीं कुछ प्रकृति की। मानव-बुद्धि-विकास की दृष्टि से सृष्टि का अनुपमेय प्राणी है। विश्व-कल्याण का उत्तरदायित्व बहुत-कुछ उसी पर है। अतः उसकी बुद्धिमत्ता इसी में है कि वह अपने स्व-वर्गीय मानव तथा सहचरी प्रकृति के अवगुणों का अनुकरण न करके उन्हें विगर्हणा की दृष्टि से देखे, उनकी ओर से विमुख होकर विश्व-स्थिति के अनिवार्य प्रसाधनों—गुणों— की ओर उन्मुख हो और उन्हें व्यावहारिक जीवन में अपना कर विश्व-कल्याण में योग दे। इसी में संसार का कल्याण है और इसी में उसका स्वयं का भी, क्योंकि वह संसार से बाहर नहीं।

सप्तम अध्याय

मानव व्यापार तथा प्रकृति

संसार एक विकट कर्म-क्षेत्र है। इसमें अवतीर्ण किसी भी प्राणी के लिये निष्क्रिय रह सकना प्रायः सम्भव नहीं। निष्क्रियता मृत्यु का पर्याय है और कर्मण्यता जीवन का। मानव-शरीर के आन्तरिक अनुभवों के निष्क्रिय हो जाने पर, जिस प्रकार मानव-जीवन समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार बाह्य अवयवों को प्रयुक्त न करने वाला मानव भी मृतवत् ही हो जाता है। अपने जीवन के प्रमुख उद्देश्य को समझने वाला मानव कर्मण्यता को जीवन की सार्थकता समझता है। गीता में स्वयं योगिराज कृष्ण ने 'कर्म में ही तुझे अधिकार है, उससे उत्पन्न होने वाले विभिन्न कर्म-फलों का नहीं। कर्म का फल तेरा हेतु न हो। कर्म न करने का भी तुझे आग्रह न हो[१]।' कह कर कर्मठता के महत्त्व की घोषणा की है। उन्हीं से प्रभावित होकर स्वामी रामतीर्थ ने भी कहा है—'अपने परिश्रम के पुरस्कार की चिन्ता मत करो, भविष्य के विषय में मत सोचो, संदेह में मत पड़ो, सफलता और विफलता का विचार मत करो। कर्म को ही साध्य समझ कर—कर्म के लिये ही—कर्म करो। कर्म ही उसका अपना पुरस्कार है[२]।

संसार में जितने भी महान् व्यक्ति हैं अथवा हुए हैं, उनका उत्थान उनकी कर्मण्यता के ही कारण हुआ। कर्माश्रित चन्द्रगुप्त, सिकन्दर और नेपोलियन आदि इतिहास-प्रसिद्ध महापुरुष इसके उत्कट प्रमाण हैं। वर्तमान महापुरुषों में भी, अधिकांश की महत्ता उनकी कर्मण्यता का ही अमर वरदान है। विवेकशील मानव कर्मठता के महत्त्व को समझ कर अपने जीवन-संघर्षों में विजय-प्राप्ति के लिये सतत

---

१. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ —गीता, अध्याय २, श्लोक ४७।

२ Be not anxious as to the reward of your labours, mind not the future, have no scruples, think not of suecess or failure, Work for work's sake, work is its own reward.
—Swami Ramtirth.

कर्मशील रहता है। व्यक्तिगत, कौटुम्बिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय, जिस किसी भी दृष्टि से देखा जाय कर्मण्यता का महत्त्व अपरिमेय है। अतः मानव के लिये सतत कर्मरत रहना परमावश्यक है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह बड़े से बड़ा कार्य ही करे। छोटे कार्य भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितने कि बड़े। मानव का कर्तव्य केवल कर्म करना है, उनकी तुच्छता और महत्ता के विषय में सोचना-विचारना नहीं।

मानव तथा प्रकृति में व्यापार-साम्य

यह 'संसार कर्म्मण्य वीरों की चित्रशाला है[1]।' यहाँ मानव वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय आदि अनेक प्रकार के कार्य करके ही आत्म-पद-लाभ करता है। प्रकृति भी इसका अपवाद नहीं। मानव जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के कार्यों में व्यस्त रहता है, उसी प्रकार प्रकृति भी; मानव-जगत् में जिस प्रकार सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, कलात्मक तथा बौद्धिक कार्य-व्यापारों के दर्शन होते हैं, उसी प्रकार प्रकृति-जगत् में भी। अन्तर केवल इतना ही है कि प्रकृति के कुछ कार्य कवि-कल्पना द्वारा आरोपित, आयोजित अथवा निर्मित होते हैं; जब कि मानव के समस्त व्यापार व्यावहारिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक जीवन के भी उसी प्रकार सत्य होते हैं, जिस प्रकार साहित्य-जगत् के। जहाँ तक काव्य में प्रकृति के व्यापारों के महत्त्व का है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती; क्योंकि साहित्य में साहित्यिक सत्य भी संबंध उतने ही महत्त्वपूर्ण होते हैं, जितने दार्शनिक, व्यावहारिक अथवा वैज्ञानिक। अतः हिन्दी-काव्य में मानव तथा प्रकृति को विभिन्न कार्य-व्यापारों की व्यंजना कहाँ-कहाँ और किन-किन रूपों में समान रूप से प्राप्त होती है, इसके निदर्शन के लिये अब हमें दोनों के विभिन्न व्यापारों पर संक्षिप्त विचार करना होगा—

(क) *सामाजिक व्यापार*—व्यापक अर्थ में सामाजिक व्यापारों में, वे समग्र कार्य-व्यापार, जिनसे समाज की रक्षा, स्थिति तथा कल्याण-साधन में योग मिलता है, अन्तर्भूत हैं। समाज के कल्याण में मानव का अपना वैयक्तिक कल्याण भी निहित है। यही नहीं, कुटुम्ब, जाति, राष्ट्र और समस्त विश्व का कल्याण भी उसी में समाहित है। अतः विवेकशील मानव सामाजिक व्यापारों के इस महत्त्व को समझ कर उनके करने में किसी प्रकार का प्रमाद नहीं करता। उसकी दृष्टि में यह समस्त विश्व ही एक समाज है और इसीलिये वह अपने को विश्व-समाज का एक अंग मान कर ही अपने विभिन्न व्यापारों को कुशलतापूर्वक सम्पादित करके विश्व-कल्याण में योग देता है। अतः इस व्यापक दृष्टि से विश्व-समाज के समस्त धार्मिक, बौद्धिक, राजनीतिक तथा कलात्मकादि व्यापारों को सामाजिक व्यापारों में अन्तर्भावित किया जा सकता है। किन्तु सामाजिक व्यापारों को इस प्रकार इतने

---

१. प्रसाद, स्कन्दगुप्त, पृ० ५०।

व्यापक अर्थ में प्रयुक्त करना कि अन्य व्यापारों का अस्तित्व ही समाप्त हो जाय, कई दृष्टियों से उचित नहीं। अतः सामाजिक व्यापारों के अन्तर्गत हम धार्मिक, बौद्धिक, राजनीतिक अथवा कलात्मकादि कार्यों को समाविष्ट न करके केवल उन्हीं व्यापारों को लेंगे, जिनसे मनुष्य समाज में परस्पर एक दूसरे की सहायता करता है, सहयोग देता है और एक दूसरे के सुख-दुःख से सुखी अथवा दुःखी होकर, सुखात्मक एवं दुःखात्मक भावनाओं से प्रेरित हो विभिन्न प्रकार के कृत्य करता है। दुःखी व्यक्ति के दुःख से द्रवीभूत होकर उसे सान्त्वना देना, उसके दुःख को दूर करने के लिये प्रयत्न करना, स्वागत-सत्कार तथा सेवा करना, उल्लास जागृत करना आदि ऐसे ही कार्य हैं। मानव चेतन समर्थ एवं बुद्धि-विवेकशील प्राणी होने के कारण इन सभी व्यापारों को कुशलतापूर्वक सम्पादित करता है। वह अपने सजातीय मानव के प्रति ही नहीं, प्रकृति तक के प्रति अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को निभाता है, 'अनागत कल' तक के स्वागत के लिये समुत्सुक रहता है—

भव्य है, कैसे करूँ स्वागत-समादर, बन न पाई बात[1] ।

इसी प्रकार वह अपने सहवर्ती मानव तथा सहचरी प्रकृति के विभिन्न रूपों की सहायता करता, दुःख में उन्हें सान्त्वना देता, उसे दूर करने के लिये प्रयत्न करता, मार्ग भूलने पर उनका पथ-प्रदर्शन करता और अतिथियों का स्वागत-सत्कार करता है।

मानव के समान ही भावुक कवि को प्रकृति के विभिन्न रूप भी विविध सामाजिक व्यापार करते दिखायी देते हैं। प्रकृति उसे स्वागत करती, सान्त्वना देती, आतिथ्य सत्कार करती, जगाती, बुलाती, उल्लास जागृत करती, आत्म-स्नेह लुटाती तथा अन्य अनेक सामाजिक व्यापारों में संलग्न प्रतीत होती है। पृथ्वी निशि-परियों के स्वागतार्थ 'स्वर्ग उपमाओं के भू लुंठित विहार' खोल देती है—

निशि-परियाँ अलकों में, गूँथे नक्षत्र फूल ।
देवपुरी से निकलीं, पृथ्वी के सपनों में,
देव राह गई भूल ।

\+ \+ \+

स्वागत में धरती ने आदर से खोल दिये ।
स्वर्ग उपमाओं के भू-लुंठित कुछ विहार[2] ।

कृष्णायन के कृष्ण के मथुरा-गमन पर उनके स्वागतार्थ उमड़ते हुए जन-समुदाय के साथ ही प्रकृति भी उनका स्वागत करती है। वृक्ष नतमस्तक हो प्रणाम

---

१. सियारामशरण गुप्त, अनागत कल के प्रति, हिन्दुस्तान दैनिक, २६ जनवरी, १९५८ ई०।

२. कुँवरनारायण, स्वप्न-चित्र, चक्रव्यूह, पृ० ६९-७०।

करते हुए पुष्प, फल एवं अर्घ्य समर्पित करते हैं। ताड़ वृक्ष अपने फलों के रूप में मंगल-कलश लेकर खड़े होते हैं। मार्ग के अन्य वृक्ष प्रतिहार के रूप में उनका स्वागत करते हुए शोभायमान होते हैं। आकाश में बक-समूह श्रेणीबद्ध हो स्वागत के बन्दनवार सजाता है। पृथ्वी शस्यावलि के व्याज से पाँवड़े बिछाती तथा अपनी प्रसन्नता व्यक्त करती है। वेणु-बन समीर-तरंगों के योग से शब्दायमान हो चारण-रूप में यश गान करता है। मयूर नृत्य करते, विहंग गाते और भ्रमर मंगल-वाद्य बजाते हैं—

प्रणमत अवनत मस्तक तरु गण, करत सुमन फल अर्घ्य समर्पण।
मंगल-कलश ताल-फल राजत, मार्ग विटप प्रतिहार विराजत।
श्रेणी-बद्ध व्योम बक छाये, स्वागत बन्दनवार सजाये।
पथ पाँवड़े सस्य मिस पारति, हास काँस मिस धरणी धारति।
स्वरित वेणु-वन पवन तरंगा, बन्दी बरनत चरित प्रसंगा।
नर्तत मोर, विहँग मधु गावत, अलि कुल मंगल वाद्य बजावत[१]।

प्रकृति मानव का ही नहीं, अपने विभिन्न उपकरणों का भी स्वागत करती है। समीर ऋतुराज वसंत के आगमन पर उसके स्वागत के लिये झाड़ू लगाता है। पृथ्वी गलियों को पुष्प-सुगन्ध से सींच कर सौरभित करती है। मधु से उन्मत्त मलिन्द विजय-प्रशस्तियों के रूप में यश गान करते हैं। पक्षी मंगल-पाठ पढ़ते हैं। समस्त प्रकृति उसके स्वागतार्थ विभिन्न प्रकार के साज सजाती है[२]।

इसी प्रकार हरिऔध के वैदेही-वनवास का मधु-पूर्ण मधूक अपने रक्ताभ दलों की लालिमा से शोभायमान होता हुआ, मर्मर ध्वनि से यश-गान करता हुआ, पुष्प-वर्षा कर सोत्साह वसन्त का स्वागत करता है—

लाल-लाल-दल-ललित-लालिमा से विलस। वर्णन कर मर्मर ध्वनि से विरुदावली,
मधु-ऋतु के स्वागत करने में मत्त था। मधु से भरित मधूक बरस सुमनावली[३]।

सामाजिक कर्तव्य को समझने वाले पर-दुःख-कातर मानव के समान ही प्रकृति भी अपने सहवर्तियों के दुःख से द्रवीभूत होकर सान्त्वना देती है। चन्द्र-रश्मियाँ कुमुद-दलों से वेदना के दाग पोंछती हैं; सूर्य अपनी रश्मियों द्वारा रात्रि

१. द्वारिका प्रसाद, मिश्र, कृष्णायन, मथुराकाण्ड, पृ० १२५।

२. वायु बहारि बुहारि रही, छिति बीथी सुगंधन जाति सिंचाई।
त्यों मधुमाते मलिंद सबै, जय के करखान रहै कछु गाई।
मंगल-पाठ पढ़ैं 'द्विजदेव', सबै विधि सों उपमा उपजाई।
साजि रहे सब साज घने, बन में रितुराज की जानि अवाई।
— द्विजदेव, व्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य, पृ० ३६।

३. हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० १७८।

के आँसू पोंछता और कमलों का दुःख दूर करता है; वृक्ष निरावलम्ब लताओं को आश्रय देते हैं। राकेश चन्द्रिका में रात्रि की अलकें खोल कर धोता है[1]; मेघ चातक-वर्ग की पीड़ा से द्रवीभूत होकर उससे संताप-निवारण के लिये, अपने हृदय का समस्त रस उँड़ेल देता है, मृतक दादुरों को प्राण-दान देता है और सूर्य पुष्पों के आँसू पोंछ-पोंछ कर तथा समझा-बुझा कर सान्त्वना देता है[2]।

प्रकृति मानव के ही समान पंखा झलती, झूला झुलाती, सत्कार करती, मार्ग-प्रदर्शन करती, श्रान्ति निवारित करती, जगाती, बुलाती, निमन्त्रण देती और प्रिय का अन्वेषण करती है[3]। वायु काम-पुत्र वसंत को झूला झुलाती, मयूर तथा कीर वार्तालाप करके उसका मनोरंजन करते, कोकिल हलराती तथा तालियाँ दे-दे कर हुलसाती और परागपूर्ण नायिका कमल-कलिका 'राई-नोन' उतारती है[4]। इसी प्रकार रजनी-गन्धा आत्मस्नेह लुटाती, रात की रानी अभिनव उल्लास जागृत करती[5], पद्म-पत्र पंखे झलते, समीर हाथ-पैर पलोटता, वर्षा जगाने का कार्य करती[6], माँ वसुन्धरा तथा गंगा, घाघरा आदि सरिताएँ उसका आह्वान

---

१. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० ३१।

२. दिनकर कर से अश्रु फूल के पोंछ-पोंछ कर कहता है।
अरे फूल मत रो न किसी का समय एक सा रहता है।
—श्यामनारायण पाण्डेय, आरती, पृ० ६६।

३. कालिदास, मेघदूत, पूर्वमेघ, श्लोक ३३, ३६, ३७ तथा ४१।

४. डार द्रुम पालनौ बिछौना नव पल्लव के, सुमन झँगूला सोहै, तन छबि भारी दै।
पवन झुलावै, केकी-कीर बतरावै 'देव', कोकिल हलावै, हुलसावै कर तारी दै।
पूरित पराग सों उतारौ कर राई-नोन, कंज कली नायिका लतानि सिर सारी दै।
मदन महीप जू कौ बालक बसंत ताहि, प्रातहिं जगावत गुलाब चटकारी दै।
—देव, व्रज-भाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य, पृ० ४१।

५. ज्योत्स्ना पुलकित बेला में रजनी गंधा, सहज भाव से आत्म-स्नेह लुटाती थी;
कहीं रात की रानी, प्रिय अमराई के, कण-कण में अभिनव उल्लास जगाती थी।
—शम्भुनाथ 'शेष', शरत्पूर्णिमा, ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० १२०।

६. सोती हुई सरोज अंक पर
शरत्-शिशिर दोनों बहनों के
सुख-विलास-मद-शिथिल अंक पर
पद्म-पत्र पंखे झलते थे
मलती थी कर-चरण समीरण धीरे-धीरे जाती
नींद उचट जाने के भय से थी कुछ-कुछ घबराती।
बड़ी बहन वर्षा ने उन्हें जगाया।
—निराला, वन-कुसुमों की शय्या, परिमल, पृ० १५३।

करतीं,[१] वायु तथा छाया उसकी सेवा करतीं[२] और चन्द्र तथा तारे उसका पथ-प्रदर्शन करते हैं।

उक्त सामाजिक व्यापारों के अतिरिक्त दूतत्व भी उसमें अन्तर्भूत किया जा सकता है। मानव जिस प्रकार अपने परिजनों तथा इष्ट-मित्रों के संदेश-वहन करता है, एक का संदेश दूसरे तक पहुँचाता है, उसी प्रकार प्रकृति भी मानव-संदेश को वहन करके उसके प्रिय तक पहुँचाती है। इस विषय में यद्यपि कवि को कभी-कभी प्रकृति के दूतत्व व्यापार की क्षमता में संदेह भी होता है; कभी-कभी वह यह कहता हुआ भी पाया जाता है कि 'भला बताइये, कहाँ तो धुएँ, अग्नि, जल और वायु से बना हुआ मेघ और कहाँ संदेश की वे बातें, जिन्हें बड़े चतुर लोग ही ला-पहुँचा सकते हैं। पर यक्ष को अपने तन-मन की तो सुध थी ही नहीं, फिर भला उसका ध्यान यहाँ तक पहुँच कैसे पाता[३]? तथापि यह कहने पर भी वह उससे दूतत्व का व्यापार करवाता है[४]। यही नहीं, कालिदास के अतिरिक्त अन्य भावुक कवियों का ध्यान तो प्रकृति की इस असमर्थता की ओर भी बहुत कम जाता है। कुछ इने-गिने कवि ही इसके अपवाद हो सकते हैं।

हिन्दी-काव्य में चन्दवरदाई की पद्मावती तोते से प्रिय पृथ्वीराज के पास अपना संदेश भेजती है और वह न केवल उसका संदेश लेकर पृथ्वीराज के पास जाता ही है, प्रत्युत पुनः पृथ्वीराज का संदेश लाकर उसका दुःख मोचन भी करता है[५]।

१. हमारे जन्म की धरती हमारे कर्म की धरती।
हमें रो-रो बुलाती है हमारे धर्म की धरती।
बुलाती है हमें गंगा बुलाती घाघरा हमको।
हमारे लाड़ले आओ बुलाता आगरा हमको।
—श्यामनारायण पाण्डेय, आरती, पृ० ६१।

२. भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचकध्वनिहेतवः। गंगाशीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिषेविरे।
—कालिदास, रघुवंश, चतुर्थ सर्ग, श्लोक ७३।

तथा—
पंत, छाया, पल्लव, पृ० ६०।

३. कालिदास, मेघदूत, पूर्वमेघ, श्लोक ५।

४. तं संदेशं जलधरवरो दिव्यवाचाचचक्षे प्राणांस्तस्या जनहितरतो रक्षितुं यक्षवध्वाः।
प्राप्योदन्तं प्रमुदितमना सापि तस्थौ स्वभर्तुः केषां न स्यादभिमतफलाप्रार्थना ह्युत्तमेषु।
—कालिदास, मेघदूत, उत्तरमेघ, श्लोक ६०।

५. दिष्षंत पंथ दिल्ली दिसांन। सुष भयो सुक्क जब मिल्यो आन।
संदेश सुनत आनंद नैन। उमगीय बाल मनमथ्थ सेन।
—चन्दवरदाई, पृथ्वीराज-रासो, पद्मावती, छन्द ४२।

नूरमुहम्मद की इन्द्रावती में नायक पवन से अपना संदेश ले जाने की प्रार्थना करता है और संवेदनशील पवन उसकी प्रार्थना स्वीकार करके इन्द्रावती से उसका संदेश ले जाकर कहता है[1]। विरह-वारीश का माधवानल लीलावती के वियोग में मेघ से संदेश भेजता है[2]। जायसी के पद्मावत में तोता रत्नसेन तथा पद्मावती दोनों का ही दूतत्व करता है। एक ओर रत्नसेन की प्रशंसा करके पद्मावती के हृदय में उसके प्रति अनुराग उत्पन्न करता है और दूसरी ओर रत्नसेन से पद्मावती का संदेश कहता है[3]। नागमती भ्रमर तथा काक से संदेश ले जाने की प्रार्थना करती है और अंततः उसके दुःख से दुःखी होकर एक पक्षी उसका संदेश ले जाकर सिंहल द्वीप में रत्नसेन से कहता है[4]। गणपति कृत माधवानल काम-कन्दला में विरहिणी नायिका अपने प्रियतम के पास पवन से संदेश भेजती है[5]।

सूरदास की गोपियाँ कभी चन्द्र से अनुनय-विनय करती हुई विश्वाधिपति प्रिय कृष्ण के पास संदेश ले जाने की प्रार्थना करती हैं[6]; कभी कोकिला से अन्तरंग सखी के समान सम्बन्ध स्थापित करती हुई अपने रक्षक पति को ले जाने की अभ्यर्थना करती हैं[7]; कभी चातक से प्रिय को मना कर ले आने के लिये अत्यधिक आत्मीयता तथा दीनतापूर्ण वाणी में याचना करती हैं[8] और कभी मेघ के साथ आत्मीयता

१. जो तेहिं ओर बहेउ तुम आई। दीन्हेउ मोर संदेस सुनाई।
   \+ \+ \+
   कुँवर संदेश पवन जो पावा। इन्द्रावति सों जाइ सुनावा।
   — नूरमुहम्मद, इन्द्रावती, दर्शन खण्ड, पृ० ७८।
२. बोधा, बिरह-बारीश, वर्षा-ऋतु वर्णन प्रसंग।
३. आवा सुवा बैठ जहँ जोगी। मारग नैन, बियोग बियोगी।
   आइ प्रेम-रस कहा सँदेसा। गोरख मिला, मिला उपदेसा।
   —जायसी, पदमावत, जा० ग्रं० पृ० ७६।
४. भा उदास जौ सुना संदेसू। सँवरि चला मन चितउर देसू।
   —जायसी, पदमावत, जा० ग्र०, पृ० १६४।
५. पवन ! संदेसु पठावउ, माहरु माधव-रेसि।
   तपन लगाड़ी ते गयउ, मझ मूकी परदेशि।
   —गणपति, माधवानल काम-कंदला छन्द ६१७।
६. दधि सुत जात हौ वहि देस।
   द्वारका हैं स्याम सुन्दर सकल भुवन-नरेस।
   नाथ ! कैसे अनाथ छाँड़्यो कहियो सूर सँदेस। —सूर, भ्रमरगीत-सार, पद २६१।
७. करियो प्रगट पुकार द्वार है अबलन्ह आनि अनँग अरि घेरी।
   ब्रज लै आउ सूर के प्रभु को गावहिं कोकिल ! कीरति तेरी।
   —सूर, भ्रमरगीत-सार, पद २६२।
८. सूर, भ्रमरगीत-सार, पद ३२५।

स्थापित करती हुई अपने संदेश-वहन के लिये उसकी मनुहार करती हैं[१]।

रीतिकालीन कवि घन-आनंद कभी सर्वस्थलगामिनी वायु से अपनी विरह-व्यथा की जड़ी—प्रिय-चरणों की धूल—ले आने की प्रार्थना—करते हैं[२] और कभी परोपकार के लिये शरीर-धारण करनेवाले, अम्बुधि के खारी जल को अमृत-रूप देनेवाले तथा संसार में सौजन्य का प्रसार करनेवाले मेघ से अपनी खारी अश्रुराशि को विश्वास-घाती सुजान के आँगन में बरसाने की याचना[३]।

भारतेन्दु की नायिका कभी प्रिय का समाचार लाने तथा अपने विरह-दुःख का उससे निवेदन करने के लिये पक्षी से प्रार्थना करती है[४] और कभी अपना संदेश-वहन करने के लिए पवन, भ्रमर, सारस, कोकिल, चातक तथा सूर्यादि की मनुहार करती है[५]। रामचन्द्र शुक्ल की यशोधरा गगनचारी पक्षियों से सहानुभूति की आशा करती हुई उनके द्वारा प्रिय के पास अपना संदेश भेजती है[६]। प्रिय-प्रवास की राधा पवन को भगिनी समझकर, उससे प्रिय कृष्ण को अपनी विरह-विह्वलता की सूचना देने की प्रार्थना करती है[७]। पंत के मेघ दमयन्ती के हंस के समान न जाने कितने वियोगियों के प्रिय का संदेश लाते हैं[८]। रमाकान्त 'कान्त' के लिये पवन संदेश-वहन का कार्य करता है[९]।

इसी प्रकार बंग कवि माइकेल मधुसूदन दत्त की राधा अपना संदेश ऊषा एवं मलय समीर से प्रिय कृष्ण के पास ले जाने की प्रार्थना करती हैं[१०]; रवीद्रनाथ ठाकुर

१. बलैया लैहौं, हो बीर बादर।
तुम्हरे रूप सम हमरे प्रीतम गए निकट जल-सागर।
पा लागौं द्वारका सिधारौ बिरहिनि के दुखदागर।—सूरभ्रमरगीत-सार पद ३१३।

२. घन-आनन्द, घन-आनन्द-कवित्त, मिश्र, छन्द ७०।

३. कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवानहिं लै बरसौ।
—घन-आनन्द-कवित्त, मिश्र छन्द १२८।

४. भारतेंदु, भा० ग्रं० द्वि० खं०, 'होली', पृ० ३८३।

५. भारतेंदु चन्द्रावली, पृ० ७०-७१।

६. हे गगनचर होय जहँ पिय कढौ जौ तहँ जाय।
दीजियो संदेश मेरो ताहि नेकु सुनाय।
—रामचन्द्र शुक्ल, बुद्ध-चरित, पृ० १६८।

७. हरिऔध, प्रिय-प्रवास, षष्ठ सर्ग, पृ० ६१-६८।

८. पंत, बादल, पल्लव, पृ० ७८।

९. रमाकान्त 'कान्त', ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० १०३।

१०. माईकेल मधुसूदन दत्त, विरहिणी-व्रजांगना, मधुप कृत भावानुवाद, पृ० १६, १८ तथा १९।

के लिये मृत्यु उनके प्रभु का संदेश लाती है[१]; आंग्ल-कवि विलियम कूपर का ऐलेक्जेण्डर सेल्कर्क समीर से अपनी मातृ-भूमि एवं मित्र-वर्ग का समाचार लाने की अभ्यर्थना करता है[२]; शेली पश्चिमी प्रभंजन से अपने शुष्क-पर्णवत् मृत विचारों को भूमण्डल में व्यापक रूप से प्रसारित करने के लिये प्रार्थना करता है[3] और टेनीसन गौरैया पक्षी से अपना प्रेम-संदेश ले जाने की याचना करता है[४]।

(ख) *धार्मिक व्यापार*— धार्मिक व्यापारों का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। समस्त सृष्टि का संचालन करने वाली अणु-अणु में परिव्याप्त विश्वात्मा के निर्गुण तथा सगुण रूपों की उपासना, विभिन्न प्रकृति-शक्तियों की पूजा-अर्चना, यज्ञादि कर्मों द्वारा उन्हें प्रसन्न करने के प्रसाधन, अनुनय-विनय, गुण-गान तथा प्रार्थना-कार्य और मानव-कल्याण की सामूहिक भावना से प्रेरित विश्व-मंगल के अपेक्षित कृत्य आदि सभी धर्म के आवश्यक अंग होने के कारण धार्मिक व्यापारों में अन्तर्भूत किये जा सकते हैं। किन्तु कई दृष्टियों से धार्मिक व्यापारों का इतना व्यापक अर्थ करना उचित नहीं। अतः यहाँ हम उनके अन्तर्गत केवल परमात्मा के निर्गुण-सगुण रूपों

---

१. प्रभु ! आज तेरा संदेश लेकर मृत्यु मेरे द्वार आई है।
उसने यहाँ पहुँचने के लिये अज्ञात सागरों को पार किया है।
—गीतांजलि, सत्यकाम विद्यालंकार द्वारा अनूदित, पृ० १६८।

२. Ye winds that have made me your sport,
Convey to this desolate shore
Some cordial endearing report
of a land I shall visit no more.
—W. Cowper, supposed to be writtten by Alexander Selkirk, The Poetical works of W. COWPER, page 164.

३. Drive my dead thoughts over the universe,
Like withered leaves, to quicken a new birth.
—Shelley, Ode To The West Wind, SHELLEY'S Poems, Vol. 1, Page 331.

४. O tell her, brief is life but love is long,
And brief the sun of summer in the North,
And brief the moon of beauty in the South.
O Swallow, flying from the golden woods,
Fly to her, and pipe and wooher, and make her mine,
And tell her, tell her, that I follow thee.
—Tenny son, The Golden Treasury, ADDITIONAL PEOMS, PAGE 364.

की उपासना, प्रकृति-शक्तियों एवं विभिन्न देवी-देवताओं की भक्ति तथा उनको प्रसन्न करने के यज्ञादि कर्मों को ही लेकर हिन्दी-काव्य में मानव तथा प्रकृति के इन व्यापारों के साम्य पर संक्षिप्त विचार करेंगे।

काव्य में धार्मिक व्यापारों की स्थिति मानव तथा प्रकृति दोनों में ही प्रायः समान रूप से लक्षित होती है। कवि के लिये जिस प्रकार मानव अपने भौतिक एवं पारमार्थिक कल्याण के लिये परमात्मा के निर्गुण-सगुण रूपों की उपासना अथवा भक्ति करता है[1], विभिन्न देवी-देवताओं एवं प्रकृति शक्तियों की पूजार्चना करता है[2]; उसी प्रकार प्रकृति के जड़-चेतन रूप भी विभिन्न धार्मिक व्यापार करते पाये जाते हैं। प्रकृति के विभिन्न तत्व एवं रूप गंगा-जल से स्नान करके अपने को पवित्र करते हैं; देवताओं को स्नान करा कर उनकी पूजा करते हैं; कुसुमांजलि अर्पित करके उनकी पूजा-अर्चना के लिये भक्ति-भाव से उनकी प्रतीक्षा करते हैं और अपने कर्तव्य-पालनार्थ गृहस्थ-धर्म में प्रविष्ट हो पितृ-ऋण से मुक्त होने के लिये, विवाह के पावन अनुष्ठान द्वारा उसके पवित्र धर्म-सूत्र के बन्धन में बँधते हैं। कल-कान्ति का आगार, विश्व-वैभव का उत्थान, कानन नित्य आकाश-गंगा के जल से स्नान करता है[3]। मलय-

१. कबीर सुमिरण सार है, और सकल जंजाल।
आदि अन्त सब सोधिया, दूजा देखौं काल।
कबीर चित्त चमकिया, चहुँ दिसि लागी लाइ।
हरि सुमिरण हाथूं घड़ा, वेगै लेहु बुझाइ।
—कबीर, कबीर-वचनामृत, पृ० १२-१६।

तथा—
चरन-कमल बंदौं हरि-राई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघे अंधे कौं सब कछु दरसाई।
—सूर, सूरसागर, विनय, प्रथम स्कन्ध, पद १।

२. वया इदग्ने अग्नयस्ते अन्यै त्वे विश्वे अमृता मादयन्ते।
वैश्वानर नाभिरसि क्षितीनां स्थूणेव जनां उपमिद ययन्थ।
—ऋग्वेद, मण्डल १, सूक्त ५९, मन्त्र १, पृ० ४१।

तथा—
न यावद् उमानाथ पादारविन्दं। भजंतीह लोके परे वा नराणाम्।
न तावत्सुखं शान्ति सन्तापनाशं। प्रसीद प्रभो सर्वभूताधिवासम्।
—तुलसी, रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ९६९।

एवं—
जय जय, जय जय, माधव-बेनी। —सूर, सूरसागर, नवम स्कन्ध, पद ११।

३. करते हो तुम स्नान नित्य ही
पावन नभगंगा-जल से। —ठा० गोपालशरणसिंह, कानन, कादम्बिनी, पृ० ७।

समीर सौरभ अर्पित करके और तरु-शाखाएँ फल, पत्र तथा पुष्प चढ़ा कर विश्व-देव की पूजा करती हैं[1]। शाल-वृक्ष अपनी शिखाओं रूपी मंजुल पताकाओं को हिला-हिला कर कुसुमांजलि लेकर, भक्ति-भाव से सूर्य देव की प्रतीक्षा करते हैं[2] और वर वसन्त तथा वधू वनस्थली विवाह के समस्त वेद-विहित यज्ञादि संस्कारों को सम्पन्न करके पवित्र दाम्पत्य सूत्र में बँधते हैं—

धर्‌यौ है रसाल मौर सरस सिरस रुचि, ऊँचे सब कुल मिले गनत न अंत है।
सुचि है अवनि बारी भयौ लाज होम तहाँ, भौंरी देखि होत अलि आनँद अनन्त है।
नीकी अगवानी होत, सुख जनवासौ सब, सजी तेल ताई चैन मैन मयमंत है।
'सेनापति' धुनि द्विज साखा उच्चरत देखो, बनी दुलहिन, बना दूलह बसंत है[3]।

प्रकृति के इन्हीं धार्मिक व्यापारों के कारण कालिदास का यक्ष मेघ से, देव-गिरि पर्वत-स्थित स्कन्द भगवान को, पुष्प बरसाने वाले बादल बन कर, आकाश-गंगा के जल से भीगे हुए पुष्पों की वर्षा करके, स्नान करा देने का अनुरोध करता है[4] और प्रिय-प्रवास की राधा पवन से मथुरा की देव-मूर्तियों पर पुष्प चढ़ाने की प्रार्थना करती है[5]।

(*ग*) *राजनीतिक व्यापार*—राजनीतिक व्यापारों के अंतर्गत आनेवाले व्यापारों में आक्रमण करना, युद्ध करना, विजय प्राप्त करना, देश पर शासन करना, हावी होना तथा चेतावनी देना आदि प्रमुख हैं। मानव, विशेषकर महत्वाकांक्षी वीर, शत्रु पर आक्रमण करके उसे विजित कर अधीनस्थ करता है; राज्यों अथवा साम्राज्यों को जीतकर उन पर शासन करता है और राज्य-नियमों का उल्लंघन करनेवाले नागरिकों को उचित दण्ड अथवा भविष्य में अपना आचरण सुधारने तथा पुनः कोई अकरणीय कृत्य न करने के लिये चेतावनी देता है। इसी प्रकार भावुक कवि के

---

१. मृदु सौरभ अर्पण करती है सुरभित मलय पवन ;
तरु-शाखायें उसे चढ़ाती हैं फल-पत्र - सुमन।
—ठा० गोपालशरणसिंह, कानन, अनन्त जीवन, कादम्बिनी, पृ० ६४।

२ हरिऔध, वैदेही-वनवास, अष्टम सर्ग, छन्द ६३।

३. सेनापति, कवित्त-रत्नाकर, तीसरी तरंग, छन्द ७।

४. तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगंगाजलार्द्रैः।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूनामत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः।
—कालिदास, मेघदूत, पूर्व मेघ, श्लोक, ४७।

५. नीचे पुष्पों लसित तरु के जो खड़े भक्त होवें।
किम्बा कोई उपल-गठिता-मूर्ति हो देवता की।
तो डालों को परम मृदुता मंजुता से हिलाना।
औ यों वर्षा कुसुम करना शीश देवालयों के।
—हरिऔध, प्रिय-प्रवास, षष्ठ सर्ग, छन्द ५४।

लिये प्रकृति भी मानव के ही समान उक्त समस्त राजनीतिक व्यापारों को कुशलता-पूर्वक निष्पन्न करती है।

हिंदी-काव्य में मानव तथा प्रकृति दोनों के ही उक्त सभी राजनीतिक व्यापारों की मार्मिक एवं स्पृहणीय अभिव्यक्ति अनेक स्थलों पर हुई है। भूषण के शिवाजी के रंचमात्र क्रुद्ध होकर आक्रमण करने की सूचना पाकर, समस्त संसार में खलबली मच जाती है। उनके नगाड़ों का शब्द सुनकर शत्रु-नारियाँ अपने गृह-त्यागकर पलायमान हो जाती हैं, उनके केश खुल-खुल पड़ते हैं और उनमें गुँथे हुए लाल गिर जाते हैं[1]। चन्दवरदायी के पृथ्वीराज गयन्द-समूह पर टूट पड़नेवाले मृगेन्द्र के समान शत्रु-समूह पर आक्रमण करके, उसके छक्के छुड़ा देते हैं; योद्धाओं के रुण्ड-मुण्ड अलग-अलग कर, हाथियों के कुम्भस्थल विदीर्ण कर देते हैं[2]। तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम के शासन में कोई दुःखी नहीं। न किसी को किसी बात का भय रहता है, न शोक और न कोई रोग ही। दैहिक, दैविक और भौतिक ताप किसी को व्याप्त नहीं होते। समस्त जनता वेद-मर्यादा का पालन कर, वर्णाश्रम-धर्म की व्यवस्था का अनुगमन कर, स्वर्गीय सुख का अनुभव करती है। छोटी अवस्था में किसी की मृत्यु नहीं होती। न कोई दरिद्र है, न दीन और न दुःखी। सभी धर्मपरायण, पुण्यात्मा, गुणवान्, विद्वान, एक पत्नीव्रत तथा परोपकारी हैं। दण्ड केवल संन्यासियों के हाथों में और भेद केवल नर्तक-समाज में ही पाया जाता है। 'जीतो' शव्द केवल मन के जीतने के लिये ही प्रयुक्त होता है। वृक्ष सर्वदा फलते-फूलते हैं। गजेन्द्र और मृगेन्द्र अपने पारस्परिक शत्रु-भाव को त्यागकर एक साथ रहते हैं। लता-पादप वांछित मधु (मकरन्द) टपका देते हैं। गायें मनचाहा दूध देती हैं। धरित्री सदैव शस्य से लहलहाती रहती है। चन्द्रमा अपनी अमृतमयी किरणों से पृथ्वी को पूर्ण करता है। सूर्य उतना ही तपता है, जितनी कि आवश्यकता होती है। पर्वत अनेक प्रकार की मणियों का दान करते हैं। समुद्र वीचियों द्वारा रत्नों को वाहर फेंक देते हैं। मेघ वांछित जल प्रदान करते हैं[3]। इसी प्रकार केशव के राम के शासन में अधोगति केवल जड़ों में, मलिनता केवल यज्ञ से उत्पन्न धूम्र में, कुटिलता केवल सरिताओं में, चंचलता केवल पीपल में और विधवा केवल बनों में ही पायी जाती है—

१. ता दिन अखिल खलभले खल खलक हैं, जा दिन सिवाजी गाजी नेक करखत हैं।
सुनत नगारन अगार तजि अरिन की, दारगन भाजत न बार परखत हैं॥
छूटे बार बार छूटे बारन ते लाल देखि, 'भूषन' सुकवि बरनत हरखत हैं।
क्यों न उत्पात होंहि बैरिन के झुन्डन में, कारे घन उमड़ि अँगारे बरखत हैं॥
—'भूषण', भूषण-ग्रन्थावली, ब्रजरत्नदास, छन्द १६०।

२. गही तेग चहुवांन हिन्दुवान रानं। गजं यूथ परि कोपि केहरि समानं॥
करे रुण्ड-मुण्डं, करी कुम्भ फारे। बरं सूर सामन्त हुँकि गर्ज मारे॥
—चन्दवरदाई, पृथ्वीराज-रासो, पद्मावती, समय, छन्द ६३।

३. तुलसी, रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ८६१-८६४।

मूलन ही की जहाँ अधोगति केसव गाइय।
होम-हुतासन-धूम नगर एकै मलिनाइय॥
दुर्गति दुर्गन ही जो, कुटिल गति सरितन ही में।

+ + +

अति चंचल जहँ चलदलै, बिधवा बनी न नारि[१]।

प्रकृति भी मानव के ही समान आक्रमण एवं युद्ध-विग्रह करती, पराजित होती, विजित करती, शासन करती तथा शत्रु पर हावी होती है। सम्राट वसन्त अपने रण-दुर्मद वीरों की सेना सजाकर वियोगी-संसार पर आक्रमण करता है[२]। विश्वजित् परिवर्तन अपने कठोर शासन एवं अत्याचार के लिए प्रसिद्ध है। सैकड़ों देवता तथा राजे उसके इन्द्रासन के नीचे नत-मस्तक होते हैं। सैकड़ों अनाथ भाग्य उसके रथ-चक्रों के साथ घूमते हैं। आधि, व्याधि, अति वृष्टि, अनावृष्टि, वात, भूकम्प, उत्पात, अमंगल तथा वह्नि आदि अपने सैन्य-दलों को उनके अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित करके, नृशंस राजा के समान वह दुर्जय अपने भयंकर आक्रमण से समस्त सृष्टि को पादाक्रान्त एवं उत्पीड़ित कर नगरों को नग्न, भवनों को भग्न और प्रतिमाओं को खण्डित करके, चिर-संचित वैभव तथा कला-कौशल का विध्वंस करता है[३]।

इसके अतिरिक्त नक्षत्र असंख्य भाग्यों पर, पीपल-वृक्ष द्रुम-समाज पर और चन्द्रमा समस्त सृष्टि पर शासन करता है—

(१) ऐ असंख्य भाग्यों के शासक, ऐ असीम छवि के सावन[४]।
(२) हरे भरे इस पीपल तरु को प्रिये विलोको।

+ + +

अपर द्रुमों पर शासन करती है दिखलाती[५]।
(३) एहो निसापति ऐस सासनु तुम्हार है कि,
गुनसील कँवल पै संकट महान माँ[६]।

---

१. केशवदास, रामचन्द्रिका, पूर्वार्द्ध, पृ० २५।
२. बिरही बचैंगे कैसे चाह करि अंत हेत,
चढ़ी फौज प्रबल, बसन्त पादशाह की।
—प्रह्लाद कवि, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौंदर्य, मीतल, पृ० ३६।
३. तुम नृशंस नृप से जगती पर चढ़ अनियंत्रित;
करते हो संसृति को उत्पीड़ित, पद मर्दित;
नग्न नगर कर, भग्न भवन, प्रतिमाएँ खंडित,
हर लेते हो विभव, कला, कौशल चिर संचित।—पंत, परिवर्तन, पल्लव, पृ० ९६।
४. पंत, नक्षत्र, पल्लव, पृ० ६६।
५. हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० १०।
६. रमई काका, चन्द्रमा, ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० ९९।

वायु और तरणी, तरणी और लहरियों, लहरियों और तट में सदैव संघर्ष चलता है[1] और नवल प्रभात का नव्य प्रकाश समग्र सृष्टि में परिव्याप्त अंधकार-समूह को विजित करके उस पर हावी होता है, अपनी प्रभु-सत्ता स्थापित करता है[2]।

इसी प्रकार आंग्ल काव्य में भी कहीं सन्ध्या के शान्तिमय शासन की चर्चा है[3]; कहीं किसी पक्षी के सभापतित्व, नेतृत्व तथा साम्राज्य का उल्लेख है[4]; कहीं दुःखद शीत से सज्जनता एवं सौम्यता से प्रशासन करने की याचना है[5] और कहीं अन्य प्रकृति-रूपों के विभिन्न प्रकार के शासन का काव्योचित संकेत है।

(घ) *बौद्धिक व्यापार*—मानव आज अपने बौद्धिक व्यापारों के बल पर ही प्रकृति का अधीश्वर है। उससे विजित प्रकृति और उसके तत्व उसके अनुचर के समान उसके समस्त कार्य करते हैं। जल, विद्युत, वाष्प, ताप, समुद्र, पर्वत सभी पर उसका आधिपत्य है। वरुणेश, आकाश, दिशाएँ, काल और भूमण्डल सभी उसके अधीन हैं[6]।

किन्तु उसकी विजित प्रकृति-दासी भी नितान्त मूर्खा नहीं, लगभग उसके समान ही बुद्धि वाली है; उसके समान ही अनेक बौद्धिक व्यापारों को करती तथा

---

१. जूझती है वायु तरणी से कि तरणी जल-लहरियों से, लहरियाँ दीर्घ तट से,
उठ रहे हैं, गिर रहे हैं, शोर करते ज्वार-भाटे फूटते मानों लहर के पाप घट से,
और मेरी जिंदगी का गम भरा संगीत, खुद से डूब कर बेसुध हुआ है,
नाव मेरे गीत के तूफान से टकरा रही, पर माँगती किस से दुआ है,
इस तरह सब ओर है संघर्ष का विकराल झंझावात लिखता जा रहा हूँ।
—वीरेन्द्र मिश्र, लिखता जा रहा हूँ, ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० १०८-१०९।

२. अब तक ग्रह कुछ बिगड़े-बिगड़े से थे इस मंगल-तारे पर,
नई सुबह की नई रोशनी हावी होगी अँधियारे पर।
—दुष्यन्तकुमार, आँधी और आग, सूर्य का स्वागत, पृ० ७१।

३. William Collins, ode To Evening, Poets Of The Romantic, Revial, P. 38.

४. Wordsworth, The Green Linnet, The English Poets, P. 37.

५. T. Campbell Ode To winter, The Golden Treasury, BOOK FOURTH, Page 263.

६. शीश पर आदेश कर अवधार्य, प्रकृति के सब तत्व करते हैं मनुज के कार्य,
मानते हैं हुक्म मानव का महा वरुणेश, और करता शब्दगुण अम्बर वहन संदेश।
नव्य नर की मुष्टि में विकराल, हैं सिमटते जा रहे प्रत्येक क्षण दिवकाल।
यह प्रगति निस्सीम! नर का यह अपूर्व विकास!
चरण-तल-भूगोल! मुट्ठी में निखिल आकाश!
—दिनकर, कुरुक्षेत्र, पृ० ११०

उनमें व्यस्त पायी जाती है। विज्ञान के लिए वह भले ही बुद्धि विहीन हो, कवि के लिये नहीं और काव्य में कवि की अनुभूति ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। कवि को प्रकृति के विभिन्न उपकरण उसी प्रकार विभिन्न बौद्धिक व्यापारों में संलग्न दिखायी पड़ते हैं, जिस प्रकार मानव। पंत की चींटी जिस विलक्षण बुद्धि से अपने विभिन्न कार्य-व्यापारों को करती है, वह प्राणि-जगत ही नहीं, समस्त मानव-जगत् की स्पर्द्धा का विषय हो सकता है। उसकी शिल्प-कला-पटुता, दूरदर्शिता तथा उत्तरदायित्व-शीलता उसकी बुद्धिमत्ता के प्रमाण हैं। काक अपने बौद्धिक व्यापारों के कारण ही चालाक कहलाता है। हंस अपनी बुद्धि से ही नीर-क्षीर का पृथक्करण करता है।

यही नहीं, कवि के लिये जड़-प्रकृति भी समस्या का हल खोजती, योजनाएँ बनाती, प्रतिद्वन्द्विता करती, शिक्षा-ग्रहण करती और स्मरण रखने तथा गिनने आदि के अनेक बौद्धिक कार्य करती है। हिमालय महाशून्य में किसी जटिल समस्या का निदान खोजता है[१]। पतझड़ अपने घनिष्ट मित्र सूर्य के साथ लताओं को फलों से लादने की योजनाएँ बनाता है[२]। वसन्त अपने सौरभित समीर, तरुकोपलों की अरुणिमा, कमल-पुष्पों में अधिष्ठित मलिन्द-वर्ग की छटा, कोकिल की काकली तथा टेसू के सुन्दर वर्णादि से क्रमशः षोड़शो की सुगन्धित श्वासों, रक्ताभ अधरों, अंग-समूह पर शोभायमान केश-कलाप की आकर्षक कालिमा, मधुर आलाप तथा पलाशी साटिका से प्रतिद्वन्द्विता करता है[३]। वर्षा अपनी श्यामल घटाओं, इन्द्र-धनुष, विद्युत्-प्रभा, बक-पंक्ति, चातकों की पी-कहाँ तथा अखण्ड वारि-विन्दुओं से क्रमशः विरहिणी नारियों की अलकों, बंकिम भ्रुवों, दन्तावलि, मुक्ताहार प्रिय नाम की रट तथा अश्रु-पुंज से प्रतियोगिता करती है[४]। कलिकाएँ अपनी अपेक्षाकृत तीव्र ग्रहण-

---

१. कैसी अखण्ड यह चिर समाधि ! यतिवर ! कैसा यह अमर ध्यान !
तू महा शून्य में खोज रहा, किस जटिल समस्या का निदान ?
—दिनकर, हिमालय, रेणुका, (तृ० सं०, १६५६ ई०), पृ० ४।

२. Season of mists and mellow fruitfulness.
Close bosom-friend of the maturing sun;
Conspiring with him how to load and bless
With fruit the vines that round the thatch-eves run.
—J. Keats, ODE TO AUTUMN, The Poetical works of John keats, GAR ROD, Page 218.

३. देखिये देवीप्रसाद 'पूर्ण', पूर्ण-संग्रह, बसन्त-वर्णन, पद १६ पृ० ६६।

४. उत दामिनि, दंत-दमकैं इतै, बग पाँति उतै, इत मोती-लरी।
उत चातक पीउ ही पीउ रटै, बिसरै न इतै पिउ एक घरी।
उत बूंद अखण्ड, इतै अँसुआँ, बरसा बिरहीन सों होड़ परी।
—अज्ञात, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य, मीतल पृ० १४६।

शक्ति के कारण शिक्षा-प्राप्ति के संसार में मानव को भी पीछे छोड़ जाती हैं[१] और शिरीष के वयोवृद्ध वृक्ष अपने सहचर मानव तक के शैशव एवं यौवन की घटनाएँ स्मरण रखते हैं[२]।

(ङ) *प्रणय-व्यापार*—मानव-जगत् में जिस प्रकार विभिन्न प्रणय-व्यापार सतत चलते रहते हैं, उसी प्रकार प्रकृति के जड़-चेतन रूपों में भी। अतः कवि यदि एक ओर मानव-वर्ग के विभिन्न प्रणय-व्यापारों का दिग्दर्शन कराता है, तो दूसरी ओर प्रकृति-जगत् के तादृश व्यापारों का भी। यदि एक ओर वह मानव-जगत् की प्रेमाभिव्यक्ति, प्रणय-विह्वलता, अभिसार, सम्मिलन तथा चुम्बन-आलिंगनादि को अभिव्यक्ति का जामा पहनाता है तो दूसरी ओर प्रकृति के विभिन्न तादृश व्यापारों को। यदि एक ओर मानव-जगत् में दृष्टिपात करने पर उसे नारी-पुरुष अपने प्रणय-व्यापारों में संलग्न दृष्टि-गोचर होते हैं[३], तो दूसरी ओर प्रकृति-जगत् में उसके विभिन्न जड़-चेतन रूप भी। वैदिक गीतियों की उषा मानवीय हाव-भाव के साथ अपने प्रेमी देवता से सम्मिलन के लिये अभिसार करती है[४]। कुमार-सम्भव के वृक्ष अपनी झुकी हुई शाखाओं रूपी भुजाओं को फैला-फैला कर बड़े-बड़े पुष्पास्तवक रूपी कुचों तथा पत्रावलि रूपी मंजुल ओष्ठ-युग्म वाली लताओं का आलिंगन करते हैं[५]। श्यामनारायण पाण्डेय की 'आरती' के वृक्ष लताओं का चुम्बन और लताएँ

१. बन की सूखी डाली पर सीखा कलि ने मुसकाना।
मैं सीख न पाया अब तक सुख से दुःख को अपनाना।—पंत, गुंजन, पृ० २२।

२. ये शिरीष के वयोवृद्ध सब पेड़
+ + +
इन्हें याद है मेरा बचपन
साक्षी ये मेरे यौवन के। —देवेन्द्र सत्यार्थी, बन्दनवार, पृ० ७०।

३. छाँड़ु कन्हैया मोर आँचर रे, फाटत नव-सारी।
—विद्यापति, विद्यापति का अमर काव्य, पृ० २३।

तथा—
कहत नटत रीझत खिझत मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं नैनन ही सों बात। —बिहारी, बिहारी-बोधिनी, दो० ६२।

एवं—
झूला चढ़े हरि साथ हहा करि, 'देव' झुलावति ही ते डरातीं।
भोरी हिंडोरे की डारिन छाँड़ि, खरे ससवाइ गरे लपटातीं।
—देव, देव-रत्नावली, छन्द ६६।

४. देखिये रघुवंश, काव्य और प्रकृति, पृ० १२५।

५. पर्याप्तपुष्पस्तवकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालोष्ठमनोहराभ्यः
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि।
—कालिदास, कुमारसम्भव, तृतीय सर्ग, श्लोक ३९।

उनसे ठनगन करती हैं[१]। गोपालशरणसिंह की चम्पक कलियाँ प्रिय-सम्मिलन की अभिलाषा से विकसित हो उठती हैं; दीप-शिखाएँ अपने प्रेमियों के आह्वानार्थ जलती रहती हैं और कोमल गुलाब-पुष्प की पंखुड़ियों पर विभिन्न प्रेम-कथाओं की चर्चा चलती रहती है[२]।

इसी प्रकार अन्य अनेक हिन्दी-कवियों के काव्य में भी प्रकृति-जगत् के जड़-चेतन रूपों के विभिन्न प्रणय व्यापारों की मार्मिक, रसात्मक एवं बिम्बात्मक अभिव्यक्ति हुई है। कहीं शाश्वत यौवनवती वसुधा नव वसन्त के स्पर्श से पुलकायमान हो उठती है; कहीं कलिकाएँ अपने हृदयोद्गारों को अभिव्यक्त करती हैं; कहीं राकेन्दु-प्रेमी अम्बुधि उसका आलिंगन करता है; कहीं तरंगें तारों का चुम्बन करती हैं[३]; कहीं उपवन पुष्प-चषकों में अपना यौवन-रस भर-भर कर प्रिय भ्रमर को पिलाता है; कहीं नवोढ़ा बाल-लहर तटवर्ती प्रसूनों के पास पहुँचने के लिये शीघ्रता से सरकती है और कहीं कुमुद-कला प्रिय-दर्शनार्थ मेघों का झीना रेशमी इन्द्र-धनुषी अवगुण्ठन खोलती है[४]। कभी चन्द्रिका चन्द्र के साथ रश्मियों की बाँसुरी बजाती है[५]; कभी वसन्त की प्रणयिनी वसुधा अपने अनन्त शृंगार से युक्त हो उसका स्वागत करती है, उसके संयोग में अपनी अलकों को अनन्त पुष्पों से अलंकृत करती और वियोग में समूल सूख जाती है। कभी प्रेमिका कुमुदिनी चन्द्रमा से प्यार करती हुई अपना तन-मन-धन समर्पित करती है और सुधांशु उसकी उपेक्षा करके चकोरी को सुधा-दान देता तथा निशा-सुन्दरी के साथ विहार करता है[६]। कहीं सूर्य-रश्मियाँ गोधूम की बालियों का चुम्बन करतीं और बालियाँ सूर्य का आलिंगन करके अपना जीवन सार्थक करती हैं[७]।

---

१. तरुवर से लतिका का चुम्बन
तरु से लतिका का ठनगन। —श्यामनारायण पाण्डेय, आरती, पृ० ६२।

२. खिलती हैं चम्पक कलियाँ, जलती हैं दीप शिखायें।
कोमल गुलाब के दल पर, होती हैं प्रेम-कथायें।
—गोपालशरणसिंह, उपवन, कादम्बिनी, पृ० ७२।

३. अगणित-बाहें बढ़ा उदधि ने इन्दु-करों से आलिंगन
बदले, विपुल चटुल-लहरों ने तारों से फेनिल-चुम्बन।
—पंत, पल्लव, पृ० ३१-३२।

४. पंत, आँसू, पल्लव, पृ० ३५।

५. चान्दनी चाँद के संग आकाश में
रश्मियों की बँसुरिया बजाने लगी।
—मधुर शास्त्री, वसन्त-गीत, ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० ८२।

६. देखिये, माइकेल मधुसूदन दत्त, विरहिणी-ब्रजांगना (मधुप कृत भावानुवाद) पृ० १३-१४

७. देवेन्द्र सत्यार्थी, गेहूँ की बालियाँ, बन्दनवार, पृ० १२४।

इसके अतिरिक्त कभी वसन्त में कामोद्दीप्त प्रकृति अनुराग से भर जाती है। मलयानिल वासन्ती का आलिंगन करता है। सुधांशु संध्या का चुम्बन करके उसे पुलकायमान कर देता है। प्रेम-विह्वला वसुधा और आकाश रात-रात भर फाग-क्रीड़ा करते हैं। आकाश गुलाल से उषा-प्रिया का उर-मर्दन करता है। सौभाग्यवती प्रेम-गर्विता उषा अपना तिमिरावगुंठन अनावृत कर शिशु-रवि के व्याज से अपने स्तनों की रक्तिमा प्रदर्शित करती है[1]। शेफालिका प्रिय के लिये कंचुकी के बन्द खोल देती है और जूही की कली प्रिय-पवन के साथ विभिन्न प्रणय-व्यापारों में व्यस्त दिखायी पड़ती है[2]।

(च) *मान-मोचन-व्यापार*—मानव तथा प्रकृति केवल अपने ही प्रणय-व्यापारों में व्यस्त नहीं रहते, दूसरों को भी—मान किये हुए प्रेमी अथवा मानवती प्रेमिका को भी उनके लिये उत्प्रेरित करते हैं, उनका प्रबोधन करके उनके मान-मोचन में भी योग देते हैं। कभी मानव मानव को प्रबोधित करके उसके मान-मोचन का प्रयत्न करता है और कभी प्रकृति का प्रबोधन करके उसके मान-मोचन का। कभी प्रकृति स्व-वर्गीय प्राणियों तथा जड़-चेतन रूपों का प्रबोधन करती हुई उन्हें प्रिय-समागम के लिये प्रेरित करती है और कभी मानव को समझा-बुझा कर उसके मान-मोचन का।

मानव-जगत में मान-मोचन का व्यापार प्रायः अन्तरंग सखियों एवं दूतियों द्वारा होता है। वे नायक-नायिकाओं को समझा-बुझा कर, ऋतु आदि को मान के लिये अनुपयुक्त बता कर, उन्हें प्रिय-मिलन के लिये प्रेरित करती हैं। विद्यापति की दूती नायिका को समझाती हुई कहती है—'पूर्व दिशा अरुण हो गई। समस्त रात्रि व्यतीत हो गई। आकाश में चन्द्र छिप गया। कुमुदिनी संकुचित हो गई। किन्तु फिर भी, हे धन्या! तेरा मुखारविन्द विकसित नहीं हुआ। तेरा मुख चन्द्र-तुल्य है; नेत्र नीले कमल के समान हैं; होठों का निर्माण माधुर्य अथवा रक्ताभ मधूक पुष्प से हुआ है; तेरे सम्पूर्ण शरीर की रचना पुष्प-समूह से की गई है, किन्तु न जाने क्यों विधाता ने तेरा हृदय पत्थर का बना दिया है। तू ऐसा क्यों

---

१. वासन्ती के मधुर अंग से, मलयानिल का आलिंगन।
शशि के चुम्बन से सन्ध्या का, वह तारकमय पुलकित-तन।
फाग खेलते विकल-राग से रात रात भर भूमि-गगन।
भिगी इसी से वसुन्धरा है कौन कहेगा है हिम-कन।
निर्दय नभ करता गुलाल से उषा प्रिया का उर-मर्दन।
वही दिखाती हटा तिमिर पट शिशु रवि के मिस रक्त स्तन।
—श्यामनारायण पाण्डेय, आरती, पृ० ६३।

२. निराला, शेफालिका, परिमल, पृ० १६६।
तथा—
निराला, जूही की कली, परिमल, पृ० १६२-१६३।

करती है ? कंकण क्यों नहीं पहनती ? हार तेरे हृदय के लिये भार क्यों हो गया है ? पर्वत के समान भारी इस मान का तू त्याग क्यों नहीं करती ? तेरा यह व्यवहार कैसा अपूर्व है ? अवगुण त्याग कर प्रफुल्ल-चित्त होकर देख। मान की अवधि समाप्त हो गई। अब मान त्याग कर प्रिय-मिलन के लिये उद्यत हो जा[१]।

सूरदास की दूती मानवती राधा के मान-मोचन के लिये उसे समझाती हुई कहती है—

यह ऋतु रूसिबे की नाहीं।
बरसत मेघ मेदिनी कैं हित प्रीतम हरषि मिलाहीं।

× × ×

मैं दम्पति-रस-रीति कही है समुझि चतुर मन माहीं।
सूरदास उठि चलहु राधिका सँग दूती पिय पाहीं[२]।

इसी प्रकार बिहारी आदि रीतिकालीन तथा अन्य कवियों ने भी मानव के इस व्यापार का प्रचुरता से वर्णन किया है।

मानव अपने स्व-वर्गीय मानव के ही नहीं, जड़-चेतन प्रकृति-रूपों के मान-मोचन व्यापार में भी व्यस्त देखा जाता है, विभिन्न प्रकृति-रूपों के मान-मोचन के लिये भी प्रयत्न करता है। हिन्दी-काव्य में गुप्त जी की उर्मिला का कलिका के मान-मोचन के लिये उसे समझाना[३] और वृक्ष से मान करने के लिये लता की भर्त्सना करना मानव-मान-मोचन-व्यापार के उत्कृष्ट उदाहरण हैं—

अवसर न खो निठल्ली। बढ़ जा, बढ़ जा, विटप-निकट बल्ली[४]।

प्रकृति में मानव के समान मान-मोचन के लिये समझाने-बुझाने की क्षमता यद्यपि कम दिखाई पड़ती है, तथापि वह अपने विभिन्न उद्दीपक रूपों द्वारा मानव तथा प्रकृति—समस्त सृष्टि—को कामोद्दीप्त करके उनके मान-मोचन में अनेक प्रकार से योग देती है—

मत न मान के चलहिं, देखि जलधर चपला रँग[५]।

तथा—

---

१. विद्यापति, विद्यापति का अमर काव्य, जुयाल, पृ० ३०।

२. सूर, सूर सुषमा, पद ८६।

३. मान छोड़ दे मान अरी,
कली, अली आया, हँस कर ले, यह बेला फिर कहाँ धरी।
सिर न हिला झोंकों में पड़ कर, रख सहृदयता सदा हरी,
छिपा न उसको भी प्रियतम से यदि है भीतर धूलि भरी।
—मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ० २३१।

४. मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ० २१३।

५. सेनापति, कवित्त-रत्नाकर, तीसरी तरंग, छंद ३६, पृ० ६५।

छोड़े को न मान रति सों बगोड़े को न आली,
उनई घटा की छिति छबि अति छाई है[1] ।

इसके अतिरिक्त कभी-कभी वह मानी नायक तथा मानवती नायिका को उनके अवांछित मान के लिये दण्ड देने के लिये, कटिबद्ध होकर भी, उनके मान-मोचन में अपना बहुमूल्य योग देती है[2] । यही नहीं, जिस व्यक्ति को मान-मुक्त करने में विवेकशील मानव स्वयं भी सफल नहीं हो पाता, उसके मान-मोचन की भी अगाध सामर्थ्य कवि को प्रकृति में दिखाई पड़ती है । निम्नांकित अवतरण में कवि ने उसकी इसी व्यापार-सामर्थ्य की ओर संकेत किया है—

× × ×

मेरे मनाये न मानैगी भामिनी, अइ है बसंत, लै जैहै मनाइ कै[3] ।

(छ) *कलात्मक व्यापार*—कलात्मक व्यापारों के अन्तर्गत काव्य-निर्माण, गायन, वादन, नर्तन, चित्रांकन, लेखन, मूर्ति-निर्माण, गृह-निर्माण, हार गूँथना, बुनना, कातना, शृंगार करना आदि व्यापार आते हैं । मानव इन सबको अत्यधिक कौशल के साथ कर सकता है और करता है । सूर, तुलसी, केशव, जायसी आदि कवियों का काव्य-निर्माण, तानसेन तथा बैजू बावरा का गायन-वादन ; कौशाम्बी-नरेश उदयन का वीणा-वादन ; उदयशंकर का नृत्य और ताजमहल के कर्ताओं का भवन-निर्माण आदि कलात्मक व्यापार अत्यधिक प्रसिद्ध हैं । अन्य कलात्मक व्यापारों को भी मानव अत्यधिक कुशलता के साथ निष्पन्न करता है । उसके यह व्यापार काव्य के सुन्दर विषय हैं और काव्य में इनका यथास्थल अंकन-चित्रण उपलब्ध होता है । इन व्यापारों में विशेष निपुण कलाकारों के जीवन तथा व्यापारों के आधार पर महाकाव्यों तक की सृष्टि हो सकती है और वह सामान्य वस्तु नहीं, अत्यधिक अभिनन्दनीय वस्तु होगी, इसमें सन्देह नहीं । कवि-प्रजापतियों को काव्य-जगत् के इस अभाव की पूर्ति करनी चाहिये ।

कलात्मक व्यापार मानव जाति की ही विशेषता नहीं ; प्रकृति का भी उन पर उतना ही अधिकार है, जितना मानव का । भावुक कवि प्रकृति के जड़-चेतन रूपों को भी विभिन्न कलात्मक व्यापारों में उसी प्रकार संलग्न पाता है, जिस प्रकार मानव को । हिन्दी-काव्य में प्रकृति के इन व्यापारों का मार्मिक एवं सजीव चित्रांकन विशेषकर आधुनिक कवियों की देन है । प्राचीन कवियों में उसके इन व्यापारों का चित्रण प्रायः सुलभ नहीं होता ।

---

१. किशोर, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य, पृ० १०६ ।

२. 'भूषन' भनत समशेर सोई दामिनी है, हेतु नर कामिनी के मान के कदन को ।
—'भूषण', स्फुट पद, भूषण-ग्रन्थावली, ब्रजरत्नदास, पृ० १०२ ।

३. मुबारिक, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य, पृ० १६ ।

तात्त्विक दृष्टि से प्रकृति के जड़-चेतन रूपों में उक्त व्यापारों को कुशलता से सम्पन्न कर सकने की सामर्थ्य भले ही न हो, कवि-कल्पना द्वारा प्रदर्शित उनके यह व्यापार प्रभावान्विति, रसात्मकता और आकर्षण की दृष्टि से किसी भी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं। काव्य वैज्ञानिक तथ्यों का निदर्शन नहीं, कल्पना और भावुकता की नींव पर निर्मित भव्य भवन है। अतः वैज्ञानिकता और स्वाभाविकता का उसमें प्रश्न ही नहीं उठता और नहीं कवि उसकी चिन्ता करता है। उसका भावुक हृदय जिस बात का अनुभव करता है, उसकी काव्य-प्रतिभा तथा कल्पना उसे अभिव्यक्ति का जामा पहना देती है। अस्तु।

कवि को कभी तो ज्योत्स्ना लेखन-कार्य में संलग्न दिखाई पड़ती है[१]; कभी समय मनुष्य की त्वचा पर झुर्रियों रूपी अंकों में अपना अनुराग लिखता जान पड़ता है[२]; कभी नूतन प्रवाल कुंजों में रजत-श्यामल तारों से जाली बुनते प्रतीत होते हैं[३] और कभी हरिताभ तृणावलि प्रातःकालीन सूर्य-रश्मियों के सूत्रों में हिम-विंदुओं रूपी मुक्ताहार तैयार करती दृष्टिगत होती है[४]।

इसी प्रकार भावुक कवि को प्रकृति के अन्य अनेक उपकरण भी विभिन्न कलात्मक व्यापारों को कुशलता-पूर्वक सम्पादित करते दिखाई पड़ते हैं। पल्लव पुष्पों के सुगन्धित हार गूँथते हैं[५]। रेशम के कीड़े रेशम के तार कातते हैं[६]। वासन्ती वायु नर्तकी मानवी के समान नृत्य करती है।[७] मेघ नीर और समीर को बाँधकर अग्नि में धूम्र-पुंज को लपेटकर बिजलियों के साथ नृत्य करता है[८]। घनमाला प्रतिक्षण नूतन वेश-परिवर्तन करती हुई प्रिय सूर्य के सम्मुख हाव-भाव के नृत्य करती है[९]। ज्वाल-माल को हेम-पर्यंक समझने वाला शलभ निःशंक रूप से गीत

---

१. सौरभश्लथ हो जाते तन मन, बिछते झर-झर मृदु सुमन शयन,
जिन पर छन, कंपित पत्रों से, लिखती कुछ ज्योत्स्ना जहाँ-तहाँ।
—पंत, वह विजन चाँदनी की घाटी, युगपथ पृ० ४१।

२. लजता साँस की स्वर धमनियों में जिन्दगी का राग,
लिखता त्वचा पर जिन झुर्रियों में समय निज अनुराग।
—कुँवरनारायण, चाह का आकाश, चक्रव्यूह, पृ० २४।

३. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० ४६।

४. हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० ४६।

५. पंत, पल्लव, पृ० १।

६. देवेन्द्र सत्यार्थी, बेगार, बन्दनवार, पृ० १५८।

७. लहरैं तरुन तरु, छहरैं सुगन्ध मंद, नाचत नटी सी आवै बैहर बसन्त की।"
—गोकुल ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य, मीतल, पृ० ४१।

८. मेघराज मुकुल, मेघ आया, उमंग, पृ० ८२।

९. रामनरेश त्रिपाठी पथिक, पृ० ५।

गाता है[१]। मेघ सरिता-सरोवरादि में स्वर-लहरियाँ उत्पन्न कर तथा बूँदें गिरा-गिराकर विभिन्न प्रकार के वाद्य बजाते हैं[२]। कोकिल सम्राट वसन्त का यश-गान करता; चातक नगाड़ा, भ्रमर शहनाई और कपोत तबला बजाता; कीर गाना गाता; मयूर नृत्य करता; सूती ताल देती; भुजंगी हाव-भाव प्रदर्शित करती[३]; अनिल चपल वीचियों के साथ रास-क्रीड़ा करता; जल-तरंग तान तोड़ती और सरस समीर सुर भरता है[४]। प्रकृति-सुन्दरी एकांत में अपना रूप सँवारती, क्षण-क्षण पर नूतन वेश-परिवर्तन कर विभिन्न प्रकार की साज-सज्जा से अपने को सुशोभित करती, निर्मल-जल-सरोवर रूपी दर्पणों में अपना प्रतिबिम्ब देखती और रूप-गर्विता सुन्दरी की नाईं स्वयं अपने ही सौंदर्य पर मुग्ध हो तन-मन न्योछावर करती है[५]। बहुरूपिया चन्द्रमा विभिन्न प्रकार के रूप धारण कर कवि के उपहास, अनुराग एवं आश्चर्य का पात्र बनता[६]; जलधर बहु-विध वेश धारण कर गिरि को गजेन्द्र का भव्य रूप प्रदान करते[७]; अनागत कल शृंगार-कक्ष में देदीप्यमान उपकरणों के साज सजाता[८]; बसंत मंत्री, सेनापति, भिक्षुक, बाजीगर, शिष्य, संत, वर, कृष्ण, नटराज तथा बहुरूपिया आदि के अनेक रूप धारण करता[९]; मेघमाला वेश्या और वर्षा नवेली नायिका के रूप में प्रस्तुत होती[१०]; बहुरंगी मेघ प्रकृति को नीली साटिकाएँ पहनाते; लताएँ पुष्पाभरणों से अलंकृत हो ललित लीलाएँ करतीं; पुष्पावृता हरीतिमा पृथ्वी

१. ललित गोस्वामी, ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० १०६।

२. सरिता सरोवरादिक में थे स्वर-लहरी उपजाते।
वे कभी गिरा बहु-बूँदें, थे नाना वाद्य बजाते।
—हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० १३३।

३. मनीराम, ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य, मीतल पृ० ४१।

४. जल तरंग है तान तोड़ती, सुर भरता है सरस समीर,
ललित लताएँ लिपट रही हैं, मानवता तरु हुए अधीर।
—गुरुभक्तसिंह 'भक्त', विक्रमादित्य, सर्ग १८, पृ० ६४।

५. प्रकृति यहाँ एकांत बैठि निज रूप सँवारति,
पल-पल पलटति वेश छनिक छवि छिन-छिन धारति।
विमल अम्बु-सर-मुकुरन महँ मुख-बिम्ब निहारति,
अपनी छवि पै मोरि आप ही तन-मन वारति।
—श्रीधर पाठक, काश्मीर-सुषमा।

६. रमई काका, चन्द्रमा, ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० ६८।

७. पंत, आँसू, पल्लव, पृ० १६।

८. सियारामशरण गुप्त, अनागत के प्रति, हिन्दुस्तान दैनिक, २६ जनवरी सन '५८।

९. ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य, पृ० ३५-४६।

१०. ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य, पृ० १५१।

को श्वेत साटिका पहनातीं; प्रकृति पुष्पों को नित्य प्रति तुहिन-बिंदुओं से विभूषित करती और उषा कवयित्री की माँग भरती और सन्ध्या उसकी एड़ियों में महावर लगाती है—

अरुणा ने यह सीमन्त भरी सन्ध्या ने दी पग में लाली[1] ।

(ज) *अन्य व्यापार*—उक्त व्यापारों के अतिरिक्त अन्य व्यापार भी मानव तथा प्रकृति दोनों में ही प्रायः समान रूप से पाये जाते हैं। जिस प्रकार मानव गोड़ता, जोतता, बोता, सींचता, अपने से बड़ों को प्रणाम करता, दूसरों की अनुचित कार्यवाही की शिकायत करता, सोता, जागता, उठता, बैठता, स्वप्न देखता, बोलता-कहता, पूछता-सुनता, तैरता, खेलता, टहलता-घूमता, उत्सव मनाता, मारता, पटकता, अभिप्राय छिपाता तथा अन्य अनेक व्यापारों को करता पाया जाता है, उसी प्रकार भावुक कवि को जड़-चेतन प्रकृति भी उक्त समस्त व्यापारों में व्यस्त प्रतीत होती है। वायु मनुष्य के समान गोड़ती, सूर्य-रश्मियाँ सिंचन-कार्य करतीं[2]; दिवाकर अपनी प्रकाशमयी किरणों से पृथ्वी के उर्वर-अनुर्वर प्रांगण को जोतता[3]; मेघ माता धरित्री को प्रणाम करने आता[4]; तुषार सायं-प्रातः विश्व का मुख धोता[5]; सूर्य दुःशासन के समान सरिता द्रौपदी का चीर-हरण करता[6]; सूर्य-रश्मियाँ सरोवर के जल में तैरतीं[7]; चंद्रिका संसार के दैन्य दुःख से करुणा-विह्वल हो रात्रि-पर्यन्त जागरण करती[8]; तारे कान में चुपके से कुछ कह जाते[9]; त्रिविध समीर प्रिय मिलन-के लिए प्रेरित करता[10]; कमल, गुलाब, चम्पक, कलिकाएँ, तितलियाँ, भ्रमर आदि अपने विचारों को वाणी रूप में प्रकट करते[11]; बुलबुल कवि को उत्तर देती[12]; मेघ, दिशाएँ, पुष्प, लताएँ, वृक्ष आदि विभिन्न प्रकार की बातें सुनते[13]; पर्वत अपने सहस्रों पुष्प-दृगों को

---

१. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१)।
२. कुँवरनारायण, चक्रव्यूह, पृ० ११३।
३. दुष्यन्तकुमार, सूर्यास्त : एक इम्प्रेशन, सूर्य का स्वागत, पृ० ५३।
४. मेघराज, धरती और मानव, 'उमंग', पृ० ७।
५. गोपालशरणसिंह, कादम्बिनी, पृ० ६२।
६. गुरुभक्तसिंह, नूरजहाँ, पृ० ३६।
७. गोपालशरणसिंह, कादम्बिनी, पृ० ७१।
८. पंत, चाँदनी, पल्लविनी, पृ० १६२।
९. शिवशंकर वशिष्ठ, ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० १२२।
१०. चिरंजीत, ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० ३२।
११. विराज, बसंत के फूल, पृ० ५६-५७।
१२. रौबर्ट ब्रिजेज, नाइटिंगेल,—गोल्डेन ट्रेजरी, पृ० ४८२।
१३. तृण गुल्मों से रोमांचित नग सुनते उस दुःख की गाथा,
श्रद्धा की सूनी साँसों से मिल कर जो स्वर भरते थे।
—'प्रसाद कामायनी, स्वप्न सर्ग, पृ० १७६।

फाड़-फाड़कर सरोवर दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखता[1]; मन्दाकिनी, सन्ध्या, रजनी आदि ऊँचाई पर से उतरती हुई शोभायमान प्रतीत होती; देवदारु, निकुंज, गह्वर आदि जागरणोत्सव मनाते[2]; चम्पक पुष्प कुष्माण्ड-पुष्प का उपहास करता[3]; संध्या झुरमुटों में मुख छिपाती; भुनगे वनस्पति में अपना अभिप्राय छिपाते[4] और अन्धकार सूर्य को पटककर पाताल भेज देता है[5]।

(ऋ) *व्यापार-शबलता*—व्यापार-शबलता किसी व्यक्ति अथवा प्रकृति-रूप के एक ही समय अथवा स्थल पर किए जाने वाले विभिन्न व्यापारों की संज्ञा है। कवि के लिए मानव तथा प्रकृति दोनों ही कभी केवल एक ही कार्य करते हैं और कभी एक ही समय अथवा स्थल पर विभिन्न व्यापारों में व्यस्त होते पाये जाते हैं। अतः कभी वह उनके किसी एक व्यापार की व्यंजना करता है और कभी एकाधिक अनेक व्यापारों की। कभी वह मानव-जगत् के विभिन्न व्यापारों अथवा व्यापार-शबलता का अंकन करता है और कभी प्रकृति-जगत के विभिन्न प्रकृति-रूपों की व्यापार-शबलता का। यदि एक ओर उसके शिवाजी मोहकमसिंह और किशोरसिंह को युद्ध में पकड़ लेते हैं, शत्रुओं का मुख-मर्दन कर, गरज-गरज कर ऊँचे और मस्त हाथियों को मार-मारकर, लाखों रण-दक्ष वीरों से पृथ्वी को पाट देते हैं और भयंकर युद्ध करके नूतन यश-लाभ कर बहलोल खाँ को बन्दी बना लेते हैं[6], तो दूसरी ओर प्रकृति

तथा—

श्रवण लगा सुन रहीं दिशाएँ, स्थिर शशि मध्य-गगन में हैं।

—दिनकर, द्वन्द्व गीत, पृ० ३३।

एवं—

गोपालशरणसिंह, कादम्बिनी, पृ० ६२।

१. पंत, उच्छ्वास, पल्लव, पृ० ६।

२. देवदारु निकुंज गह्वर सब सुधा में स्नात,
सब मनाते एक उत्सव जागरण की रात। —प्रसाद, कामायनी, पृ० ८८।

३. निराज, बसंत के फूल, पृ० ६३।

४. कुंवरनारायण, एक दाँव, चक्रव्यूह, पृ० ५८।

५. पटक रवि को बलि-सा पाताल
एक ही वामन-पग में—
लपकता है तमिस्र तत्काल,
धुएँ का विश्व-विशाल। —पंत, आँसू, पल्लव, पृ० १४।

६. लिय धरि मोहकमसिंह कहँ अरु किसोर नृप कुम्म।
श्रीसरजा संग्राम किय भुम्मिम्मधि करि धुम्म॥
भुम्मिम्मधि किय धुम्मम्मड़ि रिपु झुम्मम्मलि करि।
जंगग्गरजि उतंगग्गरब मंतग्गगन हरि॥

भी अनेक स्थलों पर, विभिन्न व्यापारों में व्यस्त दिखाई देती है। संस्कृत साहित्य में भी इस प्रकार के स्थल मिलते हैं। कालिदास के मेघदूत की अलकापुरी के मेघ वायु के झोंके के साथ वहाँ के सतखण्डे भवनों के ऊपरी खण्डों में प्रविष्ट होकर, उनकी दीवारों पर टँगे हुए चित्रों को अपने जल-कणों से भिगोकर, मिटा देते हैं और पुनः भयभीत हो चतुरता से धुएँ का रूप बनाकर, गवाक्षों की जालियों में से निकल भागते हैं[1]। श्री हर्ष के 'नागानन्द' के वृक्ष अपने अतिथि मानव का भ्रमर-व्याज से मधुर गीत गा-गाकर स्वागत करते हैं, शाखाओं को झुकाकर नमस्कार करते हैं और पुष्पों को विकीर्ण करके अर्घ्य देते हैं[2]।

हिन्दी-काव्य में मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' की सुन्दरी रजनी नूतन खेल देखने के लिए, अरुणा सन्ध्या को आगे ठेलकर, चन्द्रमा की बेन्दी से अपना मस्तक अलंकृत करके तीव्रगति से चलने वाली नारी के समान तत्काल अभीष्ट स्थान पर आ पहुँचती है[3]। गुरुभक्तसिंह के 'विक्रमादित्य' की मदोन्मत्त सरिता-सुन्दरी शिला-खण्डों में मूर्तियाँ बनाती, गिरती-पड़ती तथा चक्कर खाती हुई अपने विभिन्न आवर्तों के रूप में नाचती गाती, अठखेलियाँ करके अंचल में पुष्प राशि भरती, वन की सुन्दरता को जल के सूत्र में चुन-चुनकर पिरोती, परिरम्भन करके चुम्बन देती, मुस्कराकर उस पर न्योछावर होती और वनमाला गूँथ-गूथकर शृंगों को पहनाती है[4]। पंत की चींटी गाय चराती; धूप खिलाती; शिशुओं की देख-भाल करती; सेना

लक्खक्खन रन दक्खक्खलनि अलक्खक्खिति भरि।
मोलल्लहि जस नोलल्लरि बहलोलल्लिय धरि॥

—भूषण, शिवराज-भूषण, छन्द ३५५।

१. नेत्रा नीताः सततगीतना यद्विमानाग्रभूमि रालेख्यानां नवजल कणैर्दोषमुत्पाद्य सद्यः।
शंकास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादशा जालमार्गे—
धूमोदारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति॥ —कालिदास, उत्तर मेघ, श्लोक ८।

२. मधुरमिव वदन्ति स्वागतं भृंगशब्दैर्नतिमिव फलनम्रैः कुर्वतेऽमी शिरोभिः।
मम ददत इवार्घ्यं पुष्पवृष्टिं किरन्तः कथमतिथिसपर्यां शिक्षिताः शाखिनोऽपि।

—श्री हर्ष, नागानंद अंक १, श्लोक ११।

३. अरुण सन्ध्या को आगे ठेल, देखने को कुछ नूतन खेल,
सजा विधु की बेंदी से भाल; यामिनी आ पहुँची तत्काल।

—मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ० ४३।

४. शिला-खण्ड में मूर्ति बनाती धार-वारि-छेनी है,
गिरती-पड़ती चक्कर खाती नाच भँवर में गाती,
सुमन राशि अंचल में भरती मदमाती इठलाती।
कानन श्री छवि सलिल-सूत्र में चुन-चुन विहँस पिरोती,
परिरम्भन कर चुम्बन देती न्योछावर हँस होती।

सजाकर शत्रुदल से युद्ध करती; गृह, प्रांगण तथा जन-पथ में झाड़ू लगाती और दुर्ग, नगर तथा शिविर आदि का निर्माण करती है[1]। विहग स्वच्छन्द रूप से उड़कर संसार के प्राणों को स्पंदित कर शून्य आकाश में जीवन की मादक तान भरकर, सुषुप्त संसार में स्वप्निल गीत गाकर प्रभात को स्वर्ण से भरकर, विश्व-जीवन रूपी प्रफुल्ल शतदल को गुंजायमान करता है[2]।

पानी अपनी स्वच्छन्द गति में कभी किसी घाटी से अंग बचाता; कभी किसी घाटी से सटता; कभी किसी झुरमुट में छिपकर पुनः उसमें से निकलकर घासों पर श्वेत चादर फैलाता; कभी बर्फ की चट्टानों में अपने को चित्रित करता; कभी दौड़ता; आगे बढ़ता, शाल-वन की छाया में विश्राम करता, पक्षियों के गीत सुनता, वन्य जन्तुओं से परिचय दृढ़ करता, सबकी आँखें बचाकर भागता, उठती, गिरता, लहरों की असंख्य सेना सजाकर आक्रमण के भयंकर शब्द करता, मार्ग-बाधाओं पर रोष प्रकट करता, टोकों को अनसुनी कर रोकों से टकराता हुआ ताल ठोंक-ठोंककर जवानी के जौहर दिखाता, कगारों की मिट्टी काटकर उदर पूर्ति करता, पेड़ों को मूल सहित उखाड़ फेंकता और कभी शिला-गोद से घबराकर नीचे उतरता, किसी पौधे का पुष्प चुराकर तरंगों पर तैरता, किसी को थपेड़ देता, किसी को छेड़-छेड़कर चिढ़ाता, टीले पर चढ़ने के लिये हठयोगी के समान धुनी रमाता, नीचे जाने के लिये नीच व्यक्ति के समान आकुल होता, ग्रामों, नगरों, खेतों और खलियानों में अलख जगाता और महा-पथिक के समान हँसता, रोता और गाता हुआ अपने मार्ग पर चलता है[3]।

गूँथ-गूँथ सरि ने श्रृंगों को वनमाला पहनाई,
सुर वधुएँ देखा करती हैं यह शोभा ललचाई।
—गुरुभक्तसिंह 'भक्त', विक्रमादित्य, सर्ग ६, पृ० ४३।

१. गाय चराती,
धूप खिलाती,
बच्चों की निगरानी करती,
लड़ती अरि से तनिक न डरती,
दल के दल सेना सँवारती,
घर आँगन जनपथ बुहारती।
देखो वह बल्मीकि सुघर
उसके भीतर हैं दुर्ग नगर। —पंत, चींटी, युगवाणी, पृ० ६।

२. मुक्त पंखों से उड़ दिन रात, सहज स्पंदित कर जग के प्राण,
शून्य नभ में भर दी अज्ञात, मधुर जीवन की मादक तान।
सुप्त जग में गा स्वप्निल गान स्वर्ण से भर दी प्रथम प्रभात,
मंजु गुंजित हो उठा अजान फुल्ल जग-जीवन का जल-जात।
—पंत, विहग के प्रति, गुंजन, पृ० ७४।

३. दिनकर, पानी की चाल, धूप छाँह, पृ० १५-२१।

जल-धारा कल-कल स्वर गाती, गिर-गिर कर उठ-उठ कर चलती, जीवन-मार्ग पर बढ़ती, विटपों का आलिंगन करती, जंगल में मंगल करती, वन्य कुसुमों से हिल-मिल कर क्रीड़ा करती और अपने देदीप्यमान चंचल-अंचल तथा कलकल-छलछल स्वर से कम्पित-स्पंदित हो नर्तन करती है[1]।

चन्द्रमा मानव का उपहास करता, उसकी विवशता एवं क्षणभंगुरता को देखकर उसे चिढ़ाता, अट्टहास करता और उसे पवन से आक्रान्त तुच्छ दीपक समझ कर अपनी उच्चता पर गर्व करता है[2]। उषा संसार के अंधकार का नाश करके प्रकाश-दान देती, कर्म-पथ पर अग्रसर कर उसका जागरण सफल बनाती और अलसाये नेत्रों में मद भर कर पुलकायमान हो उठती है[3]।

मानव तथा प्रकृति में व्यापार-वैषम्य

मानव तथा प्रकृति में पूर्व विवेचित व्यापार-साम्य के होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें किसी भी प्रकार का व्यापार-वैषम्य नहीं है। व्यावहारिक धरातल से ऊपर उठ कर कवि काव्य-जगत् में यद्यपि मानव तथा प्रकृति दोनों को ही समान व्यापारों में संलग्न पाता है, तथापि व्यावहारिक जीवन का अनुभव उसे पुनः काव्य-जगत् के उच्च धरातल से व्यावहारिकता के निम्न धरातल पर घसीट लाता है। जीवन की जटिल समस्याओं को सुलझाने तथा व्यावहारिक-जगत् की गुत्थियों को खोलने के लिये जब उसे प्रकृति के योग-दान की अपेक्षा होती है, तो उसे वास्तविकता का पता चलता है और उसकी भावुकता को ठेस पहुँचती है। उस समय उसे ज्ञात होता है कि मानव और प्रकृति की सामर्थ्य में कितना अन्तर है। प्रकृति में मानव के समान सामर्थ्य नहीं, इसका ज्ञान होते ही वह खिन्न हो उठता है और जीवन की नैराश्यपूर्ण विषम परिस्थितियों में अपनी सहचरी प्रकृति से अपेक्षित सहायता न पाकर, जो कुछ भी प्राप्त हो सकती है, उसी के लिये उससे याचना करता है। कृष्ण के मथुरा-गमन के अनन्तर उनके विरह में विह्वल राधा प्रथम तो सहचरी पवन से प्रिय कृष्ण के पास अपना संदेश ले जाने की

---

१. चंचल अंचल झलमल झलमल, कलकल छलछल स्वर से अविरल,
कम्पित स्पंदित हो प्रतिपल, नर्तन करती है जलधारा।
—माधवसिंह 'दीपक', सात सौ गीत, पृ० २६।

२. चाँद क्यों परिहास करता!
देख कर मेरी विवशता, क्षीण तन की क्षणभँगुरता,
मुझ दुखित को क्यों चिढ़ा कर, तू अरे अटहास करता॥
मुझे लघु दीपक समझ कर, पवन से आक्रान्त लख कर,
गर्व कर निज उच्चता पर, निडर नभ में वास करता॥
—माधवसिंह 'दीपक', सात सौ गीत, पृ० ६२।

३. माधवसिंह 'दीपक', सात सौ गीत, पृ० २४२।

प्रार्थना करती है ; किन्तु जब उसे उसकी तद्विषयक असमर्थता का ज्ञान होता है, जब उसे यह ध्यान आता है कि पवन में संदेश-वहन करने अथवा प्रिय कृष्ण को उसकी विरह-विह्वलता की सूचना देने की सामर्थ्य नहीं है, तो वह मानव तथा प्रकृति के इस वैषम्य को जान कर खिन्न हो उठती है। उसका यह कथन मानव तथा प्रकृति के व्यापार-वैषम्य का ही द्योतक है—

पूरी होवें न यदि तुझ से अन्य बातें हमारी।
तो तू मेरी विनय इतनी मान ले औ चली आ।
छू के प्यारे कमल-पग को प्यार के साथ आ जा।
जी जाऊँगी हृदय-तल में मैं तुझी को लगा के[1]॥

यही नहीं, उसके यह उद्गार, जड़ पवन से उसकी यह सहायता-याचना, उसकी भ्रान्तावस्था के ही कारण है, उसी की सूचिका है, कवि इसे भी मानता है। वह समझता है कि पवन में मानववत् दूतत्व कर सकने की सामर्थ्य नहीं और इसीलिये वह राधा के पवन से सहायता-याचना विषयक मर्मोद्गारों को उसकी भ्रान्तावस्था से ही द्योतक घोषित करता है—

भ्रान्ता होके परम दुख औ भूरि उद्विग्नता से।
ले के प्रातः मृदु पवन को या सखी आदिकों को।
यों ही राधा प्रगट करती नित्य थीं वेदनायें।
नाना चिन्ता हृदय-तल में बद्धमाना महा थीं[2]॥

इसी प्रकार कालिदास ने मेघदूत के प्रारंभ में 'भला बतलाइए, कहाँ तो धुएँ, अग्नि, और वायु के संयोग से बना हुआ मेघ और कहाँ संदेश की वे बातें, जिन्हें अत्यधिक बुद्धिमान लोग ही ला-पहुँचा सकते हैं[3], कहकर मेघ की दूतत्व-विषयक असमर्थता की व्यंजना और नन्ददास ने 'को जड़, को चैतन्य, न जानत कछु विरही जन[4]' कहकर जड़ प्रकृति के असामर्थ्य की अभिव्यक्ति द्वारा मानव तथा प्रकृति के इसी वैषम्य की ओर संकेत किया है। उनके इसी वैषम्य के कारण पाश्चात्य काव्याचार्य प्रकृति पर मानवीय भाव, रूप, कार्य, गुण आदि के आरोप को पैथेटिक फैलेसी (PATHETIC FALLACY) अथवा संवेदनात्मक भ्रम (Sympathetic

१. हरिऔध, प्रिय-प्रवास, षष्ठ सर्ग, छन्द ८२।
२. हरिऔध, प्रियप्रवास, षष्ठ सर्ग, छन्द ८३।
३. धूमज्योतिःसलिलमरुतां संनिपातः क्व मेघः सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।
—कालिदास, मेघदूत, पूर्वमेघ, श्लोक ५।
४. नन्ददास, रास-पंचाध्यायी, द्वितीय अध्याय, दो० ५, पृ० ३२।

Illusion) मानते हैं[१] ।

मानव प्रकृति के धरातल से बहुत ऊँचा उठा हुआ सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी है। अपनी बुद्धि, कर्मण्यता, रूप, भाव, गुण, सामर्थ्य आदि के क्षेत्र में प्रकृति को वह बहुत पीछे छोड़ चुका है। कवि अपनी भावुकता के कारण प्रकृति में मानव के समान विभिन्न व्यापारों को निष्पन्न कर सकने की सामर्थ्य का अनुभव भले ही करे, उस पर मानव-रूप-भावादि का आरोप करके उसे मानववत् चित्रित भले ही करे; किन्तु प्रकृति की वह सामर्थ्य, रूप, भाव अथवा व्यापार केवल काव्य-जगत् के ही सत्य होंगे, वैज्ञानिक अथवा व्यावहारिक जीवन के तथ्य नहीं। कल्पना के मुलम्मे के हटते ही उनकी वास्तविकता प्रत्यक्ष हो जायेगी। व्यावहारिक जगत् में प्रकृति के जड़-चेतन रूप प्रायः मानववत् कार्य नहीं करते, यह तो स्पष्ट ही है। मानव विभिन्न बौद्धिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि कार्य-व्यापार करता है; किन्तु प्रकृति में इतनी बुद्धि अथवा सामर्थ्य कहाँ, जो वह उन्हें निष्पन्न कर सके और प्रकृति के जड़ रूपों की तो बात ही करना व्यर्थ है। हिमाद्रि का समस्या का हल खोजना; पतझड़ का योजना बनाना; उषा-नागरी का अम्बर-पनघट में तारक-घट डुबोना; सन्ध्या-सुन्दरी का आकाश से परी के समान मन्द-मन्थर गति से उतरना, झुरमुटों में मुख छिपाना तथा गगन-लोक की नगर-वधू के समान क्षितिज-पथ पर मस्ती से झूम-झूम कर नृत्य करना; रजनी-रूपसी का व्योम गंगा में स्नान करके दबे पाँवों झुरमुट रूपी शृंगार कक्ष में सँवरने के लिए जाना, लोलुप सितारों की दृष्टि से बचने के लिये प्रयत्नशील होना तथा अँगड़ाई लेकर जागना; बसंत-रजनी का क्षितिज से क्रमशः उतरना; शरद्-शिशिर बहनों का सरोज-अंक पर सोना और अग्रजा वर्षा का उन्हें जगाना; स्वर्णाभा का भूमण्डल पर मादकता की वृष्टि करना; असीमता का जीवन की सीमा आँकना; तमतमाती धूप का तपस्या करना; वायु का तरणी से, तरणी का तरंगों से और तरंगों का तट से संघर्ष करना; चन्द्रिका का चन्द्र के साथ रश्मियों की वेणु बजाना; शबनम का अर्घ्य लेकर खड़ा होना; सन्ध्या तथा चन्द्रमा का शासन करना; समुद्र-जल का मंगल वाद्य बजाना; पवन का मानव की सेवा, दूतत्व तथा पूजा करना; पानी का मानव के समान विभिन्न कार्य करना; आदि प्रकृति के व्यापार मानव-कल्पना की सुरम्य वस्तु हैं; उसकी भावुकता तथा कल्पना-शक्ति के उत्कृष्ट प्रमाण हैं; उसके हृदयाम्बुधि द्वारा काव्य-जगत् को प्रदान किये गये बहुमूल्य

१. "By pathetic fallacy"—an injudiciously chosen phrase, as a substitute for which Oliver Wendell Holmes proposed "sympathetic illusion"—Ruskin means our modern "subjective" way of dealing with nature; that is, our habit of transferring our own mental and emotional states to the things which we contemplate. This Ruskin pronounces a defect.

—Hudson, an Introduction to the study of Literature, p. 107.

रत्न हैं; किन्तु प्रकृति-जगत् के यह समस्त व्यापार काव्य-जगत् के सत्य होते हुए भी व्यावहारिक जीवन के सत्य नहीं। व्यावहारिक जीवन में प्रकृति ऐसे व्यापारों को कर सकने में समर्थ नहीं। व्यावहारिक जीवन में ही नहीं, काव्य-जगत में भी अरसिक जनों को ही नहीं, सहृदय कवियों को भी, प्रकृति के इस असामर्थ्य—मानव तथा प्रकृति के व्यापार वैषम्य—का ध्यान प्रायः बना रहता है। प्रकृति विरही जनों के प्रश्नों का उत्तर प्रायः नहीं देती; विरही प्रेमी अथवा प्रेमिका के लिये उसके प्रिय का उत्तर प्रायः नहीं लाती; पूजन, अर्चन आदि कार्य मनुष्य के समान नहीं करती। तुलसी के राम सीता का पता खग-मृग और भ्रमरों से पूछते हैं। नन्ददास की गोपियाँ प्रिय कृष्ण का पता मालती, लता-पुंज, मृग-बधुओं, पवन, अशोक, मन्दार आदि से पूछती हैं। भारतेंदु की वियोगिनी प्रिय का समाचार पक्षी से लाने की प्रार्थना करती है। वियोगिनी चन्द्रावली अपने वियोग दुःख के निवारण के लिये पवन, कोकिल, सूर्य आदि से अभ्यर्थना करती है। किंतु प्रकृति का उनकी सहायता करना तो दूर रहा, वह उनके प्रश्नों का उत्तर नहीं देती। मानव तथा प्रकृति का यह वैषम्य व्यावहारिक जगत् ही में नहीं, काव्य-जगत् में भी उनके पारस्परिक साम्य में व्यवधान उत्पन्न करता है।

मानव देवताओं की पूजा करता है, बन्दना करता है, पत्र-पुष्प समर्पित करता है और विभिन्न प्रकार से उनके प्रति अपने भक्ति-भाव को प्रदर्शित करता है; किंतु प्रकृति में यह सामर्थ्य नहीं, इसका ध्यान हरिऔध की राधा को भ्रान्तावस्था में भी बना रहता है। इसीलिये वह पवन से मथुरा में वृक्षों के नीचे प्रतिष्ठित देव-मूर्तियों पर उनकी डालों को हिला कर पुष्प-वर्षा करके उनकी पूजा में योग देने की प्रार्थना करती है[1]।

पवन मानव के समान दूतत्व नहीं कर सकती, संदेश-कथन नहीं कर सकती, प्रिय के समक्ष उसकी विरह-व्यथा का वर्णन नहीं कर सकती। राधा यह समझती है और इसीलिए वह उससे अपने अन्य व्यापारों और क्रिया-चातुर्य से प्रिय को अपनी विरह-दशा की सूचना देने की प्रार्थना करती है और उसका यह कथन भी केवल उसकी भ्रान्तावास्था तक ही सीमित रहता है, ज्ञानोदय होने पर वह पुनः इस प्रकार की बातें नहीं करती; क्योंकि वह जानती है कि मानव तथा प्रकृति में अत्यधिक वैषम्य है—प्रकृति दूतत्व जैसे कार्य की सामर्थ्य नहीं रखती।

मानव एवं प्रकृति के पूर्वाङ्कित व्यापार-वैषम्य के अतिरिक्त कवि-समुदाय यदा-कदा दोनों में कुछ अन्य दृष्टियों से भी इस वैषम्य को लक्ष्य करता है। उसका कथन

१. नीचे पुष्पों लसित तरु के जो खड़े भक्त होवें।
किम्बा कोई उपल-गठिता-मूर्ति हो देवता की।
तो डालों को परम मृदुता मंजुता से हिलाना।
औ यों वर्षा कुसुम करना शीश देवालयों के।
—हरिऔध, प्रिय-प्रवास, षष्ठ सर्ग, छन्द ५४।

है कि मानव जलधारा से उलटा चलता है और बढ़ने के बदले पीछे हटता है, जब कि जलधारा सदैव सीधी चलती है और कभी पीछे नहीं हटती। इसके अतिरिक्त जलधारा सदैव हँसती रहती है जब कि मानव सदैव रोता रहता है—

जल धारा से उलटा चलता, नित बढ़ने के बदले हटता,
मैं बैठा रोया करता हूँ, हँसती रहती है जल धारा[1]।

उक्त अवतरण में व्यंजित मानव तथा प्रकृति का व्यापार-वैषम्य यद्यपि अधिक महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जलधारा से उलटे और सीधे चलने अथवा पीछे हटने की बात एक प्रकार से विज्ञान और व्यवहार-जगत् के लिये व्यर्थ-सी है; तथापि यह साहित्यिक सत्य अवश्य है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। साथ ही अन्तिम पंक्ति में मानव तथा प्रकृति के इस महत्वपूर्ण तथ्य की भी अभिव्यक्ति हुई है कि मानव-जगत् सदैव म्लान एवं खिन्न रहता है, जब कि प्रकृति-जगत् शाश्वत उल्लासमय; मानव के समस्त व्यापारों में चिन्ता की विषाद-रेखाएँ सदैव अंकित रहती हैं, जब कि प्रकृति अपने समस्त व्यापारों को अत्यधिक हर्षोल्लास के साथ करती है।

तात्पर्य यह कि मानव तथा प्रकृति के व्यापारों में जहाँ कुछ दृष्टियों से साम्य है, वहाँ अन्य दृष्टियों से पर्याप्त वैषम्य भी। यदि एक ओर मानव में व्यापाराधिक्य है, तो दूसरी ओर प्रकृति में व्यापार-न्यूनता; मानव में व्यापार-सामर्थ्य है तो प्रकृति में उसका अभाव। यही कारण है कि कवि जहाँ दोनों के साम्य की व्यंजना करता है, वहाँ उनमें पाये जाने वाले व्यापार-वैषम्य की भी।

मानव-व्यापारों की अभिव्यक्ति में प्रकृति

काव्य जीवनोद्यान का मधुमय सुमन है। जिस प्रकार उद्यान की शोभा प्रमुखतः उसके पुष्प-पुंज के सौन्दर्य तथा सौरभ-प्रसार में है, उसी प्रकार जीवन-उद्यान की शोभा काव्य-पुष्प के सौन्दर्य, माधुर्य, सारस्य, आकर्षण तथा सुरभि में। काव्य-पुष्प का सौन्दर्य-सौरभ बहुत कुछ उसकी शैली के रूप-लावण्य पर निर्भर रहता है और शैली का रूप-लावण्य उसके विभिन्न उपमान-उपकरणों पर। यही कारण है कि भाव-विधान के साथ ही साथ जिस कवि में उपमान-योजना की जितनी ही महती प्रतिभा होती है, उतनी ही उसे सफलता प्राप्त होती है। काव्य-चित्रों में जिस प्रकार दृश्य-योजना अथवा रूप-योजना में विभिन्न आकर्षक उपमानों का प्रयोग होता है, उसी प्रकार भाव, गुण, अवगुण तथा व्यापार-विधान में भी। अन्य चित्रों की भाँति ही व्यापार-चित्रण में भी शैली का आकर्षण बहुत-कुछ उसकी उपमान-योजना पर निर्भर रहता है। उत्कृष्ट उपमान-योजना व्यापार-चित्रों को अप्रतिम सौन्दर्य प्रदान करती है। अतः कुशल कवि इस प्रकार का मसाला जुटाने में कोई प्रमाद नहीं करते। मानव-व्यापारों का चित्रण कभी बिना किसी उपमान-विधान के ही—बिना मानव

---

१. माधव सिंह 'दीपक', सात सौ गीत, पृ० २६।

अथवा प्रकृति-रूपों के साम्य, वैषम्यादि प्रदर्शन के ही—कभी मानव-जगत् के विभिन्न उपमानों के सहारे और कभी उपमान-प्रकृति के विभिन्न प्रकार के आश्रय एवं योग द्वारा किया जाता है। किन्तु यहाँ हमारा विषय केवल प्रकृति-रूपों की उपमान-योजना तक ही सीमित है।

कवि देखता है कि एक ओर मानव-जगत् में मानव शत्रु पर आक्रमण करके उसका विनाश कर डालता है, क्रुद्ध होकर प्रचण्ड वेग से उस पर टूट पड़ता है और दूसरी ओर प्रकृति-जगत् में सिंह अपने शत्रु को मारने के लिये, क्रुद्ध होकर भीषण आवेग से उस पर आक्रमण करता है। अतः मानव तथा प्रकृति के इस व्यापार-साम्य के आधार पर वीर मानव के शत्रु पर आक्रमण की आकर्षक अभिव्यक्ति के लिये कवि प्रकृति-जगत् से उसके उपमान सिंह का अनेक प्रकार से योग लेता है, विभिन्न प्रकार से प्रयोग करता है। कभी वह उसमें सिंह के व्यापार की संभावना (उत्प्रेक्षा) करता है, कभी उस पर उसका आरोप, कभी उससे तादात्म्य और कभी साम्य-प्रदर्शन—

भाई का बदला भाई ही ! गरज उठे वे घन-गम्भीर,
गज पर पंचानन-सम उस पर टूट पड़े उसका दल चीर[1] ।

उक्त अवतरण में मानव-आक्रमण-व्यापार की अभिव्यक्ति, उसकी तुलना सिंह के गज पर आक्रमण से करने के अतिरिक्त वीर-केसरी राम के क्रोध तथा गम्भीर-गर्जन का साम्य मेघ-गर्जन के व्यापार से प्रदर्शित किये जाने के कारण अत्यधिक आकर्षक, सरस एवं मार्मिक होकर काव्य-जगत् के गौरव की वस्तु बन गई है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि राम की उपमा सिंह से और उनके शत्रु कुम्भकर्ण की गज से देना उचित ही है ; क्योंकि सिंह गज से अपने शरीर के आकारादि में छोटा होने पर भी बहुधा उसका कुम्भस्थल विदीर्ण करके उस पर विजयी होता है और गयन्द विशालाकार एवं शक्तिशाली होते हुए भी सिंह के लाघव, उत्साह वीरता तथा शक्ति-सामर्थ्य के कारण प्रायः उसका कुछ नहीं कर पाता। सिंह अपने व्यापार-लाघव के कारण गयन्द ही नहीं, अन्य समस्त पशुओं को भी विजित करके उन पर अपनी सत्ता स्थापित करता है। उसके मृगेन्द्र नाम का कारण भी यही है। गयन्द महाकाय, भयंकर, शक्तिशाली तथा सिंह से अनेक बातों में बढ़ा हुआ होने पर भी उससे विजित होता है और रण-सिंह मानव का प्रबलतम शत्रु भी उसके द्वारा पराभूत होता है। कुम्भकर्ण राम का प्रबलतम शत्रु है। अतः राम की सिंह और कुम्भकर्ण की गयन्द से दी गई उपमा अत्यधिक काव्योचित, मार्मिक एवं रसात्मक है। साथ ही राम के गर्जन-व्यापार का घन-गर्जन की गम्भीरता से साम्य प्रदर्शित करने के कारण उक्ति में मणि-कांचन का संयोग हो गया है; स्वर्ण में सुगन्ध की सृष्टि हो गई है।

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ० २६१ ।

इसी प्रकार निम्नांकित अवतरण में, वीर-केसरी शिवा जी के अफजलखाँ को पराजित करके उस पर हावी होने के व्यापार की व्यंजना के लिये, उनके कृत्य में सिंह के व्यापार की सम्भावना (उत्प्रेक्षा) दर्शनीय है। सिंह अपने प्रचण्डतम शत्रु गयन्द को पछाड़ कर जिस प्रकार उस पर हावी होता है, उसे दाब बैठता है और गयन्द असहाय, निरुपाय होकर विशालकाय होते हुए भी उसके नीचे पड़ा होता है, उसी प्रकार अफजलखाँ सिंह शिवा से पराभूत होकर असमर्थ हो जाता है—

दाबि यों बैठ्यौ नरिन्द अरिन्दहि मानों मयन्द गयन्द पछार्यौ[१]।

उपमान सिंह के योग से मानव-व्यापारों की अभिव्यक्ति यदा-कदा दीपकावृत्ति अलंकार की शैली में भी समानार्थी पदों की पुनरावृत्ति द्वारा की जाती है। प्रकृति-जगत् में सिंह और गयन्द प्रबलतम प्राणी होते हैं। उनका सामना सिंह और गयन्द के अतिरिक्त अन्य कोई प्राणी नहीं कर सकता। सिंह की चपेट सिंह ही सह सकता है और गजराज का धक्का गजराज ही। इसी प्रकार मानव-जगत् में भी वीर-केसरी ही वीर-सिंह का सामना कर सकता है और गजेन्द्र के समान विशालकाय एवं शक्तिशाली व्यक्ति ही गजेन्द्र के समान महाकाव्य एवम् दुर्धर्ष व्यक्ति का। निम्नांकित अवतरण में शिवाजी और औरंगजेब के संघर्ष-व्यापार की अभिव्यक्ति में उपमान सिंह और गजराज का प्रयोग ऐसा ही है। यदि औरंगजेब सिंह है तो उसका सामना करने वाले शिवाजी सिंह और यदि औरंगजेब गजेन्द्र है तो शिवाजी भी गजेन्द्र के ही समान उसका सामना करने में समर्थ हैं—

औरंग साहि सों साहि को नन्द लर्यो सिव साहि बजाय के डंका।
सिंह की सिंह चपेट सहै गजराज सहै गजराज को धक्का[२]।

प्रकृति-जगत् में जिस प्रकार सिंह अपने शत्रु गयन्द-समूह पर आक्रमण करने के लिये अत्यधिक त्वरा के साथ झपटता है, उसी प्रकार प्रायः वीर-केसरी मानव भी अत्यधिक लाघव के साथ शत्रु पर आक्रमण करता है। मानव तथा प्रकृति के इस व्यापार-साम्य के आधार पर मानव के उक्त व्यापार की अभिव्यक्ति के लिये उसकी उपमा सिंह के पर्वत-कंदरा से निकल कर गजेन्द्र-समूह पर झपट कर आक्रमण करने के व्यापार से दी जाती है—

रथ तें उतरि चक्र कर लीन्हौं सुभट सामुहैं आए।
ज्यों कन्दरि तें निकसि सिंह झुकि गज-जूथनि पर धाए[३]।

इसी प्रकार अन्य मानव-व्यापारों की मार्मिक व्यंजना के लिये भी उपमान सिंह का अनेक प्रकार से प्रयोग किया जाता है। कभी पंचायुधों से युक्त वीर मानव

---

१. भूषण, शिवराज-भूषण, छन्द ६८।
२. भूषण, शिवराज-भूषण, छन्द १३२।
३. सूर, सूरसागर, ना० प्र० स०, प्रथम स्कन्ध, पद २७४।

के गृह से निकल कर बाहर आने की उपमा उसके गुफा से निकल कर बाहर आने के व्यापार से दी जाती है—

बाँधे थे जन पाँच पाँच आयुध मन भाए;
पंचानन गिरि-गुहा छोड़ ज्यों बाहर आए[१]।

कभी परस्पर भयंकर युद्ध-रत वीर-द्वय के युद्ध-व्यापार का सिंह-युग्म के तादृश व्यापार से साम्य-प्रदर्शन किया जाता है—

लड़ते हुए दो सिंह के से वीर वे लेखे गये[२]।

और कभी सुषुप्तावस्था से जागृतावस्था में जाने वाले वीर-केसरी मानव के उस व्यापार की उसके सोकर उठने के व्यापार से तुलना की जाती है—

सौमित्रि सिंह समान सोकर, मुस्कराते जग गये[३]।

प्रकृति-जगत् में गजराज का कमल-वन को नष्ट कर डालने का व्यापार अत्यधिक प्रसिद्ध है। उसकी शक्ति-सामर्थ्य तथा भीम मूर्ति के समक्ष कमलों की शक्ति-सामर्थ्य तथा उनका आकार जिस प्रकार नगण्य होता है, उसी प्रकार मानव-जगत् में गजेन्द्र के समान विशालकाय एवम् शक्तिशाली कोई वीर जब अपने सामान्य शत्रुओं के समूह के समूह नष्ट कर डालता है तो गजराज के कमल-वन को नष्ट कर डालने के व्यापार से उसकी तुलना करके अभिव्यक्ति को आकर्षक, सरस, मार्मिक एवम् विम्बात्मक रूप प्रदान किया जाता है—

अम्भोज-वन को मत्त गज करता यथा मर्दित स्वतः;
मारा वृकोदर ने उन्हें झट झपट झूम इतस्ततः[४]।

युद्ध में मानव के अस्त्र-शस्त्र-प्रहार के व्यापार की व्यंजना के लिये भी प्रकृति के उपमानों का अनेक प्रकार से योग लिया जाता है। कभी उसके द्वारा चलाये गये बाणों की गतिशीलता की मार्मिक एवम् बिम्बात्मक अभिव्यक्ति के लिये उनमें लहलहाते हुए सर्पों की सम्भावना (उत्प्रेक्षा) की जाती है—

तानेउ चाप श्रवन लगि छाँड़े बिसिख कराल।
राम मारगन गन चले लहलहात जनु व्याल[५]।

कभी उसके अस्त्र-शस्त्रों के प्रहार पर मेघ-वृष्टि का आरोप किया जाता है—

करें मार मारं महाबीर धीरं। भए मेघ धारा बरष्षंत नीरं[६]।

१. मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ० ३०५।
२. श्यामनारायण पाण्डेय, तुमुल, पृ० ६३।
३. श्यामनारायण पाण्डेय, तुमुल, पृ० ६८।
४. मैथिलीशरण गुप्त, जयद्रथ-वध, पृ० ७४।
५. तुलसी, रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, दो० ९१।
६. चन्दवरदाई, पृथ्वीराज-रासो, रेवातट-समय, छन्द ४३।

और कभी उसकी प्रखर बाण-धारा पर प्रज्ज्वलित अग्नि, शत्रुदल पर वन और उसके प्रेरक साथियों पर वायु का आरोप करके, प्रज्ज्वलित अग्नि के वन को नष्ट कर डालने के व्यापार-साम्य के आधार पर, उसके अस्त्र-प्रहार की भयंकरता की चित्रात्मक अभिव्यक्ति की जाती है—

खर-बाण-धारा-रूप जिसकी प्रज्ज्वलित ज्वाला हुई।
जो वैरियों के व्यूह को अत्यन्त विकराला हुई।
श्रीकृष्ण रूपी वायु से प्रेरित धनंजय ने वहाँ।
कौरव-चमू-वन कर दिया तत्काल नष्ट जहाँ तहाँ[१]।

मानव शत्रु द्वारा रची गई माया को उसके द्वारा उत्पन्न की गयी बाधाओं को, युद्ध में किस प्रकार नष्ट कर डालता है, इसकी व्यंजना के लिये कवि सूर्य के अंधकार-समूह को नष्ट कर डालने के व्यापार से उसकी उपमा देता है—

प्रभु इन महुँ माया सब काटी। जिमि रवि उए जाहिं तम फाटी[२]।

वीर मानव क्रुद्ध होकर किस प्रकार युद्ध करता है, इसकी प्रभावोत्पादक व्यंजना के लिये, कभी युद्ध-रत वीरों पर, नागों के तादृश व्यापार का आरोपादि किया जाता है; कभी उपमान सिंहों के भयंकर युद्ध-व्यापार से उसकी तुलनादि की जाती है और कभी वीरों के रक्तावत शरीर की विकसित पलाश-वन से उपमा दी जाती है—

दो नाग करते हैं समर जैसे परस्पर रोष से
उन्मत दोनों लड़ रहे वैसे परस्पर रोष से[३]।

तथा—

विकसित पलाश-समान वे रक्तावत तन देखे गए[४]।

युद्ध में जब किसी प्रचण्ड वीर का सामना करने के लिये सामान्य वीर समूह रूप में उस पर आक्रमण करते हैं, तो अपने पौरुष एवं शौर्य की अग्नि में उन्हें जला कर नष्ट कर देने वाले उस अद्वितीय वीर के उस विनाश-व्यापार की मार्मिक व्यंजना के लिये उसकी उपमा दीपक से और शत्रु-समुदाय की शलभ-समूह से दी जाती है—

प्रभु सन्मुख धाए खल कैसे। सलभ समूह अनल कहँ जैसे[५]।

रण-दुर्मद वीर-शिरोमणि मानव का सामान्य वीर-समुदाय बाल बाँका नहीं कर सकता; क्योंकि वह अपनी शक्ति, शौर्य एवं साहस के बल पर सहस्रों व्यक्तियों के आक्रमण का भी, स्वयं प्रत्येक प्रकार से सुरक्षित रह कर भी, सफलतापूर्वक

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, जयद्रथ-वध, पृ० ६४।
२. तुलसी, रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, पृ० ८३३!
३. श्यामनारायण पाण्डेय, तुमुल, पृ० ६२।
४. श्यामनारायण पाण्डेय, तुमुल, पृ० ६३।
५. तुलसी, रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, पृ० ८२१।

निवारण कर सकता है। इसी प्रकार प्रकृति-जगत् में सहस्रों पक्षी भी गरुड़ का कुछ नहीं बिगाड़ सकते। अतः मानव तथा प्रकृति के इस साम्य के आधार पर ऐसे अद्वितीय वीर पर आक्रमण करने वाले वीरों की उपमा पक्षियों से और उस आक्रमण का सफलतापूर्वक निवारण करने वाले उस वीर की गरुड़ से देकर, कवि उसके वीरतापूर्ण व्यापारों की चित्रात्मक अभिव्यक्ति करता है—

कर दे तयारी यदि
युद्ध करने के लिये
खग का समूह खग—
राज का करेगा क्या[1] ?

कवि देखता है कि एक ओर प्रकृति-जगत् में अग्नि सब कुछ जला कर नष्ट कर डालने की सामर्थ्य रखती है; समुद्र में सब कुछ समा सकता है और काल संसार की प्रत्येक वस्तु को नष्ट कर डालता है, उसके प्रत्येक प्राणी को निगल जाता है और दूसरी ओर मानव-जगत् में रौद्र-रूपिणी प्रबला नारी सब कुछ कर सकती है, संसार में महा-विनाश ला सकती है। अतः मानव तथा प्रकृति-जगत् के इस व्यापार-साम्य के आधार पर कवि प्रबला नारी की सर्वशक्तिमत्ता तथा उसके द्वारा किये जाने वाले विनाशकारी व्यापारों की व्यंजना के लिये अग्नि, समुद्र और काल के व्यापारों का बहु-विध योग लेकर उक्ति को मार्मिक एवं बिम्बात्मक रूप प्रदान करता है। गोस्वामी तुलसीदास की निम्नांकित पंक्तियाँ इसका उत्कृष्ट उदाहरण हैं—

काह न पावकु जारि सक, का न समुद्र समाइ।
का न करै अबला प्रबल, केहि जग कालु न खाइ[2]।

इसके अतिरिक्त युद्ध करते समय उग्र मानव किस प्रकार शत्रु-सेना का संहार करता है, इसकी व्यंजना के लिये, कवि उसकी उपमा सूर्य के मेघ-समूह में बारम्बार प्रविष्ट होने तथा निकलने के व्यापार से देता है[3]; मानव-शरणागत-रक्षण-व्यापार की अभिव्यक्ति के लिये, इन्द्र द्वारा पंखविहीन किये गए पर्वतों पर उसके दुर्ग-निर्माण के व्यापार द्वारा उनके सिर पर पगड़ी बाँधने की एक विचित्र प्रकार की कल्पना का आश्रय लेता है[4]; प्रचण्ड मानव के शत्रु-सेना पर आक्रमण करने के लिये आगे बढ़ने

---

१. श्यामनारायण पाण्डेय, तुमुल, पृ० २६।

२. तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दो० ४७, पृ० ३७२।

३. लड़ना छोड़-छोड़कर बहुधा देखा मैंने उनका युद्ध;
निकले-घुसे घनों में रवि ज्यों, रह न सके क्षण भर भी रुद्ध।
—मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, एकादश सर्ग, पृ० २८६।

४. जाहि पास जात सो तौ राखि ना सकत, याते तेरे पास अचल सुप्रीति नाधियतु है।
× × ×
पायँ तर तिन्हैं नित निडर बसायबे को, कोट बाँधियतु मानो पाग बाँधियतु है।
—भूषण, शिवराज-भूषण, छंद १०३।

के व्यापार की उपमा प्रलयागमन से, धनुष की सूर्यमण्डल से और उसके भयंकर प्रहारों की जल के क्षुब्ध नक्र के किसी प्राणी पर किये जाने वाले प्रहारों तथा पर्वत के विस्फोट से देता है और उसके क्रुद्ध होकर शत्रु-संहार करने के व्यापार की अभिव्यक्ति के लिये उसके क्रोध पर अग्नि का आरोप करके नष्ट किये जाने वाले शत्रुओं का साम्य तृण-समूह से प्रदर्शित करता है—

प्रलयानल-से बढ़े महा प्रभु, जलने लगे शत्रु तृण-से।
एक असह्य प्रकाश-पिण्ड था, छिपी तेज में आकृति आप,
बना चाप ही रविमण्डल-सा उगल-उगल शर-किरण-कलाप।
कोट-कटाक्ष छोड़ता हो ज्यों भृकुटि चढ़ा कर काल कराल,
क्षण भर में ही छिन्न-भिन्न-सा हुआ शत्रु-सेना का जाल।
क्षुब्ध नक्र जैसे पानी में, पर्वत में जैसे विस्फोट,
अरि-समूह में विभु वैसे ही करते थे चोटों पर चोट[1]।

इसी प्रकार कभी संसार के दुःख-द्वन्द्व-निवारण के मानवीय व्यापार की अभिव्यक्ति के लिये कर्ता मानव पर माली और संसार पर उपवन का आरोप किया जाता है[2] और कभी मानव पर सूर्य, पीड़ित जनता पर कमलिनी और दुष्टों पर कुमुदिनी का[3]; कभी मानव के लाघवपूर्वक अश्वारोहण-व्यापार की स्पृहणीय अभिव्यक्ति के लिये उसकी तुलना सुगन्ध के समीरारोहण-व्यापार से की जाती है—

छू कर उनके चरण द्वार की ओर बढ़े वे,
झोंके पर ज्यों गंध अश्व पर कूद चढ़े वे[4]।

कभी मानव-गर्जन की व्यंजना के लिये उसकी उपमा मदमत्त गयन्द से[5] और गति की तीव्रता की कौन्धे से[6] दी जाती है और कभी चतुर्दिक विजय-प्राप्ति के लिये आक्रमण करने वाले वीर मानव के वीरतापूर्ण कृत्यों की मर्मस्पर्शी व्यंजना के लिये प्रतीपालंकार की शैली में उपमान बड़वाग्नि को मानव से निकृष्ट एवं विजित घोषित करके मानव-महत्ता की व्यंजना की जाती है—

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ० २६०-२६१।

२. मैं यहाँ जोड़ने नहीं, बाँटने आया,
जगदुपवन के झंखाड़ छाँटने आया।—मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ० १६७।

३. तुरकान मलिन कुमुदिनी करी है, हिन्दुबान नलिनी खिलायो बिबिध बिधान सों।
—भूषण, शिवराज-भूषण, छन्द ६६।

४. मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ० २६८।

५. मदमंत दंती के सदृश,
क्षण-क्षण लगा चिंघाड़ने।—श्यामनारायण पांडेय, तुमुल, पृ० ६१।

६. उठ कौंधा-सा त्वरित राज-तोरण पर आया
प्रहरी-दल से सजग सैन्य-अभिवादन पाया।—मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ० २६८।

बड़ो बड़वा को जितवार चहुँधा को दल, सरजा सिवा को जानियत इत आय है[१]।

प्रकृति-व्यापारों की अभिव्यक्ति में मानव

प्रकृति-व्यापारांकन में मानव का योग उसके मानवीकरण-रूप में सर्वाधिक लक्षित होता है। काव्य-स्रष्टा मानव प्रकृति के जड़-चेतन रूपों के विभिन्न व्यापारों का चित्रण करके उसे मार्मिक, आकर्षक, सरस एवं कमनीय बनाने का प्रयत्न करता है। वह प्रकृति को मानवीय रूप, गुण, कार्यादि से युक्त करके इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि वह मानव के समान ही सोती, जागती, उठती, बैठती, उतरती, चढ़ती, आती, जाती, शृंगार करती, समस्या का हल खोजती, योजनाएँ बनाती, लोरियाँ गा-गा कर शिशुओं को सुलाती और अपने प्रियतम के साथ बाँसुरी बजाती हुई अनेक व्यापारों में निमग्न प्रतीत होती है—

(क) *दिन के द्वार भिड़े आहट सुन रात जगी जब ले अँगड़ाई*[२]।

(ख) *प्रकृति यहाँ एकांत बैठि निज रूप सँवारति,*
पल-पल पलटति वेश छनिक छवि छिन-छिन धारति।
विमल अम्बु-सर-मुकुरन महँ मुख-बिम्ब निहारति,
अपनी छवि पै मोहि आप ही तन-मन-वारति[३]।

(ग) *सोती हुई सरोज-अंक पर*
शरद् शिशिर दोनों बहनों के
सुख-विलास-मद-शिथिल अंक पर
पद्म-पत्र पंखे झलते थे।
मलती थी कर-चरण समीरण धीरे-धीरे जाती—
नींद उचट जाने के भय से थी कुछ-कुछ घबराती
बड़ी बहन वर्षा ने उन्हें जगाया[४]।

(घ) *कभी थिरकतीं लहरातीं बनतीं कलित।*
कभी कांत कुसुमावलि के गहने पहन।
लतिकाएँ करती थीं लीलाएँ ललित[५]।

(ङ) *तू महा शून्य में खोज रहा, किस जटिल समस्या का निदान*[६]।

(च) *लोरियों को सुनाती हुई कोकिला पुष्प-शिशु को स्वरों में सुलाने लगी*[७]।

१. भूषण, शिवराज-भूषण, छन्द ३५०।
२. नीरव, तुम्हारी याद, ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० ५८।
३. श्रीधर पाठक, काश्मीर-सुषमा।
४. निराला, वन-कुसुमों की शय्या, परिमल, पृ० १५३।
५. हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० १८०।
६. दिनकर, हिमालय, रेणुका, तृ० सं०, पृ० ४।
७. मधुर शास्त्री, वसन्त-गीत, ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० ८३।

(छ) *चाँदनी चाँद के संग आकाश में—रश्मियों की बँसुरिया बजाने लगी*[१] ।

उक्त अवतरणों में प्रकृति-व्यापारांकन में मानव का योग स्रष्टा-रूप में तो है ही, साथ ही उस पर मानव-व्यापारों के आरोप में भी उसका योग अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उसके विभिन्न रूपों में जो आकर्षण, मार्मिकता, सरसता तथा चित्रात्मकता है, वह उन पर मानव-व्यापारों के आरोप तथा उन्हें मानव-रूप में चित्रित करने के कारण ही है। उसके अभाव में उनके रूप-लावण्य, प्रभावोत्पादन तथा सारस्यादि की उक्त योजना सम्भव नहीं थी।

मानवीकरण के अतिरिक्त प्रकृति-व्यापाराभिव्यक्ति यदा-कदा मानव-जगत् से उसके साम्यादि प्रदर्शन द्वारा उपमान मानव के विभिन्न प्रकार के योग से भी की जाती है। ऐसे स्थलों पर उपमान मानव का योग सामान्य मानवीकरण की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है। इसका मूल वैदिक एवं संस्कृत साहित्य में है। वैदिक गीतियों में विद्युत् रूपी कशाघात से बादलों रूपी अश्वों को चलाने के वर्षा देव के व्यापार की मार्मिक अभिव्यक्ति के लिए उनकी उपमा धीर वीर रथी से दी गई है[२]। संस्कृत काव्य में कालिदास तारकासुर की वाटिका की सेवा करनेवाली षट्ऋतुओं की उपमा मालिनों से देते हैं[३]; मेघ के वेत्रवती नदी के मधुर जल को पीने के व्यापार में कटीली भौंहों वाली कामिनी के अधरामृत का अनुपान करनेवाले व्यक्ति की सम्भावना (उत्प्रेक्षा) करते हैं[४] और मतवाले सारसों की मधूर वाणी को दूर-दूर तक प्रसारित करनेवाले, प्रातः विकसित कमलों की गंध में बसे हुए, शरीर के लिये अत्यधिक सुखद समीर के रमणियों के सम्भोग की श्रान्ति को दूर करने के व्यापार का साम्य मीठी-मीठी बातें बना कर, इत्रादि सुँघा कर और पंखा झल कर अपनी रति-श्रान्ता प्रेयसी-पत्नियों की श्रान्ति का निवारण करने वाले व्यक्तियों के व्यापार से प्रदर्शित करते हैं[५]। शिशुपालवधकार माघ पक्षियों के

१. मधुर शास्त्री, वसन्त-गीत, ५५ श्री श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० ८२।

२. रथीव कशयाश्वां अभिक्षिपन्नाविदूतान् कृणुते वर्ष्याम् अह।
दूरात् सिंहस्य स्तनथा उदीरते यत् पर्जन्यः कृणुते वर्ष्यम् नभः ॥
रघुवंश, प्रकृति और काव्य (संस्कृत खण्ड), पृ० १२५ मे उद्धृत।

३. पर्याय सेवामुत्सृज्य पुष्पसंभारतत्पराः।
उद्यानपालसामान्यमृतवस्तमुपासते ॥
—कालिदास, कुमारसंभव, द्वि० सर्ग, श्लोक ३६।

४. तेषां दिक्षुप्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं गत्वा सद्यः फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्धा।
तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यस्मात्सभ्रूभंगम् मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि ॥
—कालिदास, मेघदूत, पूर्वमेघ, श्लोक २६।

५. दीर्घीकुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारसानां प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमंगानुकूलः शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ॥
कालिदास, मेघदूत, पूर्वमेघ, श्लोक ३३।

कलरव-रूप में आलाप करती हुई रात्रि का अनुगमन करने वाली प्रातः सन्ध्या के व्यापार की मार्मिक व्यंजना के लिये उसकी समता कालिका से प्रदर्शित करते हैं[१]।

हिन्दी-काव्य में गोस्वामी तुलसीदास ने प्रकृतिव्यापारांकन में उपमान मानव का अधिक प्रयोग किया है। प्रकृति के विभिन्न व्यापारों के चित्रण के लिये उन्होंने मानव-जगत् से उनका साम्य प्रदर्शित करते हुए कहीं विद्युत् के चमकने की दुष्ट के प्रेम की अस्थिरता कहीं मेघों के पृथ्वी के निकट आ कर जल-वृष्टि करने की विद्वानों के विद्या पाकर विनम्र हो जाने, कहीं वर्षा की भयंकर बूँदों को अत्यधिक सहिष्णुता से सहन करने के पर्वतों के व्यापार की सन्तों द्वारा दुष्टों के वचनों को सहन करने के व्यापार और कहीं जल के एकत्र होकर सरोवरों में भर जाने के व्यापार की मानव-सद्गुणों के एक-एक कर सज्जनों के पास चले जाने के व्यापार से उपमा दी है। कभी वे नदी के जल के समुद्र में आकर स्थिर हो जाने के व्यापार की भगवान् को पाकर अचल आवागमन से मुक्त हो जानेवाले अधिक जीव के व्यापार, मेढकों के शब्द करने के व्यापार की विद्यार्थियों के वेद-पाठ, वायु द्वारा मेघों के इतस्ततः विकीर्ण किये जाने के व्यापार की कुपुत्र द्वारा कुल के उत्तम धर्म के नष्ट किये जाने के व्यापार और कभी आकाश में अन्धकार के छा जाने और सूर्य के प्रकट हो जाने के व्यापार की कुसंग पाकर नष्ट और सत्संग पाकर उत्पन्न हो जाने वाले ज्ञान के व्यापार से समता घोषित करते हैं। इसी प्रकार कभी अगस्त्य तारे के उदित होकर मार्ग के जल को शोषित करने के व्यापार का साम्य लोभ द्वारा सन्तोष को नष्ट कर देने, शरद्-ऋतु का आगमन जान कर खंजन पक्षियों के आ जाने का समय पाकर पुण्यों के आ जाने, शरद्-ऋतु की रिमझिम वर्षा का बिरले व्यक्तियों के भगवान की भक्ति पाने, चन्द्र द्वारा रात्रि में आतप-हरण का सन्तों के दर्शनों से पापों के नष्ट हो जाने और कभी चकोर के चन्द्रमा के अपलक दर्शन का भगवत् भक्तों के भगवान् को पाकर उनका अपलक दर्शन करने के व्यापार से प्रदर्शित करते हैं[२]।

रीतिकालीन बिहारी कहीं पुष्प-पराग से लिपटी हुई, मकरन्द-रूपी स्वेद से युक्त, वायु की गतिशीलता की अभिव्यक्ति को चित्रात्मक एवं रसात्मक रूप देने के लिये नवागता वधू से उसकी उपमा देते हैं[३] और कहीं संसार में सुख-शान्ति की व्यवस्था करनेवाले शरद् पर वीर राजा का आरोप करते हैं—

---

१. अरुणजलजराजी मुग्धहस्ताग्रपादा, बहुलमधुपमाला कज्जलेन्दीवराक्षी।
अनुपतति विरावैः पत्रिणां व्याहरन्ती, रजनिमचिरजाता पूर्वसन्ध्यासुतेव॥
—माघ, शिशुपालवध, सर्ग ६, श्लोक २८।

२. तुलसी, रामचरितमानस, किष्किंधाकाण्ड, पृ० ६६७-६७१।

३. लपटी पुहुप-पराग-पट, सनी स्वेद-मकरन्द।
आवति नारि नवोढ़ लौं, सुखद वायु गति मन्द॥
—बिहारी, 'बिहारी-बोधिनी', दो० ५६३।

घन घेरो छुटिगो हरषि, चली चहूँ दिसि राह।
कियो सुचैनो आय जग, सरद सूर नरनाह[1]।

आधुनिक कवि कभी सन्ध्या के मादक मस्ती से भरे हुए नृत्य-व्यापार की अभिव्यक्ति के लिये उसे स्वर्ग लोक की नगर-वधू के समान अंकित करते हैं[2]; कभी प्रिय के स्वागत के लिये अर्घ्य लेकर प्रतीक्षा करती हुई शबनम की उपमा प्रिय का आह्वान करनेवाली प्रोषितपतिका नायिका से देते हैं[3]; कभी सुषुप्त छाया के शासन-व्यापार की व्यंजना के लिये उसकी उपमा दमयन्ती और उसका त्याग करने वाले वृक्ष की नल से देते हैं[4]; कभी प्रवहमान, स्थिर तथा अन्य अनेक रूपों को धारण करनेवाले जल के विभिन्न व्यापारों की व्यंजना के लिये उसका हठयोगी के धूनी रमाने, नीच व्यक्ति के नीच व्यापारों और महापथिक की निरन्तर गतिशीलता आदि व्यापारों से साम्य-प्रदर्शन करते हैं[5]; कभी सो कर जागी हुई तन्द्रालसा पृथ्वी की तुलना नेत्र मलती हुई सुन्दरी से करते हैं[6] और कभी तारक-हीरक-हार से विभूषित चन्द्रिका-रमणी के शाही महलों के उच्च मीनारों से अपना चन्द्रमुख दिखलाने तथा उतरने के व्यापार का साम्य राजमहल से उतरती हुई पूर्ण-

---

१. बिहारी, 'बिहारी-बोधिनी', दो० ५७६।

२. किरण-कटोरा कर में थामें, सुन्दर साड़ी होठ कुसुमी।
गगन लोक की नगर वधू-सी, साँझ क्षितिज के पथ पर झूमी।
—नीरव, तुम्हारी याद, ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० ५८।

३. अर्घ्य शबनम लिये द्वार पर है खड़ी, ज्यों प्रवासी पिया को बुलाने लगी।
—मधुर शास्त्री, बसंत गीत, ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० ८३।

४. कहो, कौन हो दमयन्ती सी, तुम तरु के नीचे सोई?
हाय तुम्हें भी त्याग गया अलि! नल-सा निष्ठुर कोई।
—पंत, छाया, पल्लव, पृ० ५५।

५. टीलों पर चलने को हठयोगी, सा धुनी रमाता,
और नीच-सा खाई में, गिर जाने को अकुलाता।
नाँव, शहर, खलियान, खेत को छूता अलख जगाता,
चला जा रहा महा पथिक-सा, हँसता, रोता, गाता।
—दिनकर, पानी की चाल, धूप-छाँह, पृ० २४।

६. कवि, वर्षा ऋतु का प्रथम दिवस है,
जाग उठी है धरती आज अरे क्यों आखें मलती गोरी।
—देवेन्द्र सत्यार्थी, बन्दनवार, पृ० ८३।

सुन्दरी प्रेमिका की मन्द-मन्थर गति से प्रदर्शित करते हैं[१] ।

इसके अतिरिक्त अन्य प्रकृति-व्यापारों का चित्रण भी कवि-समुदाय यदा-कदा तादृश मानवीय व्यापारों के योग द्वारा करता है। काव्य में ऐसे स्थल अत्यधिक आकर्षक, सरस एवं प्रभावोत्पादक होते हैं। किन्तु इनके लिये कवि की विशेष भावुकता, कल्पना-प्रवणता तथा प्रकृति के प्रति उसके वास्तविक अनुराग की अपेक्षा है। उसके अभाव में ऐसे मार्मिक चित्रों का निर्माण सम्भव नहीं। हिन्दी-काव्य में ऐसे स्थल प्रचुरता से उपलब्ध नहीं होते। कवियों को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। इससे उनकी भावुकता को विशेष बल मिलेगा और उनका प्रकृति-काव्य अधिकाधिक स्पृहणीय एवं अभिनन्दनीय होकर विश्व-साहित्य में उच्चतर स्थान का अधिकारी होगा।

---

१. तारक हीरक हार पहन कर चन्द्र-मुख
दिखलाती उतरी आती थी चान्दनी
शाही महलों के ऊँचे मीनारों से
जैसे कोई पूर्ण सुन्दरी प्रेमिका
मंथर गति से उतर रही हो सौध से।

—जयशंकरप्रसाद, महाराणा का महत्त्व, पृ० १८-१६ ।

अष्टम अध्याय

मानवीय उपदेश तथा प्रकृति

जीवन समय के उजाड़खण्ड में भटकता हुआ पुष्प-सौरभ है और उपदेश, शिक्षा, नीति एवं ज्ञान उसके सदुपयोग के प्रसाधन। जिस प्रकार पुष्प विश्वकल्याण के लिये अपना सौरभ विकीर्ण कर जीवन त्याग देता है, उसी प्रकार 'वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिये मरे' के आदर्श पर चलने वाला मानव भी अपने जीवन का उत्सर्ग कर देना जानता है। इस तिमिराच्छन्न संसार-समुद्र के भ्रमावर्त में डूबते मानव के लिये उपदेशालोक तथा ज्ञान-रज्जु ही एकमात्र अवलम्ब है, जो उसे डूबने से बचा कर तट पर ला सकते हैं। सदुपदेश रूपी प्रकाश से आलोकित-हृदय मानव, विश्वकल्याणार्थ, संसार के अनन्त यौवन में अपना तारुण्य मिला कर, उसके विराट जीवन में अपना लघु जीवन लीन कर, अपने अस्तित्व का दान कर देना सीखता है; पुष्प के समान हँसना सीख कर, समीर के समान सौरभ ग्रहण कर, कोकिल के समान पंचम स्वर में गाकर, बासन्ती-सौन्दर्य का सुखमय संसार बनाकर, विश्वमंगल में योग देता है; भूमण्डल के हृदय-कमल को विकसित करते, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करने, चन्द्र-रश्मियों में छिपकर संसार को पीयूष-पान कराने, सद्-भाव-सुमनों से विश्व के मानस-उपवन को सौरभित करने, द्रुत, लता, पुष्प, पवन आदि से विश्व-सेवा की शिक्षा ग्रहण कर तन-मन-धन से उसे करने, अपने हृदय-प्रदेश के सीमित क्षेत्र समस्त विश्व की निस्सीम एकता का अनुभव करने और विघ्न-शैलों से टकरा कर पश्चात्-गगन की अपेक्षा अपनी दृढ़ता, भुज़-बल एवं मनोबल से उन्हें नष्ट कर अभीष्ट मार्ग पर अग्रसर होने तथा अंतिम गंतव्य को प्राप्त करने के लिये कटिबद्ध होता है।

उपदेश यद्यपि किसी भी रूप में मानव-हृदय के अज्ञानान्धकार को दूर करके सांसारिक कल्याण में योग दे सकता है; तथापि काव्य के मनोरम स्वर्गावरण से आवेष्टित होने पर उसमें मणि-कांचन का संयोग हो जाता है, सुवर्ण में सुगन्ध की सृष्टि हो जाती है। काव्य मानव-हृदय के बन्द द्वार खोल कर, ज्ञान-ज्योति से अंतः एवं बाह्य को आलोकित कर, सद्मार्ग पर आरूढ़ करके उसका जीवन सार्थक

कर देता है। उसके माध्यम से प्रकट होकर नीति, ज्ञान एवं धर्म के बहुबिधि उपदेश, अमृत-रस-पूर्ण स्वर्ग-घटों के समान मानव-जीवन को मंगलमय बनाने के साथ ही साथ स्वयं भी धन्य हो उठते हैं।

काव्य का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसमें संसार का सब कुछ समाहित हो जाता है। विश्व में कोई ऐसी वस्तु नहीं जो काव्य का विषय न हो; संसार में ऐसा कोई शब्द नहीं, ऐसा कोई अर्थ नहीं, ऐसा कोई न्याय नहीं, ऐसी कोई कला नहीं, जो काव्य का अंग न हो[1]। समस्त चौदहों विद्याओं का समुच्चय[2] काव्य विश्व की कितनी कमनीय वस्तु है, उसका क्षेत्र संसार में दिग्दिगन्त तक किस प्रकार परि-व्याप्त है, ब्रह्म के समान घट-घट में उसका किस प्रकार निवास है, इसका अनुमान सहृदय काव्य - मर्मज्ञ ही कर सकते हैं।

इतनी महान् वस्तु को केवल कला के संकुचित कठघरे में बन्द कर देना उचित नहीं। वह कला अवश्य है, उसका उद्देश्य कला का मनोरम सर्जन अवश्य है; किन्तु वह कला के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ है। उसका उद्देश्य कला-साधना के साथ-साथ मानव-मांगल्य में योग देना भी है, मानव को उसकी प्रेयसी के समान मधुर उपदेश देकर उसे मंगलोन्मुख करना भी है[3]। उसकी रचना 'स्वान्तः सुखाय'[4] होते हुए भी बहुजन-हिताय होती है। कीर्ति और सम्पत्ति के समान ही उसकी उत्त-मता की कसौटी भी लोक-मंगल ही है। कीर्ति, कविता और सम्पत्ति वस्तुतः वही उत्तम होती है, जो सुर-सरिता के समान सर्वहितकारिणी हो—

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई[5]।

काव्य का प्रादुर्भाव जीवन से है; उसके निर्मायक तत्त्व जीवन में हैं, उसका

१. न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्यांगमहो भारो महान् कवेः॥
—भामह, काव्यालंकार, ५।४

२. सकल विद्यास्थानैकायतनं पंचदशं काव्यं विद्यास्थानम्।
—राजशेखर, काव्य मीमांसा, द्वितीय अध्याय, पृ० ६।

३. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥
—मम्मट, काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, कारिका २।

४. स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषा निबन्धमति मंजुल मातनोति।
—तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० ३०।

५. तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० ४६।

अस्तित्व जीवन के लिये है[1]। उसका वास्तविक ध्येय निर्जन वन-प्रान्त में सुगम मार्ग-निर्माण, अंधकार में प्रकाश-दान, दिशा-भ्रम में सूर्य-सदृश पथ-प्रदर्शन, विपत्ति-काल में सान्त्वना-दान और बल-विस्मरण में उत्साह-संचार का कार्य करना है[2]; करणीय अकरणीय का ज्ञान कराना है; आदर्श-जगत् का निर्माण करना है[3]। काव्य आनन्द-शर्करा से आवेष्टित वह औषध है, जो मनुष्य को रोगमुक्त कर स्वस्थ एवं हृष्ट-पुष्ट करती है।

कवि समाज-हरित को अपने संदेशांकुश से मर्यादा में रखता हुआ अभीष्ट पथ पर अग्रसर करता है। किन्तु उसका संदेशांकुश धर्म-प्रचारक अथवा निरंकुश शासक के उस धर्मांकुश अथवा नियमांकुश से, जो पाप अथवा दण्ड-विधान के भय से आतंकित करके धर्म अथवा नियम-पालन के लिए बाध्य करता है, सर्वथा भिन्न है। उसमें धर्म अथवा राजनीति के समान भय के लिए कोई स्थान नहीं। वह तो मानव की उस प्रेयसी का मधुर प्रेरणांकुश एवं उपदेशांकुश है, जिसके प्रेम की बेड़ियों और भक्ति की शृंखलाओं में आबद्ध प्रेमी मानव अपने जीवन को धन्य समझता है, जिससे प्रेरित प्रेमी सद्मार्ग पर आरूढ़ हो मार्ग-बाधक पर्वतों को सम-तल उर्बरा भूमि में परिणत कर सकता है, अतल-अनन्त अम्बुधियों को पाट कर नयनाभिराम राज-प्रासादों का निर्माण कर सकता है। उसकी इसी महत्ता से प्रेरित-परिचित कवि अपनी इन्द्रियों तथा अंतःकरण के दिव्य अनुभवों से प्राप्त ज्ञान को कला के स्वर्णावरण से आवेष्टित करके काव्य का रूप प्रदान कर, भीषण समस्याओं के अन्धड़ से आलोड़ित तूफानी जीवन-समुद्र में डूबती मानवता को, अपना मधुर संदेश रूपी सुदृढ़ जलयान एवं ज्ञान रूपी प्रकाश प्रदान करके उसकी रक्षा करता है।

मानव तथा प्रकृति में उपदेश एवं शिक्षण-साम्य

जिस प्रकार मानव विश्वमंगलार्थ संसार को अपने अन्तःकरण से निःसृत विभिन्न उपदेश देता है, सामान्य नीति-ज्ञान का परिचय कराता है, दार्शनिक एवं

---

१. The really great Poets of the world...........have always recognized that poetry is made out of life, belongs to life and exists for life.

—W. H. Hudson, An Introduction to the Study of Literature, II Edition, Page 120-121.

२. निर्जन वन के बीच सुगम पथ तम में दीप दिशा-भ्रम में रवि,
संकट में सान्त्वना वाक्य, बल-विस्मृति विद्युज्जिह्वा कवि।

—रामनरेश त्रिपाठी, स्वप्न, पृ० ६५, स० ८।

३. हो रहा है जो जहाँ, सो हो रहा, यदि वही हमने कहा तो क्या कहा!
किन्तु होना चाहिए कब क्या कहाँ, व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।

—मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ० २७।

सामाजिक ज्ञान प्रदान करता है और विभिन्न मंगलमय आदर्शों तथा गुणों की प्रेरणा देकर मंगलोन्मुख करता है, उसी प्रकार काव्य-जगत् में भावुक कवि को प्रकृति भी विभिन्न प्रकार के उपदेश, नीति, ज्ञान एवं शिक्षा-दान में निमग्न प्रतीत होती है। कवि के लिये प्रकृति न केवल मानव-जगत् में, प्रत्यक्ष मानव तथा प्रकृति-उभय पक्षों में अपनी आत्मा के मधुर संदेश का शंख फूँकती है। वह यह मानने को प्रस्तुत नहीं कि प्रकृति में उपदेश अथवा शिक्षा-दान की शक्ति-सामर्थ्य नहीं है। वह जिस प्रकार मानव-जगत् के विभिन्न संदेशों को सुनकर हर्षातिरेक से भर जाता है, अपनी आत्मा के मधुर संदेशों को मुखरित करके जीवन धन्य समझता है, उसी प्रकार प्रकृति-जगत् के विभिन्न रूपों को भी विश्व-कल्याण के लिये ता श उपदेशामृत को उँड़ेलते देखकर आनन्दोल्लास से नृत्य कर उठता है[१]।

तात्पर्य यह कि प्रकृति भी स्व-वर्गीय प्रकृति-रूपों तथा सहचर मानव के कल्याणार्थ उन्हें उसी प्रकार उपदेश, शिक्षा एवं संदेश देती है, उसी प्रकार नीति-ज्ञान कराती है, जिस प्रकार मानव अपने सजातीय मानव अथवा सहचरी प्रकृति को। अतः हिंदी काव्य में मानव तथा प्रकृति में इस दृष्टि से कहाँ तक साम्य है, उनसे संसार को विभिन्न संदेश अथवा उपदेश किस प्रकार मिलते हैं, इसके निदर्शन के लिये, अब हम दोनों के उपदेशक रूपों पर पृथक्-पृथक् रूप से विचार करेंगे।

(अ) मानव तथा प्रकृति का उपदेशक मानवः

मानव अपनी आत्मा के मधुर संदेश-दान द्वारा विश्वकल्याण में विभिन्न प्रकार से योग लेता है। कवि इसीलिए प्रजापति कहलाता है—'अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः'[२]। वह केवल स्वयं ही उपदेश नहीं देता, अपने पात्रों द्वारा भी उपदेश, शिक्षा एवं संदेश दिलवाता है, आदर्श प्रस्तुत कराता है और संसार का प्रत्येक सम्भव प्रकार से पथ-प्रदर्शन करता है।

कवि जीवन के विभिन्न आदर्शों तथा विश्वकल्याण के अपेक्षित गुणों का उपदेश एवं सामान्य ज्ञान विषयक विभिन्न प्रकार की शिक्षा देकर संसार को मंगलो-

१. जल को विमल बनाती हैं ये मछलियाँ,
पूत-प्रेम का पाठ पढ़ाती हैं सदा। —हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० २०८।

तथा—

× × ×

होम-शिखा से सद्भावों का जग में भरना सीखा था।
आश्रम के उन्नत विटपों से परहित करना सीखा था।
—गुप्त, शकुन्तला, पृ० ५।

२. अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥
—महर्षि व्यास, अग्निपुराण, ३३९।१०।

न्मुख करता है, उसके अज्ञानान्धकार का हरण करके वास्तविक तथ्यों को जानने की प्रेरणा देता है, उसका ज्ञान प्रदान करता है। कभी वह ईश्वर, जीव, जगत् तथा जीवन के विषय में उसे विभिन्न प्रकार के उपदेश देकर मिथ्या सांसारिक सुखों से विमुख तथा पारमार्थिक कल्याण की ओर उन्मुख करता है; कभी समाज, राष्ट्र तथा विश्व-मंगल के प्रमुख प्रसाधनों का ज्ञान कराता है और कभी त्याग, बलिदान, न्याय-शीलता, जागृति, परोपकार, करुणा, कर्मण्यता, कर्तव्य-पालन, सेवा-वृत्ति आदि गुणों की महत्ता का प्रदर्शन करके संसार को उन्हें अपनाने का उपदेश देता है। अतः उसके उपदेशों एवं संदेशों की बहुरूपता को दृष्टि में रखते हुए उन पर पृथक्-पृथक् रूप से विचार करना आवश्यक है।

(क) *क्षणभंगुरता*—मानव पानी का बुलबुला है;[1] जीवन क्षणभर जल कर बुझ जानेवाली फुलझड़ी है[2], सेमल का पुष्प है[3], कुछ ही क्षणों के पश्चात् सूखकर नष्ट हो जाने वाला पर्ण है[4], जल-बिन्दु के पड़ते ही घुल जानेवाली कागज की पुड़िया है, संसार को उलझा कर उसके प्राण ले लेनेवाली कंटक-वाटिका है, अग्नि का स्पर्श पाते ही जल कर नष्ट हो जानेवाले झाड़-झंखाड़ों का समुच्चय है[5]।

इस क्षणभंगुर संसार में न तो भौंरों का आह्वान ही स्थायी है, न फूलों का राज्य, न कृष्णा कोकिल की पंचम तान और न ऋतुराज का अनन्त वैभव। यहाँ पुष्प खिलते हैं, किन्तु मुरझाने के लिये; सूर्य उदित होता है, किन्तु अस्त हो जाने के लिए; घटाएँ घिर जाती हैं, किन्तु बरसकर अपना अस्तित्व मिटा जाने के लिये;[6]

---

१. पाणीं केरा बुदबुदा इसी हमारी जाति। —कबीर, कबीर-वचनामृत, पृ. २०६।

२. आँजते-आँजते ही नयन बावरे, बुझ न जाये कहीं उम्र की फुलझड़ी।

—नीरज, ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० ४६।

३. यहु ऐसा संसार है, जैसा सैंबल फूल।

—कबीर, कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २१।

४. Homer, ILLIAD, VI (POPE'S Trans) &. RICHARD HENRY WILDE, "My Life."

५. रहना नहिं देस बिराना है।
यह संसार कागद की पुड़िया, बूँद पड़े घुल जाना है।
यह संसार काँट की बाड़ी, उलझ पुलझ मरि जाना है।
यह संसार झाड़ औ झाँखर, आग लगे बरि जाना है।

—कबीर, कबीर-वचनावली, पृ० २४७।

६. विकसते मुरझाने को फूल उदय होता छिपने को चन्द,
शून्य होने को भरते मेघ दीप जलता होने को मंद;
यहाँ किसका अनंत यौवन ? अरे अस्थिर छोटे जीवन !

—महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० १८।

अग्नि जलती है, किन्तु बुझ जाने के लिये; तारे चमकते हैं, किन्तु छिप जाने के लिए; चन्द्रमा अमृत का संग्रह करता है, किन्तु क्रमशः दान कर देने के लिये; पौधे पनपते हैं, किन्तु सूख जाने के लिये; मिलन होता है, किन्तु चिर-वियोग को स्थान देने के लिये; जन्म होता है, किन्तु मृत्यु के लिये; मृग-मरीचिका के दर्शन होते हैं, किन्तु मृग-समूह के प्राणापहरण के लिये। यह संसार वस्तुतः नाश का ही दूसरा नाम है, मृत्यु का ही पर्याय है। विवेकशील मानव को इसका अभिनय देखना नहीं चाहिए, इसकी क्षणभंगुरता के ज्ञान से उसके नेत्र खुल जाने चाहिए[1]। यहाँ का समस्त दृश्यमान सौन्दर्य क्षणिक एवं नाशवान् है। पुष्प-जगत् का सौन्दर्य, प्रफुल्लिता एवं लघु जीवन इसका प्रमाण है[2]।

संसार में किसी का भी अस्तित्व स्थायी नहीं। महान् से महान् व्यक्ति भी काल के अपवाद नहीं। यहाँ संगमरमर के स्तम्भ, बुलन्द दरवाजे, गगन-स्पर्शी राज-प्रासाद ढह कर मिट्टी में मिल जाते हैं, उच्चतम मीनार, विस्तृत श्मशान, बड़े से बड़े खण्डहर, परिवर्तन की बढ़ती, लहलहाती घास में अन्तर्हित हो जाते हैं, सर्वभक्षक काल के मुख में समा जाते हैं[3]।

विश्व में सुख का कहीं अस्तित्व नहीं, उसे प्राप्त करने की चेष्टा व्यर्थ है। मानव तथा प्रकृति—समस्त सृष्टि—में चतुर्दिक दुःख की ही प्रभु सत्ता है, उसी का एकच्छत्र साम्राज्य है। सौरभित बसन्त शिशिर में शून्य निःश्वासें भरता है;

१. जग नाम दूसरा है क्षय
मुझको है इससे परिचय
क्या देखूँ जग का अभिनय। —जीवनप्रकाश जोशी, माला पृ० ७।

सुन्दरता में कौन कर सका समता जिनकी।
उन्हें मिली है आयु एक दिन या दो दिन की!
फूलों का उत्फुल्ल कौन भव में दिखलाया।
किंतु उन्होंने कितना लघु जीवन है पाया।
—हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० ७।

३. संगमरमर के गड़े स्तम्भ
जो देते किसी नभ को सहारा
ढह गये..............
परछाइयाँ झरती रहीं जिद्दी पनपती घास पर
जो सदा बढ़ कर छेंक लेती है
गिरे मीनार, कबरिस्तान, खण्डहर आदि.......
जिसकी लहलहाती बाढ़ में
ऐश्वर्य कितने बह गये।
—कुँवरनारायण, चिटके स्वप्न, चक्रव्यूह, पृ० ४३।

यौवनभार से नत शाखाएँ अपनी अकिंचनता में सिहर उठती हैं, जीवन भार हो जाता हैं; वर्षाकालीन उद्दाम सरिताओं के प्रचण्ड उद्गार भयंकर काल के चिह्न-मात्र रह जाते हैं; उषाकालीन स्वर्णिम संसार सान्ध्य ज्वाल से नष्ट हो जाता है; शिशिर-कणों के समान गिरनेवाला नेत्र-जल कपोल-पुष्पों को झुलसा देता है; होठों का हिम-श्वेत हास्य निःश्वासों के समीर से उड़ जाता है; सरल भौंहों का शरदाकाश गम्भीरता की घटनाओं से घिर जाता है; प्रचुर मणि-रत्नों का सौन्दर्य-वैभव इंद्र-धनुष के विशाल ऐश्वर्य के समान उत्पन्न होकर विलुप्त हो जाता है; सांसारिक ऐश्वर्य विद्युत-ज्वाल के समान दृष्टिगत होते ही नेत्रों से ओझल हो जाता है, नष्ट हो जाता है[1]।

जीव इस अनन्त संसार-पथ का पथिक है—ऐसा पथिक, जिसका उद्देश्य अपने मार्ग पर सतत गतिशील रहना है, जिसे ठहरने की इजाजत नहीं। यह विश्व एक विराट रंगमंच है और यहाँ के समस्त नारी-पुरुष इसके अभिनेता हैं, जो अपना अभिनय समाप्त करके पुनः इस रंगमंच को छोड़कर चले जाते हैं[2]।

इस विश्व में मानव का अपना कुछ भी नहीं, उसका जीवन एक ऋण है; यहाँ किसी का शृंगार पूर्ण नहीं हो पाता, किसी की भी शय्या पूर्णतः सज नहीं पाती, यहाँ गूँथे जाने वाले समस्त हार अधूरे गुँथते हैं, यहाँ बजाई जाने वाली सभी वीणाएँ अधूरी बजती हैं, यहाँ मानव अधूरा है, उसका सृजन अधूरा है[3]।

यहाँ किसी का यौवन स्थायी नहीं। शरीर रूपी चषक में भरी जीव की यौवन रूपी मदिरा दिन-रात छलकती रहती है, चषक रिक्त होता है, प्राण-ज्योति

---

१. विपुल मणि-रत्नों का छवि-जाल,
इंद्र-धनु की सी छटा विशाल—
विभव की विद्युत-ज्वाल
चमक छिप जाती है तत्काल।—पंत, परिवर्तन, पल्लव, पृ० ६५-६७।

२. All the world's stage.
And all the men and women merely players...........
Shakespeare, "As You Like it," Act 2 Sceane 7.

३. कुछ न मेरा, न कुछ है तुम्हारा यहाँ
कर्ज के मोल पर सिर्फ हम जी रहे,
× ×
कौन शृंगार पूरा यहाँ कर सका
सेज जो भी सजी सो अधूरी सजी,
हार जो भी गुँथा सो अधूरा गुँथा
बीन जो भी बजी सो अधूरी बजी,
हम अधूरे, अधूरा हमारा सृजन।—नीरज, ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० ५१।

क्षीण होती जाती है, हृदय-स्पन्दन मौन होता जाता है। इसलिये हे क्षणभंगुर मतवाले जीव ! नेत्र खोल, शून्य-सदृश गम्भीर बन, त्याग की झंकार बन, इस छोटे से शरीर-चषक में समस्त संसार को डुबा डाल—समस्त संसार की अन्तर्व्याप्ति एकता का दर्शन कर—ऐसा छोटा बन कि मुग्ध सुमन लज्जित हो उठें। यह देश एक मायावी ताना-बाना है, इंद्रजाल है, जादू की पिटारी है। यहाँ मानव-मानव के सम्बन्ध क्षणिक हैं, उनका संग क्षणिक है। इस विश्व के कंटकों में मनोरम पुष्पों का रंग मिलता है, इसके समस्त दृश्यमान रूप मिथ्या एवं भ्रमोत्पादक हैं[1]।

किन्तु यह सब जानकर भी अज्ञानी जीव इसे समझता नहीं, इसके मायावी पाश से मुक्त होने का प्रयत्न नहीं करता, अज्ञान-निद्रा में सतत सोता रहता है—जागने की आवश्यकता नहीं समझता; कवि इस तथ्य से परिचित है। वह जानता है कि मनुष्य भगवद्-कृपा के बिना वास्तविकता को समझ नहीं सकता, जागृतावस्था में आ नहीं सकता। अतः वह उसे भगवान् की कृपा का पात्र बनाकर, सांसारिक सुखों के भ्रम-जाल से मुक्त करने के लिये, अनेक प्रकार से जगाने का प्रयत्न करता है; विभिन्न प्रकार से समझाता-बुझाता है[2]।

कवि शुष्क पुष्प को देखकर मानव को संसार की क्षणभंगुरता का ज्ञान कराता है, समझाता है कि इस क्षणभंगुर रूप-यौवन और ऐश्वर्य का गर्व न कर। पुष्प के सूख जाने पर जिस प्रकार गंध एवं रूप का अस्तित्व नहीं रहता, उसी प्रकार

---

१. छलकती जाती है दिन-रैन लबालब तेरी प्याली मीत,
ज्योति होती जाती है क्षीण मौन होता जाता संगीत;
करो नयनों का उन्मीलन क्षणिक है मतवाले जीवन !
+ +
सखे ! यह है माया का देश क्षणिक है मेरा तेरा संग,
यहाँ मिलता काँटों में बन्धु ! सजीला सा फूलों का रंग।
—महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० १८।

२. जागु पियारी, अब का सोवै।
रैन गई दिन काहे खोवै ॥ —कबीर, कबीर-ग्रंथावली, पृ० १७१।
तथा—
जागु जागु जीव जड़, जो है जग-जामिनी। देह-गेह-नेह जानि जैसे घन-दामिनी।
× × ×
तुलसी जागे ते जाइ ताप तिहूँ ताय रे, राम-नाम सुचि-रुचि सहज सुभाय रे।
—तुलसी, विनय पत्रिका, पद ७३।

एवं—
उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
—कठोपनिषद्, अध्याय एक, वल्ली ३; मन्त्र १४।

तेरे रूप-यौवन तथा धन-सम्पत्ति का वैभव नष्ट हो जाने पर तेरा गर्व नहीं रह सकता[1]।

इस क्षणभंगुर जीवन में जब एक पल के मिलन के लिये, एक क्षण के खिलने के लिये, अनन्त वियोग का झेलना और सूखकर धूल में मिलना निश्चित है तब पुष्प के इस चटकीले-भड़कीले रंग की आवश्यकता क्या ? हे भोले मनुष्य ! इस रूप-यौवन, ऐश्वर्य-गर्व और बाह्याडम्बर की अपेक्षा क्या ? सांसारिक सुख-विलास के उपकरणों का प्रयोजन क्या ?

(ख) *जीवन की शाश्वतता*—किन्तु उक्त दृष्टि-विंदु का विरोधी मानव-समुदाय जीवन को क्षणभंगुर नहीं, शाश्वत घोषित करता है। उसका कथन है कि पुष्प नित्य खिलते हैं; भ्रमर नित्य गुंजार करते हैं; दिवा-रात्रि, सुख-दुःख का चक्र सदैव चलता रहता है। संसार में ह्रास और अन्त कहीं नहीं; क्योंकि जहाँ पतझड़ है वहीं वसन्त है; जहाँ मृत्यु है वहीं जीवन है, जन्म है; नाश केवल एक परिहास है[3]। आत्मा शाश्वत एवं अजर-अमर है, वह न कभी जन्म लेती है और न कभी मृत्यु को प्राप्त होती है[4]। जन्म आत्मा का केवल वस्त्र-परिवर्तन है, एक को त्याग कर दूसरे को धारण करना है। यदि मृत्यु की रात मानव-नेत्रों को बंद कर देती है, तो नूतन जीवन की उषा उन्हें पुनः खोल देती है। शिशिर की प्रलयंकारी वायु नूतन वसन्त का अज्ञात बीज-वपन कर जाती है[5]।

१. सूखि गयो जब कुसुम कहाँ फिर गंध रूप तब ?
—रामचन्द्र शुक्ल, बुद्धचरित, चतुर्थ सर्ग, पृ० ६३।

२. जब पल भर का है मिलन,
फिर चिर वियोग में झिलना,
एक ही प्रात है खिलना,
तुम क्यों चटकीला सुमन-रंग।—जयशंकर प्रसाद, अशोक की चिंता, लहर, पृ०५६

३. सुमन खिलते हैं नित्य अनन्त, भ्रमर करते हैं ध्वनित दिगन्त।
कहाँ है ह्रास कहाँ है अन्त, जहाँ पतझड़ है वहीं वसन्त।
नाश तो केवल है परिहास, चिरन्तन है ध्रुव विश्व-विकास।
—गोपालशरण सिंह, विकास, कादम्बिनी, पृ० ७४।

४. न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन् बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
—कठोपनिषद, अध्याय १, वल्ली २, मन्त्र १८।

५. मूँदती नयन मृत्यु की रात खोलती नव जीवन की प्रात।
शिशिर की सर्व प्रलय कर बात बीज बोती अज्ञात।
—पंत, परिवर्तन, पल्लव, पृ० १०५-१०६।

जल सूर्य-किरणों से शोषित होकर वाष्प-रूप धारण करता है, किन्तु पुनः मेघ-पुंज-रूप में भूमण्डल का संताप निवारित करता है, पुनः जल-रूप प्राप्त करता है। अंधकार रात्रि का मलिन वस्त्र, दुःख जीवन-वृक्ष का पुष्प, अवनति उन्नति का मूल और ह्रास दो दिन का अवकाश है[1]।

संसार में सुख-दुख दोनों ही महत्वपूर्ण हैं, दोनों ही चिर-सखा हैं[2]। दोनों ही चंचल तरंग के दो छोर हैं। एक के बिना दूसरे का कोई अस्तित्व नहीं। दुःख के अभाव में सुख का अनुभव सुखद नहीं, बिना अश्रुओं के जीवन में आकर्षण नहीं[3]। आज का दुःख कल का आह्लाद और कल का सुख आज का विषाद है[4]। सुख-दुःख दोनों का ही चक्र सतत चलता रहता है। सांसारिक जीवन का अर्थ केवल गतिशीलता है और कुछ नहीं। विश्व में यह गतिशीलता सदैव पाई जाती है और यही उसकी शाश्वतता है।

(ग) *भक्ति*—जीवन के उक्त दोनों विरोधी दृष्टिकोण संसार में यद्यपि बहुधा पाये जाते हैं, तथापि प्राधान्य प्रायः प्रथम दृष्टि-विन्दु का ही देखा जाता है। मृत्यु और विनाश जीवन की भीषण समस्याएँ हैं, उन्हें देखकर धैर्यवान् से धैर्यवान् व्यक्ति भी विचलित हो उठता है। प्रवंचिका माया संसार को प्रवंचित करती रहती है। उसने समग्र सृष्टि को ही अपने पाश में बाँध रक्खा है। अपनी मधुर वाणी से वह न जाने कितने व्यक्तियों को प्रवंचित करके उनका नाश कर डालती है[5]। उसके प्रमुख रूप कंचन और कामिनी संसार के सत्पथ के बाधक हैं। मानव को चाहिये कि वह अपने तथा अपने स्वामी (ईश्वर) के बीच के व्यवधान माया को नष्ट करके भगवान के चरणों में अपनी भक्ति दृढ़ करके उसे प्राप्त करे। माया तथा उससे उत्पन्न भ्रम का

---

१. तिमिर है निशि का मलिन दुकूल दुःख हैं जीवन-तरु के फूल
विफलता है अपनी ही भूल अधोगति है उन्नति का मूल।
ह्रास है दो दिन का अवकाश, चिरन्तन है ध्रुव विश्व-विकास।
—गोपालशरणसिंह, विकास, कादम्बिनी, पृ० ७६।

२. लिपटे सोते थे मन में सुख-दुख दोनों ही ऐसे
चन्द्रिका अन्धेरी मिलतीं मालती-कुंज में जैसे। —प्रसाद, आँसू, पृ० ४८।

३. बिना दुःख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार। —पंत, परिवर्तन, पल्लव, पृ० १०८।

४. आज का दुःख कल का आह्लाद,
और कल का सुख आज विषाद। —पंत, परिवर्तन, पल्लव, पृ० १०८।

५. माया महा ठगिनि हम जानी। तिरगुन फाँस लिये कर डोलै बोलै मधुरी बानी।
—कबीर, काव्य-कुसुम, वर्मा, पृ० २६।

तथा—
कबीर, कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ३४।

आवरण जब तक उसकी दृष्टि के सामने से नहीं हटता, तब तक वह परमात्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ममता, शोक, चिन्ता आदि माया के, क्रूर सैनिकों के अत्याचार से पादाक्रान्त जीवों की रक्षा तभी हो सकती है, जब वे माया के स्वामी, उसके शासक मायापति भगवान के चरणों में नत होकर उसकी शरण ग्रहण करें, उनसे उनके अत्याचार से रक्षा करने की प्रार्थना कर अनन्त काल के लिये उनके अनुचर बन जाएँ। बिना उनकी शरण के मनुष्य का दुख-मोचन सम्भव नहीं, क्योंकि दुष्टा माया उनके अतिरिक्त किसी के भी वश में नहीं। जब वह ब्रह्मा और शिव तक को अपने वश में कर लेती हैं तो फिर बेचारे जीव की हस्ती ही क्या[1]।

माया सांसारिक मनुष्यों को आकृष्ट करके उसी प्रकार नष्ट कर डालती है, जिस प्रकार दीपक शलभ-समूह को[2]। कामिनी रूपिणी माया संसार के बाजार में वैश्या-रूप से मानव को वासना आदि की कुमति-श्रृंखला में बाँध लेती है। जल-रूपिणी माया भक्त को भी डुबा कर सांसारिक सम्मान की आकांक्षा से उद्वेलित कर के नष्ट कर डालती है। माया के प्रबलतम रूप कनक और कामिनी मानव के आध्यात्मिक एवं भक्ति-मार्ग की सबसे बड़ी बाधाएँ हैं[3]।

मानव-शरीर बड़े भाग्य से मिलता है। इस देव-दुर्लभ, साधना के धाम तथा मोक्ष के द्वार मानव-शरीर को प्राप्त करके, जिस व्यक्ति ने अपना परलोक नहीं बनाया, उसे सदैव पछताना पड़ेगा, सिर धुन-धुन कर रोना पड़ेगा[4]।

मानव अपने परलोक को तभी सँवार सकता है, माया के पाश से तभी मुक्त हो सकता है जब कि वह सांसारिक सुख-लिप्साओं से विमुख होकर, उन्हें तिलांजलि देकर, परमात्मा के चरणों में अपना दृढ़ अनुराग स्थापित करे। मनुष्य को चाहिये कि वह अपने शरीर को परमात्मा की भक्ति एवं प्रेम का क्रीड़ा-स्थल बनाए, उसकी अनन्य भक्ति द्वारा अपने आटे की लोई के समान व्यर्थ शरीर को स्वर्ग के समान

---

१. सिव विरंचि कहुँ मोहइ को है बपुरा आन।
अस जिय जानि भजहिं मुनि माया पति भगवान॥
—तुलसी, रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ६२७।

२. कबीर, कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ३।

३. कबीर, कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ४०।

४. बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक संवारा।
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि-धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ।
—तुलसी, रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ६११।

बहुमूल्य रूप प्रदान करे[1], शरीर रूपी धनुष से मन रूपी मृग को मार कर परमात्मा में अपना ध्यान केन्द्रित करे, माया की बाधक शक्तियों के निराकरण के लिये सद्गुरु की कृपा के लिये उससे अभ्यर्थना करे, माया के मिथ्या-भ्रम से मुक्त होकर विशुद्ध मन से परमात्मा से प्रेममय भक्ति करके उसे प्राप्त करने के लिये दृढ़ चित्त से प्रयत्नशील हो।

ब्रह्म के दो रूप हैं—निर्गुण और सगुण। मानव दोनों में से किसी की भी भक्ति कर सकता है; सगुण ब्रह्म की भक्ति अथवा निर्गुण, निराकार ब्रह्म की उपासना, भक्ति अथवा उससे प्रेम कर सकता है। किंतु निर्गुण ब्रह्म का यशगान अथवा स्वरूप-निर्देश करना मानव के लिये सरल नहीं। उसकी अनुभूति का आनंद गूँगे के स्वाद के समान है, जिसकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं। वह यद्यपि अनन्त स्वाद वाली अनन्त तोष उत्पन्न करनेवाली है, तथापि सामान्य मानव-वाणी और मन के लिए अगम्य है[2]। इसके विपरीत सगुण ब्रह्म की भाँति निर्गुण ब्रह्म के समान ही परमानन्ददायिनी तथा भौतिक एवं पारमार्थिक दोनों ही दृष्टियों में कल्याणकारिणी है, मोक्ष-विधायिका है; क्योंकि निर्गुण और सगुण ब्रह्म में कोई विशेष भेद नहीं—अलक्ष्य, अरूप, अजन्मा तथा निर्गुण-निराकार ब्रह्म ही भक्त के प्रेम के वशीभूत होकर सगुण रूप धारण करता है[3]।

अतः जहाँ एक ओर निर्गुण ब्रह्म की भक्ति महत्वपूर्ण है, वहाँ दूसरी ओर सगुण ब्रह्म की। जहाँ एक ओर कबीर, जायसी आदि निर्गुण भक्त कवियों के उपदेश कल्याणकारी हैं, वहाँ दूसरी ओर सूर, तुलसी, केशव आदि कवियों के उपदेश भी। जहाँ निर्गुण ब्रह्म के प्रेमी भक्त प्रेम को भगवत्-प्राप्ति का प्रमुख साधन मानकर संसार से विरक्त होकर सद्गुरु से भगवत्-प्रेम का उपदेश ग्रहण कर उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होते हैं, वहाँ दूसरी ओर सगुण ब्रह्म के प्रेमी भक्त राम और कृष्ण के चरणों में अपने प्रेम को दृढ़ करके संसार से विमुख हो जाते हैं। जहाँ निर्गुण ब्रह्म के प्रेमी भक्त प्रेम रूपी क्षीर-समुद्र को पार कर जीव-संज्ञा को त्याग कर विशुद्ध ज्ञान-स्वरूप हो जाते हैं[4], वहाँ सगुण ब्रह्म के भक्त भी भगवान के

१. हँसी आटा लूंण ज्यूं, सोना सवां सरीर।
—कबीर, कबीर-ग्रंथावली, पृ० २५।

२. महात्मा सूरदास, सूरसागर, विनय, पद २।

३. सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।
—तुलसी, रामचरिमानस, बालकाण्ड, पृ० १३३।

४. जो एहि खीर-समुद महँ परे। जीव गँवाइ, हंस होइ तरे।
—जायसी, पदमावत, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ६०।

अनुग्रह को प्राप्त कर सालोक्य, सामीप्य, सान्निध्य और सामुज्य मुक्ति प्राप्त करते हैं[१]।

राम और कृष्ण दोनों ही उसी सच्चिदानन्द ब्रह्म के अवतार हैं, जो अजन्मा, विज्ञान-स्वरूप, सर्वव्यापक, सर्वव्याप्य, अखण्ड, अनन्त, सम्पूर्ण अमोघ शक्ति वाला, निर्गुण, सर्वद्रष्टा, अज्ञेय, अविकृत एवं अविनाशी है। सरस्वती, शेषनाग, शिव, ब्रह्मा, शास्त्र, वेद और पुराण 'नेति-नेति' कहकर उनका सतत गुण-गान करते हैं। निस्पृह, अरूप, अनाम, अजन्मा, सच्चिदानन्द एवं विश्वरूप उन्हीं भगवान् ने दिव्य शरीर धारण करके विभिन्न प्रकार की लीलाएँ की हैं। भक्तों के लिये मानव-रूप धारण करने वाले भगवान परम कृपालु, शरणागतवत्सल, भक्तों पर ममता करने वाले, दीनबन्धु सरल स्वभाव एवं सर्वशक्तिमान हैं[२]।

निर्गुण ब्रह्म के सगुण रूप भगवान राम और कृष्ण भक्तों के वश में हैं। उनकी भक्ति की महिमा अपरम्पार है। उनका नाम वह संजीवनी बूटी है, जिस से समस्त क्लेश क्षणमात्र में नष्ट हो जाते हैं[३]। मनुष्य को चाहिए कि ऐसे परम कृपालु भगवान को अपने हृदय-सिंहासन पर अधिष्ठित करके उनका शाश्वत सान्निध्य प्राप्त करें; क्योंकि भगवान् से दूर रहने वाले जीव पर माया अपना आतंक जमाती है, जादू चलाती है, कामिनी के चंचल कटाक्षों की सम्मोहनी-शक्ति से मुग्धकर कनकाभा से चकाचौंध करके पथ-भ्रष्ट कर देती है; जब कि भगवान् को भक्त के मन में जानकर वही माया मध्याह्न की छाया के समान उसके चरणों के नीचे आ जाती है और उसकी सेविका बनकर उसके आदेशानुसार कार्य करती है[४]।

जीव के लिए भक्ति आवश्यक है और भक्ति के लिए विश्वास; क्योंकि बिना विश्वास के भक्ति नहीं होती, भक्ति के बिना भगवान् द्रवीभूत नहीं होते और भगवान् की कृपा के बिना जीव स्वप्न में भी शांति नहीं पाता—

बिनु बिस्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ, जीवन न लह बिश्रामु[५]।

भक्ति भगवान् को सर्वाधिक प्रिय है। उससे वे तुरन्त द्रवीभूत होते हैं। भक्ति सुन्दर चिन्तामणि है और जिसके हृदय में निवास करती है, वह दिवा-रात्रि

१. जाइ समाइ सूर वा निधि में, बहुरि न आइ जगत् में नाचै।
—सूर, सूरसागर, विनय, पद ८१, पृ० ४३।

२. तुलसी, रामचरितमानस, बालकान्ड, पृ० ४५।

३. राम नाम सुमिरत मिटहिं तुलसी कठिन कलेस। —तुलसी, दोहावली, दो० १७

४. राम दूरि माया बढ़ति, घटति जानि मन माँह।
भूरि होति रवि दूरि लखि, सिर पर पगतर छाँह।
—तुलसी, दोहावली, दो० ६९।

५. तुलसी, रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ६५१।

परम प्रकाश-रूप रहता है। दीपक, घृत और वर्तिका की उसे आवश्यकता नहीं; मोह रूपी दरिद्रता उसके पास फटकती नहीं; लोभ रूपी वायु उसे बुझा नहीं सकती; अविद्या का प्रबल अंधकार उसके प्रकाश से तुरंत नष्ट हो जाता है; मदादि शलभों का सारा समूह हार जाता है; काम, क्रोध, लोभ आदि दुष्ट उसके पास जाने से डरते हैं; विष उसके लिये अमृत के समान और शत्रु मित्र के समान हो जाता है[१]।

सांसारिक दुःखों से निवृत्ति का साधन यद्यपि ज्ञान भी है और वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं; क्योंकि ज्ञान से भी जीव त्रितापों से मुक्त होकर भगवान् को उसी प्रकार प्राप्त करता है, जिस प्रकार भक्ति के माध्यम से; तथापि ज्ञान और भक्ति में लक्ष्य-प्राप्ति की दृष्टि से विशेष अन्तर न होने पर भी साधना की दृष्टि से अत्यधिक अन्तर है। ज्ञान कहने में कठिन, समझने में कठिन और साधने में भी कठिन है। किन्तु यदि घुणाक्षर न्याय से (संयोगवश) उसकी प्राप्ति हो भी जाती है, तो फिर उसे सुरक्षित रखने में भी अनेक विघ्न हैं। ज्ञान का मार्ग कृपाण की धार के सदृश है और उस पर से गिरते देर नहीं लगती। जो इस मार्ग पर निर्विघ्न चल सकने में समर्थ होता है, अन्त तक उस पर चला जाता है, वही कैवल्य रूप परमपद को प्राप्त करता है। किंतु वेद, पुराण, शास्त्र और सन्त सब यही कहते हैं कि वही कैवल्य रूप परमपद, जो ज्ञानी के लिये अत्यन्त दुर्लभ है, भगवान् की भक्ति से बरबस ही प्राप्त हो जाता है। पुनः जैसे स्थल के बिना जल नहीं रह सकता, चाहे कोई करोड़ों उपाय ही क्यों न करे, वैसे ही मोक्ष-सुख भी भगवान् की भक्ति को छोड़कर अन्यत्र नहीं रह सकता। अतः विवेकशील हरिभक्त भक्ति पर मुग्ध होकर मुक्ति का भी तिरस्कार करते हैं[२]। इसके अतिरिक्त ज्ञान और भक्ति में एक और अन्तर है। ज्ञान तथा उससे सम्बंधित वैराग्य, योग्य और विज्ञान सभी पुरुष हैं। पुरुष का प्रताप प्रत्येक प्रकार से प्रबल होता है। अबला माया उसके समक्ष ठहर नहीं सकती, क्योंकि वह स्वभावतः ही निर्बल एवं मूर्खा होती है। किन्तु ज्ञान रूपी पुरुष का यह प्रताप धैर्यवान ज्ञानी पुरुषों के लिए ही है। सामान्य मनुष्य तो माया-मृगनयनी के चन्द्रमुख को देखकर उसके वशीभूत हो अपने ज्ञान-वैराग्यादि को भूल जाता है[३]। पुनः पुरुष ज्ञान चंचला माया के भ्रू-विलासादि से अप्रभावित भी नहीं रह पाता। भक्ति और माया दोनों ही नारी हैं। एक नारी दूसरी नारी को जिस प्रकार मुग्ध नहीं कर सकती, उसी प्रकार माया भी भक्ति को अपने इन्द्रजाल में फँसा नहीं सकती[४]।

१. तुलसी, रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ६८७।
२. तुलसी, रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ६८६।
३. तुलसी, रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ६८१।
४. मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा।
—तुलसी, रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ६८१।

भक्ति-सुन्दरी को पाकर भक्त माया-कामिनी के पाश से बचा रहता है। किन्तु पुरुष ज्ञान को पाकर ज्ञानी चंचला माया के अनर्थों का लक्ष्य हो जाता है। ज्ञान और उसका साथी ज्ञानी दोनों ही पुरुष होते हैं। अतः उनका दुष्टा माया के चंचल कटाक्षपात तथा सौन्दर्य-पाश से प्रभावित रह सकना सम्भव नहीं होता। वे उसकी विनाशकारी प्रवृत्तियों के लक्ष्य होकर मार्ग भ्रष्ट हो कहीं के नहीं रहते। अतः विवेकशील मनुष्य भक्ति को सुगम तथा कल्याणकारिणी समझकर उसी को अपनाते हैं और जो मूर्ख ऐसी परमानन्ददायिनी भक्ति को त्यागकर ज्ञान के लिए श्रम करते हैं, वे कामधेनु को त्यागकर दुग्ध के लिए मदार को खोजते फिरने वाले व्यक्ति के समान अविवेकी हैं—

जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं।
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी[१]।

भक्ति की इसी महत्ता के कारण भक्त कवि तुलसीदास भक्ति-विमुख व्यक्तियों की भर्त्सना करते हुए कहते हैं—'वह हृदय जो हरि-गुण-श्रवण से द्रवीभूत नहीं होता, हृदय नहीं, पत्थर है; वह जिह्वा जो राम का गुण-गान नहीं करती, मेढक की जिह्वा के समान है[२]; मित्र, सम्बन्धी तथा मान्य व्यक्ति तभी तक मान्य एवं पूज्य समझे जाने चाहिएँ, जब तक कि उनसे राम के साथ अपने सम्बन्ध-निर्वाह में योग मिलता हो[३]। जिस व्यक्ति के कारण श्री रामचन्द्र जी के चरणों में प्रेम हो, वही सर्वाधिक हितैषी, पूज्य तथा प्राणों से भी प्रिय है[४]; यही भक्त-हृदय-मानव के जीवन का प्रमुख सिद्धान्त होना चाहिये। इसी में उसका भौतिक कल्याण है और इसी में पारमार्थिक।

भक्ति के कई रूप हैं। भागवत तथा उसका अनुगमन करने वाले सूर आदि कृष्ण-भक्त कवियों की नवधा-भक्ति तुलसी आदि राम-भक्त कवियों की नवधा-भक्ति से कुछ भिन्न है। कृष्ण-भक्त कवियों के अनुसार भगवान् के गुणों का श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण; उनका नाद-सेवन, अर्चन एवं वन्दन तथा सख्य, दास्य एवं आत्म-निवेदन भाव से उनकी भक्ति करना नवधा-भक्ति के अंग हैं और तुलसी के

---

१. तुलसी, रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ६८०।

२. तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० १३१।

३. तुलसी, विनय-पत्रिका, पद १७४।

४. जाके प्रिय न राम-वैदेही।
सो छाँड़िये कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।

× × ×

तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासों होय सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो।

—तुलसी, विनय-पत्रिका, पद १७४।

अनुसार सन्तों का सत्संग ; भगवत् कथा से प्रेम ; गुरु के चरण-कमलों की सेवा ; निष्कपट भाव से भगवान के गुणों का गान, राम-नाम के मन्त्र का जाप तथा भगवान में दृढ़ विश्वास; इन्द्रियों का निग्रह, शील, वैराग्य एवं धर्माचरण; संसार को सम-भाव से राममय देखना तथा संतों को राम से भी अधिक मानना, जो कुछ भी मिल जाय उसी में सन्तुष्ट रहना तथा परदोषावलोकन की प्रवृत्ति का परित्याग और सरलता तथा निष्कपटता के साथ सबके प्रति वर्ताव करना, हृदय में परमात्मा का भरोसा रखना तथा किसी भी अवस्था में हर्ष या विषाद का न होना नवधा-भक्ति के लक्षण हैं। मानव में इनमें से एक का भी अस्तित्व उसे भगवान के लिये अत्यधिक प्रिय बना देता है—

नव महुँ एकउ जिन्ह के होई। नारि पुरुष सचराचर कोई।
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें[१]।

तात्पर्य यह कि संसार में केवल परमार्थ-चिन्तन ही सार है। राम, कृष्ण आदि ब्रह्म के निर्गुण-सगुण रूपों की भक्ति ही वह संजीवनी बूटी है, जो मानव-दुःख-द्वन्द्वों का नाश करके उसका कल्याण कर सकती है। हिन्दी के न जाने कितने कवियों ने विश्व-मांगल्य के लिये अपनी आत्मा का यही अमर संदेश दिया है। कृष्ण-प्रेम में मतवाली मीरा[२], समाज की बुराइयों पर कठोरतम प्रहार करनेवाले अक्खड़ कबीर[३], अष्टछाप-शिरोमणि महात्मा सूरदास, मानस-महोदधि के मुक्ताओं के अन्वेषक-स्रष्टा तुलसी, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य-विधाता रहीम[४], रसिक हृदयहारी बिहारी[५], नायिका-भेद रूपी द्रौपदी के चीर के विस्तारक देव[६], श्लेष-सर्वस्व सेनापति[७] आदि न जाने कितने कवियों ने संसार में अपनी आत्मा के इसी अमर संदेश का शंख फूँका है।

१. तुलसी, रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, पृ० ६४०-६४१।
२. मन रे परसि हरि के चरण। —मीरा, मीरा-मंदाकिनी, पृ० २।
३. कहि कबीर भजु सारँगपानी। —कबीर, कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २६६।
४. मानुष तन अति दुर्लभ, सहजहि पाय।
हरि भजि कर सत संगति, कह्यो जताय। —रहीम, रहीम-रत्नावली, पृ० ६७।
५. तजि तीरथ हरि-राधिका-तन-दुति करि अनुरागु।
जिहिं ब्रज-केलि-निकुंज-मग, पग-पग होत प्रयागु।
—बिहारी, बिहारी-रत्नाकर, दो० २०१।
६. भारो प्रेम-पाथर नगारो दै गरे ते बाँधि,
राधाबर-बिरद के बारिधि में बोरतो। देव, देव-सुधा, छन्द १८, पृ० २५।
७. अब तू जरा मैं पर्यो मोह पींजरा मैं,
'सेनापति' भजु रामै जो हरैया दुःख पीर कौं।
—सेनापति, कवित्त-रत्नाकर, पाँचवीं तरंग, छन्द १२।

भक्ति के क्षेत्र में किसी भी प्रकार के विरोध को कोई स्थान नहीं। भक्त को न ज्ञान का विरोधी होना चाहिये, न अन्य देवताओं की पूजा-अर्चना अथवा भक्ति का। शैव, शाक्त, वैष्णव (राम एवं कृष्ण भक्त) किसी में कोई विरोध नहीं होना चाहिये। भगवान् के निर्गुण और सगुण रूपों में भी कोई भेद नहीं, ज्ञान और भक्ति में भी कोई विरोध नहीं। तीर्थाटन एवं देवार्चन, राम, कृष्ण एवं शिव-भक्ति, गंगा, यमुना, सूर्य, चन्द्र, देवी, हनुमान, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, प्रयाग, काशी, त्रिवेणी तथा अयोध्या सभी समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं, एक ही पूर्ण शरीर के विभिन्न अंग हैं। राम और कृष्ण में कोई अन्तर नहीं। शिव और राम की भक्ति में कोई वैभिन्य नहीं। राम-भक्ति-विरोधी व्यक्ति शिव को प्रसन्न नहीं कर सकता। शिव स्वयं भी राम के भक्त हैं[1]; केवल स्वयं ही नहीं, दूसरों को भी राम-भक्ति की प्रेरणा एवं उपदेश देते हैं। रामचरित मानस के स्रष्टा वही हैं—'रचि महेस निज मानस राखा' तथा 'ताते रामचरितमानस बर'। पार्वती जी से उनका कथन है—

अस निज हृदय बिचारि तजु संसय भजु राम पद।
सुनु गिरिराज कुमारि भ्रम-तम रवि कर बचन मम[2]।

किन्तु केवल शिव ही राम के भक्त हों, ऐसी बात नहीं; राम स्वयं भी शिव के अनन्य भक्त हैं। वे स्वयं रामेश्वरम् में शिव-मूर्ति की स्थापना करते हैं, उनकी पूजा करते हैं और संसार को उनकी मंगलकारिणी भक्ति का उपदेश देते हैं[3], खोटे वचन कह कर शाप देने वाले नारद को उनकी पाप-मुक्ति का एकमात्र उपाय शंकर का नाम स्मरण बताते हैं। शंकर के समान उन्हें दूसरा कोई प्रिय नहीं। शिव की कृपा के बिना मानव को उनकी भक्ति प्राप्त नहीं होती[4] और वे मनुष्य जो शिव के द्रोही और राम के भक्त होते हैं अथवा राम के द्रोही और शिव के भक्त होते हैं, कल्पों तक भयंकर नरक में निवास करते हैं[5]। इसी प्रकार

---

१. जपहिं सदा रघुनायक नामा।
   जहँ तहँ सुनहिं राम गुन ग्रामा।
   —तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० ६६।

२. तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड, दो० ११५, पृ० १३३।

३. जे रामेश्वर दरसन करिहहिं। ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं।
   —तुलसी, रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, पृ० ७४२।

४. औरउ एक गुपुत मत सबहिं कहउँ कर जोरि।
   संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि।
   —तुलसी, रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ६१३।

५. संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।
   ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास।
   —तुलसी, रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, दो० २, पृ० ७४२।

शक्ति, गंगा, सूर्य, हनुमान आदि देवी-देवताओं की भक्ति तथा काशी, अयोध्या, प्रयाग आदि तीर्थों की महिमा का गान आदि भी भगवान् की ही भक्ति के विभिन्न अंग हैं।

(घ) धार्मिक आदर्श—धर्म वस्तुतः समष्टि की स्थिति, रक्षा, कल्याण एवं उत्थान का प्रमुख साधन है। अतः वे सभी प्रसाधन अथवा गुण, जिनसे समाज अथवा विश्व की स्थिति, रक्षा और कल्याण में योग मिलता है, धर्म के विभिन्न अवयव हैं। विश्व-मंगल के लिये अपेक्षित धर्म के विभिन्न अंगों की महत्ता के कारण ही कवि संसार को उनका उपदेश देकर कल्याणोन्मुख करता है; कल्याण-पथ पर आरूढ़ करके गतिशील करता है; प्रत्येक सम्भव प्रकार से उसका पथ-प्रदर्शन करता है; तप, त्याग, करुणा, परोपकार, समता, सहिष्णुता, क्षमा, अनन्यता, अहिंसा, विश्व-प्रेम, सन्तोष, सत्संग, विश्वास, कर्मण्यता, दृढ़ता, वीरता, मित्रवत्सलता, विनम्रता, न्याय, प्रसन्नता, कृतज्ञता, आत्म-निर्भरता, शरणागतवत्सलता, विचारशीलता, कर्तव्यपरायणता, दूरदर्शिता आदि गुणों की महत्ता प्रदर्शित करके उसकी जीवन-यात्रा के लिये पाथेय प्रदान करता है।

(ङ) तप—तप का प्रभाव अमोघ है। सिद्ध तपस्वी के लिये संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं। मानव तप के बल से संसार में सब कुछ कर सकता है; सृष्टि-रचना, उसका पालन और संहार जैसे महान् कार्य भी तपोबल से किये जा सकते हैं—

जनि आचरजु करहु मन माहीं। सुत तप तें दुर्लभ कछु नाहीं।
तपबल ते जग सृजइ बिधाता। तपबल बिष्नु भए परित्राता।
तपबल संभु करहिं संघारा। तप तें अगम न कछु संसारा[१]।

(च) त्याग एवं बलिदान—त्याग एवं बलिदान जीवन के चरम सौन्दर्य हैं। विश्व-मांगल्य में इन गुणों का जितना योग है, उतना कदाचित् अन्य किसी गुण का नहीं। त्याग मानव को संसार-समुद्र से पार ले जाने वाला कर्णधार है। उसके इस महत्व से परिचित मनुष्य त्याग-पथ पर चल कर अपने जीवन को सार्थक कर लेता है, उसके आश्रयण से भव-सागर में डूबने से बच जाता है[२]। शलभ, दीप, बीज, पुष्प, सुगन्ध, समीर आदि त्यागमय जीवन के आदर्श हैं। अतः कवि उनके विभिन्न प्रकार के योग द्वारा मानव को त्याग की महत्ता का उपदेश देता है। आत्म-त्याग विश्व के लिये आवश्यक है; आवश्यक ही नहीं, परमावश्यक है—

बस आत्म-त्याग जीवन विनिमय, इस संधि जगत में है सुखप्रद[३]।

१. तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० १६६।
२. विसर्जन ही है कर्णाधार,
वही पहुँचा देगा उस पार —महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० १३।
३. पंत, कुसुम के प्रति, युगवाणी, पृ० ८३।

बलिदान की महत्ता अपरिमेय है—

महत् है अरे, आत्म बलिदान, जगत केवल आदान-प्रदान[1]।

पतझड़ बसन्त के लिये अनिवार्य है[2]। राष्ट्र-रक्षा, स्वतन्त्रता और राष्ट्र-कल्याण के लिये बलिदान परम अपेक्षित है[3]।

(छ) *करुणा*—करुणा प्राणिमात्र में सम दृष्टि रखने वाली, गोधूली के राग-पट्ट पर अपनी स्नेह-पताका फहराने वाली, प्रेम-रस में पगी अरुणाभ उषा के शुभ्र गगन-मण्डल में मधुमय हास्य-विलास का प्रदर्शन करने वाली, मुग्ध-मधुर शिशु के मुख-मण्डल को चन्द्रकान्ति से देदीप्यमान करने वाली, जड़ नक्षत्र-समूह के कठोरतम हृदय को द्रवीभूत कर हिम-विन्दुओं को भर लाने वाली, बर्बर मानव तथा निर्दय पशु-जगत् को प्रेम-प्लावित कर विश्व-मंगलोन्मुख करने वाली तथा मानव-महत्ता का विश्व में अद्भुत प्रसार करने वाली परम कमनीय दिव्य शक्ति है[4]। उसके अभाव में समाज का कल्याण सम्भव नहीं, उसकी रक्षा अथवा स्थिति ही सम्भव नहीं। उसकी महत्ता से परिचित कवि उसके अभाव में मानव-समाज की भर्त्सना करता हुआ उसे करुणोन्मुख करने का प्रयत्न करता है[5]।

मानव वरेण्य वही है, जो निर्धनों एवं दीन-दुखियों पर दया करता है, उनका दुःख देखते ही द्रवीभूत हो उसे दूर करने का प्रयत्न करता है—'जे गरीब पर हित करैं, ते 'रहीम' बड़ लोग[6]'। संसार में वस्तुतः करुणावान् व्यक्ति, बिना इस बात की चिन्ता के कि दुःखी व्यक्ति उसका परिचित है अथवा अपरिचित, मित्र है अथवा

---

१. पंत, परिवर्तन, पल्लव, पृ० १०६।

२. पंत, पतझर, युगवाणी, पृ० १२।

३. अपना देश वही देखेगा—
जो अशेष बलिदान करे।
\+ \+ \+
शिर देकर सौदा लेते हैं
जिन्हें प्रेम का रंग चढ़ा। —दिनकर, शब्द-वेध, हुन्कार, पृ० ३५।

४. प्रसाद, अजातशत्रु, पृ० ३०।

५. रोजा तुरुक नमाज गुजारे, बिस्मिल बाँग पुकारैं।
उनको भिस्त कहाँ ते होइहै साँझै मुरगी मारैं।
हिन्दू दया मेहर को तुरकन दोनो घट सों त्यागी।
वे हलाल वे झटका मारैं आगि दुनों घर लागी।
—कबीर, वर्मा, काव्य-कुसुम, पृ० २५।

६. रहीम, नव-सतसई-सार, भटनागर, पृ० ३१।

शत्रु, उसके दुःख को दूर करने के लिये तन-मन धन से प्रयत्न करता है[१]। कवि के अनुसार ऐसा मनुष्य महान् ही नहीं, दीनबन्धु परमात्मा के समान हो जाता है[२]। मानव-सौजन्य का आदर्श उसकी यही करुणा है, उसकी यही द्रवणशीलता है[३]।

(ज) *परोपकार*—मानव-हृदय का हार परोपकार समस्त वेदों एवं पुराणों का सार है। परोपकार के समान दूसरा कोई धर्म नहीं और पर-पीड़न के समान दूसरा कोई पाप, नीचता अथवा अधर्म नहीं—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर[४]।

परोपकारी मनुष्य के लिये संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं और दूसरों से द्रोह रखने वाले, पर-पत्नी, पर-धन और पर-निन्दा आदि में आसक्त रहने वाले, नीच पापिष्ठ प्राणियों के लिये कुछ भी सुलभ नहीं। ऐसे दुष्ट प्राणियों के, जो दूसरों की कीर्ति को नष्ट करके अपनी कीर्ति चाहते हैं, मुख में ऐसी कालिख लगती है, जो किसी भी प्रकार धोने से नहीं छूटती—'तिन्ह के मुँह मसि लागिहै, मिटिहि न मरिहैं धोइ'[५]। विवेकशील मानव सम्पत्ति का भोग स्वयं न करके परमार्थ के लिये उसका संचयन करता है, ठीक उसी प्रकार जैसे वृक्ष फलों को स्वयं न खाकर और सरोवर जल का स्वयं पान न करके दूसरों के लिये संचित रखते हैं[६]। ऐसा व्यक्ति, जो खजूर अथवा ताड़ के समान बड़ा होकर भी किसी के कोई काम नहीं आता, किसी का कोई उपकार नहीं करता, संसार में व्यर्थ जीवन धारण करता है[७]।

मानव श्रेष्ठ वही है जो परोपकार के लिये, परमार्थ के लिए, अपना जीवन समर्पित कर देता है, दूसरों को सुखी करके स्वयं भी सुखी होता है क्योंकि—

यों 'रहीम' सुख होत है उपकारी के अंग।
बाँटनवारे के लगे, ज्यों मेंहदी को रंग[८]।

१. बड़े दीन का दुःख सुने लेत दया उर आनि।
हरि-हाथी सौं कब हुती, कहि 'रहीम' पहिचानि।
—रहीम, रहीम-रत्नावली दो० १२२, पृ० १२।

२. रहीम, नव-सतसई-सार, भटनागर, पृ० ३२।

३. निज परिताप द्रवइ नवनीता। परदुःख द्रवहि संत सुपुनीता।
—तुलसी, रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ६६६।

४. तुलसी, रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ६०६।

५. तुलसी, दोहावली, दो० ३८६।

६. रहीम, नव-सतसई-सार, भटनागर, पृ० ३५।

७. बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर।
पंछी को छाया नहीं, फल लागै अति दूर।
—कबीर, कबीर-वचनावली, पृ० १३७।

८. रहीम, रहीम-रत्नावली, दो० २४८।

अपना स्वार्थ त्यागकर—उसकी चिन्ता न करके—दूसरों के सुख के लिये तन-मन-धन से प्रयत्न करना, परार्थ के लिये विभिन्न प्रकार के कष्ट सहन करना तथा विपत्ति में भी प्रफुल्लचित्त रहना मानवता का प्रधान कर्तव्य है, नीति का प्रधान लक्ष्य है, मानवता का पूर्ण विकास है[१]।

(झ) *समता*—संसार में सभी मनुष्य एक हैं, समान हैं, उनमें कोई उच्च या निम्न नहीं। समस्त मानवता में एक ही आत्मा का निवास है। यही नहीं, प्रकृति-जगत् के पशु-पक्षी तथा मानव-जगत् के प्राणियों में भी कोई भेद नहीं; प्राणि-शास्त्र इसका प्रमाण है—

मानवता पशुता समान है? प्राणि-शास्त्र देता प्रमाण है[२]।

सज्जन का कर्तव्य है कि न किसी को शत्रु माने, न किसी को मित्र; सभी को सम दृष्टि से देखे, सभी के साथ समान व्यवहार करे—

सत्रु न काहू करि गनै, मित्र गनै नहिं काहि।
'तुलसी' यह मत सन्त को, बोलै समता माहि[३]।

हमारा देश समता का आदर्श है, विश्व को सदैव से समता का संदेश देता आया है। यहाँ समस्त जातियों, समस्त सम्प्रदायों, समग्र धर्मों और प्रत्येक प्रकार के विचारों वाले व्यक्तियों का स्वागत, समादर एवं सम्मान होता है; सभी के साथ समान व्यवहार होता है—किसी के साथ कोई भेदभाव नहीं किया जाता; राम, रहीम, बुद्ध, महावीर ईसा सभी की समान रूप से पूजा होती है—सभी समान रूप से वरेण्य माने जाते हैं[४]।

(ञ) *सहिष्णुता*—सहिष्णुता सौजन्य का लक्षण ही नहीं, मानव-मांगल्य का भी प्रसाधन है। असहिष्णु व्यक्ति न कभी अपना जीवन ही सुखी बना सकता है और न कभी दूसरों का ही, जब कि सहनशील प्राणी सर्वत्र सुख-शांति तथा प्रफुल्लता का प्रसार एवं विधान करता चलता है। दाम्पत्य जीवन में, कौटुम्बिक क्षेत्र में, समाज, राष्ट्र और विश्व में बहुधा जो विभिन्न अनर्थ होते रहते हैं, वे सभी

---

१. स्वलाभ तज लोक-लाभ-साधन, विपत्ति में भी प्रफुल्ल रहना,
परार्थ करना, न स्वार्थ चिन्ता स्वधर्म रक्षार्थ क्लेश सहना।
मनुष्यता है करणीय कृत्य है, अपूर्व नैतिकता का विलास है।
—हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० ८९।

२. पंत, चींटी, युगवाणी, पृ० ११।

३. तुलसी, वैराग्यसंदीपिनी, दो० १३।

४. भारत माता का मंदिर यह, समता का संवाद यहाँ,
+ +
राम-रहीम, बुद्ध-ईसा का, सुलभ एक-सा ध्यान यहाँ।
—मैथिलीशरण गुप्त, मातृ-मंदिर, मंगलघट, पृ० २६२-२६३।

प्रायः असहिष्णुता के परिणाम होते हैं। असहिष्णुता की दुरग्नि प्रायः कर्ता के प्रतिद्वन्द्वी को ही नहीं, स्वयं उसे भी जलाकर राख कर डालती है। यही नहीं, यदा-कदा यह भी देखा जाता है कि उसका लक्ष्य तो बच जाता है, किन्तु असहिष्णु मानव स्वयं ही अपनी असहिष्णुता की ज्वाला में नष्ट हो जाता है। महाभारत के कौरव-पांडव इसके उत्कट प्रमाण हैं। असहिष्णु कौरव अपनी असहिष्णुता की प्रचण्ड अग्नि में जलकर स्वयं नष्ट हो गये और सहिष्णु पाण्डव-बन्धुओं का बाल-बाँका भी नहीं हुआ[1]।

सहिष्णुता के अभाव में उत्पन्न होनेवाला क्रोध अनेक पापों का मूल होता है और शत्रु के समान अपने कर्त्ता का नाश कर डालता है और यदि नाश नहीं भी करता, तो भी कम से कम क्रोधी को दूसरों के उपहास, व्यंग्य एवं घृणा का पात्र तो बनाता ही है। क्रोधी परशुराम तथा दुर्वासा राम-लक्ष्मण और अम्बरीष के समक्ष किस प्रकार उपहास के पात्र बने थे, यह प्रायः सभी जानते हैं।

सहिष्णुता धैर्य की जननी है। सहनशील प्राणी बड़ी से बड़ी विपत्तियों, महान् से महान कष्टों को बिना आह किये सहन कर लेता है। उसकी सहिष्णुता दूसरों के लिए आदर्श प्रस्तुत करती है, संसार को सहिष्णुता का अमर संदेश देती है[2]।

संसार में विपत्ति प्रायः सभी पर आती है और सामान्य रूप में ही नहीं, सहिष्णु मानव को भी विचलित कर देने वाले समस्त उपकरणों को लेकर आती है। मानव के बड़े से बड़े साथी उसका साथ छोड़ देते हैं—'दुरदिन परे 'रहीम' कहि, भूलत सब पहिचानि'। किन्तु सहिष्णु मानव भवितव्यता की, भाग्यवाद की, अनिवार्यता को समझकर, विपत्ति को मंगलमयी एवं हितकारी शिक्षिका मानकर, अत्यधिक प्रसन्नता के साथ सहन करता है, अपनाता है और अपने धैर्य एवं सहिष्णुता की अदम्य शक्ति के कारण संसार में सम्मान, समादर तथा सुख-संतोष प्राप्त करता है[3]। यही कारण है कि विवेकशील मानव यदा-कदा सामान्य सुख-समृद्धिमय जीवन की अपेक्षा संघर्षमय जीवन की आकांक्षा करता है; विघ्न-बाधाओं की कामना करता

१. कौरव पांडव जानिए, क्रोध छमा के सीम।
पाँचहिं मारि न सौ सके, सयो सँहारे भीम।— तुलसी, दोहावली, दो० ४२८।

२. इस खिन्न उर्मिला ने है, जो सहन शक्ति दिखलाई।
जिसकी सुध आते मेरा, दिल हिला आँख भर आई।
क्या वह हम लोगों को है, धृति महिमा नहीं बताती।
क्या सत्प्रवृत्ति की शिक्षा, है सभी को न दे जाती।
—हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० ७८-७९।

३. जितने कष्ट कंटकों में हैं जिनका जीवन-सुमन खिला।
गौरव-गन्ध उन्हें उतना ही अत्र-तत्र सर्वत्र मिला।
—मैथिलीशरण गुप्त, पंचवटी, पृ० १५।

है; निष्फलता, निराशा और आतंक की याचना करता है। उसका यह दृढ़ विश्वास होता है कि वे सब उसके आत्म-तेज को जागृत एवं उद्दीप्त करके उसे सचेष्ट, सतर्क तथा दृढ़व्रत बनाकर उसका जीवन शांत, स्वतन्त्र, सरल एवं पवित्र बना देंगे[१]।

धैर्य के अतिरिक्त सहिष्णुता क्षमा की भी उत्पादिका है। मनुष्य की सहिष्णुता उसे क्षमाशीलता के लिए प्रेरित करके उसके व्यक्तित्व को महत्तर रूप प्रदान करती है। सहिष्णुता-जन्य क्षमा के कारण ही विष्णु त्रिदेवों में श्रेष्ठतम घोषित किये गये थे। अपने शयन-कक्ष में सुषुप्त सहिष्णु विष्णु ने वक्षस्थल पर कठोर पाद-प्रहार करनेवाले भृगु के चरणों को केवल यही सोचकर सहलाना प्रारंभ कर दिया था कि उनके कठोर वक्ष में पाद-प्रहार के कारण मुनि के चरण में चोट अथवा मोच आ गई होगी। क्षमाशीलता के इसी असन्दिग्ध महत्व के कारण संसार में सर्वत्र उसके अस्तित्व पर बल दिया जाता है; एक कपोल पर थप्पड़ मारनेवाले के सामने दूसरा कपोल भी कर देना चाहिये, यह बात इसीलिए कही जाती है। बड़ों की महत्ता क्षमा में ही है। जो जितना महान् होता है, वह उतना ही क्षमाशील और जो जितना ही तुच्छ होता है, वह उतना ही दुष्ट, उपद्रवी एवं असहिष्णु। अतः मनुष्य को यदि महान् बनना है, तो उसे चाहिये कि वह सहिष्णु एवं क्षमाशील बने[२]।

क्षमा मानव में विनम्रता का आविर्भाव करती है; उग्रता, बर्बरता एवं अशिष्टता से उसे मुक्त रखती है और समाज में गौरव एवं उच्च पद का अधिकारी बनाती है। सहिष्णुता एवं क्षमा-जन्य विनम्रता मानव में जितनी ही अधिक मात्रा में होती है, उतना ही श्रेष्ठ वह समाज में माना जाता है:—

नर की अरु नल-नीर की, गति एकै करि जोइ।
जेतो नीचो ह्वै चलै, तेतो ऊँचो होइ[३]।

इसी प्रकार संतोष, सत्संग, सत्यनिष्ठता, आध्यात्मिक प्रेम, विश्वास, कर्मण्यता साहस, वीरता, मित्रता, मित्रवत्सलता, प्रसन्नता, निरभिमान, कर्तव्य-परायणता, आत्म-निर्भरता, शरणागतवत्सलता, कृतज्ञता, न्यायशीलता आदि गुण भी विश्व-मांगल्य के लिए परम अपेक्षित होने के कारण धर्म के महत्वपूर्ण अवयव हैं। इन सबकी दिव्य झाँकी प्रस्तुत करके मानव-मन को आकृष्ट कर जीवन को मंगलमय बनाना कवि का कर्तव्य है। अतः कवि अन्य धार्मिक आदर्शों अथवा गुणों के समान ही इन सब का भी अमृतोपान उपदेश देता है।

---

१. रामनरेश त्रिपाठी, स्वप्न, पृ० ३७, सं० ८, सम् १९५४ ई०।

२. छमा बड़ेन को चाहिए, छोटन को उत्पात।
कहा विष्णु को घटि गयो, जो भृगु मारी लात॥
—कबीर, कबीर बचनावली पृ० १४२।

३. बिहारी, बिहारी-बोधिनी, दो० ६४२।

सन्तोष—कोउ बिस्राम कि पाव, तात, सहज संतोष बिनु।
चलै कि जल बिनु नाव, कोटि जतन पचि-पचि मरिय[1]।

सत्संग—गुरु-संगति गुरु होइ सो, लघु-संगति लघु नाम।
चारि पदारथ में गनैं, नरकद्वार हू काम[2]।

विश्वास—आपु ही अपार पारावार प्रभु पूरि रह्यो, पाइये प्रगट परमेसुर प्रतीति मैं[3]।

कर्मण्यता—पृथ्वी, पवन, नभ, जल, अनल सब लग रहे हैं काम में,
फिर क्यों तुम्हीं खोते समय हो व्यर्थ के विश्राम में[4]।

साहस, दृढ़ता एवं निर्भीकता—
दुःखों के तूफानों के संग, बढ़ाता चल पद-गति की जंग,
योजनों-सीमा करती भंग; प्रबल साहस की एक तरंग[5]।

वीरता—बारह बरस लौं कूकर जीवें, औ सोरह लौं जियें सियार।
बरस अठारह क्षत्रिय जीवें, आगे जीवन को धिक्कार[6]।

मित्रवत्सलता—जे न मित्र दुःख होहिं दुखारी। तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी[7]।

प्रसन्नता—आज बाग बगीचे गलियाँ खूबसूरत हैं।
उठो तुम भी
हँसी की कीमत पहचानों,
हवाएँ निराश न लौटें[8]।

निरभिमानता—सघन, सगुन, सधरम, सगन सबल गुसाँइ महीप।
तुलसी जे अभिमान बिनु ते, त्रिभुवन के दीप[9]।

तथा—दौलत पाय न कीजिए सपने में अभिमान।
चंचल जल दिन चारि कौ, ठाउँ न रहत निदान[10]।

कर्तव्यपरायणता—जिसका जितना गुरु उत्तरदायित्व है,
उसे महत् उतना ही बनना चाहिये[11]

१. तुलसी, दोहावली, दो० २७५।
२. तुलसी, दोहावली, दो० ३५६।
३. देव, देव-सुधा, छन्द १७, पृ० २४।
४. मैथिलीशरण गुप्त, भारत-भारती, पृ० १६१।
५. जीवनप्रकाश जोशी, माला, पृ० १४।
६. जगनिक, आल्हखंड बड़ा, बें० प्रे० बम्बई, पृ० ४५०।
७. तुलसी, रामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्ड, पृ० ६५८।
८. दुष्यन्तकुमार, अनुभव-दान, सूर्य का स्वागत, पृ० ७४।
९. तुलसी, दोहावली, दो० ५३०।
१०. गिरिधर कविराय, गिरिधर कृत कुण्डलियाँ, बें० प्रे०, पृ० १५, कुण्ड० संख्या २६।
११. हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० ११५।

शरणागतवत्सलता—*सरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि।*
ते नर पाँवर पापमय, तिनहिं बिलोकत हानि[१]।

कृतज्ञता—*उपकारक के उपकारों को याद रख।*
करते रहना अवसर पर प्रतिकार भी।
है अति उत्तम कर्म धर्म है लोक का।
हो कृतज्ञ, न बने अकृतज्ञ मनुज कभी[२]।

(ट) *कौटुम्बिक आदर्श* - कौटुम्बिक आदर्शों के अन्तर्गत सतीत्व, पत्नी-प्रेम (एक पत्नीत्व), भ्रातृ-प्रेम, पितृ-भक्ति आदि के आदर्श आते हैं। कुटुम्ब के कल्याण पर जाति, समाज, राष्ट्र तथा विश्व का कल्याण निर्भर है। अतः कुटुम्ब की पूर्ण सुख-शान्ति के लिये चिंतित कवि-समाज उसके कल्याण के लिये विभिन्न आदर्शों की प्रतिष्ठा करता है, विभिन्न मंगलमय बातों का उपदेश देकर प्रत्येक सम्भव प्रकार से उसका पथ-प्रदर्शन करता है।

(ठ) *सतीत्व एवं अनन्यता*—दाम्पत्य जीवन को सुखमय बनाने के लिये पत्नी के सतीत्व एवं अनन्यता की परमावश्यकता है। अतः कवि उसे अनन्यता की महत्ता दर्शाने के लिये, उसके पथ-प्रदर्शन एवं कल्याण के लिये चातक, मीन, मृग, पतंग, चकोर, कुमुदिनी आदि के आदर्श प्रस्तुत करता है और उनके द्वारा उसे प्रेम की अनन्यता का अमर संदेश देता है[३]।

दाम्पत्य अथवा वैयक्तिक प्रेम में यह अनन्यता मानव-जीवन को स्वर्ग बना सकती है। प्रेयसी अथवा पत्नी का पतिव्रता होना इसीलिये आवश्यक माना गया है। सीता, सावित्री, अनुसूया आदि सती नारियों के निर्मल चरित्र से भारतीय नारी-समाज आज भी गौरवास्पद है। सतीत्व के उच्च शिखरों से हमारी पुरातन सती नारियों ने अपने पावन चरित्र की दीप्तिमान रश्मियों से, जो प्रकाश प्रसारित किया है, वह आज भी विलास-वासना तथा अज्ञानान्धकार में भटकती नारी-जाति का पथ-प्रदर्शन कर रहा है, उसके मार्ग के अंधकार का निवारण करके गन्तव्यप्राप्ति में योग दे रहा है। नारी के लिये पति-चरणों की पूजा ही उसका सर्वस्व है। यही उसका सब से बड़ा कर्तव्य है और यही उसका सब से बड़ा धर्म। इसके अतिरिक्त उसका अन्य कोई धर्म नहीं, पति के अतिरिक्त उसके लिए अन्य कोई पूज्य नहीं, अन्य कोई देवता नहीं—

---

१. तुलसी, दोहावली, दो० ५४३।
२. हरिऔध, वैदेही-वनवास, पंचदश सर्ग, छन्द ३७।
३. चित दै चितै चकोर त्यौं, तीजे भजै न भूख।
चिनगी चुगै अँगार की, चुगै कि चंद-मयूख।
—बिहारी, बिहारी-बोधिनी, दो० २९५।

करेहु सदा संकर पद पूजा । नारि धरमु पति देव न दूजा[१] ॥

पतिव्रता नारी वही है, साध्वी रमणी वही है, जिसके लिये पति के साथ वन नगर के समान सुखदायक प्रतीत हो; वृक्षों की छालें सुन्दर वस्त्र बन जायें; कन्द-मूल-फल षट-रस व्यंजनों के समान स्वाद देने लगें; पृथ्वी शय्या, आकाश वितान और सूर्य-चन्द्र—नक्षत्र दीपक का कार्य करें; पशु-पक्षी परिजन, वन-देवी, वन-देवता आदि सास-श्वसुर तथा पर्वत-कन्दराएँ भव्य राजप्रासादों का सुख प्रदान करें। सती नारी के लिये यह आवश्यक है कि वह सदैव अपने मन में यही समझती रहे कि संसार में मेरे पति के अतिरिक्त अन्य कोई पुरुष है ही नहीं; क्योंकि जो स्त्री अन्य पुरुषों को अपने सगे भाई, पिता अथवा पुत्र के समान देखती है; धर्म तथा कुल-मर्यादा का विचार करके पतिव्रता बनी रहती है या अवसराभाव अथवा भय के कारण अपना धर्म नहीं खोती, वह उत्तम श्रेणी की पतिव्रता नहीं[२] ।

निष्कपट भाव से पातिव्रत धर्म को धारण करनेवाली नारी बिना परिश्रम के मोक्ष प्राप्त करती है। किन्तु पति से प्रेम न करने तथा उसके प्रतिकूल चलनेवाली स्त्री जहाँ कहीं भी जन्म लेती है, भरी जवानी में ही विधवा हो जाती है और पति को प्रवंचित करके पर-पति से रति करनेवाली पापिष्ठा सौ कल्पों तक रौरव नरक में निवास कर अनन्त दुःखों को भोगती है[३] ।

(ङ) *पत्नी-प्रेम (एक पत्नीत्व)*—कहने की आवश्यकता नहीं कि पति को पत्नी के समान ही एक-निष्ठ होना चाहिये। स्त्री-स्वाधीनता, समानाधिकार, शिक्षा, जागृति तथा बुद्धिवाद के इस युग में इसके अभाव में नारी से सतीत्व की हमारी आशा दुराशा मात्र ही सिद्ध होगी। हमारे साहित्य में भी ऐसे आदर्श विद्यमान हैं, जिनसे हम इस विषय में प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न तथा उनकी प्रजा के एकपत्नीत्व के आदर्श समग्र मानवता के लिये कमनीय एवं अनुकरणीय हैं—

एक नारि ब्रत रत सब झारी । ते मन बच क्रम पति हितकारी[४] ।

१. तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० १२२ ।

२. जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं । बेद पुरान संत सब कहहीं ।
उत्तम के अस बस मन माहीं । सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं ।
मध्यम पर पति देखइ कैसे । भ्राता पिता पुत्र निज जैसे ।
धर्म बिचारि समुझि कुल रहई । सो निकिष्ट त्रिय श्रुति अस कहई ।
बिनु अवसर भय तें रह जोई । जानेहु अधम नारि जग सोई ।
—तुलसी, रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड पृ० ६०१ ।

३. पति बंचक परपति रति करई । रौरव नरक कल्प सत परई ।
—तुलसी, रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, पृ० ६०१ ।

४. तुलसी, रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ८९३ ।

(ढ) *भ्रातृ-प्रेम*—कुटुम्ब की सुख-समृद्धि के लिये भ्रातृ-प्रेम का महत्त्व भी अपरिमेय है। कुटुम्ब में माता-पिता तथा अन्य गुरु जनों के प्रति मानव का अनुचित व्यवहार अधिक सम्भव नहीं। भगिनियों के प्रति भी वह प्रायः दुर्भाव नहीं रखता। किन्तु पैतृक सम्पत्ति के विभाजन, स्त्रियों की पारस्परिक अनबन तथा ज्येष्ठ भ्राता के कनिष्ठ के प्रति दुर्व्यवहारादि के कारण भ्रातृ-वर्ग में प्रायः संघर्ष हो जाता है। प्राचीन काल में राज-कुल में ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का अधिकारी होता था। अतः कनिष्ठ भ्राताओं में यदा-कदा ज्येष्ठ के दुर्व्यवहार के कारण असंतोष तथा विद्रोह के भाव उत्पन्न हो जाते थे और वही विद्रोहात्मक प्रवृत्तियाँ प्रायः कुटुम्ब के सर्वनाश का कारण बन जाया करती थीं। रावण, बालि और राणा प्रताप के सर्वनाश के कारण उनके विद्रोही कनिष्ठ भ्राता विभीषण, सुग्रीव और शक्तसिंह ही थे।

अतः कुटुम्ब की सुख-समृद्धि के लिये उत्सुक कवि-वर्ग अपने काव्य द्वारा भ्रातृ-प्रेम के ऐसे आदर्श प्रतिष्ठित करता है, जिनके देदीप्यमान प्रकाश की प्रबलता से आतंकित भ्रातृ-वर्ग की विद्रोहात्मक प्रवृत्तियों का कुत्सित अंधकार स्वतः ही पलायमान हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदास के राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न के पारस्परिक प्रेम के आदर्श ऐसे ही हैं। इसके अतिरिक्त युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव का पारस्परिक भ्रातृ-प्रेम भी भ्रातृ-जगत् की स्पर्द्धा एवं स्पृहा का विषय है। अग्रज युधिष्ठिर के कारण अपने को हार कर, दुःशासन द्वारा पत्नी द्रौपदी के वस्त्र-हरण की अवस्था में भी दास के समान चुप रहनेवाले, बारह वर्षों के वनवास तथा एक वर्ष के अज्ञातवास में शतशः विपत्तियों एवं कष्टों को अनुपमेय सहिष्णुता के साथ सहन करनेवाले, भ्राताओं का पारस्परिक प्रेम कितना अद्भुत, आदर्श एवं दिव्य था, इसे सोचते ही परस्पर संघर्ष-रत, स्वार्थ-लोलुप भ्रातृ-वर्ग में सद्बुद्धि का संचार हो सकता है; पारस्परिक कलह के बवण्डर में उड़ते हुए दुर्वृत्त भ्राताओं का कल्याण, अभ्युत्थान एवं निर्वाण हो सकता है।

उक्त कौटुम्बिक आदर्शों के अतिरिक्त कवि-समुदाय अन्य कौटुम्बिक आदर्शों की भी यथास्थान प्रतिष्ठा करता है, उनका अमर उपदेश देकर संसार का पथ-प्रदर्शन करके उसके मांगल्य में अपना योग देता है। पुत्र के लिये पिता का आज्ञा-पालन तथा भक्ति ही उसका सर्वस्व है[1], माता की सेवा ही उसके जीवन का

---

१. पिता दीन्ह मोहिं कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू।
बरष चारिदस बिपिन बसि, करि पितु बचन प्रमान।
आइ पायँ पुनि देखिहउँ, मनु जनि करसि मलान॥
+ + +
तात जाउँ बलि कीन्हेउ नीका। पितु आयसु सब धरमक टीका।
—तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ३७७-३७८।

श्रेष्ठतम स्वर्ग है[1] ; सपत्नी का सपत्नी के प्रति सात्त्विक स्नेहमय व्यवहार ही स्पृहणीय है[2] ; आदि अनेक कल्याणकारी बातों का दिव्य संदेश भी वह प्रायः देता है।

(ग) *सामाजिक आदर्श*—समाज के सुष्ठु संचालन एवं उत्थान के लिये, उनके विभिन्न सदस्यों को 'योग्यं योग्येन् योजयेत्' के सिद्धान्तानुसार उनके उपयुक्त कार्य प्रदान करना परमावश्यक है। हमारे देश में प्राचीन काल से ही इस प्रकार के विधान के लिए वर्णाश्रम-धर्म की योजना की गई थी, जिसमें न केवल प्रत्येक व्यक्ति को उसकी क्षमतानुसार कार्य प्रदान किया जाता था, प्रत्युत उसकी समस्त आयु को भी ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रमों के लिये चार भागों में विभक्त करके, प्रत्येक अवस्था के लिए उपयुक्ततम कर्त्तव्य को भी निर्धारित कर दिया गया था। राष्ट्र-रक्षा के योग व्यक्तियों को क्षत्रियों की संज्ञा देकर शासन का कार्य; अध्ययन-अध्यापन के योग्य सदस्यों को ब्राह्मणों के नाम से अभिहित करके शिक्षा-दीक्षा, तप-त्याग एवं ज्ञान-लोक की व्यवस्था का कार्य; कृषि एवं वाणिज्य के उपयुक्त व्यक्तियों को वैश्य-संज्ञा से विभूषित करके कृषि एवं व्यापारादि द्वारा धन-धान्य की समृद्धि का कार्य और उक्त कार्यों को कुशलतापूर्वक सम्पादित कर सकने की सामर्थ्य से रहित व्यक्तियों को उक्त तीनों वर्णों की सेवा का कार्य सौंपा गया था। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के लिये २५ वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर ज्ञानार्जन करना, २५ से ५० वर्ष की अवस्था तक गृहस्थ आश्रम में रहकर गृहस्थ धर्म का परिपालन करना, ५० से ७५ वर्ष की अवस्था तक वानप्रस्थाश्रम में रहकर विश्व-मांगल्य के लिये विभिन्न प्रकार के उपदेशादि देना और ७५ से १०० वर्ष तक की अवस्था में सन्यास ग्रहण कर तपस्यादि करते हुए कन्द-मूल-फल खाकर अपने अंतिम दिवस व्यतीत करना अनिवार्य था।

हिन्दी-काव्य में वर्णाश्रम-धर्म की महत्ता की अभिव्यक्ति अनेक स्थलों पर हुई है। अपने कार्य को छोड़ कर दूसरे के कार्य को करना पाप है, इसका तात्पर्य यही है कि जो व्यक्ति किसी कार्य के योग्य है, वही उसे सफलतापूर्वक निष्पन्न कर

---

१. धर्म-युद्ध-सेना में भरती होने एक युवा चला,
हजरत ने पूछा—तेरे घर और कौन अब है भला
'एक मात्र माँ', सुनकर, उससे बोले नबी—'नहीं नहीं,
माँ के पैरों तले स्वर्ग है, जा तू पा उसको वहीं।'
—मैथिलीशरण गुप्त, मातृ-भक्ति, काबा और कर्बला, पृ० २६।

२. जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता।
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना।
—तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकांड, पृ० ३७६।

सकता है, अन्य नहीं। अत: उपयुक्त पात्र को ही वह कार्य करना चाहिये, दूसरों को उसमें सफलता प्राप्त नहीं हो सकती और यदि कोई कुपात्र उसे करता है, तो समाज की शक्ति व्यर्थ क्षीण होगी, उसका सदुपयोग न होकर दुरुपयोग होगा और शक्ति के दुरुपयोग की आज्ञा समाज नहीं दे सकता। यह बातें पुरातन काल में ही नहीं, आज के बौद्धिक युग में भी उसी प्रकार मान्य हैं, पूर्ववत् गौरवप्रद हैं। इनका महत्व न तो आज कम है और न भविष्य में कम होने की सम्भावना है। समाजवाद और साम्यवाद का आधार भी यही श्रम-विभाजन का सिद्धान्त है। अन्तर केवल इतना है कि उनमें कर्म का विभाजन जाति के आधार पर न होकर, प्रत्येक व्यक्ति की निजी योग्यता के आधार पर किया जाता है। यद्यपि यह विभाजन नितान्त नवीन नहीं कहा जा सकता; क्योंकि प्राचीन काल में भी यदा-कदा ऐसा होता था, मनुष्य की व्यक्तिगत योग्यता को देख कर उसको जातीय बन्धनों से मुक्त कर दिया जाता था—क्षत्रिय विश्वामित्र अपनी कठोर साधना एवं व्यक्तिगत योग्यता के कारण ही ब्रह्मर्षि-पद के अधिकारी मान लिये गये थे—तथापि अब इसमें व्यापकता अवश्य आ गई है, इसमें सन्देह नहीं। युग और बुद्धि को इस संशोधन की आवश्यकता थी। समाज-कल्याण के लिये यह प्रयास अभिनन्दनीय है, किन्तु इसका मूलाधार प्राचीन ही है। क्षत्रिय-कोटि में उसी को रखना चाहिये, जो निर्भीक, दृढ़, साहसी एवं वीर हो; जिसके शस्त्र-धारण करने पर कहीं भी आर्त-वाणी न सुनाई पड़े; जिसकी खड्ग-प्रभा में विजय का आलोक हो, जो रण में काल से भी भयभीत न होकर अत्यधिक दृढ़ता एवं साहस के साथ उसका सामना करे और धर्म एवं न्याय की रक्षा के लिये अपने प्राणों को भी न्योछावर कर देने में रंचमात्र भी संकोच का अनुभव न करे। ब्राह्मण वही है जो करुणा, क्षमा, उदारता, तप, त्याग, पवित्रता, सारल्य, सौजन्य एवं ज्ञान-विज्ञानादि का आगार तथा मेघ के समान मुक्त वर्षा-सा जीवन-दान करनेवाला, सूर्य के समान अगाध आलोक विकीर्ण करने वाला, सागर के समान कामना-नदियों को पचा कर सीमा के बाहर[1] न जाने वाला हो। क्षत्रियत्व एवं ब्राह्मणत्व के महान् आदर्श विश्व-मांगल्य के लिये जितने अपेक्षित हैं, अन्य वर्णों के उतने नहीं। यही कारण है कि हिन्दी-काव्य में भी इन आदर्शों की प्रतिष्ठा अनेक स्थलों पर हुई है, अनेक कवियों ने इनके प्रधान कर्तव्यों का उपदेश दिया है, जब कि अन्य वर्णों के कर्तव्यों अथवा आदर्शों पर इतना बल नहीं दिया गया है[2]।

---

१. प्रसाद, चन्द्रगुप्त, पृ० १८३।

२. पै हौ कीरति जगत में, पीछे धरो न पावँ।
छत्री-कुल के तिलक हे, महासमर या ठावँ॥
महासमर या ठावँ, चलैं सर, कुन्त कृपानैं।
रहै वीर गन गाजि, पीर उर में नहिं आनैं॥

(त) *राष्ट्र प्रेम*—देश के नागरिक उसकी अमूल्य सम्पत्ति होते हैं और उसके प्रति उनका प्रेम उसके उत्थान, मंगल एवं सुख-समृद्धि का प्रसाधन। अतः देश के लिये उसके नागरिकों के प्रेम का महत्व उनके अस्तित्व से भी बढ़कर होता है, क्योंकि राष्ट्र-प्रेम के अभाव में वे तो अकर्मण्य विलासियों के समान देश के पतन में योग देते हैं या उसकी उन्नति में किसी प्रकार का योग न देकर उसका अहित करते हैं या पारस्परिक कलह एवं द्वेषादि के लक्ष्य होकर देश को पतन के गर्त में गिराते हैं। किंतु इसके विपरीत यदि उनमें अपने देश के प्रति प्रेम है, तो वे उसकी रक्षा एवं कल्याण के लिये अपना सर्वस्व न्योछावर कर देने में भी संकोच न करके अनेक प्रकार से उसके भौतिक एवं पारमार्थिक कल्याण में योग देते हैं।

राष्ट्र-प्रेम के इस महत्वपूर्ण गुण की प्रेरणा देना—उसका शंख फूँकना—भी प्रमुख रूप से कवि का ही कार्य है। अतः कवि-समुदाय जनता में—राष्ट्रवासियों में—अपने काव्य-द्वारा राष्ट्र-प्रेम का संचार करके देश के कल्याण में योग देता है। हिन्दी-काव्य में वीरगाथाकालीन कवियों ने इस दिशा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। भक्तिकाल के भक्त कवि जनता को पारमार्थिक सत्ता की ओर उन्मुख करने में व्यस्त रहे। रीतिकालीन कवियों ने परिस्थितियों के पाश में फँसकर आश्रयदाताओं की विलासिता एवं कामुकता को उत्तेजित करनेवाले वासनात्मक साहित्य की सृष्टि की। इस प्रकार आधुनिक काल के पूर्व तक इस दिशा में कवियों द्वारा कोई विशेष प्रयास नहीं हुआ। हाँ, कहीं-कहीं पराधीनता के दुःखदायी रूप और स्वाधीनता की महत्ता का संकेत अवश्य किया गया है—

पराधीनता दुःख महा, सुख जग में स्वाधीन।
सुखी रमत सुख बन - बिषै, कनक-पींजरे दीन[1]।

इस विषय में आधुनिक कवियों का कार्य अत्यधिक श्लाघनीय है। जननी जन्म-भूमि के दुःख से द्रवीभूत आधुनिक कवि-वर्ग ने राष्ट्रवासियों को देश-प्रेम का पाठ पढ़ाकर परतन्त्रता की बेड़ियों को काट फेंकने के लिये प्रेरित किया, पुरातन

बरनै दीनदयाल, हरखि जौ तेग चलैहो।
ह्वै हौ जीते जसी, मरे सुरलोकहि पैहो॥
—दीनदयाल गिरि, अन्योक्ति-कल्पद्रुम, तीसरी शाखा, छन्द २।

तथा—

चहिअ बिप्र उर कृपा घनेरी।
—गोस्वामी तुलसीदास, रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० २६४।

एवं—

देव एक गुनु धनुष हमारे। नव गुन परम पुनीत तुम्हारे।
—गो० तुलसीदास, रामचरितमानस, बालकांड, पृ० २६५।

१. दीनदयाल गिरि, दृष्टान्त-तरंगिणी, दीनदयाल गिरि-ग्रंथावली, दो० ५५, पृ० ७७।

भारतीय संस्कृति की महत्ता ज्ञानी कवि आधुनिक भारत की दयनीय दशा से विह्वल हो विगत संस्कृति के अवशेषों तथा प्रकृति के उपकरणों को धिक्कारने लगा[1]। देश की परतंत्रता से व्याकुल तथा स्वतन्त्रता के लिये उत्सुक कवि उसके गौरव-प्रतीकों से, उसकी दुर्दशा से द्रवीभूत होने तथा सहायता करने के लिये प्रार्थना करने लगा—

ओ मौन तपस्या लीन यती, पल भर को तो कर दृगुन्मेष,
रे! ज्वालाओं से दग्ध विकल, है तड़प रहा पद पर स्वदेश।

\+ \+ \+

कितनी द्रुपदा के बाल खुले, कितनी कलियों का अन्त हुआ।
कह हृदय खोल चित्तौड़! यहाँ, कितने दिन ज्वाल बसंत हुआ[2]।

राष्ट्र-सेवा तथा उसके कल्याण की बीड़ा उठाना मानव का परम पुनीत कर्त्तव्य है। अतः कवि उसे इसकी प्रेरणा देता है—

है बैशाख महीना पुनीत, देश हितैषी बनो सब मीत[3]।

तथा— *स्वदेश-सेवा-व्रत से नहीं भगो; उठो उठो राम! सुकर्म में लगो[4]।*

राष्ट्र के नागरिकों का, उसके युवकों का, कर्तव्य है कि वे प्राणों की बाजी लगा कर, देश को पादाक्रान्त करने वाले, परतन्त्रता की शृंखलाओं में जकड़ने वाले, शौर्य-गर्व से पराभूत शत्रु के दर्प-दलन के लिये प्रयत्न करें; देश के ऐश्वर्य-वैभव एवं धन-धान्य को देख कर उसके अपहरण की इच्छा करने वाले दुष्ट दस्युओं का सिर उतार लेने पर उद्यत हो जाएँ; क्रुद्ध सिंह के समान शौर्य-शक्ति से शत्रुओं को नष्ट कर देश को स्वतन्त्र करें और यदि संभव न हो तो स्वतन्त्रता की वेदी पर अपने प्राण न्योछावर कर दें—जब तक जीवित रहें, देश के लिये जीवित रहें और जब मरें तब भी देश के लिये ही मरें। उनकी दानशीलता इसी में है कि वे संसार को अरि-मुण्डों का दान करें, उनकी पवित्रता इसी में है कि वे दुष्टों की रक्त-गंगा में स्नान करें, उनका कर्तव्य केवल युद्ध करके देश को स्वतन्त्र करना है, उनकी पूँजी केवल उनके अस्त्र-शस्त्र में है। उन्हें वीणा की स्वर-लहरियों को सुनने का

---

१. हा! चित्तौर निलज तू भारी, अजहुँ खरो भारतहिं मझारी।
तुम में जल नहिं जमुना गंगा, बढ़हु बेगि किन प्रबल तरंगा।
—भारतेन्दु, भारत-दुर्दशा, छठा अंक, पृ० ६८।

तथा—

मरघट में तू साज रही दिल्ली कैसे शृंगार।
यह बहार का स्वाँग अरी, इस उजड़े हुए चमन में।
—दिनकर, दिल्ली, पृ० १।

२. दिनकर, हिमालय, हुँकार, पृ० ५४।

३. देवीप्रसाद 'पूर्ण', पूर्ण-संग्रह, पृ० २०१।

४. रामचरित उपाध्याय, रामचरित-चिन्तामणि, (दूसरा सर्ग), पृ० १५, सन् १६२० ई०

अधिकार नहीं। उन्हें अधिकार है कुरुक्षेत्र और हल्दीघाटी के महासंग्राम के स्मरण करने का। हृदय में प्रलय की आंकाक्षा लिये, नेत्रों में मस्ती भरे, भूमण्डल को स्वर्ग बनाने के लिए, हाथ में हथियार लेकर, देश को दुष्टों के पंजे से छुड़ाना उनका कर्तव्य है, उनके जीवन का परम ध्येय है[१]।

यह भारतवर्ष राणा प्रताप की स्वतन्त्रता का अवलम्बन है। इसकी भूमि के कण-कण का दर्शन शत-शत मन्दिरों का दर्शन है। इसकी पूजा, इसकी वन्दना, न जाने कितने वीरों ने युद्ध में रक्त की गंगा प्रवहमान करके इसे नहला कर की है। इसको तुष्ट करने के लिये न जाने कितनी माँ-बहनों ने स्वतन्त्रता की अमर वेदी पर अपनी बलि दी है। स्वतन्त्रता-देवी के अमर पुजारी राणा प्रताप ने इसी भूमि पर रक्त की गंगा प्रवाहित करके उसे स्नान कराया था, यहीं उनकी तुष्टि के लिये सर्वस्व न्योछावर किया था और झाला जैसे न जाने कितने वीर सिपाहियों ने अपने प्राणों की बलि दी थी। स्वतन्त्रता के लिये, देश की रक्षा के लिये, उसके नागरिकों को मर मिटना चाहिए, स्वतन्त्रता-देवी को अपने प्राण समर्पित कर देने चाहिए, यह अमर संदेश वीर प्रताप ने यहीं पर दिया था। देशवासियो, तुम भी उनके वंशज हो, तुम भी वीर हो, देश की रक्षा करना तुम्हारा भी पवित्र कर्तव्य है। तुम भी उनके लिये, स्वतन्त्रता की बलि-वेदी को प्रणाम करके, देश के लिये सर्वस्व त्याग कर, उसे मुक्त करके संसार में अपना नाम करो—

तुम भी तो उनके वंशज हो, काम करो, कुछ नाम करो।
स्वतन्त्रता की बलि वेदी है, झुककर इसे प्रणाम करो[२]।

कवि संसार को अपनी आत्मा की पुकार ही नहीं, प्रकृति-शरणागता स्वतंत्रता-देवी की पुकार भी सुनाता है; प्रसुप्त राष्ट्रवासियों को जागृत करने के लिये, तेजो-द्दीप्त करके राष्ट्र-रक्षा में योग देने के लिये, उनमें राष्ट्र-प्रेम तथा वीरोत्साह का शंख फूंकता है[३]; देश की रक्षा के लिये, उसकी विकटतम समस्याओं को सुलझाने के लिये, उसके गौरव-प्रतीकों से अभ्यर्थना करता है[४]; अवसरोचित कर्तव्य के लिये,

१. माखनलाल चतुर्वेदी, सिपाही, हिमकिरीटिनी, पृ० ४६-५० ।

२. श्यामनारायण पांडेय, हल्दीघाटी, पृ० १६ ।

३. हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती, स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती।

+ + +

अराति सैन्य-सिन्धु में सुबाड़वाग्नि से जलो प्रवीर हो जयी बनो—बढ़े चलो, बढ़े चलो।
—प्रसाद, चन्द्रगुप्त, पृ० १७० ।

४. ऐ मेरे चित्तौड़ देश ! बिखरे
प्रश्नों को करदे हल।
साहस भर दे हृदय-हृदय में,
बाहु-बाहू में भर दे बल।

देश-कल्याण में योग देने के लिये, समाधिस्थ नगपति (हिमाद्रि) को जागृत करने के लिये प्रयत्नशील होता है; गाण्डीव, गदा तथा उनके धारक परम धनुर्धर अर्जुन एवं महावीर भीम को लौटा देने के लिये, उसकी अनुनय-विनय करता है; शंकर से प्रलय-नृत्य करने को कहने के लिये उससे याचना करता है और जागृत होकर महा-नाश का दृश्य उपस्थित कर शत्रुओं को पराजित कर देश की स्वतंत्रता की रक्षा के लिये उसकी प्रार्थना करता है—

ले अँगड़ाई उठ हिले धरा, कर निज विराट स्वर में निनाद।
तू शैल राट! हुँकार भरे, फट जाय कुहा, भागे प्रमाद[1]।

(घ) *मानवतावादी आदर्श*—राष्ट्रीयता की उक्त भावना तभी तक अभिनन्द-नीय है, जब तक कि वह मानवता के व्यापकतम लक्ष्य का विरोध नहीं करती, 'वसुधैव कुटुम्बकम्'[2] की महती भावना में बाधक नहीं होती और जब तक कि एक राष्ट्र अन्य राष्ट्रों को क्षुधातुर मगर के समान निगलने के लिये तत्पर नहीं रहता। मानवता का अंतिम लक्ष्य विश्व-कल्याण है और राष्ट्र-प्रेम उसी की पूर्ति के लिये एक प्रयत्न-सोपान। इस सोपान पर आरूढ़ होकर हम मानवता के व्यापक लक्ष्य की पूर्ति के लिये प्रयत्न करें, यही हमारे राष्ट्र-प्रेम का आदर्श एवं उद्देश्य होना चाहिये। संसार के समग्र राष्ट्र अपने-अपने निजी कल्याण के लिये प्रयत्न करके मानवता के व्यापकतम लक्ष्य में योग दें, यही उनका ध्येय होना चाहिए। विश्व-उत्थान एक मनुष्य के वश की वस्तु नहीं। समस्त जगत् को अपने अंतिम लक्ष्य के लिये प्रयत्न करना' उसके विभिन्न सोपानों पर से गुजरना आवश्यक है। कवि इस बात को समझता है। इसीलिये वह पथ-भ्रष्ट मानव को उसके वास्तविक मार्ग पर लाने का प्रयत्न करता है, मानवता के वास्तविक लक्ष्य का संदेश देकर विश्व-मांगल्य के लिये प्रेरित करता है।

संसार के सभी मनुष्य एक हैं। सभी का शरीर मिट्टी का है। सभी पर आकाश की समान छाया है। सभी को पृथ्वी का जल, पवन, सूर्यातप, चन्द्र-प्रकाश, नक्षत्र-ज्योति तथा माता धरित्री का स्नेहमय क्रोड़ समान रूप से सुलभ है। सभी को उसका सत्य, उसके रत्न, उसकी विभिन्न शक्तियों द्वारा प्रदत्त वैभव समान रूप से प्राप्त होना चाहिये। पृथ्वी मानव की सृष्टि करती है। मानव विभिन्न देशों को

बोज-बोल तू एक बार फिर।
कब देगा राणा-सा धन। —श्यामनारायण पांडेय, हल्दीघाटी, पृ० ११।

१. दिनकर, हिमालय, हुँकार, पृ० ५७।

२. अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानाम् तु वसुधैवकुटुम्बकम्॥
—सुभाषितरत्न-भाण्डागार, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, पृ० ७०।

बसाता है। किन्तु उसे यह न भूलना चाहिये कि समग्र संसार में एक ही माँ वसुन्धरा की सन्तान का अधिवास है। देश पृथक हैं तो क्या? वेश भिन्न हैं तो क्या?? रंग-रूपादि में वैभिन्य है तो क्या??? मानव का मानव से अन्तःप्राण तो अलग नहीं? उसके रक्त में तो भिन्नता नहीं? उसके अश्रुओं में तो बहुरूपता नहीं? उसके शरीर के निर्माणक प्राकृतिक-तत्त्वों में तो वैभिन्य नहीं? वर्तमान दूषित मानवता आज विश्व के विनाश का कारण है, अन्यथा संसार में सुख की कमी नहीं, आनन्द का अभाव नहीं। मानव आज अपने अविवेक के कारण ही अनन्त नीले समुद्रों के रत्नों के होते हुए भी, उर्वरा धरित्री द्वारा प्रदत्त निस्सीम शस्य तथा श्यामल अम्बर द्वारा प्रदत्त छाया के होते हुए भी, विश्वयुद्धों के महानाश का लक्ष्य है। वह आज उषा के अरुणाभ सूर्यदेव को देख कर हँस नहीं सकता, अमृतवर्षक चन्द्रदेव की छटा को देख कर मुसकरा नहीं सकता, संगीत-विभोर पक्षियों के गायन को सुन कर प्रसन्न नहीं हो सकता, उनके स्वर में स्वर मिला कर गा नहीं सकता—

सूर्य निकलता पृथ्वी हँसती, चाँद निकलता वह मुसकाती,
चिड़ियाँ गातीं साँझ सकारे, यह पृथ्वी कितना सुख पाती,
अगर न इसके वक्षःस्थल पर यह दूषित मानवता होती[१]।

उसकी इस दुर्बुद्धि को देख कर कवि को आश्चर्यपूर्ण क्षोभ होता है। वह उसे सद्मार्ग पर लाने के लिये चिंतित होता है, उसे सुधारने के लिये प्रयत्न करता है, वास्तविकता का ज्ञान कराता है और उसके दुर्बुद्धि जन्य कृत्यों के लिये उससे प्रश्न करता है—

कहो क्या तुम मानते हो आज भी, इन्सान औ इन्सान में यह भेद[२] ?

उसकी भर्त्सना करता है; उसे फटकारता है[३]; समझाता है[४]; उसके हृदय-विस्तार के लिये; मानवता का व्यापक संदेश देने के लिये; दया, प्रेम एवं विश्वमंगल का पाठ पढ़ाने के लिये; उसे विभिन्न प्रकार के अमर उपदेश देता है—

१. बच्चन, धार के इधर उधर, पृ० ११-१२।

२. देवेन्द्र सत्यार्थी, फागुनी व्यंग्य, बन्दनवार, पृ० १४६।

३. यह तुम्हारा अहम्, प्रियवर!
तुम हो वह चट्टान जिसका हुआ हो निर्माण
हीन भावों के पिघलते घोर लावे से।
—देवेन्द्र सत्यार्थी, फागुनी व्यंग्य, बन्दनवार, पृ० १४६।

४. क्षुद्र, क्षणिक, भव-भेद-जनित, जो, उसे मिटा भव संघ भाव भर।
देश काल औ स्थिति के ऊपर, मानवता को करो प्रतिष्ठित।
—पंत, युग वाणी, पृ० २४।

\+ \+ \+

मेरा दर्द नहीं मेरा है, सबका हाहाकार है।
कोई नहीं पराया, मेरा घर सारा संसार है[1]।

तथा—

तुम देव बनो चिर दया प्रेम जन मन में, जग-मंगल हित है[2]।

एवं—

कामना वन्हि से दहक रहा भूधर-सा भू का वक्षस्थल,
तुम अमृत प्रीति निर्झर से फिर उतरो, हों ताप अखिल शीतल।
युग-युग के जितने तर्कवाद मानव ममत्व से वे पीड़ित,
तुम आओ सीमा हो विलीन, फिर मनुज अहं हो प्रीति-द्रवित[3]।

विश्व-प्रेम की महत्ता प्रदर्शित करता हुआ उसकी सामान्य सुख-लिप्साओं को त्याज्य ठहराता हुआ विश्वमांगल्य का संदेश देता है—

सर्वोत्तम साधन है उर में, भव-हित-पूत-भाव का भरना।
स्वाभाविक-सुख-लिप्साओं को, विश्व-प्रेम में परिणत करना[4]।

मानवता को, उसकी विजय-प्रतिष्ठा के लिये, इतस्ततः विकीर्ण शक्ति के विद्युत्कणों को समन्वित करने की प्रेरणा देता है—

शक्ति के विद्युत्कण जो व्यर्थ, विकल बिखरे हैं हो निरुपाय।
समन्वय उनका करे समस्त, विजयिनी मानवता हो जाय[5]।

मानवता एक है, समग्र संसार एक कुटुम्ब है[6]। यहाँ सभी अपने हैं, कोई पराया नहीं—

बोले "देखो कि यहाँ पर कोई भी नहीं पराया।
हम अन्य न और कुटुम्बी, हम केवल एक हमी हैं,
तुम सब मेरे अवयव हो, जिसमें कुछ नहीं कमी है[7]।"

यही नहीं, मानव ही नहीं, समस्त प्राणी, गिरि, लता, वृक्ष, सरिताएँ आदि सभी विश्वात्मा के विभिन्न रूप हैं। अतः सभी एक हैं। सभी अपने हैं और सभी

१. नीरज, प्राण-गीत, दो गीत, पृ० ५।
२. पंत, मनोमय, उत्तरा, पृ० ३६।
३. पंत, आवाहन, उत्तरा, पृ० ६५-६६।
४. हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० ६२।
५. प्रसाद, कामायनी, पृ० ५६।
६. संसार है एक कुटुम्ब भारी, हैं बन्धु सम्पूर्ण शरीरधारी।
देखो मिटे आपस का न मेल, बना बनाया बिगड़े न खेल।
—मैथिलीशरण गुप्त, संसार, मंगल घट, पृ० २५६।
७. प्रसाद, कामायनी, पृ० २८७।

की रक्षा, पूजा, सम्मान एवं सेवा परमात्मा की सर्वोत्तम भक्ति है; मानवता का अंतिम लक्ष्य है[१]। मानव यदि अहं के दीपक को प्रकाशित करके संसार को आलोकित करने का प्रयत्न करेगा; तो उसे उसके प्रकाश में, उसके आत्म-प्रहार की दशा में, समस्त मानवता ही नहीं, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पर्वत, समुद्र, सभी में अपनत्व के दर्शन होंगे; सभी अपने प्रतीत होंगे[२]।

(द) *नीति-ज्ञान एवं बुद्धिमत्ता*—जीवन एक विकट संघर्ष क्षेत्र है। उसके संघर्षों पर विजय प्राप्त करने के लिये मानव को नीति-ज्ञान एवं बुद्धिमत्ता की जितनी आवश्यकता है, अन्य बातों की कदाचित् उतनी नहीं। उनके अभाव में मानव-जीवन कितना दुःखद हो सकता है, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इसके विपरीत उनके अस्तित्त्व से मानव-जीवन कितना मंगलमय बन सकता है, कितना स्पृहणीय हो सकता है, इसके विषय में यह कहा जा सकता है कि मानव इनको प्राप्त करके इनके बल से संसार में प्रायः सब कुछ कर सकता है—दुःखद समस्याओं के कंटक-समूह, अज्ञानरूपी भयंकर अन्धकार से आच्छादित आवास-स्थलों रूपी पर्वत-कन्दराओं तथा पारस्परिक संघर्ष एवं ईर्ष्या-द्वेषादि रूपी प्राणहन्ता जन्तुओं से परिपूर्ण जीवन-वन को अनन्त शान्ति-सुख-दायक रमणीय उद्यान के रूप में परिणत कर सकता है। विशाल जल-शीशे को गगनस्पर्शी राज-प्रासादों, हिंस्र-पशुओं को आज्ञाकारी अनुचरों, मार्ग-बाधक पर्वतों को विद्युत्-प्रकाश से देदीप्यमान भव्य राजमार्गों, कुरूपा नारी को सुन्दरी अप्सरा और पृथ्वी, जल, मेघ, विद्युत्, अग्नि, वाष्प, सरिता, समुद्र आदि प्रकृति-शक्तियों को अपनी आज्ञाकारिणी अनुचरियों के रूप में परिवर्तित कर सकता है।

नीति-ज्ञान तथा बुद्धिमत्ता की इसी महत्ता के कारण कवि-समुदाय आदिकाल से ही उनका गुण-गान करता आया है, संसार को उनके विभिन्न रूपों का अमर संदेश देता आया है। कभी तो वह समग्र मानव-जाति के लिये अपेक्षित सामान्य नीति-ज्ञान एवं बुद्धिमत्ता की बातों का उपदेश देता है और कभी अपनी समस्त प्रजा के पालन-पोषण एवं रक्षण के उत्तरदायी राजा के लिये आवश्यक उनके विविध रूपों का ज्ञान कराता है। अतः हिन्दी कवियों द्वारा प्रदत्त उनके विभिन्न रूपों के उपदेश पर

---

१. विश्वात्मा जो परम प्रभु है रूप तो हैं उसी के।
सारे-प्राणी सरि-गिरि-लता बेलियाँ वृक्ष-नाना।
रक्षा पूजा उचित उनका यत्न सम्मान सेवा।
भावों सिक्ता परम-प्रभु की भक्ति-सर्वोत्तमा है।
—हरिऔध, प्रिय-प्रवास, पृ० १४४।

२. अहम् का दीपक हृदय उजार,
सुभगे! आलोकित कर संसार
सूर्य, विधु, उडु गिरि पारावार,
सभी तेरे, कर आत्म-प्रसार। —जीवनप्रकाश जोशी, माला, पृ० ३।

संक्षिप्त विचार करने के लिये हमें राजनीति एवं सामान्य नीति विषयक उक्तियों को पृथक्-पृथक् रूप से लेना होगा ।

(घ) *राजनीति*—राजनीतिक आदर्शों की स्थापना तथा राजनीति विषयक विभिन्न प्रकार की शिक्षा देना, जैसा कि कहा गया है, कवि-समुदाय का ही कार्य है; राजा में किन-किन गुणों का होना अपेक्षित है, किस समय और किस अवस्था में उसे क्या करना चाहिये, इन समस्त बातों पर प्रकाश डालना उसी का कर्तव्य है । अतः कवि राजा को करणीय-अकरणीय का उपदेश देता है, राजनीति के आदर्श प्रस्तुत करता है और अन्य अनेक प्रकार से उसका पथ-प्रदर्शन करता है ।

बुद्धिमत्ता राजा का प्रधान गुण है । अवसरोचित कार्य करना उसका कर्तव्य है । उसे चाहिये कि प्रत्येक स्थल पर अपना नाम दूसरों पर प्रकट न, करे[1], तेजस्वी शत्रु अकेला भी हो तो भी उसे छोटा न समझे—

रिपु तेजसी अकेल अपि लघु करि गनिअ न ताहु ।
अजहुँ देत दुख रवि ससिहि सिर अवसेषित राहु [2] ।

बड़े-बड़े नीति-निपुण राजे स्त्रियों के माया-जाल में फँसकर नष्ट हो गये । नारी के अथाह स्वभाव-समुद्र की थाह कोई नहीं पा सका । उसके जाल में फँसकर मानव अपना सर्वनाश कर डालता है, यह सोचकर विवेकशील राजा को उस से सदैव दूर ही रहना चाहिये, कभी उसका विश्वास नहीं करना चाहिये और प्रत्येक सम्भव प्रकार से उसके कपट-पाश से बचना चाहिये; क्योंकि 'राखिय नारि जदपि उर माहीं, जुवती सास्त्र नृपति बस नाहीं[3] ।'

साम, दाम, दण्ड और भेद—यह चारों राजा के हृदय में बसते हैं और नीति और धर्म के सुन्दर चरण हैं । अतः राजा की बुद्धिमत्ता इसी में है कि वह धर्म का पालन करते हुए इनका उचित उपयोग करे । ऐसा न करने वाले राजा से यह चारों रुष्ट होकर उसको छोड़ कर बुद्धिमान एवं धार्मिक राजा के पास चले जाते हैं और इनके अन्यत्र चले जाने पर उसका कल्याण नहीं[4] ।

---

१. सुनु महीस असि नीति जहँ तहँ नाम न कहहिं नृप ।
मोहि तोहि पर अति प्रीति सोइ चतुरता बिचारि तव ।
—तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० १७० ।

२. तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० १७० ।

३. तुलसी, रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, पृ० ६४२ ।

४. साम दाम अरु दण्ड बिभेदा । नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा ।
नीति धर्म के चरन सुहाए । अस जियँ जानि नाथ पहिं आए ।
धर्महीन प्रभु पद बिमुख काल बिबस दससीस ।
तेहि परिहरि गुन आए सुनहु कौसलाधीस ।
—तुलसी, रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, पृ० ७७५-७७६ ।

राजा को चाहिये कि वह कुमन्त्रणा से बचे[१], सत्परामर्श पर ध्यान दे और बुद्धिमत्ता से क्षीर और नीर को पृथक्-पृथक् कर दे। उसके आतंक से भयभीत हो कर मन्त्री तथा मूर्ख सेवक चापलूसी करके—ठकुरसुहाती कह कर—उसे पतनोन्मुख न करें, विनाश के गर्त में न ढकेलें—इन बातों का उसे सदैव ध्यान रखना चाहिये। ऐसा न करने से यदि मन्त्री एवं गुरु उससे भयातंकित होकर सदैव प्रिय वचन ही कहते हैं, तो राज्य, धर्म और उसके शरीर तीनों का ही नाश निश्चित है[२]।

राजा को शत्रुता उसी से करनी चाहिये, जिसको वह अपने बल और बुद्धि से जीत सके[३]। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह शत्रु के समक्ष शस्त्र डाल कर, नतमस्तक हो, उसकी अधीनता स्वीकार करके अपनी कायरता का परिचय दे। उसका अपना कर्तव्य केवल यही है कि वह अपनी ओर से शत्रुता उत्पन्न करने वाली कोई बात न होने दे, पर यदि शौर्य-गर्व से पराभूत कोई व्यक्ति (राजा) उसका अनिष्ट करने के लिये कटिबद्ध ही हो गया हो, उसे नीचा ही दिखाना चाहता हो, तो उसे निर्भीकता, साहस, दृढ़ता और शौर्य के साथ उसका सामना करना चाहिए, भले वह काल ही क्यों न हो[४]। राजा यदि भीरु एवं दुर्बल हृदय है, तो उसे राज-सिंहासन पर बैठने का कोई अधिकार नहीं। शत्रु से युद्ध करके यदि वह देश की रक्षा नहीं कर सकता, यदि उसके शस्त्र-धारण करने पर भी सर्वत्र त्राहि-त्राहि की पुकार मची रहती है—सर्वत्र आर्तनाद ही सुनाई पड़ता है तो उसका कर्तव्य है कि वह अपने राजपद को त्याग दे[५]।

राजा का कर्तव्य है कि वह अपने समस्त कार्यों का श्रेय अपने सेवकों को देकर उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करे और प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य में राज-परिवार एवं भ्रातृ-वर्ग की सम्मति लेकर सब को यथोचित महत्व देकर उनका सम्मान करे[६]।

१. तुलसी, रामचरितमानस अरण्यकाण्ड, पृ० ६२४।

२. तुलसी, दोहावली, दोहा ५२४।

३. नाथ बयरु कीजै ताही सों। बुधि बल सकिअ जीति जाही सों।

—तुलसी, रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, पृ० ७४५।

४. छत्रिय तनु धरि समर सकाना। कुल कलंक तेहि पाँवर जाना।

कहउँ सुभाउ न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुबंसी।

तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० २६६।

५. यदि भीरु वह दुर्बल मना, तो व्यर्थ क्यों राजा बना।

\+ \+ \+

जूझे कि निज पद त्याग दे, सब के सदृश बलि-भाग दे।

—मैथिलीशरण गुप्त, बक-संहार, पृ० २२।

६. रहेगा साधु भरत का मन्त्र। मनस्वी लक्ष्मण का बल तन्त्र।

तुम्हारे लघु देवर का धाम। मात्र दायित्व हेतु है राम।

—मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ० ४३।

राजा को संयमी, एक पत्नीव्रत, वीर एवं दानशील होना चाहिये और धर्म की रक्षा के लिये अपने प्राणों की बाजी लगा देनी चाहिये। संसार में असत्य के समान दूसरा पाप नहीं और सत्यनिष्ठता समस्त पुण्यों, समस्त सत्कृत्यों का मूल है, यह समझ कर उसे सदैव सत्य बोलना चाहिये[१]।

देश तथा प्रजा की रक्षा करना उसका परम कर्तव्य है, उसकी रक्षा का उत्तर-दायित्व उसी पर है। अतः उसका बलवान्, साहसी, देश-प्रेमी एवं स्वावलम्बी होना परमावश्यक है। देश में किसी के साथ अन्याय न हो, सर्वत्र न्याय की दुन्दुभी बजती रहे, इसके लिये समुचित व्यवस्था करना, अपराधियों को दण्ड देना और निरपराधों की रक्षा करना उसका परम धर्म है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम तथा राजनीति-धुरंधर भगवान् कृष्ण के कृत्य एवं राजनीतिक आदर्श, इस विषय में उनके लिये अनु-करणीय हैं।

राजा प्रजा का पिता है। समस्त प्रजा उसके पालन-पोषण की अधिकारिणी है। उसके लिए उसमें किसी प्रकार का भेदीकरण उचित नहीं। उसे प्रजा का पालन-पोषण उसी प्रकार करना चाहिये, जिस प्रकार मुख शरीर के समस्त अंगों का अत्यधिक विवेक-पूर्वक करता है[३]। उसका अस्तित्व प्रजा के कल्याण के लिये है[४]। उसका साम्राज्य उसके मंगल के लिये है[५]। उसकी सुख-समृद्धि का विधान करना उसका परम कर्तव्य है, उसके जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। उसे चाहिये कि वह प्रजा को चन्द्र, सूर्य, माली और कृषक के समान सुख देने का प्रयत्न करे[६]। प्रजा

---

१. नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा।
सत्यमूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान बिदित मनु गाए।
—तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकांड, पृ० ३५७।

२. निसिचर हीन करउँ महि; भुज उठाय प्रन कीन्ह।
—तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकांड, पृ० ६०६।

३. मुखिया मुख सो चाहिए खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक।
—तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकांड, पृ० ५८५।

४. नियत शासक लोक-सेवक मात्र।
—मैथिलीशरण गुप्त, साकेत पृ० १४२।

५. प्रजा के अर्थ है साम्राज्य सारा।
—मैथिलीशरण गुप्त, साकेत पृ० ५६।

६. माली भानु किसान सम, नीतिनिपुन नरपाल।
प्रजा-भागबस होहिंगे, कबहुँ कबहुँ कलिकाल।
—तुलसी, दोहावली, दोहा ५०७।

से राजस्व उसके कल्याण के लिये ले, अपनी सुख-समृद्धि अथवा ऐश-आराम के लिये नहीं[१]।

राजा ईश्वर का अंश होता है। उसे साधु, बुद्धिमान और सुशील होना चाहिये; सबकी सुनकर, उनकी वाणी, भक्ति, विनय और चाल को पहचान कर, मधुर वाणी से सबका यथायोग्य सम्मान करना चाहिये[२]। और अपने कार्यों में राज्य के प्रतिनिधियों, कर्मचारियों, पंचों तथा आवश्यकता पड़ने पर समस्त प्रजा की सम्मति लेनी चाहिये। उसका यह सिद्धान्त होना चाहिये कि करणीय वही है जिसका निर्णय पंचों अथवा समस्त सभा ने किया हो[३]। अकारण रक्तपात मानवता के लिये कल्याणकारी नहीं, यह समझ कर उसे शान्ति के लिये सदैव प्रयत्नशील रहते हुए विनाशकारी युद्धों से यथासम्भव बचना चाहिये[४]।

(न) *सामान्य नीति*—सामान्य नीति-ज्ञान एवं बुद्धिमता से तात्पर्य यहाँ नीति-ज्ञान सम्बन्धी ऐसी उक्तियों से है, जिनकी आवश्यकता समस्त मानव-जाति को है और जो मानवता का पथ-प्रदर्शन करके, उसे अपेक्षित बुद्धि-तत्व प्रदान करके, उसके कल्याण में विभिन्न प्रकार से योग देती हैं। जैसा कि कहा गया है, अन्य कल्याणकारी बातों के समान ही कवि इस क्षेत्र में भी संसार का पथ-प्रदर्शन करता है और इसके लिये उसे विभिन्न प्रकार के मंगलकारी संदेश एवं उपदेश देता है। हिन्दी-कवियों के इस विषय के प्रयास मानव-जगत् के लिये परम कल्याणकारी एवं स्पृहणीय हैं। निम्नांकित पंक्तियों में इस विषय पर यत्किंचित् प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायेगा।

मानव की बुद्धिमत्ता इसी में है कि वह गुरु, पंडित, कवि, मित्र, पुत्र, पत्नी, द्वारपाल, यज्ञकर्ता, राजमन्त्री, ब्राह्मण, प्रतिवेशी, वैद्य तथा अपने रसोइए से कभी शत्रुता न करे, अन्यथा उसका कल्याण नहीं। विवेकशील मानव को चाहिये कि इन सब से सदैव मित्रता रखे और शत्रुता का अवसर आने पर भी इनसे वैर मोल न ले, किसी न किसी तरह से उसे टाल जाय, इसी में उसका अपना कल्याण है और इसी में समाज का—

१. सुधा सुनाज, कुनाज फल, आम असन सम जानि।
सुप्रभु प्रजाहित लेहि कर, सामादिक अनुमानि।
—तुलसी, दोहावली, दो० ५०६।

२. तुलसी, रामचरितमानस, बालकांड, पृ० ६०।

३. वही हो जो कि समुचित हो सभा में।
—मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ० ६०।

४. मन्त्र कहउँ निज मति अनुसारा। दूत पठाइय बालि कुमारा।
—तुलसी, रामचरितमानस, लंकाकांड, पृ० ७५४।

साँईं बैर न कीजिए, गुरु पंडित कवि यार।
बेटा बनिता पौरिया, यज्ञ-करावन हार॥
यज्ञ-करावनहार, राज मन्त्री जो होई।
बिप्र परोसी बैद आपको तपै रसोई॥
कह गिरिधर कविराय, जुगन ते यह चलि आई।
इन तेरह सों तरह दिये बनि आवै साईं[1]॥

संसार में वाणी अथवा वेश के आधार पर किसी के लिये यह कहना कि वह सज्जन अथवा सात्विक वृत्तियों वाला है, उचित नहीं। मलिन-मन मानव को उसके कपटी वेश अथवा वाणी के आधार पर सज्जन बताना मूर्खता है—

बचन वेश क्यों जानिये, मन मलीन नर नारि।
सूपनखा, मृग, पूतना, दसमुख प्रमुख बिचारि[2]।

कपटी मनुष्य दूसरों को धोखा अवश्य देता है, किन्तु उसका कपट कुछ न कुछ समय पश्चात् खुल अवश्य जाता है। सत्य-सूर्य को कपट-चलनी से ढका नहीं जा सकता, असत्य की काल-कोठरी में बन्द करके रक्खा नहीं जा सकता। कुछ न कुछ समय पश्चात् वह अवश्य प्रकट होगा और प्रकट होते ही विद्युत् के समान समस्त संसार को चकाचौंध करके दिग्दिगंत में परिव्याप्त हो जायेगा[3]।

मानव यदि किसी की शरण ग्रहण करता ही है, तो उसे समर्थ की ग्रहण करनी चाहिये, असमर्थ की ग्रहण करने में उसका कल्याण नहीं, अनिष्ट ही होगा। इसी बात को लक्ष्य करके गिरिधर कविराय ने अन्योक्ति रूप में कहा है—

रहिए लटपट काटि दिन, बरु घामें मा सोय।
छाँह न वाकी बैठिए, जो तरु पतरो होय।
जो तरु पतरो होय, एक दिन धोखा दैहै।
जा दिन बहै बयारि, टूटि सब जरि से जैहै।
कह 'गिरिधर कविराय', छाँह मोटे की गहिए।
पाता सब झरि जायँ तऊ छाया में रहिए[4]।

---

१. गिरिधर कविराय, गिरिधर की कुंडलियाँ, पृ० १८।

२. तुलसी, दोहावली, दो० ४०८।

३. चरन चोंच लोचन रँगौ, चलौ मराली चाल।
छीर-नीर-बिबरन समय बक उघरत तेहिं काल। —तुलसी, दोहावली, दो० ३३३।
तथा—
No imprisionment can crush a truth, it may hinder it for a moment, it may delay it for an hour, but it gets an electric elasticity inside the dungeon walls and it grows and moves the whole world, when it comes out.
—Gharles Bradlough.

४. गिरिधर कविराय, गिरिधर की कुंडलियाँ, पृ० २२।

जिस शत्रु से हारने में भी समाज के उपहास का पात्र बनना पड़े और जीतने में भी पाप-परिताप हो, उससे कभी भूल कर भी शत्रुता नहीं करनी चाहिये। उचित यही होगा कि मानव समय पर अपने को सम्भाल ले। शृगाल के मारने से सिंह को कोई यश नहीं मिलता[१]।

मनुष्य को चाहिये कि जिसके धन, वैभव अथवा राज्यादि का हरण करे, उसे अपने साथ कभी न रक्खे, उसका विश्वास कभी न करे और यदि सम्भव हो तो उसे पंगु कर डाले, शत्रु के समान त्याज्य समझे, अन्यथा उसका कल्याण नहीं। ऐसा व्यक्ति कभी उसका कल्याण-कामी नहीं बन सकता, सदैव उसके अनिष्ट की ही कामना करेगा, विनाश के लिये ही प्रयत्न करेगा[२]।

नीच अपनी नीचता कभी नहीं छोड़ता। उसे उच्च बनाने का प्रयत्न अरण्य-रोदन के समान व्यर्थ होगा[३]।

दुष्ट को उपयुक्त दण्ड अवश्य देना चाहिये। इसी में उसका अपना कल्याण है, और इसी में समाज, राष्ट्र एवं विश्व का। खीरे पर अन्योक्ति करते हुए रहीम ने इसी नीति-ज्ञान एवं बुद्धिमत्ता की ओर संकेत किया है—

खीरा का मुहँ काटि कै, मलियत लोन लगाय।
रहिमन करुए मुखन की, चहियत यही सजाय[४]।

शक्ति परम कमनीय है। शक्तिवान् अपनी शक्ति से संसार पर राज्य करता है। 'बल है जिसमें जग है उसका' तथा 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' आदि शक्ति की महत्ता को प्रदर्शित करने वाली कहावतें आज भी लगभग उतनी ही सत्य हैं,

---

१. जा रिपु सों हारेहु हँसी, जिते पाप परितापु।
तासों रारि निवारिए, समय सँभारिय आपु।
—तुलसी, दोहावली, दो० ४३२।

२. जाकी धन धरती हरी, ताहि न लीजै संग।
जो सँग राखे ही बनै, तौ करि डारु अपंग।
तौ करि डारु अपंग, भूलि परतीति न कीजै।
कपट रूप बतराय, तासु को मन हरि लीजै।
कह गिरिधर कविराय खुटक जैहै नहिं वाकी।
अरि समान परिहरिय, हरी धन धरती जाकी।
—गिरिधर कविराय, गिरिधररायकृत कुण्डलियाँ, सम्पादक गोविन्दसिंह, वें. प्रेस, बम्बई, पृष्ठ १३ १४, कुं० संख्या २३।

३. कोटि जतन कोऊ करौ, परै न प्रकृतिहि बीच,
नल बल जल ऊँचै चढै, तऊ नीच को नीच।
—बिहारी, बिहारी-बोधिनी, दो० ६२५।

४. रहीम, सतसई-सार, सं० कैलाशनाथ भटनागर, पृ० ३६।

जितनी कि वे आदिकाल में थीं । शक्तिवान् से सभी डरते हैं, मनुष्य ही नहीं न्याय तक डरता है । विश्व-शासन में आज इतना शैथिल्य है, न्याय शक्ति से इतना आतंकित रहता है कि शक्तिवान् द्वारा अनेक अकरणीय कृत्य करने पर भी उसे दण्डित कर सकना सम्भव नहीं । शक्तिशाली राष्ट्र, बलशाली मनुष्य निःशक्त राष्ट्रों तथा निःशक्त मानव-वर्ग के स्वत्वों का अपहरण सभ्यता के इस तथाकथित युग में भी कर रहे हैं । सिंह के समान अपना अभिषेक दूसरों द्वारा किये जाने की चिंता नहीं करते, प्रतीक्षा नहीं करते । वे अपना अभिषेक स्वयं करते हैं, स्वयं कर लेते हैं । रहीम की यह अन्योक्ति आज भी बहुत कुछ सार्थक है—

केहरि को अभिषेक कब, कीन्हों बिप्र-समाज ।
निज भुज-बल के तेज तें बिपिन भयो मृगराज[1] ।

ऐसा मूर्ख राजा अथवा स्वामी, जो तुष्ट होकर कुछ देता नहीं और रुष्ट होकर दण्डित करता है, सेवा का पात्र नहीं । बुद्धिमान को चाहिए कि ऐसे राजा अथवा स्वामी की सेवा से दूर ही रहे[2] ।

अवसरोचित कार्य करना परमावश्यक है । समय के पश्चात् कार्य करने से न केवल उसके लाभ अथवा फल से वंचित रहना पड़ता है, प्रत्युत पश्चात्ताप और उपहास का पात्र भी बनना पड़ता है[3] ।

मानव को चाहिये कि वह जो भी कार्य करे पूर्णतः सोच-विचार कर करे; हानि-लाभ, हित-अनहित, मंगल-अमंगल आदि सभी बातों पर भली प्रकार से सोच कर किसी दिशा में कदम उठाए । बिना सोचे-समझे किसी कार्य को करना उचित नहीं । उससे न केवल पश्चात्ताप करना पड़ता है, न केवल संसार के उपहास का लक्ष्य बनना पड़ता है, प्रत्युत अनेक प्रकार की चिन्ता तथा विभिन्न कष्टों का सामना भी करना पड़ता है[4] ।

१. दीनदयाल गिरि, दृष्टान्त-तरंगिणी, दो० ८६ ।

२. तूठे जाके फल नहीं, रूठे बहु भय होय ।
सेव जु ऐसे नृपति की, अति दुरमति ते लोय ।
—दीनदयाल गिरि, दीनदयाल गिरि-ग्रंथावली, पृ० ७५ ।

३. औसर कौड़ी जो चुकै बहुरि दिए का लाख ।
दुइज न चन्दा देखिए, उदौ कहा भरि पाख । —तुलसी, दोहावली, दो० ३४४ ।

४. बिना बिचारे जो करै, सो पाछे पछिताय ।
काम बिगारै आपनो, जग में होत हँसाय ।
जग में होत हँसाय, चित्त में चैन न पावै ।
खान पान सम्मान राग रँग मनहिं न भावै ।
कह गिरिधर कविराय, दुःख कछु टरत न टारे ।
खटकत है जिय माहिं, कियो जो बिना बिचारे ।
—गिरिधर कविराय, गिरिधर की कुंडलियाँ, पृ० १०

कलह का परिणाम महा भयंकर तथा विनाशकारी होता है। उससे मानव का न तो अपना कल्याण हो सकता है और न दूसरों का ही। अतः बुद्धिमान को चाहिये कि उससे सदैव दूर रहे[१]।

(प) *उपदेश-शबलता*—संसार को धर्म अथवा नीति के किसी एक अंग अथवा गुण की अपेक्षा उसके अनेक अंगों अथवा गुणों की ओर आकृष्ट करना अधिक कल्याणकारी समझकर, कवि प्रायः उसके विभिन्न अवयवों अथवा गुणों का एक साथ उपदेश देता है। यही उपदेश-शबलता है। जिस प्रकार मानव-शरीर के किसी एक अंग के सौन्दर्य-चित्र की अपेक्षा उसके समस्त अंगों का संश्लिष्ट चित्र अधिक लुभावना प्रतीत होता है, उसी प्रकार धर्म, आदर्श, नीति अथवा बुद्धिमत्ता आदि के किसी एक अंग की अपेक्षा उनके विभिन्न अंगों का सौंदर्य-चित्र भी अधिक रमणीय एवं आकर्षक जान पड़ता है। अतः अपने कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक कवि जीवन के उक्त कल्याणकारी तत्वों एवं उपकरणों के सुरम्य चित्र प्रस्तुत करके संसार को उनकी ओर आकृष्ट कर, विश्व-मंगल में योग देता है। हिंदी-काव्यकार अपने इस कर्तव्य के प्रति अत्यधिक जागरूक रहे हैं। सुरसरिता के समान सबका हित करनेवाली अपनी कविता के द्वारा जागतिक-कल्याण में योग देने का बीड़ा उठाकर चलनेवाले हिन्दी-कवियों में ऐसे स्थलों का प्रचुरता से उपलब्ध होना स्वाभाविक ही है।

मानव गुणों के अभाव में वस्तुतः महान नहीं बन सकता। महान् बनने के लिए उसमें धर्म के विभिन्न अंगों अथवा गुणों का होना परमावश्यक है। गुण हीन मानव आदर का पात्र नहीं; जब कि गुणवान का सर्वत्र आदर होता है; सम्मान-सत्कार, अभिनन्दन-वन्दन होता है। गुणी के ग्राहक सैकड़ों हैं, गुणहीन को कोई पूछता भी नहीं। नारी का प्रधान धर्म पातिव्रत-धर्म का परिपालन, राजा का न्याय रक्षा और ब्राह्मण का स्वधर्म-पथ पर दृढ़ता से बढ़ते जाना है। वह मानव धन्य है, जो अधिकाधिक दान देकर अपने धन का सदुपयोग करता है, पुण्य-पथ पर सतत गतिशील रहता है, सत्संग से अपना जीवन सार्थक बनाता है, ब्राह्मणों की अखण्ड भक्ति करता है और विनयशील रामभक्त पुत्र को जन्म देता है[२]।

मानव के पास जब धन की बहुलता होती है, स्वर्ण और रत्नों के ढेर जब उसे घेर लेते हैं, तो वह उनकी चमक से ऐसा चौंधिया जाता है कि वास्तविकता उसके नेत्रों से ओझल हो जाती है, उसके सामने से दुम दबाकर भाग निकलती है और वह उसे लक्षित नहीं कर पाता, अपने अस्थि-चर्ममय शरीर को भी देख नहीं

१. कलह न जानब छोट करि, कलह कठिन परिनाम।
लगति अगिनि लघु नीच गृह, जरत धनिक-धन-धाम।
—तुलसी, दोहावली, दो० ४२६।

२. तुलसी, रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ६६८।

पाता। ऐसी दशा में मनुष्य की बुद्धिमत्ता इसी में है कि वह उसके दुष्प्रभावों से बचने तथा विश्व-कल्याण के लिये उस सम्पत्ति का सदुपयोग करने के लिये, उसे दीन-दुःखियों को दान करके भगवान का नामस्मरण करे और यदि आवश्यकता हो, तो परोपकारार्थ अपने सिर की बलि देने में भी संकोच न करे। उसकी महत्ता इसी में है। महापुरुषों का यही स्वभाव होता है, महात्माओं के यही लक्षण होते हैं[1]।

मानव का कर्तव्य है कि दीन-दुःखियों की सेवा करे; उनके दुःख से द्रवीभूत होकर उसके निराकरण के लिये तन-मन-धन से प्रयत्न करे; पापियों-बेबसों के उद्धार में योग दे; कथन से कर्म को अधिक महत्व दे; क्षमा, सहिष्णुता, आत्म-ज्ञान, अहिंसा सत्य, विश्व-प्रेम, धैर्य, साहस एवं गम्भीरता आदि विश्व-मंगलकारी गुणों से प्रेरित होकर विभिन्न कल्याणकारी कर्मों को करता हुआ विश्वोत्थान के लिए प्रयत्नशील हो। इसी से वह देवता बन सकता है, इसी से यह वसुधा स्वर्ग बन सकती है और इसी से मानव परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है; क्योंकि परमात्मा का निवास कुंजों और वनों, संगीत और भजन, सुरम्य पुष्पोद्यान, संसार की अनित्यता, अकर्मण्यता, धन, पराक्रम, निष्ठुरता, बर्बरता, हिंसा, असत्य, अज्ञान, अविश्वास अथवा सुखभोग आदि में नहीं, प्रत्युत दीनों के निवास, दुःखियों के दीर्घ निःश्वास, पीड़ितों की पुकार, रोते हुओं की अश्रुधार, विपत्तियों के वज्रभार, पापियों के उद्धार, बेबसों के उत्थान, कर्मण्यता, सत्य, प्रेम, क्षमा, विनम्रता, अहिंसा, चराचर सृष्टि, ज्ञान, ईमान, विश्वास और कष्ट-सहिष्णुता में है[2]।

निरभिमानता, शील, करुणा, वाक्-माधुर्य और विनम्रता मानव-महत्ता के लक्षण हैं। इन पर मानव जितना ही बल देगा; उतना ही श्रेष्ठ, उतना ही सज्जन और उतना ही उच्च होगा। रीतिकालीन शृंगार-लिप्सा में आपादचूड़ मग्न कवि 'देव' भी इनके महत्त्व की घोषणा कर गये हैं, इनका अमर संदेश दे गये हैं[3]।

---

१. पानी बाढ़े नाव में, घर में बाढ़े दाम।
दोऊ हाथ उलीचिए, यही सयानो काम।
यही सयानो काम राम को सुमिरन कीजै।
पर स्वारथ के काज, शीश आगे धरि दीजै।
कह गिरिधर कविराय, बड़ेन की याही बानी।
चलिये चाल सुचाल, राखिये अपनो पानी।
—गिरिधर कविराय, गिरिधर की कुंडलियाँ, पृ० १२, छन्द ५।

२. रामनरेश त्रिपाठी, अन्वेषण, मानसी, पृ० २५-२६, तृ० संस्करण, १९५३ ई०।

३. है अभिमान तजै सनमान वृथा अभिमान को मान बहैये।
देव दया करै सेवक जानि सुसील सुभाय सुलोनी लहैये।
को सुनि कै बिन मोल बिकाय न बोलन को कोई मोल न हैये।
पैये असीस लचैये जो सीस लची रहिये तब ऊँची कहैये।
—देव, देव और उनकी कविता, पृ० १२७।

स्वजाति-उद्धार, सर्वभूत-रक्षण, असहाय प्राणियों की सहायता करना और इस सबके लिये पराक्रम, साहस एवं वीरता के साथ संकटों का सामना करते हुए प्राणों की बाजी लगाकर मानवता की रक्षा एवं कल्याण में योग देना, मानव का सर्वप्रधान धर्म है, उसके जीवन की सार्थकता है—

विपत्ति से रक्षण सर्वभूत का सहाय होना असहाय जीव का।
उबारना संकट से स्वजाति का, मनुष्य का सर्वप्रधान धर्म है[1]।

अहिंसा परम धर्म है। हिंसा निंद्य, कुत्सित एवं विगर्हणीय है। किन्तु नीति, समाज और धर्म-विज्ञान का मूल मन्त्र समाज के अधिकतम व्यक्तियों का हित-रक्षण है। अतः जहाँ समाज के किसी ऐसे आततायी के नाश से, उसके अधिकतम सदस्यों की स्थिति, रक्षा एवं पोषण में योग मिलता हो, उसकी हत्या द्वारा सहस्रों-लाखों सदस्यों के प्राणों की रक्षा होती हो, वहाँ व्यापक धर्म का विरोध करनेवाले अहिंसा के सिद्धांत की हत्या ही उचित है। वहाँ वस्तुतः अहिंसा की हत्या द्वारा ही उसका सर्वोत्तम परिपालन हो सकेगा। न्याय-रक्षा, अन्याय-निवारण, कर्तव्यपरायणता, विश्व-कल्याण आदि धर्मांग भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितने कि उसके अन्य अवयव। अतः ऐसे अवसरों पर—जब कि धर्म के दो महत्वपूर्ण सिद्धांतों में विरोध लक्षित होता है—मानव को बुद्धि-विवेक से काम लेकर अपने कर्तव्य का निर्धारण एवम् परिपालन करके, धर्म-रक्षा एवं विश्व-मांगल्य में योग देना चाहिये। इसी में अहिंसा, न्याय-रक्षा, कर्तव्यपरायणता, समाज-कल्याण, सत्य रक्षा आदि धर्मांगों की रक्षा है और यही मानवता का अन्तिम लक्ष्य है।

मानव-मानव के बीच के भेद-भाव की खाई को पाटकर समस्त संसार को एकता के सूत्र में पिरोना, अखिल विश्व को एक कुटुम्ब समझना, सनातनता के अनिष्टकारी शुष्क सिद्धान्तों का परित्याग करना, विगत सभ्यता की संकुचित दीवारों को तोड़कर समस्त विश्व के व्यापक क्षेत्र में आना और परम्परा के कुरूप वस्त्रों का परित्याग करके नूतनता के सुन्दरतम वस्त्रों को धारण करना मानव-मांगल्य के लिये परमावश्यक है[2]। अतः मानव को चाहिए कि वह स्वप्निल मानवता के जाल से विश्व के कुत्सित, विगर्हणीय एवं भयंकर रूपों को ढककर, नूतन मानवता की सृष्टि करके, विश्व-मांगल्य के स्वप्नों को इस प्रकार साकार बना दे कि संसार नूतन युग की अरुणिमा उषा की लालिमा से देदीप्यमान हो उठे[3]।

१. हरिऔध, प्रिय-प्रवास, एकादश सर्ग छन्द ८५।

२. पंत, उद्बोधन, ग्राम्या, पृ० ९९-१००।

३. जग-जीवन के तम में
दैन्य, अभाव शयन में
परवश मानव!
बुन स्वप्नों के जाल

मानव यथार्थ-जगत् को छोड़ कर कल्पना-जगत् में रह कर सुखी नहीं हो सकता। उसके जीवन की आधार-शिला यही वसुन्धरा है; उसकी यात्रा का पाथेय इसी वसुधा-तल का शस्य है; उसके श्रान्त शरीर की थकान को दूर करनेवाला यहीं का त्रिविध समीर, यहीं का शीतल जल, यहीं का शीतल पेय है; उसकी क्षुधा को तृप्त करके उसे हृष्ट-पुष्ट करनेवाला यहीं का पौष्टिक भोजन है; उसके सुख-स्वप्नों का संसार इसी भूमण्डल के तृणों से निर्मित है; उसके आनन्द-गीतों की प्रेरणा यहीं के सन्ध्या-उषा के दृश्य हैं। वह इनसे विलग होकर गा नहीं सकता, इनसे पृथक् होकर सुखी नहीं हो सकता, इनके आधार के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने का सुअवसर प्राप्त नहीं कर सकता। अतः उसका इस संसार को छोड़ कर कल्पना-लोक के लिये पलायन करना उचित नहीं, कल्याणकारी नहीं[1]।

मानव का कर्तव्य है कि वह अपने विभिन्न गुणों से, अपने विश्व-मंगलकारी कृत्यों से भूमण्डल को मंगलोन्मुख कर दे; अपने जीवन-स्वत्व को सूर्य के समान दमका दे; अपने मानवता-प्रेम को चन्द्र-सा चमका दे; अपने व्यक्तित्व को दर्पण-सा निखार कर ऐसा निर्मल रूप प्रदान करे कि आत्मा उसमें वास्तविकता को स्पष्ट देख सके; अपने सात्त्विक स्नेह की अमृत-वृष्टि करके दुःख-द्वन्द्वों से सन्तप्त संसार के हृदय को शीतल करके, अपने हृदय को मोमवत् द्रवणशील बना कर करुणा एवं सत्प्रयत्नों द्वारा मानव-मांगल्य में योग दे और विनाश रूपी पतझड़ को नष्ट करके शाश्वत स्वप्न-वसन्त की सृष्टि करे[2]।

मानव का उपदेश-क्षेत्र केवल मानव-जगत् तक ही सीमित नहीं है। वह केवल मानव का ही नहीं, प्रकृति का भी उपदेशक एवं शिक्षक है। पुष्प उससे मुस्कराना सीखते हैं; कोयल पंचम स्वर में गीत गाना सीखती है; हंस मंद-मंथर गति से चलना सीखते हैं; समीर उससे सुगन्ध लेकर वातावरण को सौरभित

ढँक दो विश्व-पराभव
कुत्सित, गर्हित, घोर!
× ×
सत्य बनाओ स्वप्नों को
रच मानवता नव,
हो नव युग का भोर।

—पंत, मानव, युग वाणी, पृ० ४।

१. छोड़ धरा का नीड़ गगन पर मत जा, मत जा, हे मन-पंछी!
+ + +
धरती की सीमा को तज कर मत जा, मत जा हे मन पंछी!
—जीवनप्रकाश जोशी, मन-पंछी, माला, पृ० ७०।

२. जीवनप्रकाश जोशी, मन-पंछी, माला, पृ० ११।

करना सीखता है ; पक्षी कलरव, केलि एवं विनोद की शिक्षा प्राप्त करते हैं और नव्य-जल-स्रोत उसके चरणों की चंचलता का चुम्बन कर चंचल गति से प्रवहमान हो उठने का पाठ पढ़ते हैं[१] ।

(आ) मानव तथा प्रकृति की उपदेशिका प्रकृति—

जिस प्रकार मानव अपने सहवर्तियों तथा सहचरी प्रकृति को विभिन्न प्रकार के उपदेश एवं सन्देश देता है, उसी प्रकार प्रकृति भी अपने सहचर मानव तथा स्व-वर्गीय प्रकृति-रूपों को विभिन्न प्रकार के उपदेश देकर उनके कल्याण में अपना महत्त्वपूर्ण योग देती है। कवि की दृष्टि में यह समस्त विश्व ही एक शिक्षालय है। यहाँ यदि एक ओर मानव के विभिन्न गुण, कर्म एवं भावादि संसार को विभिन्न प्रकार की शिक्षा देते हैं ; उसके जीवन के विभिन्न अनुभव मानव-जीवन का पथ-प्रदर्शन करते हैं ; जीवन-मार्ग पर निर्दय रूप से गतिशील होते रहने की शक्ति-सामर्थ्य प्रदान करते हैं ; तो दूसरी ओर प्रकृति के विभिन्न कार्य-व्यापार, नियम-बद्धता, परिवर्तनशीलता, भाव, गुण एवं आदर्श संसार को उसकी जीवन-यात्रा के लिये पाथेय प्रदान करते हैं। प्रकृति यद्यपि मानव के समान उपदेशिका का कार्य नहीं करती, तथापि कवि उस पर उपदेशिका-रूप का आरोप करता है और उसके मौन-उपदेश-इंगितों को स्पष्ट कर मानवता को विश्व-मंगल की ओर अभिमुख करता है।

कवि के लिये अनन्त सौभाग्यवती रवि-मुखी उषा, पवित्र अनुरागमयी शशि-मुखी सन्ध्या, प्रफुल्लित कमलों के मुख वाला सरोवर तथा सौन्दर्य-मण्डित भूमि-खण्ड संसार को प्रेम की महत्ता का संदेश देते हैं ; सुन्दरी लताओं से पवमान का सम्पर्क; पादपों के प्रति वल्लरी-वितान का आकर्षण, कलिकाओं से भ्रमर-पुंज का गुण-गान, विहंगमों से विहगियों का मान, घनश्याम से विद्युत् का प्यार, समुद्र से सरिताओं का व्यवहार, चन्द्र से रजनी का अभिसार और पवन से लताओं के व्यापार उसका अमृतोपम उपदेश देते हैं, जीवन का मूलाधार घोषित करते हैं[२] । संसार के पुरातन शिक्षालय तथा ज्ञान के समुच्चय कानन-सृष्टि को ज्ञान का अनन्त वरदान देते हैं[३] । विश्व-मंच का मायाकर परिवर्तन संसार को अपने विभिन्न संकेतों एवं कार्य-कलापों द्वारा विभिन्न प्रकार के पाठ पढ़ाता है—

---

१. खोल सौरभ का मृदु कच-जाल, सूँघता होगा अनिल समोद,
सीखते होंगे उड़ खग-बाल, तुम्हीं से कलरव, केलि, विनोद,
चूम लघु पद-चंचलता, प्राण, फूटते होंगे नव जल स्रोत।
—पंत, भावी पत्नी के प्रति, गुंजन, पृ० ३४।

२. गोपालशरणसिंह, प्रेम, कादम्बिनी, पृ० २१।

३. कितने ही लोगों को तुमने, ज्ञान तथा वरदान दिया।
—गोपालशरणसिंह, प्रेम, कादम्बिनी, पृ० १४।

जहाँ हास के अधर, अश्रु के नयन करुणातर
पाठ सीखते संकेतों में प्रकट, अगोचर;
शिक्षास्थल यह विश्व-मंच, तुम नायक नटवर[1]

पक्षी प्रातःकाल संसार को सर्वप्रथम जागृति का संदेश देते हैं; सौन्दर्य, सुख और सौरभ का ताना-बाना बुनते हैं और प्राणि-वर्ग को स्पन्दन-कम्पन तथा नूतन जीवन का अपनाना सिखाकर कर्मण्यता की प्रेरणा देते हैं[2]। सूर्य, चन्द्र, लता-पत्रादि प्रकृति के विविध रूप अपनी कर्मशीलता एवं कार्य-तत्परता द्वारा उसे कर्मठता तथा कर्तव्यपरायणता का उपदेश देते हैं[3]। पादप-समूह कभी उसे अपने कर्मों द्वारा कष्ट-सहिष्णुता, सेवावृत्ति, तथा शरणागतवत्सलता का संदेश देते हैं[4]; कभी उसके लिए माधुर्य, प्रसन्नता, परोपकार तथा सहनशीलता के आदर्श प्रस्तुत करते हैं[5] और कभी उसे विश्व-मंगल, धैर्य और दानशीलता की शिक्षा देते हैं[6]। पुष्प, तरंगें; पक्षी आदि उसे सन्तोष, प्रफुल्लता परोपकार, उत्साह तथा आनन्दमय जीवन व्यतीत करने की उत्प्रेरणा देते हैं[7]। पृथ्वी उसके लिए क्षमा, विनम्रता, ममत्व, वात्सल्य, सहिष्णुता, सौजन्य तथा उत्तरदायित्वशीलता के; छाया, वायु, कानन तथा पर्वत अपने विभिन्न कल्याणकारी कृत्यों द्वारा सेवावृत्ति, करुणा, समता एवं विश्व-प्रेम के; एक साथ उगने एवं मित्रवत् जीवन व्यतीत करने वाले पादप[8] मित्रवत्सलता, सह-अस्तित्त्व, पारस्परिक प्रेम तथा सौमनस्य के और समय पर होने वाले प्रकृति के विभिन्न कार्य नियमबद्धता एवं समय निष्ठता के आदर्श प्रस्तुत करते हैं। पक्षी, आँधी, पुष्प एवं पर्ण आदि मानव को क्षणभंगुरता का ज्ञान कराते हुए चेतना एवं जागृति का उपदेश देते हैं, संसार से विमुख तथा परमार्थ-चिंतन की ओर अभिमुख

---

१. पंत, परिवर्तन, पल्लव, पृ० ११०।

२. पंत, वीणा, वीणा-ग्रन्थि, पृ० ७९-८०।

३. रामनरेश त्रिपाठी, पथिक, पृ० २१।

४. हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० २१०।

५. हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० २१०।

६. हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० २१०।

७. हँस मुख प्रसून सिखलाते पल भर है जो हँस पाओ,
अपने उर के सौरभ से जग का आँगन भर जाओ।
उठ-उठ लहरें कहतीं यह हम कूल विलोक न पावें,
पर इस उमंग में बह-बह नित आगे बढ़ती जावें।
—पंत, गुंजन, पृ० २३।

८. पंत, दो मित्र, युग वाणी, पृ० ७४।

होने की प्रेरणा देते हैं[१] ।

गज-समूह हथिनियों को अपने साथ रख कर मानव को इस बुद्धिमत्तापूर्ण नीति-ज्ञान की शिक्षा देता है कि नारी को कभी अकेली छोड़ना हितकर नहीं, उसे सदैव अपने साथ रखना चाहिये[२] । दुर्गम वनों में प्रकाश से शोभायमान वृक्षों के नीचे का अंधकार मानव को इस बात का ज्ञान कराता है कि मलिन-मन मानव का हृदय तो कलुषित एवं कुत्सित वृत्तियों की कालिमा से परिपूर्ण होता है, किन्तु बाह्य सुन्दर एवं आकर्षक । अतः संसार में किसी मनुष्य के बाह्याकर्षण से तुरन्त यह समझ लेना कि वह अत्यधिक सज्जन है, बहुत बड़ी भूल होगी । मानव की बुद्धिमत्ता इसी में है कि वह ऐसे छद्म-वेश-धारी बगुला-भक्तों से, जो संसार को प्रवंचित करने के लिये अपने कुत्सित अन्तःकरण की दुर्वृत्तियों पर आवरण डालने के लिये, अपने बाह्य रूप को आकर्षक बना लेते हैं, सदैव बचता रहे[३] । गुंजा के शरीर का वर्ण लाल और मुख श्याम होता है, किन्तु उसके मुख का श्याम वर्ण भी त्याज्य नहीं, प्रत्युत वह उसके सौन्दर्य-वर्द्धन में सहायक ही होता है । वह अपने द्विविध रूप द्वारा संसार को इस बात की शिक्षा देता है कि बुरी वस्तु भी अपदार्थ समझ कर त्याग नहीं देना चाहिये । उसका भी अपना महत्व है । वह भी कभी-कभी कल्याण कारिणी एवं उपयोगी सिद्ध होती है—

सुलालिमा में फल की लगी लखा, बिलोकनीया कमनीय श्यामता ।
कहीं भली बनती है कुवस्तु भी, बता रही थी वह मंजु गुंजिका[४] ।

---

१. साँझ सवेरे पंछी सब क्या कहते हैं, कुछ तेरा है,
हम सब एक दिन उठ जायेंगे यह दिन चार बसेरा है ।
आँधी चलकर इधर-उधर से तुझको यह समझाती है ।
चेत-चेत जिंदगी हवा-सी उड़ी तुम्हारी जाती है ।
खिल-खिल कर सब फूल बाग में, कुम्हला-कुम्हला जाते हैं ।
तेरी भी गति यही है गाफिल यह तुझको दिखलाते हैं ।
—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रेम-प्रलाप, भा० ग्र०, द्वितीय खण्ड, पृ० २९९-३०० ।
तथा—
पत्ते नित गिरते ही रहते, नश्वरता बतलाते रहते ।
—माधवसिंह 'दीपक', सात सौ गीत, पृ० ९ ।

२. तुलसी, रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, पृ० ६४२ ।

३. आलोक-से लसित पादपवृन्द नीचे । छाये हुए तिमिर को कर से दिखा के ।
थे यों मुकुन्द कहते मलिनान्तरों का । है बाह्य-रूप बहु-उज्ज्वल दृष्टि आता ।
—हरिऔध, वैदेही-बनवास, पृ० २०२-२०३ ।

४. हरिऔध, प्रिय-प्रवास, सर्ग ९, छन्द ६२ ।

संसार में जिस वस्तु के नष्ट होने में ही कल्याण हो, उसे नष्ट कर देने में ही बुद्धिमत्ता है। समीर वृक्ष के सूखे पत्तों को, विश्व-मंगल के लिए मृत्तिका-रूप में परिणत करने, माता धरित्री की थाती बनाने तथा नूतन पल्लवों को जन्म देने के लिए, नष्ट करके संसार को इसी बात का ज्ञान कराता है[1]।

अपने देश की रक्षा करना मानव का परम कर्तव्य है। उसके निमित्त उग्राति-उग्र रूप धारण करके उसके प्रति होने वाले अन्याय का निवारण करना उसका परम धर्म है। अतः कर्तव्यपरायण देश-प्रेमी प्रकृति से, देश से तथा उसके विभिन्न स्थानों से आती हुई करुण ध्वनि को सुन कर, अपने प्राणों की बाजी लगा कर, उसकी रक्षा करते हैं। भावुक कवि तथा सच्चे देश-प्रेमी को प्रकृति अपनी रक्षा के लिये पुकारती, उसमें बल-वीर्य एवं साहस का संचार करती और देश-प्रेम का अमन्द शंख फूँक कर उसे न्याय-रक्षा की अमर प्रेरणा देती है[2]।

सरिता संसार को माधुर्य, सारस्य, मनोमुग्धकारिता, मृदुता तथा अन्तःकरण की जागृति का उपदेश देती है[3]। प्रभात मानव को भव्य जीवन की प्रेरणा तथा जागृति का अमर संदेश देता है और संसार के वास्तविक स्वरूप एवं दिव्य सौन्दर्य-निर्माण के प्रसाधनों का ज्ञान कराता है[4]। मेघ मिटते-मिटते भी इन्द्र-धनुष की स्मिति में हँसता हुआ मानव को परोपकार, त्याग, सहिष्णुता तथा प्रफुल्लता का पाठ पढ़ाता है। विफल दिवस ढलते-ढलते भी विश्व-प्रेम से रँग कर संसार को कर्मठता एवं 'वसुधैवकुटुम्बकम्' का संदेश देता है। पुष्प झरते-झरते भी चतुर्दिक वातावरण को सौरभित करता हुआ उसके लिए परोपकार, सेवाशीलता, आत्म-त्याग तथा विश्व कल्याण के आदर्श प्रस्तुत करता है[5]। तारे अपने नीरव नयनों के हाहाकार तथा अश्रु-विन्दुओं से उसकी क्षणभंगुरता की घोषणा करते हैं; कलियाँ अश्रुपूर्ण पलकों से उसकी मादकता की व्यंजना करती हैं; कामुक भ्रमरों से प्रवंचित म्लान-कुसुमों का मर्मर रोदन उसकी निष्ठुरता का बोध कराता है और सन्ध्या के अनन्तर अंधकार का पारावार बढ़-बढ़ कर उसके शाश्वत मतवालेपन की अभिव्यक्ति करता है[6]। सूर्य-

---

१. हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० ११-१२।

२. हमारे जन्म की धरती, हमारे कर्म की धरती।
हमें रो-रो बुलाती है हमारे धर्म की धरती।
बुलाती है हमें गंगा, बुलाती घाघरा हमको।
हमारे लाड़ले आओ बुलाता आगरा हमको।
—श्यामनारायण पाण्डेय, आरती, पृ० ६१।

३. हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० ५।

४. हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० ५।

५. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० ६०।

६. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० ४-५।

रश्मियाँ, दीप-शलभ तथा पुष्प संसार को प्रफुल्लता की शिक्षा देते हैं[१]; नीलाकाश नीले सौन्दर्य एवं नील वर्ण की महत्ता का ज्ञान कराता है; चंचल लहरें चंचलता का पाठ पढ़ाती हैं; कुष्माण्ड-पुष्प निर्भयता, शान्तिमयता, सहिष्णुता, कर्मण्यता, परोपकार और बुद्धिमत्ता का उपदेश देता है; चम्पक पुष्प सुखोपभोग तथा निश्चिंतता का पाठ पढ़ाता है; तितली आशावाद की शिक्षा देती है और भ्रमर निराशावाद की महत्ता दर्शाता है[२]।

प्रकृति शिक्षा का अनन्त भाण्डार है। उसमें अन्तर्हित ज्ञान के अनन्त कोश से लाभान्वित होने के लिए उसके विभिन्न प्रकार के उपदेश-रत्न प्राप्त करके जीवन को सुख-समृद्धि बनाने के लिये, मानव—विशेषकर कवि—अनेक प्रकार के प्रयत्न करता है। 'निर्झर की अजस्र झर-झर' से वह नूतन पाठ, उसके कल-कल निनाद से अनन्त-गान; निर्मलता से पवित्रता एवं निश्छलता; द्रवणशीलता से करुणा; जल में अन्तर्हित अभिलाषाओं की अग्नि से इन्द्रियों के संयमन, त्याग एवं प्रफुल्लता; जल-कणों के वैभिन्य में व्याप्त एकत्व से विश्व-वैभिन्य में व्याप्त एकत्व, विश्व-प्रेम एवं लोक-कल्याण-कामना; जल-कणों के एक में मिलकर प्रवाह-रूप धारण करने के स्वार्थ-साधन में उनके अ तत्व-त्याग से स्वार्थ में अन्तर्हित सुखमय त्याग तथा जल-दान से दानशीलता के महत्त्व का अनुपमेय पाठ पढ़ता है[३] और उषा से हास्य की महत्ता तथा जीवन के भीषणतम संघर्षों पर विजय प्राप्त करने के प्रसाधनों का ज्ञान और निद्रा-संयमन, जागृति, परोपकार एवं विश्व-कल्याण की प्रेरणा प्राप्त करता है[४]।

प्रकृति प्रसन्नता का आगार है, संगीत का मधुमय कोष है। अतः मानव—विशेषकर भावुक कवि—उससे संगीत-शिक्षण की प्रार्थना करता है[५], संगीत सीखने के लिए उसके पास जाता है[६]। संगीत ही नहीं, वह बहुधा उससे शृंगार, प्रणय आदि अन्य कलाओं की भी शिक्षा प्राप्त करता है। बसंत उसे अमृतमय अधरों के

१. पंत, वीणा, वीणा-ग्रन्थि, पृ० १५।

२. भ्रमर तब एक उठा यों बोल--नहीं रे यह ऐसी रँगरेल;
जिन्हें ले जाता माली तोड़, निकाला करता उनका तेल;
कुचलता और मसलता खूब, और फिर तप्त कुण्ड में डाल;
मनोरम फूलों से सुकुमार किया करता वह भीषण खेल।
—विराज, बसन्त के फूल, पृ० ६२-६६।

३. पंत, वीणा, वीणा-ग्रन्थि, पृ० ४५।

४. माधवसिंह 'दीपक', सात सौ गीत, पृ० ४६।

५. सिखा दो ना, हे मधुप-कुमारि, मुझे भी अपने मीठे गान।
—पंत, मधुकरी, पल्लव, पृ० २८।

६. मैं भी उससे गीत सीखने, आज गई थी उसके पास।
—पंत, वीणा, वीणा-ग्रंथि, पृ० २६।

समान रक्ताभ अशोक, मतवाले भ्रमर-समूह की गुंजार, दन्तावलि के समान चमकते हुए कुन्द-पुष्पों के हारों, प्रफुल्लित मुख-मंडल के समान विकसित कमल-समूह तथा आम्र-मंजरियों की सुगन्ध में बसे हुए मन्द-मन्थर पवन से शृंगार, वाक्-माधुर्य एवं मादक गतिशीलता की शिक्षा देता है[१]; चींटी उसके लिए स्थापत्य-कला के आदर्श प्रस्तुत करती है[२] और पशु-पक्षी मुक्त प्रणय-कला का महत्त्व व्यंजित करते हैं[३]।

प्रकृति मानव की ही नहीं, स्व-वर्गीय रूपों की भी शिक्षिका है। जिस प्रकार वह मानव को विभिन्न प्रकार की शिक्षा देती है, उसी प्रकार स्व-जातीय प्रकृति-रूपों को भी संगीत, नृत्य, हाव-भाव, सौन्दर्यांकन, प्रफुल्लता एवं शांति की महत्ता का पाठ पढ़ाती है। कलिकाएँ मधुप-बालाओं को संगीत की शिक्षा देती हैं। विहग-कुमारियाँ वृक्षों की शाखाओं पर नृत्य-कला की शिक्षा प्राप्त करती हैं[४]। शून्य आकाश में संगीत की पाठशालाएँ लगती हैं[५]। पवन लताओं एवं पुष्पों को नृत्य की शिक्षा देता है। पुष्प, पत्ते और उनमें अन्तर्हित मंजुल प्रतिमाएँ लताओं को हाव-भाव की शिक्षा देती हैं[६]। त्रिविध समीर तरु-पत्रों को प्रणय-कला और ललित लहरियों को नृत्य की शिक्षा देता है[७]। मेघ कलिकाओं को मधुमयी स्मिति का पाठ पढ़ाते हैं। दिशाएँ पर्वत-शिखरों को प्रकृति-सौंदर्यांकन की शिक्षा देती हैं[८]। पतंग मेघ-शिशुओं

---

१. रक्ताशोकविकल्पिताधरमधुर्मत्तद्विरेफस्वनः।
कुन्दापीडविशुद्धदन्तनिकरः प्रोत्फुल्लपद्माननः।
चूतामोदसुगन्धिमन्दपवनः शृंगारदीक्षागुरुः।
कल्पान्तं मदनप्रियो दिशतु वः पुष्पागमो मंगलम्।
—कालिदास, ऋतुसंहार, षष्ठ सर्ग, छन्द ३६।

२. पंत, चींटी, युग वाणी, पृ० ६।

३. पंत, द्वन्द्व प्रणय, ग्राम्या, पृ० ८६।

४. नवल कलियों के धोरे झूम, प्रसूनों के अधरों को चूम,
मुदित, कवि-सी तुम अपना पाठ सीखती हो सखि! जग में घूम।
—पंत, मधुकरी, पल्लव, पृ० २८।

५. तरु शाखाओं पर नर्तन सीखतीं विहग-बालाएँ।
लगती हैं शून्य गगन में संगीत-पाठशालाएँ।
—गोपालशरणसिंह, कादम्बिनी, पृ० ७२।

६. गोपालशरणसिंह, कादम्बिनी, पृ० ७१।

७. हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० ११।

८. पंत, प्रथम रश्मि, आधुनिक कवि (२) पृ० ३।
तथा—
दूर क्षितिज के निकट असित घन-खंड से।
विन्ध्याचल के विविध-शिखर थे दीखते।

को रुदन की शिक्षा देते हैं[1]। मेरु पर्वत पृथ्वी को करुणा की महत्ता का संदेश देता है[2] और त्रिविध समीर अपने संयम एवं पवित्र भावों से प्रकृति को शांति की महत्ता का अमर सन्देश देता है[3]।

सारांश यह कि प्रकृति मानव तथा स्व-वर्गीय प्रकृति-रूपों दोनों को ही विभिन्न प्रकार के संदेश, अनेक प्रकार के उपदेश तथा विविध प्रकार की शिक्षाएँ देती है और अनेक प्रकार के आदर्श प्रस्तुत करके उनके जीवन को जीने योग्य बनाती, उनकी समस्याएँ सुलझाने के विभिन्न प्रसाधन बताती तथा अन्य अनेक प्रकार से उनके भौतिक एवं पारमार्थिक कल्याण में योग देती है।

मानव तथा प्रकृति में उपदेश-वैषम्य

मानव तथा प्रकृति के उक्त उपदेश-साम्य के समर्थन का तात्पर्य यह नहीं कि दोनों में इस दृष्टि से कहीं किसी भी प्रकार का वैषम्य नहीं है। भावुक कवि मानव तथा प्रकृति दोनों को एक ही धरातल पर घसीट कर उनमें प्रायः एक ही प्रकार की प्रवृत्तियों का दर्शन एवं उनका प्रदर्शन करता है, विश्व-कल्याण की महती भावनाओं का विधान करता है और संसार के कल्याण के लिये दोनों से ही उपदेश, शिक्षा एवं संदेश दिलवाता है, अनेक प्रकार के आदर्शों की प्रतिष्ठा करवाता है। किन्तु तात्विक दृष्टि से दोनों में यह उपदेश-साम्य सर्वत्र लक्षित नहीं होता। प्रकृति जड़ है। उसके जिन रूपों में चेतना का अस्तित्व है भी, वे भी चेतना के उस सोपान तक नहीं पहुँचे हैं जहाँ तक कि मानव। जड़ प्रकृति में तो वाणी का अभाव है ही, चेतन प्रकृति में भी वाणी अथवा भाषा का कोई विकास नहीं पाया जाता। चेतन प्रकृति के विभिन्न रूपों—लता-वृक्ष-पुष्पादि—की अपनी भाषा का अस्तित्व यदि मान भी लिया जाय, तो भी वह मानवीय भाषा के समान बोधगम्य नहीं कही जा सकती। पशु-पक्षियों की अपनी भाषा अवश्य होती है; किन्तु वह प्रकृति-जगत् के लिए भले ही बोधगम्य हो, मानव के लिए उसका समझ सकना सम्भव नहीं। यद्यपि मानव-जगत् के भाषा-वैभिन्य को देखकर यह कहा जा सकता है कि विश्व की विभिन्न

बैठ भुवन - व्यापिनी - दिग्वधू - गोद में।
प्रकृति - छटा अंकित करना थे सीखते।
—हरिऔध, वैदेही-वनवास, सप्तदश सर्ग, छन्द ३।

१. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० १६।

२. हो सकता है पत्थर का उर भी द्रवित।
पर्वत का तन भी पानी बन है बहा।
मेरु - प्रस्रवण मूर्तिमन्त प्रस्रवण बन।
यह कौतुक था वसुधा को दिखला रहा।
—हरिऔध, वैदेही-वनवास, सर्ग १७, पृ० २२६।

३. हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० ९४।

भाषाओं को भी तो संसार के सभी मनुष्य समान रूप से नहीं समझ सकते। यही नहीं, एक दृष्टि से प्रकृति-जगत् के पशु-पक्षियों आदि की भाषा अधिक बोधगम्य है; अधिक स्पष्ट है, क्योंकि उसमें समस्त संसार में एकरूपता है, कहीं कोई वैभिन्य नहीं। समस्त विश्व के पशु-पक्षी अपनी इच्छाओं, भावों अथवा मनोरागों को एक ही प्रकार से व्यक्त करते हैं; जबकि विभिन्न भाषा-भाषी मानव उन्हें सहस्रों-लाखों प्रकार से व्यक्त करता है, जिनका समझ सकना किसी भी मनुष्य के लिये सम्भव नहीं। फिर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पशु-पक्षियों की भाषा विभिन्न उपदेशों की व्यंजना अथवा उनके आकर्षक विधान के लिये पूर्ण विकसित नहीं।

वैषम्य का दूसरा कारण यह है कि मानव के समान प्रकृति की चेतना विकसित नहीं है। उसकी बुद्धि परिपक्व नहीं, स्वार्थ-साधन के अतिरिक्त परार्थ अथवा परमार्थ-साधन का उसे ज्ञान नहीं। कुत्ते प्रार्थना क्यों नहीं करते? उनमें धर्म की प्रतिष्ठा नहीं है—अर्थात् वे चेतना की उस भूमि तक नहीं पहुँचे हैं, जिसमें समष्टि-स्थिति की रक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले भावों का संचार होता है। वे यह नहीं जानते कि एक दूसरे को काटने दौड़ने से कुक्कुर-समाज की उन्नति और वृद्धि नहीं हो सकती। समष्टि-रक्षा या धर्म की ओर प्रवृत्त करनेवाले दया आदि भाव उन्हें प्राप्त नहीं हैं। उनमें स्वार्थ का भाव है, परमार्थ का नहीं। 'धर्मोरक्षति रक्षितः' की धारणा उन्हें नहीं होती[1]। अतः जड़ अथवा चेतन प्रकृति के पशु-पक्षियों आदि से धर्म के सत्स्वरूप की व्याख्या, अथवा उपदेश की आज्ञा करना बौद्धिक दृष्टि-विन्दु से तर्कसंगत नहीं। जिसे धर्म का ज्ञान ही नहीं है, वह उपदेश क्या देगा? और यदि यह मान भी लिया जाय कि वन-उपवन, नदी-नद, पर्वत-समुद्र, सूर्य-चन्द्र, मेघ, नक्षत्र, धरित्री, पतझड़, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, शिशिर, लता, पादप, पुष्प, उषा, मध्याह्न, सन्ध्या, निशा, चातक तथा मीन आदि में धर्म भाव की स्थिति है भी, तो भी इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं कि प्रकृति के यह सब रूप धर्म के विभिन्न अंगों की उपादेयता अथवा महत्ता का उपदेश देते ही हैं। यह तो मानव की भावुकता एवं सूक्ष्मदर्शिता ही है कि वह प्रकृति के विभिन्न उपकरणों पर मानव-रूप-गुण-भाव एवं व्यापारादि का आरोप करती है; उनसे विभिन्न सिद्धान्तों, आदर्शों, गुणों एवं उपदेशों की व्यंजना करवाती है, उनकी कल्पना करती है। मानव-कल्पना, भावुकता तथा सूक्ष्मदर्शिता के अभाव में प्रकृति-प्रदत्त उपदेशों अथवा शिक्षाओं का कोई स्थान नहीं। यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि काव्य-जगत् के समस्त सन्देश, उपदेश, शिक्षाएँ, आदर्श अथवा धर्म सम्बन्धी व्याख्याएँ भी एक प्रकार से मानव-कल्पना-प्रभूत ही हैं। किन्तु मानव व्यावहारिक जगत् में भी इस प्रकार के उपदेश, शिक्षाएँ तथा धर्मांगों के विविध

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्रद्धा-भक्ति, चिन्तामणि, भाग १, पृ० ३६।

सन्देश देता है, धर्म की व्याख्या करता है और विश्वमंगलकारी कृत्यों एवं गुणों आदि की प्रेरणा देकर अपने सहवर्तियों को धर्म-मार्ग का अनुगमन करके विश्व-कल्याण में योग देने के लिये प्रोत्साहित करता है। अतः उसके उपदेशों की सत्यता में किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। प्रकृति यथार्थ अथवा व्यावहारिक जीवन में ऐसा करती नहीं पाई जाती। अतः काव्य-जगत् में उसके द्वारा प्रदत्त उपदेशों की योजना एक प्रकार से कवि की अपनी सृष्टि ही कही जायेगी, उसकी भावुकता की देन ही समझी जायेगी।

इसके विपरीत प्रकृति के विभिन्न रूप-व्यापारों से संसार को, जो उपदेश मिलते हैं, वे बहुधा मानव-जगत् की अपेक्षा अधिक बहुमूल्य एवं कल्याणकारी होते हैं। उपदेश अथवा शिक्षा का श्रेष्ठतम रूप कर्म-सौन्दर्य--प्रदर्शन द्वारा अखिल सृष्टि की सत्प्रवृत्तियों के आकर्षण का प्रयत्न है। मानव जहाँ किसी कर्म की महत्ता प्रदर्शित करके संसार को उसकी शिक्षा देना चाहता है, वहाँ वह स्वयं उस कर्म को करके उसके सौन्दर्य की ओर विश्व को आकृष्ट करता है। जो व्यक्ति कर्म-सौन्दर्य-विधान की चिन्ता न करके केवल अधिक उपदेश देता है, संसार पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। लोग एक कान से सुन कर दूसरे कान से निकाल देते हैं। मानव-जगत् में यथार्थतः विश्व-कल्याण-कामी महापुरुष अपने कर्म-सौन्दर्य-विधान द्वारा सृष्टि को लोक-मंगल की ओर अभिमुख करते हैं। किन्तु सभी ऐसा नहीं करते। अतः प्रकृति के जो उपकरण अपने रूप-व्यापारों के द्वारा इस प्रकार के लोक-कल्याण की प्रेरणा देते हैं, वे कर्म-सौन्दर्य-विधान की चिन्ता न करनेवाले, केवल वाचिक उपदेश देकर उसकी महत्ता प्रदर्शित करनेवाले मानव-वर्ग से कहीं श्रेष्ठ हैं। सूर्य, चन्द्र, मेघ, नक्षत्र, लता, पादप, पुष्प, वन, उपवन, निर्झर, सरिता, सरोवर, समुद्र, पृथ्वी, छाया आदि प्रकृति-रूप ऐसे ही हैं। निष्कर्ष यह कि उपदेश, सन्देश तथा शिक्षण की दृष्टि से भी मानव तथा प्रकृति में जहाँ कुछ दृष्टियों से पर्याप्त साम्य है, वहाँ अन्य दृष्टि-विन्दुओं से पर्याप्त वैषम्य भी।

मानवीय उपदेश-विधान में उपमान-प्रकृति का योग

मानव विश्व-मांगल्य की कल्पना से प्रेरित हो संसार को कल्याणोन्मुख करने के लिए, उसकी प्रवृत्तियों के परिष्कारार्थ, विभिन्न प्रकार के उपदेश देता है। किंतु उसका यह कार्य प्रकृति-जगत् के सम्यक् योग के बिना सुचारु रूपेण सम्पन्न हो सकना सम्भव नहीं। संसार में एक ही बात को अनेक प्रकार से कहा जा सकता है—कर्कश स्वर में अक्खड़पन के साथ, अमृतोपम मधुर शब्दों में अत्यधिक विनम्रता के साथ, सीधे-सादे ढंग से प्रचारात्मक रूप में और विभिन्न प्रकृति-रूपों के योग से आलंकारिक अथवा परोक्ष रूप में अत्यधिक प्रभावोत्पादक एवं आकर्षण ढंग से। संसार में उपदेश कर्मण्य महापुरुष, साहित्यकार तथा धर्मप्रचारक सभी देते हैं, किंतु उसमें सफलता जितनी कर्मठ महापुरुषों एवं साहित्यकारों को मिलती है, उतनी

धर्म-प्रचारकों अथवा अन्य प्रचारवादियों को नहीं। कर्मवीर महापुरुष अपने कर्म-सौन्दर्य की योजना द्वारा मानव-मात्र की सद्वृत्तियों को आकृष्ट करते हैं; साहित्यकार परोक्ष-अपरोक्ष 'कान्तासम्मित'[1] उपदेश द्वारा लोक को मंगलोन्मुख करते हैं और धर्मप्रचारक तथा अन्य प्रचारवादी अपनी शुष्क-नीरस उक्तियों द्वारा मानव को सद्वृत्तियों का संदेश देते हैं; अपने सिद्धान्तों का शुष्क-नीरस प्रचार करते है। मानव सौंदर्य-प्रिय प्राणी है। वह कर्मठ महापुरुषों के कर्म-सौंदर्य का साक्षात्कार कर आनन्दातिरेक से विह्वल हो उसकी ओर दौड़ पड़ता है, उसे अपने जीवन तथा आचरण में देखने के लिए उत्सुक हो उठता है, स्वयं विश्व मंगलकारी कर्म-सौंदर्य के विधान का प्रयत्न करता है और दूसरों को भी उसकी महत्ता का संदेश देकर मंगलोन्मुख करता है।

साहित्यकार की वाणी का सौन्दर्य संसार को प्रभावित करके उसे अपनी ओर आकृष्ट करता है और मानव उससे प्रभावित होकर, वस्तु की महत्ता से परिचित हो, अपने जीवन में भी तादृश सौंदर्य की योजना के लिये प्रयत्नशील होता है। किंतु शुष्क-नीरस सिद्धान्तों के वाग्जाल में फँसाकर विभिन्न बातों का प्रचार करने वाले व्यक्तियों के कथनों में प्रायः कोई सौंदर्य नहीं होता। सौंदर्योपासक मानव उन की ओर आकृष्ट न होकर उनकी उक्तियों में अन्तर्हित वस्तु की महत्ता से अपरिचित ही रह जाता है। उपदेश की कल्याणकारी बातें मंगलमय होने के कारण सुन्दर होती अवश्य हैं, किन्तु उनका सौन्दर्य उनसे दूर के मानब को तभी विदित हो सकता है, जब कि उपदेशक अपने कथनों को या तो कार्य-रूप में परिणत करके उनके सौन्दर्य से उसे आकृष्ट करे या उनके मंगलकारी रूप को मर्मस्पर्शी काव्योक्तियों के स्वर्णावरण से आवेष्टित करके उसके सौन्दर्योपासक मन को उनके यथार्थ सौंदर्य-दर्शन की प्रेरणा दे। मानव यदि बाह्य सौंदर्य से आकृष्ट होकर उसके पास आयेगा, तो वह उसके आन्तर सौंदर्य के साक्षात्कार के लिए भी समुत्सुक हो प्रयत्नशील होगा।

अतः कवि संसार को कल्याणोन्मुख करने के लिए ठोस आन्तर सौंदर्य को आकर्षक बाह्य सौंदर्य का जामा पहना कर संसार के समक्ष प्रस्तुत करता है और इसके लिए प्रकृति के विभिन्न उपमान-रूपों का अनेक प्रकार से योग लेता है। मानव पर प्रत्यक्ष उपदेश का प्रभाव अधिक न पड़ने के कारण चतुर कवि उसे अपना संदेश प्रायः परोक्ष रूप से देते हैं। बिहारी के एक दोहे ने राजा जयसिंह को जितना प्रभावित किया था, उनके कल्याण में जितना योग दिया था, उतना शुष्क प्रचारवादियों के सहस्रों उपदेश भी नहीं दे सकते थे। चतुर कवियों की सफलता का यही रहस्य है। इसके अतिरिक्त कवि जहाँ प्रत्यक्ष उपदेश भी देता है, वहाँ भी वह विभिन्न उपनाम-प्रकृति-रूपों के योग से अपनी उक्तियों को इतनी सरस, बोध-

---

१. मम्मट, काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, कारिका २।

गम्य, चित्रात्मक एवं प्रभावोत्पादक बना देता है कि मानव उनकी उपेक्षा नहीं कर पाता, उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता। मानवीय उपदेश-विधान में उपमान-प्रकृति-रूपों के योग के महत्व का यही रहस्य है।

भारतीय काव्यकारों का उपदेशक-रूप आदिकाल से ही महत्वपूर्ण रहा है। हिन्दी-काव्यकार भी इसके अपवाद नहीं। उनके संदेशों से हिंदी-पाठकों को जीवन के कल्याण-पथ पर अग्रसर होते रहने के लिए जो सम्बल प्राप्त होता रहा हैं, विश्व-मांगल्य की जो प्रेरणा और प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है, वह निस्संदेह प्रशंसनीय है। सन्तोष, सत्संग, सहिष्णुता, परोपकार, दानशीलता, एकता, समदर्शिता, अहिंसा, नीति, न्याय, समयनिष्ठता, मर्यादापालन, इन्द्रिय-संयमन आदि धर्मांगों के बहुरंगी उपदेश-रत्न हिंदी-काव्य में अनेक स्थलों पर अपने दिव्य सौंदर्य की अलौकिक प्रभा-रश्मियों से देदीप्यमान रूप में मानव-मन को आकृष्ट करते हुए प्राप्त होते हैं। उनमें जहाँ एक ओर शुष्क, प्रत्यक्ष, प्रचारवादी, प्रकृति-निरपेक्ष सिद्धांत-वाक्यों के दुर्गम झाड़-झंखाड़ हैं, वहाँ दूसरी ओर परोक्ष, प्रकृति-सापेक्ष चित्रों के मधुर, सरस एवं अमृतोपम सिद्धान्त-स्रोतों का अभिनन्दनीय कलकल-निनाद भी है। यदि एक ओर सत्य बोलो, धर्माचरण करो, स्वाध्याय में किसी प्रकार का प्रमाद मत करो, समस्त संसार को अपना कुटुम्ब समझो, भौतिक सुखों को तिलांजलि देकर पारमार्थिक कल्याण के लिये अग्रसर हो, आदि सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति की प्रचारवादी प्रवृत्ति है, तो दूसरी ओर चतुर कवि-प्रजापतियों के विश्वमंगलकारी अमृतोपम मधुर संदेश भी हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि की महत्ता दूसरे प्रकार की उक्तियों में ही है, उसकी सुर-सरिता-सदृश कल्याणकारिणी शक्ति उन्हीं मधुर, तरल, संदेशों एवं उपदेशों में है, जो मानव-मन को बरबस आकृष्ट एवं प्रभावित करके कल्याणोन्मुख कर सकते हैं।

संसार क्षणभंगुर है, मानव-जीवन नाशवान् है, यह प्रायः सभी जानते हैं। किन्तु यह जानते हुए भी वे अपने जीवन-भवन की ऐसी गहरी नींव देना चाहते हैं, भौतिक सुख-साधनों को जुटाने के लिये, अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये, ऐसे अकरणीय कृत्य करते हैं, मानों उन्हें यहाँ अपना अस्तित्व सदैव बनाये रखना हो। कवि को अपने सहवर्तियों की इस दुर्बुद्धि पर खेद होता है, आश्चर्य एवं ग्लानि होती है और वह उसकी विवेक-बुद्धि को जागृत कर सत्पथ पर लाने के लिये, प्रकृति के चिर-परिचित रूपों के योग द्वारा, जीवन की क्षणभंगुरता के विविध प्रभावोत्पादक चित्र प्रस्तुत करके, उसके दुष्कृत्यों के लिए उसकी भर्त्सना करता है—

पांणी केरा बुदबुदा, इसी हमारी जाति।
एक दिनां छिप जांहिंगे, तारे ज्यूँ परभाति[१]।

---

१. कबीर, कबीर ग्रंथावली, पृ० ७३।

बादलों की छाया और धुएँ के महल मानव-जाति के चिर-परिचित सहचर हैं। सुषुप्तावस्था के सुख-स्वप्नों के समान उनका अस्तित्व भी क्षणिक एवं अस्थिर है। अतः कवि प्रकृति के इन क्षणभंगुर रूपों के विभिन्न प्रकार के योग द्वारा— इनके साम्य, आरोप एवं तादात्म्यादि के आश्रय से जीवन की क्षणभंगुरता की चित्ता-कर्षक, बिम्बात्मक एवं प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति करके, मानव-हृदय-पटल पर उसका अमिट चित्र अंकित कर देता है—

जीवन जन्म अल्प सपनों सों, समुझि देखि मन माहीं।
बादर छाँह धूप धौरहरा, जैसे थिर न रहाहीं[1]।

तथा—

धुवाँ कैसे धौरहर देखि तू न भूलि रे[2]।

यौवनावस्था चार दिन की चाँदनी है, बादलों की छाया है, इस पर गर्व करना बुद्धिमत्ता नहीं, घोर मूर्खता है—

जोबन धन है दिवस चारि कौ ज्यों बदरी की छाहीं[3]।

दिवस-शिशु नित्य प्रातः प्राची सुन्दरी के गर्भ से जन्म लेता है। पक्षी उसके जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में बधाई के गीत गाते हैं, किंतु सायंकाल वही दिवस-शिशु अधोगति से संघर्ष करता हुआ परारत-रक्ताक्त हो संध्या-सुन्दरी की गोद में अपने प्राण विसर्जित कर देता है। अतः प्रकृति के इस चिरपरिचित व्यापार के साम्य, आरोप एवं तादात्म्य आदि के विभिन्न प्रकार के योग द्वारा कवि मानव-जीवन की नाशमानता की अभिव्यक्ति करता है—

जन्मोत्सव का कलरव
दीर्घायु दिवस
धीरे-धीरे श्रान्त
जूझता अधोगति से
सूर वीर आयुष्मान
परास्त
नीली चादर में लपेटे कुछ
संध्या लोहू लुहान
इसी दिन की तरह हम भी भभक
बुझ जायँगे चुपचाप
ज्यों संसार का पल्ला पकड़ कर
आग्रह से झूलता आलोक क्रमशः स्याह पड़ जाता।

---

१. सूर, सूर सुषमा, पद ८६।
२. तुलसी, विनय-पत्रिका, पद ६६।
३. सूर, सूर-सुषमा, पद ८६।

किसी अनपढ़ी पुस्तक के समय हत पृष्ठ,
हम नुच जायँगे, बहती हवाओं में,
इसी दिन की तरह हो जायँगे हम राख[१] ।

आलोक जिस प्रकार क्रमशः स्याह होकर प्राण विसर्जित कर देता है, दिवस-शिशु जिस प्रकार सायंकाल अपने प्राणों से वंचित हो जाता है, अनपढ़ी पुस्तक के समयहत पृष्ठ जिस प्रकार बहती हवाओं में खो जाते हैं; उसी प्रकार मानव-जीवन का दीपक भी क्षणभर में ही चुपचाप भभक कर बुझ जाता है ।

प्रकृति-जगत् में धूप-छाँह की त्रिविध क्रीड़ाओं, की क्षणभंगुरता, तुषार-कणों की अस्थिरता, जल के बुलबुलों, तरंगों, अन्धड़ के झोकों, मेघों और विद्युत्-रेखाओं की नाशमानता को जैसे किसी प्रकार रोका नहीं जा सकता, उसी प्रकार नाशवान् मानव-जीवन को भी विश्व की कोई भी शक्ति स्थिर नहीं रख सकती । मानव तथा प्रकृति के इस साम्य के आधार पर कवि प्रकृति-जगत् के उक्त नाशमान रूपों के विभिन्न प्रकार के योग द्वारा मानव-शरीर की नाशमानता की प्रभावोत्पादक एवं बिम्बात्मक अभिव्यक्ति करता है—

सब जीवन बीता जाता है धूप छाँह के खेल सदृश । सब०
समय भागता है प्रतिक्षण में नव अतीत के तुषार कण में,

× × ×

बुल्ले लहर हवा के झोंके मेघ और बिजली के टोंके,
किसका साहस कुछ रोके जीवन का वह नाता है[२] *। सब०*

मानव-जीवन की क्षणभंगुरता से खिन्न उसकी अभिव्यक्ति के लिये आकुल कवि प्रकृति-जगत् में देखता है कि सौरभित वसन्त शिशिर में शून्य निःश्वासें भरता है; विहंगमों के कल-कूजन से गुंजायमान यौवन के ऐश्वर्य से पूर्ण वासन्ती पादप-शाखाएँ अपनी अकिंचनता में सिहर-सिहर उठती हैं, जीवन उनके लिए असह्य हो जाता है; वर्षा की उद्दाम, उच्छृंखल, उमड़ती, उफनाती एवं विनाश के भयंकर दृश्य प्रस्तुत करने वाली सरिताएँ ग्रीष्म के प्रचण्ड ताप में सूख कर काल के कराल चिह्नमात्र रह जाती हैं; प्रातःकालीन स्वर्गिम संसार का वैभव सान्ध्य ज्वाल से नष्ट हो जाता है; शिशिर-तुषार पुष्पों को झुलसा देता है; समीर हिम-मुक्ता-मण्डित डालियों का ऐश्वर्य नष्ट कर डालता है; इन्द्रधनुष का सतरंगी सौन्दर्य, विद्युत-वैभव, शरदाकाश की निर्बलता, मेघ-मारुत की क्रीड़ाएँ क्षणभर में नष्ट हो जाती हैं; तो उसे लगता है कि मानव तथा प्रकृति की यह क्षणभंगुरता बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप से है । अतः वह उसकी व्यंजना के लिये, उक्त प्रकृति-रूपों का अनेक प्रकार से

---

१. कुँवरनारायण, एक दिन तथा कुछ नहीं वाली पहेली, चक्रव्यूह, पृ० ४८-४९ ।
२. जयशंकरप्रसाद, स्कन्दगुप्त, पृ० ६४ ।

योग लेकर, अपने कार्य को सम्यक् रूपेज निष्पन्न कर, आत्म-पद-लाभ करके संतोष की साँस लेता है[1]—

शिशिर-सा झर नयनों का नीर झुलस देता गालों के फूल !

× × ×

मृदुल होठों का हिमजल-हास उड़ा जाता निःश्वास-समीर;
सरल भौंहों का शरदाकाश घेर लेते घन, घिर गम्भीर[2] ।

विश्व-कल्याण के लिए समुत्सुक कवि जीवन-पथिकों के पथ-प्रदर्शनार्थ प्रायः प्रकृति के विभिन्न उपकरणों पर शिक्षण-कार्य का आरोप भी करता है। पक्षियों को संसार की अनित्यता का पाठ पढ़ाने वाले शिक्षक-रूप में अंकित करता है; दीपक अपने प्राण न्योछावर करने वाले शलभों को प्रेम-यज्ञ में जीवन की आहुति देने वाले व्यक्ति का रूप प्रदान करता है; कंटकाकीर्ण बदरी-द्रुमावली को कुपुत्रों की कष्ट-दायिनी प्रवृत्तियों का बोध कराने वाली माँ के रूप में चित्रित करता है; नक्षत्रों से उनके मूक क्रन्दन, हाहाकार एवं हिमाश्रुओं द्वारा संसार की अस्थिरता की घोषणा करवाता है; स्वार्थ-लिप्सु, कामुक भ्रमरों द्वारा प्रवंचित पुष्पों से संसार की निष्ठुरता की अभिव्यक्ति करवाता है और मूक तृण, बेसुध पिकी, चिर-पिपासित चातकी तथा झरते हुए पुष्पों द्वारा विभिन्न अमर संदेशों का संकेत करवाता है—

यह बताया झर सुमन ने, यह बताया मूक तृण ने,
वह कहा बेसुध पिकी ने, चिर-पिपासित चातकी ने,
सत्य जो दिव कह न पाया था अमिट संदेश में,
आँसुओं के देश में[3] ?

तात्पर्य यह कि मानव-उपदेशांकन-प्रकृति का योग अनेक प्रकार से लिया जाता है—कवि की अन्तरात्मा के अमर संदेशों की अभिव्यक्ति में उसके उपमान-रूप विविध प्रकार से प्रयुक्त किए जाते हैं। कहीं उनका प्रयोग अन्योक्ति

---

१. विपुल मणि-रत्नों का छवि-जाल, इन्द्र धनु की-सी छटा विशाल—
विभव की विद्युत्-ज्वाल चमक छिप जाती है तत्काल;
मोतियों जड़ी ओस की डार हिला जाता चुपचाप बयार।
—पंत, परिवर्तन, पल्लव, पृ० ६७।

तथा—

दिवस-निशि का यह विश्व विशाल
मेघ-मारुत का माया जाल।
—पंत, परिवर्तन, पल्लव, पृ० १०१।

२. पन्त, परिवर्तन, पल्लव, पृ० ६६-६७।

३. महादेवी वर्मा, दीप-शिखा, पृ० ६६।

अथवा समासोक्ति-रूप में किया जाता है; कहीं रूपक-रूप में, कहीं उपमा, अर्थान्तर-न्यास, दृष्टान्त और उल्लास-रूप में और कहीं तद्गुण, अतद्गुण, व्यतिरेक, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, प्रहर्षण और अवज्ञा आदि की आलंकारिक शैलियों के रूप में। अतः मानव-उपदेशाभिव्यक्ति में प्रयुक्त उपमान प्रकृति-रूपों का योग किस-किस प्रकार और किन-किन रूपों में लिया जाता है, इसके सम्यक् निदर्शन के लिए अब उनके विभिन्न प्रकार के योगों पर संक्षिप्त विचार करें।

अन्योक्ति—उपदेशों का नारा धर्म-प्रचारक तथा उपदेष्टा आदि काल से लगाते चले आये हैं। मानव उनकी शुष्क-नीरस उक्तियों को और अधिक सुनना नहीं चाहता। अतः कवि उसे अपने अन्तर्तम की पुकार सुनाकर संसार-मार्ग में सतर्क करने के लिए, प्रकृति-जगत् को सम्बोधित करते हुए, अन्योक्ति-रूप में, जीवन की विविध मंगलमयी प्रकृतियों का अमृतोपम संदेश देता है और संसार की वास्तविकता का ज्ञान करा कर विवेक-बुद्धि से कार्य करने का संकेत करता है—

(१) *एकनिष्ठता*— *'कबीर' सीप समंद की, रटै पियास पियास।*
समदहि तिणका करि गणै, स्वाति बूँद की आस[१]।

(२) *संतोष*— *पटु पाँखे, भखु काँकरे, सदा परेई संग।*
सुखी परेवा जगत में एकै तुही बिहंग[२]।

(३) *अहिंसा, करुणा एवं विचारशीलता*— *स्वारथ सुकृत न स्रम बृथा, देखु विहंग विचारि।*
बाज पराये पानि परि, तू पंछीहिं न मारि[३]।

(४) *गार्हस्थ्यधर्म, कर्तव्य-पालन एवं कर्मण्यता*— *नीड़ छोड़ कर न उड़ विहंग रे।*
इस अनन्त का न अन्त है कहीं,
तू विरम सके, अगम सुगम नहीं;
\+ \+ \+
सार शान्ति, भ्रान्ति-भार ढो न अब
सार तोष, जीत-हार ढो न अब
टाल मत विशाल डाल को बना
शून्य का सँवार रूप-रंग रे[४]!

(५) *शरणागत-वत्सलता*— *मैलो मृग धारे जगत नाम कलंकी जाग।*
तऊ न कियो मयंक तुम सरनागत को त्याग।
सरनागत को त्याग कियो नहिं ग्रसे राहु के।
लिये हिये में रहौ तजो नहिं कहे काहु के।

१. कबीर, कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १६।
२. बिहारी, बिहारी-बोधिनी, दो० ६६५।
३. बिहारी, बिहारी-बोधिनी, दो० ६६६।
४. जानकीवल्लभ शास्त्री, गीत वितान, ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० ३३-३४।

बरनै 'दीनदयाल' जोति मिस तौ जस फैलो।
हौ हरि को मन सही कहै नर पामर मैलो[१]।

(६) इन्द्रिय-संयमन तथा विवेकशीलता—
नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल[२]।

(७) क्षमा, सहिष्णुता एवं शील-सौजन्य—
भूतल तो महिमा बड़ी फैल रही संसार।
छमा सील को कहि सकै सहत सकल के भार।
सहत सकल के भार धराधर धीर धरै हो।
पारावार अपार भार सिर कीट करै हो।
बरनै 'दीनदयाल' जगौ जग है ऊजल।
सबकी छमत गुनाह नाह तुम सबके भूतल[३]।

(८) सत्संग—एरी घूरी तूमरी! अहो धन्य तव भाग।
मज्जति सुरसरि नीर में, साधु प्रसाद प्रयाग।
साधु प्रसाद प्रयाग, टूटि जब तें तू आई।
तब ते भई सुरंग, मलीन कुसंग बिहाई।
बरनै 'दीनदयाल', छुटी कटुता सब तेरी।
सुधरी संगति पाय, घूर की तुमरी एरी[४]।

(९) क्षणभंगुरता—झर गए हाय, तुम कांत कुसुम।
सब रूप रंग दल गये बिखर,
रह सके न चारु-चिरन्तन तुम,
जीवन की मधु स्मिति गई बिसर[५]।

(१०) दानशीलता, करुणा त्याग, आत्मबलिदान सेवा तथा परोपकार आदि—
चुपके से झर तुमने फल को निज सौंप दिया जीवन, यौवन,
क्षण भर जो पलकों पर झलका वह मधु का स्वप्न न रहा स्मरण[६]।

(ख) समासोक्ति—कवि जानता है कि प्रत्यक्ष उपदेश का मानव पर प्रायः कोई प्रभाव नहीं पड़ता। लोग सुनी अनसुनी करके रह जाते हैं। अतः अपने

---

१. दीनदयाल गिरि, अन्योक्ति-कल्पद्रुम, प्रथम शाखा, छन्द २१, पृ० २६।
२. बिहारी, बिहारी-बोधिनी, दो० २६८।
३. दीनदयाल गिरि, अन्योक्ति-कल्पद्रुम, प्रथम शाखा, छन्द १६, पृ० २७।
४. दीनदयाल गिरि, अन्योक्ति-कल्पद्रुम, द्वितीय शाखा, छन्द ३६, पृ० १२२।
५. पंत, कुसुम के प्रति, युग वाणी, पृ० ८३।
६. पंत, कुसुम के प्रति, युग वाणी, पृ० ८३।

संदेशों को परोक्षरूप से व्यंजित करने के लिये वह प्रायः अपने कथन से प्रस्तुत-अप्रस्तुत दोनों ही वर्गों की व्यंजना करता है और इसके लिये समासोक्ति की आलंकारिक शैली का आश्रय लेकर उपयुक्त प्रकृति-रूपों के योग से अभीष्ट-साधन कर आत्म-पद-लाभ करता है—

सो दिल्ली अस निबहुर देसू। कोइ न बहुरा कहै सँदेसू।
जो गवने सो तहँ कर होई। जो आवै किछु जान न सोई[1]॥

यहाँ दिल्ली-गमन में परलोक-यात्रा का आरोप किया गया है, जिससे मुख्यार्थ दिल्ली-गमन के अतिरिक्त स्वर्ग-यात्रा सम्बन्धी बातों की भी व्यंजना हुई है। समासोक्ति से यह अर्थ व्यंजित किया गया है, इस सामान्य ज्ञान का काव्योचित संकेत किया गया है कि स्वर्ग जाने वाले व्यक्ति का संदेश कोई नहीं ला सकता। वहाँ जो भी जाता है लौट कर नहीं आता, वहीं का हो जाता है, क्योंकि वहाँ न तो जाना सरल कार्य है और न वहाँ से लौट कर आना।

(ग) *रूपक*—प्रायः प्रत्येक कवि आत्माभिव्यक्ति के लिये रूपकों का आश्रय लेता है। कविता-कामिनी रूपकों के जाने में जितनी शोभनीय प्रतीत होती है, उतनी कदाचित् अन्य किसी रूप में नहीं। अतः मानव-मांगल्य के लिये समुत्सुक कवि अपने संदेश-सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति रूपकालंकार की शैली में प्रकृति के विभिन्न उपमान-उपकरणों के योग से अनेक प्रकार से करता है। कहीं यह मन को पक्षी, अश्व और उन्मत्त गयन्द के रूप में चित्रित करके अपने सहचर मानव को उसे वशीभूत करने का उपदेश देता है; कहीं भगवद्भक्ति को मंगलमयी वर्षा के रूप में अंकित करके भक्तों पर भाव और राम-नाम के युगल-वर्णों पर श्रावण एवं भाद्रपद का आरोप करता है; कहीं सन्तों को हंस-रूप में चित्रित करके संहार को विवेकशीलता का संदेश देता है; कहीं मोह पर त्रिपिन, जप, तप तथा नियमादि पर जलाशय और झाड़ियों, काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि पर मेढकों, दुर्वृत्तियों पर कुमुदों, धर्मांगों पर कमलों, ममत्व पर जवासे, पाप-समूह पर उलूक-समुदाय, बुद्धि, बल, शील तथा सत्य पर मछलियों और नारी पर वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हिम-पुंज, शिशिर, अंधकारमयी रजनी तथा वंशी का आरोप करके संसार को स्त्री के धर्म-मार्ग में बाधक एवं दुःखद रूप का ज्ञान करा कर उससे बचने का उपदेश देता है[2]; कभी कष्टों पर कंटकों, जीवन पर पुष्प और गौरव तथा यश पर सुगन्ध का आरोप करके विपत्तियों की मंगलमयता तथा जीवन में सहिष्णुता, धैर्य, आशावादिता एवं अध्यवसाय के महत्त्व पर बल देता है—

जितने कष्ट-कंटकों में है जिनका जीवन-सुमन खिला।
गौरव-गन्ध उन्हें उतना ही अत्र-तत्र सर्वत्र मिला[3]।

---

१. जायसी, पद्मावत, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० २६४।

२. तुलसी, रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, पृ० ६४८-६४९।

३. मैथिली शरण गुप्त, पंचवटी, पृ० १५।

कभी राष्ट्रवासियों को सतर्कता, जागरूकता, देश-प्रेम एवं राष्ट्र-रक्षा का उपदेश देने के लिये स्वतन्त्रता पर नव्य-लता और देश के धन-धान्य को लालायित दृष्टि से देखनेवाले उसकी प्रभु-सत्ता प्राप्ति के लोभी शत्रुओं पर पशुओं का आरोप करता है—

स्वतन्त्रता-लता अभी मृदुल नवल
समूल पशु उसे न लें कहीं निगल,
कि हो हजार वर्ष की रगड़ विफल,
युवक सचेत
चौकसी
किए रहो[1] ।

और कवी संसार को धैर्य, दृढ़ता, निर्भीकता, गम्भीरता, वीरता, साहस, उत्साह तथा कष्ट-सहिष्णुता की महत्ता का संदेश देने के लिये विघ्न-बाधाओं पर अंधड़ के प्रचण्ड झोंकों, उक्त समस्त गुणों से युक्त मानव पर पर्वत और इन गुणों से रहित दुर्बल-हृदय व्यक्ति पर वृक्ष का आरोप करता है—

आते हैं विघ्नों के झोंके, बारंबार प्रचण्ड ।
गिरते हैं तरु पर रहता है, गिरिवर अटल अखण्ड[2] ।

विघ्न-बाधाओं रूपी झंझावात के प्रचण्ड झोंके जब बारम्बार आते हैं, तो साधारण मनुष्यरूपी वृक्ष गिर पड़ते हैं, धैर्य छोड़ कर जीवन-संग्राम से भाग खड़े होते हैं, सहन न कर सकने के कारण संसार से सदैव के लिये विदा हो जाते हैं ; किन्तु धैर्यशाली, दृढ़, निर्भीक, गम्भीर तथा सहिष्णु मानवरूपी पर्वत अटल-प्रचण्ड रूप से खड़ा रहता है, दृढ़ता से उनका सामना करता है, निर्बाध गति से अपने मार्ग पर बढ़ता जाता है, बाधाओं के झोंकों से रुकता नहीं । उक्त अवतरण में प्रथम पंक्ति का रूपक आगे चल कर रूपकातिशयोक्ति की सीमा तक पहुँच गया है, जहाँ उपमेय का उपमान में अध्यवसान हो जाता है ।

इसी प्रकार मित्रता के आवश्यक तत्त्वों की मार्मिक व्यंजना के लिये कवि यदा-कदा मित्र तथा मित्रता पर वस्त्र और मित्रों की राजसी वृत्तियों अथवा हुकूमत पर रज का आरोप करता है—

जो चाहौ चटक न घटै, मैलो होय न मित्त ।
रज-राजस न छुवाइये, नेह चीकने चित्त[3] ।

जिस प्रकार वस्त्रों को भव्य, दीप्तिमान, नूतन, आनन्ददायक एवं सुरक्षित रूप में रखने अथवा स्नेह से सचिक्कण वस्तु की भव्यता एवं दीप्ति को नष्ट

---

१ बच्चन, देश के युवकों से, धार के इधर-उधर, पृ० ६६ ।

२. रामनरेश त्रिपाठी, मिलन, पृ० ५५ ।

३. बिहारी, बिहारी-बोधिनी, दो० ६४४ ।

न होने देने के लिये यह आवश्यक है कि उसकी धूल से प्रत्येक प्रकार से रक्षा की जाय, उसी प्रकार मित्रता को सुन्दर, सुखद, भव्य, दिव्य एवं आकर्षक रूप में सदैव सुरक्षित रखने के लिये मित्रों के लिये भी यह आवश्यक है कि वे मित्र के स्नेह-स्निग्ध चित्त को अपनी हुकूमत अथवा बुरी लगने वाली बातों से दूषित होने से सदैव बचाये रक्खें।

(घ) *उपमा*—कवि अपने संदेशों की मार्मिक अभिव्यक्ति के लिये प्रायः प्रकृति के उपकरणों के साम्य-प्रदर्शन का भी आश्रय लेता है। कबीर, तुलसी आदि अनेक कवियों ने अपने अमृतोपम उपदेशों की व्यंजना प्रकृति के विभिन्न उपकरणों के साम्य-प्रदर्शन द्वारा अनेक स्थलों पर की है। परमात्मा मानव-अन्तःकरण में ही विद्यमान है, किन्तु अबोध मानव इस बात को न समझ कर उसे नाट्य-जगत् में खोजता फिरता है। अतः कवि उसे वास्तविकता का ज्ञान कराने के लिये, परमात्मा की अन्तर्व्याप्ति की व्यंजना, उसकी उपमा तिल में व्याप्त तेल, चकमक पत्थर में अन्तर्व्याप्त अग्नि, नेत्रों में ि थत पुतली, पुष्प में अन्तर्हित सौरभ और मृग-नाभि में विद्यमान कस्तूरी से देकर करता है[1]।

मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य भगवद्भक्ति करके आत्म-पद-लाभ करना है। किन्तु मानव प्रायः इस बात को न समझ कर अपना जीवन व्यर्थ नष्ट कर डालता है। अतः कवि उसे भगवद्भक्ति का उपदेश देने के लिये; उसके प्रभाव में मानव-शरीरांगों की निरर्थकता की व्यंजना करके अभीष्ट-साधन करता है और इसके लिये भगवान की कथा का श्रवण न करने वाले कानों की उपमा साँपों के बिलों से, सन्तों के दर्शन न करने वाले नेत्रों की मयूर-पंखों पर दृश्यमान नकली नेत्रों से, श्रीहरि तथा गुरु के चरण तल पर न झुकनेवाले सिर की कडुई तूँबी से और राम का गुण-गान न करने वाली जिह्वा की मेंढक से देता है[2]।

---

१. ज्यों तिल माहीं तेल है, ज्यों चकमक में आगि।
तेरा साईं तुज्झ में, जागि सकै तौ जागि।
ज्यों नैनन में पूतरी, त्यों खालिक घट माहिं।
मूरख प्रेम न जानहीं, बाहर ढूँढन जाहिं।
तेरा साईं तुज्झ में, ज्यों पुहुपन में बास।
कस्तूरी को मिरग ज्यों, फिरि-फिरि ढूँढ़े घास।
—कबीर, डा० वर्मा, काव्य-कुसुम, पृ० २२-२३।

२. जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना। श्रवन रंध्र अहिभवन समाना।
नयनन्हि संत दरस नहिं देखा। लोचन मोरपंख कर लेखा।
ते सिर कट तुंबरि समतूला। जे न नमत हरि गुरु पद मूला।
जो नहिं करइ राम गुन गाना। जीह सों दादुरजीह समाना।
—तुलसी, रामचरितमानस, बालकांड, पृ० १३१।

(ङ) *अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त एवं उदाहरण*—संसार में मनुष्य जब तक अपने कथन की पुष्टि आवश्यक प्रमाणों से नहीं करता, तब तक न तो कोई उसकी बात का विश्वास करता है और न ही किसी पर उसका अभीष्ट प्रभाव पड़ता है। कवि भी इस का अपवाद नहीं। उसके लिये भी यह एक प्रकार से आवश्यक सा ही होता है कि वह जो कुछ कहे, उसका समर्थन प्रकृति-जगत् के तथ्यों अथवा अन्य बातों से करे। अतः कवि प्रायः अपने उपदेशों को प्राकृतिक तथ्यों अथवा उपमानों से पुष्ट करके प्रस्तुत करता है। प्रकृति-जगत् के तथ्यों के समर्थन से उसके सिद्धांत, उपदेश एवं संदेश विश्वसनीय, अकाट्य एवं प्रभावोत्पादक हो जाते हैं। कबीर, सूर, रहीम, तुलसी तथा बिहारी आदि सभी लोक-निर्माता कवियों ने अपने आदर्शों एवं उपदेशों की अभिव्यक्ति, इसी प्रकार अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त अथवा उदाहरणालंकार की शैलियों में प्रकृति-जगत् के तथ्यों से पुष्ट करके की है और यही कारण है कि समाज पर भी उनका अभीष्ट प्रभाव पड़ा है—

(१) *परोपकार—तरुवर फल नाहिं खात हैं सरवर पियहिं न पान।*
कहि 'रहीम' परकाज हित, सम्पति सँचहिं सुजान[1]।

(२) *मानसिक पवित्रता एवं निर्मलता—न्हाये धोये क्या भया, जो मन मैल न जाय।*
मीन सदा जल में रहै, धोये बास न जाय[2]।

(३) *सत्संग-महिमा—हानि कुसंग सुसंगति लाहू। लोकहुँ वेद विदित सब काहू।*
गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा। कीचहिं मिलइ नीच जल संगा।
धूम कुसंगति कारिख होई। लिखिय पुरान मंजु मसि सोई।
सोइ जल अनल अनिल संघाता। होइ जलद जग जीवनदाता[3]।

(४) *समयोचित दान—दीयो अवसर को भलो, जासो सुधरे काम।*
खेती सूखे बरसिबो, घन को कौने काम[4]।

(५) *औचित्य, विवेक एवं मर्यादा—*
'रहिमन' अति नहिं कीजिए, गहि रहिये कुल-कानि।
अतिसे फूलै सहिजनो, डारपात की हानि[5]।

(६) *न्याय एवं धर्म रक्षा—प्रबला दुष्टा जान ताड़का को तुम मारो।*
स्त्री-हत्या का पाप तनिक भी नहीं विचारो।
क्यों न सिंहिनी और सर्पिणी मारी जावे।
जिससे देश समाज अकारण ही दुःख पावे[6]।

१. रहीम, रहीम-सतसई, कविता-कुंज पृ० ४३।
२. कबीर, कबीर-वचनावली, पृ० ४७।
३. तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० ३८।
४. वृन्द, वृन्द-सतसई, दो० ६।
५. रहीम, नव-सतसई-सार, पृ० ३७।
६. रामचरित उपाध्याय, रामचरित-चिंतामणि, दूसरा सर्ग, छन्द ४३।

(७) *राजनीति*—*एक राज्य न हो, बहुत से हों जहाँ।*
राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहाँ।
बहुत तारे थे अँधेरा कब मिटा।
सूर्य का आना सुना जब, तब मिटा[१]।

तथा—

साम-नय से दुष्ट सीधे मार्ग पर आते नहीं,
हाथ में आते न जब तक दण्ड वे पाते नहीं।
तप्त हो जब तक घनों की चोट खाता है नहीं,
काम में तब तक हमारे लौह आता है नहीं[२]।

(च) *अप्रस्तुत-प्रशंसा*—काव्य का उद्देश्य संसार को शुष्क-नीरस वाक्य-ज्ञान मात्र कराना नहीं, प्रेयसी का सा मधुर संदेश देना है। इस तथ्य से अभिज्ञ तथा अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक कवि अपनी हृदयानुभूति की अभिव्यक्ति के लिये अप्रस्तुत प्रकृति के उपकरणों का आश्रय लेकर, उनके वर्णनों द्वारा संसार को विभिन्न मंगल-कारी संदेश देता है—

दास परस्पर प्रेम लखौ गुन छीर को नीर मिले सरसातु है।
नीरे बेंचावत आपने मोल जहाँ जहाँ जाय के छीर बिकातु है।
पावक जारन छीर लगे तब नीर जरावत आपनो गातु है।
नीर की पीर निवारिबै कारन छीर घरी हो घरी उफनातु है[३]।

यहाँ अप्रस्तुत क्षीर-नीर के पारस्परिक सत्प्रेम, मित्रवत्सलता, त्याग एवं बलिदान आदि के विशेष वर्णन द्वारा अप्रस्तुत प्रशंसा (विशेष निबन्धना) की आलंकारिक शैली में कवि अपनी आत्मा का यह अमर उपदेश देता है कि मनुष्य के पारस्परिक प्रेम तथा मित्रता का आदर्श क्षीर-नीर जैसा होना चाहिये।

(छ) *उल्लास*—सत्संग के महत्व की व्यंजना तथा उसकी अमर प्रेरणा-दान के लिये आकुल कवि प्रकृति में जब देखता है कि लौह जैसी कुधातु भी पारस पत्थर के स्पर्श से बहुमूल्य स्वर्ण-रूप को प्राप्त हो शोभायमान होती है, तो उसकी इस आशा को कि सज्जन व्यक्ति के सम्पर्क में रहकर दुष्ट व्यक्ति भी शील-सौजन्यमय व्यक्ति के रूप में परिणत हो सकता है, अत्यधिक बल मिलता है और वह संसार को सत्संग की प्रेरणा देने के लिये पारस पत्थर के स्पर्श से स्वर्ण-रूप को प्राप्त लौह के प्राकृतिक तथ्य का योग लेता है—

सठ सुधरहिं सुठि संगति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई[४]।

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, साकेत पृ० १७।

२. रामचरित उपाध्याय, रामचरित-चिंतामणि, सर्ग १८, पृ० २६५।

३. भिखारीदास, काव्य-निर्णय, पृ० १०६।

४. तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० ३४।

यहाँ सत्संग की महिमा का संदेश देने के लिये कवि कहता है कि सत्संग से दुष्ट व्यक्ति भी सुधर जाते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे पारस पत्थर के स्पर्श से लौह कुधातु का पद त्यागकर स्वर्ण-रूप को प्राप्त होता है।

(ज) *तद्गुण*—मानव पर संगति का प्रभाव अवश्य पड़ता है। सत्संग से मनुष्य सज्जन और कुसंग से दुर्जन हो जाता है। अतः मनुष्य को कुसंग त्यागकर सत्संग करना चाहिये, जिससे कि उससे प्रभावित होकर वह शील-सौजन्य मय व्यक्ति बन सके। इस बात का काव्योचित उपदेश देनेवाला कवि अपने कथन की पुष्टि की शैली में प्रकृति के इस तथ्य से करता है कि एक ही स्वाति-नक्षत्र की बूदें सर्प, कदली और सीप के संसर्ग में आकर दुष्ट सर्प की दुष्टता से प्रभावित होकर विष और कदली तथा सीप की महत्ता एवं सज्जनता से प्रभावित होकर क्रमशः कपूर तथा मुक्ता-रूप को प्राप्त होती हैं—

कदली, सीप, भुजंग-मुख, स्वाति एक गुण तीन।
जैसी संगति बैठिए, तैसोई फल दीन[1]।

(झ) *अतद्गुण*—दुष्ट मनुष्य यदि दुर्मति के फेर में पड़ जाता है, तो उस पर सत्संग का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस तथ्य की प्रभावोत्पादक व्यंजना के लिए कवि प्रकृति-जगत के इस तथ्य का कि हींग कपूर में मिलाकर भले ही कितने ही दिन क्यों न रखी जाय, वह उसकी सुगंध से प्रभावित नहीं होती—उसका गुण प्राप्त नहीं करती—योग लेकर, उससे अपने कथन की पुष्टि करता है—

संगति सुमति न पावहीं, परे कुमति के धन्ध।
राखो मेलि कपूर में, हींग न होय सुगन्ध[2]।

(ञ) *व्यतिरेक*—संसार में सज्जनता अत्यधिक स्पृहणीय है। विश्व-मंगल में सज्जन व्यक्ति जितना योग देता है उतना मानव अथवा प्रकृति-जगत् का कोई भी प्राणी नहीं। अतः सज्जन व्यक्ति की तुलना में प्रकृति का कोई भी रूप अथवा प्राणी ठहर नहीं सकता, इस कथन द्वारा कवि व्यतिरेक अलंकार की शैली में मानव-गुणाधिक्य की व्यंजना करके संसार को सज्जनता के आदर्श पर चलने की काव्योचित प्रेरणा देता है—

सन्त हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना।
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुःख द्रवहिं सन्त सुपुनीता[3]

उक्त अवतरण में संत-हृदय को पर-दुःख से और नवनीत को अपने ही ताप से द्रवीभूत होनेवाला कहकर मानव-गुणाधिक्य एवं प्रकृति गुणाभाव की व्यंजना द्वारा

---

१. रहीम, रहीम-रत्नावली, पृ० ३, दो २२।
२. बिहारी, बिहारी-बोधिनी, दो० ६३८।
३. तुलसी, रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ६६६।

यह संकेत किया गया है कि नवनीत से भी श्रेष्ठ सन्त-हृदय की महत्ता अनुपमेय है। अतः मनुष्य को संसार में महान् बनने तथा सन्त-हृदय के समान विश्व-मंगल में योग देने के लिये सन्तों के समान ही द्रवणशील अथवा करुणार्द्रहृदय होना चाहिये।

(ट) *निदर्शना*—संसार में कहीं सुख है तो कहीं दुःख, कोई हँसता है तो कोई रोता है। परमात्मा का यह अटल विधान है। इसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं। अतः मानव को चाहिए कि वह सुख और दुःख दोनों को ही परमात्मा की देन समझकर प्रत्येक अवस्था में समभाव से रहे, न सुखों में हर्षोन्मत्त हो उठे और न दुःख में उसके वज्र-भार से विचलित। इस मंगलमय उपदेश की 'कान्तासम्मित' अभिव्यक्ति के लिये कवि प्रकृति-जगत् से पास-पास के दो वृक्षों के फलने और झड़ने के व्यापार का योग लेता है, उससे अपने कथन को प्रभावोत्पादक बनाता है—

'पास पास ये उभय वृक्ष देखो, अहा। फूल रहा है एक, दूसरा झड़ रहा।'
'है ऐसी ही दशा प्रिये, नरलोक की, कहीं हर्ष की बात, कहीं पर शोक की[1] *।'*

(ठ) *प्रतिवस्तूपमा*—नारी को पर पुरुष का हाथ नहीं छूना चाहिये। इस उपदेश को अमृतोपम मधुर एवं स्पृहणीय रूप देने के लिए कवि प्रकृति-जगत् से हंस-बाला, चकोरिका तथा सिंह-कुमारी के अनन्य आदर्शों का योग लेते हुए उनका मानव से साधर्म्य एव एकात्म्य प्रदर्शित करता है—

मानस में ही हंस-किशोरी सुख पाती है।
चारु चाँदनी सदा चकोरी को भाती है।
सिंह-सुता क्या कभी स्यार से प्यार करेगी।
क्या पर नर का हाथ कुल-स्त्री कभी धरेगी[2] *।*

उक्त अवतरण में नारी के सतीत्व, अनन्यता तथा कुल-मर्यादा-निर्वाह आदि गुणों पर बल देने के लिये प्रकृति के उपकरणों का जो योग लिया गया है, वह निस्संदेह अभिनन्दनीय है। उक्ति को काव्योचित सुमधुर बनाने के लिये प्रकृति का उक्त योग अनिवार्य था। उसके अभाव में उसमें सरसता, रोचकता तथा प्रभावोत्पादकता की उक्त योजना सम्भव नहीं थी, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।

(ड) *प्रहर्षण*—धार्मिकता का प्रभाव अमोघ है। धर्मपरायण व्यक्ति के लिये संसार में कुछ भी अप्राप्य नहीं। इस बात को दृष्टि में रखते हुए मनुष्य को सदैव अपने धर्म-पथ पर चलना चाहिये। बाधाओं अथवा विपत्तियों से विचलित होना उचित नहीं। इस अमर संदेश की अभिव्यक्ति के लिये कवि प्रकृति-जगत् से चातक की धार्मिक वृत्ति तथा उसके प्रतिफल का अनेक प्रकार से योग लेता है—

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ० १११।
२. रामचरित उपाध्याय, रामचरित चिन्तामणि, सर्ग १५, पृ० २१६।

ज्यों एक जल कण के लिये चातक तरसता हो कहीं,
उसकी दशा पर कर दया वारिद करे जलमय मही।
त्यों एक सुत के हेतु दशरथ थे तरसते नित्य ही।
पाये उन्होंने चार सुत, है धर्म का यह कृत्य ही[1]।

(ढ) *अवज्ञा*—कवि देखता है कि एक ओर मानव-जगत् में मूर्ख व्यक्ति प्रयत्न करके भी बुद्धिमान नहीं बनाया जा सकता और दूसरी ओर प्रकृति में बेंत प्रचुर जल-वृष्टि के बावजूद भी पुष्पित एवं फलित नहीं होता। अतः मानव तथा प्रकृति के इस साम्य के आधार पर कवि समाज को यह उपदेश देने के लिये कि मूर्ख व्यक्ति को बुद्धिमान बनाने का प्रयत्न करना उपहासास्पद है, अरण्यरोदन के समान व्यर्थ होता है—सामान्य शिक्षक तो दूर रहा, ब्रह्मा जैसे गुरु भी उसे बुद्धिमान नहीं बना सकते—उसके सुधार के लिये प्रयत्न करना समाज की शक्ति को व्यर्थ क्षीण करना है, एक के गुण-दोष से दूसरे के अप्रभावित बने रहने की अवज्ञा अलंकार की शैली में मेघों की सुधा-वृष्टि से भी बेंत के न फूलने-फलने के व्यापार का योग लेता है और इस प्रकार प्रकृति के योग से अपनी उक्ति को मार्मिक, रसात्मक एवं चित्रात्मक रूप प्रदान करता है—

फूलै फरै न बेंत, जदपि सुधा बरषहि जलद।
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहि बिरंचि सम[2]।

निष्कर्ष यह कि विश्व-कल्याण-विधाता कवि प्रकृति-जगत् के सम्यक् योग के बिना अपने उपदेश कर्म को सफलतापूर्वक सम्पन्न नहीं कर सकता। प्रकृति-रूपों के योग से रहित उपदेश-वाक्य काव्य-जगत् की वस्तु न होकर प्रचारकों के शुष्क-नीरस वाक्यमात्र रह जाते हैं, जिन्हें संसार एक कान से सुन कर दूसरे कान से निकाल देता है। प्रकृति के आश्रय को प्राप्त करके ही, उसके विभिन्न उपमानों का समुचित योग लेकर ही, कवि अपने उपदेशामृत द्वारा विश्व-कल्याण में योग देकर प्रजापति-पद को सार्थक कर सकता है, बिना उसके नहीं।

प्रकृति-प्रदत्त उपदेश में उपमान-मानव

यद्यपि यह सत्य है कि प्रकृति-प्रदत्त उपदेशों में भी एक प्रकार से उपदेश-विधाता मानव ही होता है और इस दृष्टि से प्रत्येक प्रकार के उपदेश-विभान अथवा संदेश-दान में मानव का ही सर्वाधिक योग होता है, तथापि जब हम मानव तथा प्रकृति के उपदेश रूपों को पृथक्-पृथक् कर देते हैं और प्रकृति-प्रदत्त उपदेशों में अन्तर्निहित मानव के तलस्पर्शी व्यक्तित्व पर ध्यान नहीं देते, तो हमें प्रकृति-प्रदत्त उपदेशों में उपमान मानव का योग उतना लक्षित नहीं होता, जितना मानव-प्रदत्त

---

१. रामचरित उपाध्याय, रामचरित चिन्तामणि, सर्ग १, छन्द ४५।
२. तुलसी, दोहावली, दोहा ४८४।

उपदेशों में प्रकृति का पाया जाता है। फिर भी विचारपूर्वक देखने पर इस प्रकार के उपदेशों में मानव का योग एक दूसरे रूप में सर्वत्र परिलक्षित होता है और उस रूप में वस्तुतः उसके योग के अभाव में प्रकृति-प्रदत्त संदेशों का कोई अस्तित्त्व ही नहीं हो सकता। प्रकृति का जो भाग जड़ है, वह तो जड़ है ही, उसकी बात तो दूर रही, उसके चेतनांश में भी बुद्धि-वैभव का वह चमत्कार नहीं, जो मानव-जगत् की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। मानव ही प्रकृति पर उपदेशक रूप का आरोप करता है, उसे उपदेशक मानव-रूप में चित्रित करके उसका मानवीकरण करता है। अतः प्रकृति के उपदेशक रूप में उपमान-मानव का योग सर्वत्र लिया जाता है, इसमें संदेह नहीं। कवि जब कहता है—

सहज पवन की प्रगति जो नहीं है सह जाती।
तो रोगी को सावधानता है सिखलाती।
रूपान्तर से प्रकृति उसे है डाँट बताती।
स्वास्थ्य नियम पालन निमित्त है सजग बनाती[1]।

अथवा—

जल को विमल बनाती हैं ये मछलियाँ
पूत प्रेम का पाठ पढ़ाती हैं सदा[2]।

तो वह प्रकृति पर नारी रूप का आरोप करने के लिये उपमान-नारी का योग लेता है और उसके योग द्वारा उसे विविध गुणमयी उपदेशिका नारी-रूप में चित्रित करता है और जब वह—

शशि किरणों से उतर-उतर कर भू पर काम-रूप नभचर,
चूम नवल कलियों का मृदु मुख सिखा रहे थे मुसकाना[3]।

कहता है, तो प्रकृति को पुरुष-रूप प्रदान करने के लिये उपमान-मानव का योग लेता है। अतः नारी, पुरुष अथवा बालक-रूप में चित्रित उपदेशक प्रकृति-रूपों में उपमान मानव का योग सर्वत्र विद्यमान रहता है, यह निस्संकोच कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की आलंकारिक शैलियों में प्रकृति-प्रदत्त उपदेशों में उपमान-मानव का योग प्रचुरता से न मिलने पर भी यदा-कदा मिलता अवश्य है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

———

१. हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० १२।
२. हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० २०८।
३. पंत, प्रथम रश्मि, आधुनिक कवि (२), पृ० ३।

नवम अध्याय

रहस्यवादी भावना तथा मानव और प्रकृति

मानव का यह जन्मजात स्वभाव है कि वस्तु उसे जितनी ही रहस्यमयी तथा गोपनीय प्रतीत होती है, उसके जानने की उसकी जिज्ञासा भी उतनी ही बलवती होती है। यही कारण है कि रहस्यवादी भावना एवं तथ्यों के सम्बन्ध में मानव जितना जिज्ञासु रहा है, विश्व-साहित्य एवं दर्शन में उस पर जितना विचार हुआ है, उतना सम्भवतः अन्य किसी विषय पर नहीं। सहस्रों दार्शनिकों, साहित्यकारों एवं आलोचकों ने उस पर विचार किया है, उसे परिभाषित किया है, उससे स्वरूप-निर्धारण का प्रयत्न किया है, फिर भी पूर्ण सत्य अब भी एक प्रकार से रहस्य ही है। फारसी के लब्ध-प्रतिष्ठ कवि उमरखय्याम ने अपनी रुबाइयों में एक स्थल पर जीवन तथा जगत् के विभिन्न रहस्यों की इसी प्रकार की दुर्बोधता तथा अबोध मानव की उन्हें जानने की असमर्थता की ओर संकेत किया है:—

निस्तल यह जीवन रहस्य, यदि भेद न मिले वृथा है खेद।

\+ \+ \+

सूक्ष्म हृदय इस मुक्ता फल का, कभी न कोई पाया बेध।
गोपन सत्य रहा नित गोपन, भेद रहा चिर अविदित भेद[1]।

और उसका यह कथन अस्वाभाविक अथवा अयुक्त भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि रहस्यमय वस्तु का पूर्ण भेद यदि संसार को सरलता से विदित हो जाय तो फिर वह रहस्य ही क्या, विशेषकर जब कि वह सृष्टिकर्ता, अज्ञेय, असीम, अनिर्वचनीय एवं निराकार सत्ता, उसके द्वारा निर्मित विश्व तथा उसके साथ उसके शाश्वत रहस्यमय सम्बन्धों का रहस्य हो और जब कि उसे जानने का दम भरने वाले, 'पानी बिच मीन पियासी, मोहिं सुनि-सुनि आवै हांसी[2]' कह कर संसार का उपहास करने वाले तथा 'तूँ तूँ कहता तूँ हुआ, मुझ में रही न हूँ[3]' आदि उक्तियों द्वारा अपने

---

१. उमर खय्याम, मधु ज्वाल, (उमर खय्याम की रुबाइयों का रूपान्तर), पृ० १४०।
२. कबीर, कबीर-वाणी, कबीर, द्विवेदी, पृ० २६३, पद ४३।
३. कबीर, कबीर-ग्रंथावली, पृ० २५५।

गर्व एवं ईश्वर-प्राप्ति की घोषणा करने वाले बड़े-बड़े रहस्यवादी कवि-प्रजापति भी 'गूँगे केरी सरकारा बैठे मुसुकाई[1]' कह कर उसकी अभिव्यक्ति के विषय में अपनी असमर्थता प्रकट करते हों। किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि रहस्यवाद के विषय में, जो कुछ भी कहा गया है अथवा कहा जाता है, उसमें सत्य का कोई अंश नहीं। रहस्यवादी काव्योक्तियों में सत्य का अंश अवश्य है, किन्तु वह पूर्ण सत्य न होकर केवल आंशिक सत्य है। क्षुद्र कूप का वासी मण्डूक जिस प्रकार केवल कूप के ही आकार-प्रकार को संसार समझता है, अन्धा व्यक्ति जिस प्रकार किसी विशालकाय गजेन्द्र के किसी अंग विशेष को टटोल कर उसे ही उसका सम्पूर्ण शरीर समझता है, उसी प्रकार मानव भी उस अज्ञेय शक्ति अथवा ब्रह्म के, जो कि समस्त संसार का स्रष्टा, पोषणकर्ता एवं नियंता है, किसी एक अंश का ज्ञान प्राप्त करके, उसे ही पूर्ण ब्रह्म समझ कर, उसके स्वरूप का वर्णन करता है। अतः समष्टि रूप में विभिन्न रहस्यवादियों द्वारा व्यक्त रहस्यवादी विचारों में अज्ञेय ब्रह्म के विभिन्न अंगों अथवा उसके पूर्ण स्वरूप की व्यंजना भले ही मिल जाय, पर किसी एक कवि अथवा विचारक द्वारा निर्दिष्ट उसके स्वरूप में उसके अनिर्वचनीय पूर्णरूप की उपलब्धि प्रायः संभव नहीं। कविवर जायसी का निम्नांकित कथन इसी तथ्य की ओर संकेत करता है—

सुनि हस्ती कर नावँ अँधरन टोवा धाइ कै।
जेइ टोवा जेहि ठावँ, मुहमद सो तैसे कहा[2]।

रहस्यवादी भावना क्या है ? निर्गुण, निराकार तथा अज्ञेय ब्रह्म के प्रति मानव के प्रणय-निवेदन, विरह-विह्वलता, विकल-खोज दया आत्म-समर्पणादि का अर्थ अथवा कारण क्या है ? निराकार ब्रह्म से साकार मानव, निस्सीम विश्वात्मा से ससीम आत्मा (प्राणी) का मिलन कैसा ? इस प्रकार के प्रश्नों पर विद्वानों ने अनेक प्रकार से विचार किया है। किन्तु इनका समाधान तथा विस्तृत विवेचन यहाँ अभीष्ट नहीं। हमारा विषय यहाँ मानव तथा प्रकृति के रहस्य-साम्य का दिग्दर्शन कराना है, उसी पर विशेष बल देना है, इन विषयों का विस्तृत विवेचन नहीं। अतः यहाँ हम केवल अभीष्ट विषय की पृष्ठभूमि के लिए ही इन विषयों पर यत्किंचित् विचार करेंगे और इसके लिये विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई रहस्यवाद की कतिपय परिभाषाओं का उल्लेख करके आगे बढ़ेंगे—

(क) Mysticism denotes that attitude of mind which involves a direct, immediate, first hand, intuitive apprehension of God,[3]

---

१. कबीर, कबीर-ग्रंथावली, पृ० १३६।

२. जायसी, अखरावट, जायसी-ग्रंथावली, पृ० ३२०।

3. R. D, Ranade, Indian Mysticism in Maharashtra, Preface, Page 1.

(ख) Most European writers have used it (Mysticism) to denote an intuitive or ecstatic union with the deity, through contemplation, communion or their mental experience or to denote the relationship and potential union of human soul with the ultimate reality,[१]

(ग) Mysticism is the art of finding harmonious relationship to the whole reality which man envisages. It deepens man's sense of order in the self and expands it into the Universe.[२]

(घ) Mysticism is a phase of thought or rather perhaps of feeling, which from its very nature is hardly suceptible of exact definition, It appears in connection with the endeavour of the human mind to grasp the divine essence or the ultimate reality of things, and to enjoy the blessedness of actual communion with the highest.[3]

(ङ) अज्ञात और अव्यक्त सत्ता के प्रति जिसमें भाव प्रकट किए जाते हैं, वही कविता रहस्यवाद की कही जा सकती है[४]।

(च) अद्वैतवाद या ब्रह्मवाद को लेकर चलनेवाली भावना से सूक्ष्म और उच्च-कोटि के रहस्यवाद की प्रतिष्ठा होती है[५]।

(छ) रहस्यवाद यद्यपि साधारणतः परिभाषेय नहीं, तथापि यदि उसे परिभाषित करने की चेष्टा की ही जाय और सो भी काव्य के क्षेत्र में, तो उसे 'अज्ञेय' (Unknowable) की सांकेतिक रसमयी सूचना कहा जा सकता है[६]।

(ज) रहस्यवाद जीवात्मा की उस अंतर्हित प्रवृति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और आलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और वह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अंतर नहीं रह जाता[७]।

---

1. Dr, S, N. Das Gupta, Hindu Mysticism, Page 16.
2. Dr, R. K. Mukerji, Theory and Art of Mysticism, Page 260.
3, Encyclopaedia Britannica,
Volume 17, Page 128-129,
४. डा० श्यामसुन्दरदास, हिंदी साहित्य, पृ० ३६२।
५. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जायसी-ग्रंथावली की भूमिका, पृ० १६०।
६. आचार्य ललिताप्रसाद सुकुल, रहस्यान्वेषण में छाया की प्राप्ति,
काव्य-चर्चा, पृ० १६३।
७. डा० रामकुमार वर्मा, कबीर का रहस्यवाद, पृ० ७।

(झ) 'रहस्य का' अर्थ है गुप्त-प्रच्छन्न या अव्यक्त और जिसमें गुप्त-प्रच्छन्न या अव्यक्त का उल्लेख है वही 'रहस्यवाद' है[१]।

(ञ) उस (रहस्यवाद) ने परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको सांकेतिक दाम्पत्य भाव-सूत्र में बाँध कर एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलम्ब दे सका, पार्थिव प्रेम से ऊपर उठा सका, हृदय को मस्तिष्कमय और मस्तिष्क को हृदयमय बना सका[२]।

(ट) रहस्यवाद विश्व की 'परम सत्ता' (Transcendental Reality) का बोध और साक्षात्कार है[३]।

(ठ) एक अदृश्य, असीम और निराकार शक्ति का अपने अथवा विश्व के व्यापारों के अन्तर्गत व्याप्त रूप में अनुभव करना ही रहस्य-भावना का मूल है। और जहाँ पर उसके साथ भावात्मक सम्बन्ध का प्रकाशन आ जाता है वहीं पर वह काव्य के अन्तर्गत रहस्य-भावना कही जाती है[४]।

(ड) रहस्यवाद हृदय की दिव्य अनुभूति है जिसके भावावेश में प्राणी अपने ससीम और पार्थिव अस्तित्व से असीम एवं अपार्थिव महा अस्तित्व के साथ एकात्मकता का अनुभव करने लगता है[५]।

(ढ) परम शक्ति की चतुर्दिक व्यक्त दिव्य महत्ता से चमत्कृत और आनन्द-विभोर जीवात्मा की अनुभूति की उस व्यंजना को रहस्यवाद कहते हैं, जिसमें अपने मूल कारण से निकटतम सम्बन्ध स्थापित करने की महत् भावना निहित हो[६]।

(ण) आत्मा और परमात्मा की पारस्परिक प्रणयानुभूति को रहस्यवाद कहते हैं। यह एक प्रकार का प्रणय-व्यापार ही है, परन्तु अध्यात्म के क्षेत्र का। यह प्रायः जिज्ञासा से उत्पन्न होता है और दर्शन एवं विरह के उपरांत मिलन में समाप्त हो जाता है[७]।

उक्त परिभाषाओं तथा रहस्यवादी काव्य पर समग्ररूपेण विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि रहस्यवाद के अन्तर्गत वे समस्त रहस्यमयी उक्तियाँ हैं,

---

१. प्रो० विनयमोहन शर्मा, रहस्यवाद-छायावाद और 'प्रसाद', कवि प्रसाद आँसू तथा अन्य कृतियाँ, पृ० १५।

२. महादेवी वर्मा, सान्ध्यगीत की भूमिका, पृ० ९-१०।

३. डा० केसरीनारायण शुक्ल, आधुनिक काव्य-धारा, पृ० २३६।

४. डा० भगीरथ मिश्र, हिंदी काव्य में रहस्य-भावना, साहित्य, साधना और समाज, पृ० ७३।

५. गंगाप्रसाद पाण्डेय, छायावाद और रहस्यवाद, पृ० ५४।

६. डा० प्रेमनारायण टंडन, रहस्यवाद की रूप-रेखा, साहित्य-परिचय, पृ० ११७।

७. विश्वम्भर 'मानव', सुमित्रानंदन पंत, पृ० ११५।

जिनमें आत्मा तथा परमात्मा के रहस्यमय शाश्वत सम्बन्धों, अद्वैत स्थिति, परमात्मा से वियुक्ता आत्मा की विकलता, प्रेमानुभूति, सृष्टि के विभिन्न रूपों में व्याप्त स्रष्टा प्रिय के आह्वानों तथा आत्मा द्वारा उसकी विकल-खोज, साधना की कठोरता, मार्ग की अगम्यता, विघ्न-बाधाओं, मिलन, आत्मसमर्पण एवं तादात्म्यादि का उल्लेख होता है। रहस्यवाद शब्द के अर्थ से भी यही ध्वनित होता है कि वह (आत्मा तथा परमात्मा के) विभिन्न रहस्यों की व्यंजना ही है, और कुछ नहीं।

रहस्यवादी भावना का मूलोद्गम

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विचार है कि रहस्यवादी भावना का मूलोद्गम सेमेटिक धर्म-भावना है,[1] किन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। उनके मत का खण्डन करते हुए श्री जयशंकरप्रसाद ने कहा है कि 'भारतीय रहस्यवाद ठीक मेसोपोटामिया से आया है, यह कहना ठीक वैसा ही है, जैसा वेदों को सुमेरियन डाकूमेन्ट सिद्ध करने का प्रयास[2]'। उन्होंने वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल के पूर्व तक की विभिन्न उक्तियों एवं प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया है कि रहस्यवाद मेसोपोटामिया की नहीं, भारत की अपनी वस्तु है। उनका कहना है कि जो लोग यह सोचते हैं कि आवेश में अटपटी वाणी कहनेवाले सामी पैगम्बर ही थे, वे कदाचित् यह भूल जाते हैं कि वैदिक ऋषि भी गुह्य बातों को चमत्कारपूर्ण सांकेतिक भाषा में कहते थे।

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसाद जी द्वारा उद्धृत वैदिक उक्तियों के अतिरिक्त वेदों तथा उपनिषदों की अन्य उक्तियाँ भी प्रसाद जी के ही कथन की पुष्टि करती हैं। 'समीर स्थिर क्यों नहीं रहता? मनुष्य का मन विश्राम क्यों नहीं लेता? जल क्यों और किसकी खोज में दौड़ता रहता है और क्यों अपनी धारा को एक क्षण के लिए भी नहीं रोकता[3]?' तथा 'जड़ रूप अन्तःकरण प्राण, वाणी आदि कर्मेन्द्रियों और चक्षु, श्रवण आदि ज्ञानेन्द्रियों को अपना-अपना कार्य करने की योग्यता प्रदान करके उन्हें उसमें प्रवृत्त करने वाला जो सर्वशक्तिमान चेतन है, वह कौन है, कैसा है[4]?' आदि कथन इसके उत्कृष्ट प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त एन्साइक्लोपेडिया ब्रिटानिका का यह कथन कि 'फलतः भारतवर्ष सदैव से ही व्याव-

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, काव्य में रहस्यवाद, चिन्तामणि भाग २, पृ० १३५।

२. जयशंकरप्रसाद, रहस्यवाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ५६।

३. कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः। किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदाचन्।
— अथर्ववेद-संहिता, पृ० २३०, कां० १०, सू० ७, मं० ३७।

४. ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथम प्रेति युक्तः
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति।
—केनोपनिषद्, प्रथम खण्ड, मंत्र १।

हारिक रहस्यवादियों और भक्तों को जन्म देता रहा है[१]' भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता है कि रहस्यवाद भारत की अपनी वस्तु है, उसका उद्गम सेमेटिक धर्म-भावना में नहीं, वैदिक ऋषियों की गुह्य एवं जिज्ञासा-पूर्ण उक्तियों में है।

मानव तथा प्रकृति में रहस्य-साम्य

मानव एवं प्रकृति का मूल एक ही अज्ञेय शक्ति—एक ही आदिकर्ता ब्रह्म—है। यह निखिल सृष्टि उससे उसी प्रकार उद्भूत होती है, जैसे मकड़ी से जाला, पृथ्वी से औषधियाँ तथा जीवित मानव से केश और रोम[२]। अतः अपने मूल रूप से पृथक् वियुक्त मानव तथा प्रकृति दोनों ही उसके वियोग में अनन्त विरह-विह्वलता, अपार विषाद एवं निस्सीम वियोग - दाह का अनुभव करते हुए सन्तप्त होते हैं—

तारे लेकर जलन, मेघ, आँसू का पारावार लिये
संध्या लिये विषाद, पुजारिन, उषा विफल उपहार लिये
हँसे कौन? तुझको तजकर जो चला वही हैरान चला
रोती चली बयार, हृदय में मैं भी हाहाकार लिये[३]।

इस समस्त सृष्टि की रचना उस आदि सत्ता के विरह-रूप में ही हुई है। यह अखिल ब्रह्माण्ड उसी के वियोग-दुःख का निदर्शन है, उसी के वियोग दुःख से सन्तप्त है। यद्यपि उसका यह विरह-दुःख अन्ततः उसके लिये फलदायक ही होगा—अपने मूल रूप ब्रह्म से उसके सम्मिलन में सहायक ही होगा[४]—तथापि जब तक उसका संयोग ब्रह्म से नहीं होता, तब तक उसे वियोगावस्था में ही रहना है, उसके अनन्त वियोग-दुःख को ही सहना है।

अतः अपने मूल रूप से वियुक्त मानव तथा प्रकृति दोनों ही उसके वियोग में विह्वल होते हुए अनन्त दुःखमय जीवन-यापन करते हैं। यदि एक ओर मानव उसके वियोग में विकलता का अनुभव करता, अपने अन्तर्प्रदेश तथा वाह्य जगत् में

---

1. India consequently has always been the fertile mother of practical mystics and devotees.
—Encyclopaedia Britannica, Vol. XVII, P. 130

२. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा
पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथा क्षरात्सम्भवतीहि विश्वम्। —मुण्डकोपनिषद्, प्रथम खण्ड, मन्त्र ७।

३ दिनकर, द्वंद्वगीत, पृ० १।

४. विरह समुंद अथाह अति, जग जानै सब कोइ।
मानिक सो लै उबरै, जो मरजिआ होइ।
—मंझन, मधुमालती, मिश्र, पृ० ७१।

उसे खोजता फिरता, सम्मिलन के लिये विभिन्न प्रयत्न करता, संयोग-सुख को प्राप्त करके आनन्दोल्लसित होता तथा आत्मसमर्पण कर अपना जीवन सार्थक करता है, तो दूसरी ओर प्रकृति भी उसके विरह में विह्वल होती, उसकी विकल-खोज करती, सम्मिलन के विभिन्न प्रयत्न करती और अन्ततः उसके संयोग-सुख से उल्लसित हो आत्मसमर्पण कर धन्य हो उठती है। अतः हिन्दी-काव्य में मानव तथा प्रकृति में व्यक्त रहस्य-भाव की स्थिति कहाँ-कहाँ और किन-किन रूपों में पाई जाती है और दोनों में इस दृष्टि से कहाँ तक साम्य है, इस पर विचार करने के लिये, अब हम मानव तथा प्रकृति दोनों की रहस्यवादी भावना पर पृथक्-पृथक् रूप से विचार करेंगे।

(अ) *मानव में रहस्य-भाव*—मानव परमात्मा से वियुक्त होकर अनन्त दुःख का अनुभव करता है। उससे वियुक्त उसका जीवन व्यथा की अनन्त कहानी है। उसके वियोग से विह्वल संसार से विरक्त मानव कभी अपने आदि देश की महत्ता एवं विचित्रता का स्मरण करके वहाँ पहुँचने के लिये लालायित-सा होता है[1] और कभी परमात्मा के विराट ऐश्वर्य की व्यंजना करके आनन्द-लाभ करता है[2]। वह जानता है कि उस अनन्त शक्ति का, उसके अज्ञेय प्रिय का, ऐश्वर्य अनुपम एवं रहस्यमय है। आकाश उसके न्याय-दरबार का शामियाना, धरित्री फर्श, वसन्त बहार, सूर्य-चन्द्र दीपक, दिशाएँ द्वार, झरने फुहारे, नक्षत्र फल-पुष्प तथा मलयानिल व्यंजन करने वाली दासी है[3]।

वह अपने उस अनन्त ऐश्वर्यमय मूल रूप का स्मरण कर उसके चरणों में अपने भाव-पुष्प अर्पित करता है, नमस्कार निवेदित करता है[4]। और उसकी सर्वज्ञता के विषय में सोच कर आनन्दातिरेक से भर जाता है[5]। किन्तु ज्योंही उसे

---

१. जहँवा से आयो अमर वह देसवा। पानी न पौन न धरती अकसवा।
चाँद न सूर न रैन दिवसवा। बाम्हन छत्रि न सूद्र बयसवा।
—कबीर, कबीर-वचनावली, पृ० २५०।

२. हैं चमकदार गोलियाँ तारे। औ खिली चाँदनी बिछौना है।
उस बहुत ही बड़े खेलाड़ी के। हाथ का चन्द्रमा खेलौना है।
—हरिऔध, चौखे चौपदे, पृ० ४।

३. झरने फुहारे बने—तारे बने फूल-फल,
पंखा मलयाचल की झलती बहार है। —श्यामनारायण पाण्डेय, आरती, पृ० ६।

४. प्रसाद, नमस्कार, कानन, कानन-कुसुम, पृ० ४।

५, The Ball no Question makes of Ayes and Noes,
But Right or Left as strikes the Player goes;
And He that toss'd Thee down into the Field,
He knows about it all—He knows—He knows.
—RUBAIYAT OF OMAR KHAYYAM OF NAISHAPUR, Translated by Fitzgerald, The Golden Treasury, Page 349.

अपनी वियुक्तावस्था का ध्यान आता है, वह अत्यधिक विह्वल एवं विषाद-मग्न हो जाता है। उसकी आत्मा खोई-खोई सी रहती है और उसे लगता है कि वह कहीं कुछ भूल आई है। उसके हृदय में उस अज्ञेय की स्मृति से सदैव ही एक कसक, एक वेदना, एक टीस सी उत्पन्न होती रहती है, उसका हृदय-स्पन्दन रुकने लगता है, अभाव उसकी विस्मृति-सरिता के कूलों को आच्छादित कर लेता है और वह परम विह्वला होकर कह उठती है—

कहीं से आई हूँ कुछ भूल।
कसक-कसक उठती सुधि किसकी, रुकती-सी गति क्यों जीवन की।
क्यों अभाव छाये लेता विस्मृत-सरिता के कूल[1]।

उस परम प्रिय का अभाव मानव को सृष्टि की प्रत्येक वस्तु के प्रति जिज्ञासु बना देता है। संसार की विभिन्न वस्तुओं एवं विभिन्न प्राणियों को देख कर वह सोचने लगता है, प्रश्नशील होता है। निशा के नीरव-निस्सीम अंधकार में वह कौन अज्ञेय शक्ति है ? हिम-विन्दुओं का स्मितिमय बाल-रूप किस परोक्ष सत्ता का सौन्दर्य-विलास है ? पक्षियों की कलकल-चहचह में माधुर्य का संचार करने वाली सत्ता कौन है ? सान्ध्य दिगंचल के रंगों की म्लानता के रूप में यह खिन्नता किस अज्ञेय शक्ति की है[2]। मरण एवं निर्वाण के विषय इस नश्वर शरीर-चषक में यौवन-मदिरा का भरने वाला कौन है ?

मृत्यु-निर्वाण प्राण-नश्वर कौन देता प्याला भर-भर[4] ?

सूर्य अपनी अनन्त किरणों द्वारा किस सौन्दर्य की खोज करता है। पर्वत किस अनन्त गान को आत्म-विस्मृत हो सुनते हैं ? समीर पुष्प को किस प्रिय का सन्देश देकर प्रसन्न कर देता है ? कोयल किस रसिक को रिझाने के लिये पंचम स्वर में गाती है ? उसके मन के रहस्यों को जानने वाला कौन है[5] ? यह अन्धकार किसके चरणों की छाया है ? किसके अभिमान में उन्मत्त है ? अपने अन्तर्तम में यह किस अदृश्य-अगम्य रहस्य को छिपाये है[6] ? निर्झर पर्वत के अंक से मचलता हुआ क्यों भाग पड़ता है ? वन के घोर अंधकार के साथ क्यों खेलता है ? क्या पाता है ? उसके रूप में कौन क्रंदन करता है ? कौन विलखता है और किस अज्ञात शक्ति

१. महादेवी वर्मा, रश्मि, पृ० ६६।
२. कौन तम के पार ? — (रे, कह)
—निराला, गीतिका, पृ० १४।
३. डा० रामकुमार वर्मा, चित्ररेखा, पृ० १०।
४. निराला, प्याला, अनामिका, पृ० ६३।
५ रामनरेश त्रिपाठी, रहस्य, मानसी, पृ० ११।
६. पंत, अंधकार के प्रति, पल्लविनी, पृ० १५।

की खोज में भटक-भटक कर श्रान्त हो वह अपने ही चरणों में गिर पड़ता है[१] ? यह निर्झर एकांत प्रान्त-प्रांगण में अपनी सुमधुर तान सुनाकर किस अदृश्य शक्ति को रिझाने का प्रयत्न करता है ? अपने उच्च स्थान को त्यागकर अधःपतित क्यों होता है ? किस प्रेमी की विकल-खोज में वन-वन भटकता है । किस परोक्ष सत्ता के वियोग में अपने शरीर को जलमय कर डालता है[२] ? वृक्ष-पत्र किन स्वप्नों की भाषा में इंगित करते हैं ? तारक-स्वप्नों की रात्रि प्रातःकाल कहाँ छिप जाती है ? समीर मेघों को मैदानों और घाटियों के मार्ग से निरंतर चपल गति से चलता हुआ किस प्रभु की आज्ञा से हाँकता है[३] ? सूर्य चन्द्र, मरुत, पवमान तथा वरुण आदि प्रकृति-शक्तियाँ किस अनन्त शक्ति के शासन में प्रसन्न-वदन विचरण करती हैं ? यह छाया किस रहस्याभिनय की साकार यवनिका है ? इस दुर्भेद्य आवरण में कौन विचित्र संसार अन्तर्हित है[४] ? यह मण्डलाकार तरंगें किस अनन्त का नीलांचल हिला-हिला कर आतीं, एक साथ स्वर में स्वर मिलाकर किस अज्ञेय सत्ता के उदारगीत गातीं और किस अज्ञेय प्रिय से मिलने की अभिलाषा से निरन्तर गतिशील रहती हैं[५] ?

यह समग्र सृष्टि किस अनन्त शक्ति के बल पर मौन-मुग्ध है[६]? यह नीलाकाश इतना विस्तृत होने पर भी रुदन क्यों करता है ? यह समीर वृक्षों में मुख छिपाये किस वेदना, किस व्यथा के कारण सिसकता रहता है[७] ? आकाश की नीली यवनिका में अन्तर्हित होकर तारक-कुसुमों की वृष्टि कौन करता है ? पुष्प-पुंज के रूप में सुहास करनेवाली यह सत्ता कौन है ? मुकुल-समुदाय में मकरन्द-रूप में वर्तमान रहनेवाली, वासन्ती उषा के मलय-समीर-रूप में स्पर्श करने वाली तथा हिम-काल में आतप-रूप में सुखदायिनी अनन्त शक्ति कौन है[८] ? सूर्य-रश्मियाँ किस अज्ञेय शक्ति के अनुराग-रंग में रँग कर आतीं और अपने किस प्रिय के विरह में व्यथित रहती है[९]? निर्झर जल-कणों को उछाल-उछालकर मंजुल-मुक्ताओं से किसका अंक भरते हैं ? वृक्ष-पत्र हिल-हिलकर किसे रिझाते हैं ? प्रसून खिल-खिलकर सुगन्ध क्यों वितरित करते हैं, अपने अनित्य सौन्दर्य से किसके मन को मुग्ध करते हैं ? भृंगावलि के उमंगपूर्ण बधावे क्यों बजते हैं ? बहुरंगी पक्षी कल-गान क्यों करते हैं[१०] ? नक्षत्र

१. प्रसाद, झरना, पृ० १७ ।
२. डा० रामकुमार वर्मा, एकांत गान, अंजलि, पृ० ६ ।
३. रामनरेश त्रिपाठी, स्वप्न, पृष्ठ २६ ।
४. पंत, छाया, पल्लव, पृ० ५७ ।
५. निराला, तरंगों के प्रति, परिमल, पृ० ८० ।
६. पंत, गुंजन, पृ० ४ ।
७. डा० रामकुमार वर्मा, आधुनिक कवि (३), पृ० ३५-३६ ।
८. प्रसाद, झरना, पृ० ५० ।
९. प्रसाद, झरना, पृ० १४ ।
१०. हरिऔध, स्फुट कविताएँ, महाकवि हरिऔध, गिरिजादत्त शुक्ल, पृ० ३१८ ।

निर्मल आकाश में प्रकट होकर मूक अभिनय क्यों करते हैं ? प्रेमी के अपलक नेत्रों के समान किस अज्ञेय शक्ति के दिव्य सौन्दर्य का साक्षात्कार करते हैं[१] । प्रकृति के अकलुष सौन्दर्य का सृजनकर्ता, स्वर्णवत् दिवस, मुक्तावत् रजनी, स्वर्णिम संध्या तथा गुलाबी उषा का स्रष्टा एवं विनाशकर्ता, संसार के विभिन्न चित्रों को बारम्बार रँगने तथा मिटानेवाला चित्रकार कौन है ?—

कनक से दिन मोती सी रात, सुनहरी साँझ गुलाबी प्रात,
मिटाता रँगता बारम्बार, कौन जग का यह चित्राधार[२],

शिशु के कम्पायमान अधरों पर यह धवल स्मिति किस अतीत स्मृति का परिणाम है ? इसका मूल जन्म-स्थान कहाँ है और यह उछल-उछलकर किस अज्ञात लोक की ओर अनजाने ही बहती जा रही है[३] ? मेरे हृदय-मन्दिर में अधिष्ठित यह कौन मेरी कसक में अलक्षित माधुर्य का संचार करता है ? पिपासित नेत्रों से अज्ञात रूप से घुमड़ घिर-कर यह कौन झरता है ? मेरे स्वर्ण-स्वप्नों का चित्रकार कौन है ? मेरे निःश्वास निरन्तर गति से किसका अनुसरण करते हैं[४] ? मेरे हृदय-मन्दिर में यह वीणा कैसी बज उठी ? इसे सुन कर मेरी दशा इतनी दयनीय क्यों हो गयी ? मेरे हृदय-सिंहासन पर अवस्थित यह कौन अपनी बाँसुरी की तान छेड़-छेड़ कर मदहोश किये देता है ? यह समस्त माया-सृष्टि ज्योत्स्नामयी कैसे हो उठी ? इस संगीत-स्वर की जल-धारा ने मुझे मीन क्यों बना लिया ?—

कैसी बजी बीन ।
सजी मैं दिन-दीन !
हृदय में कौन जो छेड़ता बाँसुरी ।
हुई ज्योत्सनामयी अखिल मायापुरी,
लीन स्वर-सलिल में मैं बन रही मीन[५] ।

परमात्मा से वियुक्त रहस्यवादी मानव उसे अपने प्रेम के बल से प्राप्त करता है । वह जानता है कि उच्चतर आध्यात्मिक सम्बन्धों का आनन्द प्राप्त करने के लिये उसका नारी-रूप में परमात्मा से प्रणय-याचना करना परमावश्यक है[६] । अतः

---

१. प्रसाद, निशीथ-नदी, कानन-कुसुम, पृ० ५६ ।
२. महादेवी वर्मा, रश्मि, पृ० ६ ।
३. पंत, स्वप्न, पल्लविनी, पृ० २६ ।
४. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० ५१ ।
५. निराला, गीतिका, पृ० १०४ ।
६. If thy soul is to go to higher spiritual blessedness, it must become a woman, however manly thou mayest be among men.

—Newman.

वह प्रायः अपनी आत्मा को नारी-रूप देकर अपने प्रियतम परमात्मा से प्रेम करता है—कभी स्वकीया और कभी परकीया-रूप में। प्रिय-प्रेमानुरागिनी रहस्यवादी कबीर की आत्मा कहती है—

दुलहनीं गावहु मंगलचार।
हम घरि आये हो राजा राम भरतार[1]।

प्रिय-अनुरक्ता महादेवी का कथन है—

ससि मैं हूँ अमर सुहाग भरी,
प्रिय के अनन्त अनुराग भरी[2]।

परमात्मा से वियुक्ता मानवात्मा उसके वियोग में विह्वल-व्यथित होती हुई अहर्निश अश्रु-वृष्टि करती है; उसका अश्रु-नीर रुकता नहीं, सतत प्रवहमान रहता है—

प्रिय, इन नयनों का अश्रु नीर दुख से आविल सुख से पंकिल,
बुद्‌बुद के स्वप्नों से फेनल, बहता है युग-युग से अधीर[3]।

वह अपने प्रिय से युगों से वियुक्त है, युग-युग की वियोगिनी है। उसका प्रिय उसे जबसे छोड़ कर गया है, तबसे लौट कर नहीं आया, यह सोच कर उसे निस्सीम दुःख होता है[4]। उसके बिना उसका संसार सूना हो गया है। वह उसकी प्रतीक्षा करती है, एक-एक दिन गिनती है और सोचती है कि क्या भविष्य में पुनः कभी संयोग का वह सुखद समय प्राप्त हो सकेगा—

तुम छोड़ गये द्वार। तबसे यह सूना संसार।
× × ×
आवेगा फिर क्या वह प्रात; भर कर वह प्यार[5]।

प्रतीक्षा-विह्वला आत्मा प्रभु-आगमन का शुभ संवाद पाकर महल पर चढ़-चढ़ कर उसकी राह देखती है—

सुनी हो मैं हरि आवन की अवाज़।
म्हैलां चढ़ि-चढ़ि जोऊँ मोरी सजनी कब आवैं म्हाराज[6]

---

१. कबीर, कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ८७।
२. महादेवी वर्मा, सान्ध्यगीत, पृ० ८५।
३. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० ४७।
४. मैं जानता हूँ, अनादि काल से, जाने कब जीवन-प्रवाह में मुझे सहसा छोड़ कर तू चला गया है।
—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, गीतांजलि (अनुवादक विद्यालंकार), पृ० ३०।
५. निराला, गीतिका, पृ० २५।
६. मीरा; मीरा-मन्दाकिनी, पृ० ३१।

किन्तु प्रिय नहीं आता तो उसे निद्रा नहीं आती। नेत्रों में अश्रु भरे प्रतीक्षा करते-करते रात्रि समाप्त हो जाती है। उसकी आँखों के अश्रु आँखों में ही समा जाते हैं किन्तु प्रिय के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता—

भूल कर भी तुम न आये।
आँख के आँसू उमड़ कर आँख में ही हैं समाए[१]।

प्रिय-प्रतीक्षा-मग्ना आत्मा फिर भी धैर्य नहीं छोड़ती, उसकी प्रतीक्षा करती ही रहती है, उसकी राह देखती ही रहती है। विषम परिस्थिति में उसे अपनी सहचरी प्रकृति के सहयोग तथा सहायता की आशा होती है और वह पुष्प के अर्ध-निमीलित नेत्रों, अम्बुधि की गतिशील तरंगों, हिम-विन्दुओं के विकीर्ण-वैभव, वृक्षों के पीत-पत्रों, समीर के मन्दोच्छ्वास तथा कृष्ण मेघ-पुंज आदि प्रकृति-रूपों से प्रिय की बाट जोहने, उसके चरणों पर न्योछावर होने, उसके आगमन की अवधि तक पुष्पों में निवास करने, पृथ्वी पर न गिरने, पुष्प-चषक में सौन्दर्यामृत न भरने तथा मौन धारण करने के द्वारा सहयोग देने की प्रार्थना करती है—

\+ \+ \+

जल कुबेर ऐ काले मेघ!
तब तक मौन रहो जब तक मेरे आँसू का पारावार[२]।

और अत्यधिक दीन-हीन हो प्रिय की अनुनय-विनय करके उससे याचना करती है—

मानस भवन पड़ा है सूना, तमोधाम का बना नमूना।
कर उसमें प्रकाश अब दूना, मेरी उग्र वेदना हर जा[३]।

किन्तु दूसरे ही क्षण उसे ध्यान आता है कि कहाँ तो मैं एक क्षुद्र प्राणी और कहाँ वह विश्व-स्रष्टा ब्रह्म? क्षुद्र और महान् का प्रेम कैसा? असीम के साथ ससीम का मेल सम्भव कहाँ?—

आज सजनि! उनसे परिचय क्या? वे घन चुम्बित मैं पथ-भूली[४]!

सागर बूँद में कैसे समा सकता है? पक्षी के क्षुद्र हृदय में अनन्त आकाश कैसे आ सकता है? न्याय तथा प्रेम का आगार दया-सिंधु परमात्मा क्षुद्र मानव-हृदय के संकुचित कारागार में बन्द कैसे किया जा सकता है?—

विश्व कर्म के न्याय, प्रेम के पुंज दयानिधि।
तुमको मैं छोटे से उर में पाऊँ किस विधि[५]।

---

१. डा० रामकुमार वर्मा, आधुनिक कवि (३), पृ० १३।
२. डा० रामकुमार वर्मा, अंजलि, पृ० १-३।
३. मुकुटधर पाण्डेय, सरस्वती, खण्ड १६, संख्या ४, सन् १६१८।
४. महादेवी वर्मा, नीरजा, पृ० १०६।
५. जीवनप्रकाश जोशी, माला, पृ० ६४।

किन्तु पुनः वह सोचती है कि नहीं, ऐसा नहीं है। प्रेम-जगत् में लघुत्व और महत्व के भाव बाधक नहीं होते। प्रेमी की दृष्टि में लघु और महान् में कोई अन्तर नहीं। उसके लिये दोनों ही समान हैं। चन्द्र और समुद्र की चपल वीथियों में कितना अन्तर है? फिर भी उनका प्रेम-सम्बन्ध असम्भव नहीं, सम्भव है, सम्भव ही नहीं, शाश्वत है[1]।

इसी विश्वास के बल पर वह उसे रिझाने के लिये सहचरी प्रकृति के सहयोग से विभिन्न प्रकार से शृंगार करती है। अशोक के अरुण रंग से अपने शिथिल चरण रँगती, रजनी-गंधा के पराग से मुख-मण्डित करती, चन्द्ररूपी दर्पण में मुख देख-देख कर अपने तिमिर-केश सुलझाती, तारक रूपी पारिजात पुष्पों को चुन-चुन कर उनमें गूँथती, यूथी की कलिकाओं से वेणी सँवारती, पाटल के सौरभित रंगों से हिम-श्वेत दुकूल रँगवाती, भ्रमर-गुंजन से परिपूर्ण बकुल-पुष्पों को अपनी किंकिणी में गुँथवाती, रजनी से अंजन माँग कर अलसित नेत्रों में डलवाती तथा रश्मियों का अवगुण्ठन डाल कर विभिन्न प्रकार के आध्यात्मिक एवं लौकिक शृंगार[2] करके आरती सजा कर प्रियतम के अन्वेषणार्थ निकल पड़ती है—

भीजै चुनरिया प्रेम रस बूँदन
आरती साज के चली है सुहागिन प्रिय अपने को ढूँढ़न[3]।

किन्तु अपने अभिसार-मार्ग पर अग्रसर होते ही लज्जा उसके मार्ग में बाधक बनती है[4]। पुनः जब वह सोचती है कि प्रेम-मार्ग खाला का घर नहीं, चन्द्रहास की तीक्ष्ण धार है; उस पर दृढ़-प्रतिज्ञ होकर चलनेवाला प्रेमी ही प्रिय को प्राप्त करके अपने जीवन को सार्थक कर सकता है; उस पर एक बार चल कर प्रत्यावर्तन सम्भव नहीं; तो वह अपने हृदय का सम्बल प्राप्त करके प्रोत्साहित होकर आगे बढ़ती है[5] और अपने वस्त्राभरणों एवं साज-सज्जा से प्रिय को आकृष्ट करके रिझाने का प्रयत्न करती है। किन्तु उस अज्ञात प्रिय को; निस्सीम ब्रह्म को, रिझाना सरल कार्य नहीं। इतना शृंगार करने पर भी इतने प्रयत्नों के बावजूद भी—वह आकृष्ट होता नहीं; रीझता नहीं; यह जान कर प्रेयसी आत्मा आश्चर्यपूर्ण विषाद से भर जाती है और उसके हृदय के मर्मोद्‌गार इस प्रकार निकल पड़ते हैं—

---

१. उर्मियों में झूलता राकेश का आभास।
दूर होकर क्या नहीं है इन्दु के ही पास?
—महादेवी वर्मा, रश्मि, पृ० ३६।

२. महादेवी वर्मा, सान्ध्यगीत, पृ० २६-२८।

३. कबीर, कबीर, द्विवेदी, कबीर-शब्दावली, पृ० ६।

४. निराला, गीतिका, पृ० ८।

५. निराला, गीतिका, पृ० ८।

+ + +

क्यों आज रिझा पाया उसको मेरा अभिनव शृंगार नहीं[1] ।

अपने शृंगार एवं अभिसार द्वारा प्रिय को आकृष्ट कर सकने में विफल प्रेयसी आत्मा इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि प्रिय के लिये साज-शृंगार तथा वस्त्रालंकारों का कोई मूल्य नहीं। वह तो केवल प्रेयसी के अश्रुमय रूप, विरह-विदग्ध शरीर एवं त्याग पर रीझता है। उसकी प्राप्ति के लिये अनन्य लोभ, अनंत तृष्णा तथा निस्सीम प्रेम ही यथेष्ट है, वही उसकी प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है[2]। उसकी प्रसन्नता के लिये अश्रुकणों का हार ही सबसे बड़ा शृंगार है। अतः वस्त्रालंकारों को त्याज्य समझ कर वह केवल अश्रु-हार पहन कर ही अभिसार करने का निश्चय करती है—

तज कर बसन विभूषण भार,
अश्रु-कणों का हार पहन कर आज करूँगी मैं अभिसार[3] ।

किन्तु पुनः केवल अश्रु-हार ही यथेष्ट न समझ कर वह अपने शरीर का दीपक बना कर, रक्त का स्नेह भर कर और प्राणों की वर्तिका जला कर[4] उसे खोजने के लिये अनन्त अभिसार-मार्ग पर आगे बढ़ती है, परन्तु दुर्बोध मार्ग में भटक जाती है, वास्तविक मार्ग भूल जाती है। विघ्नोंरूपी मरुस्थलों की बाधाओं रूपी बालुका-राशि मेरुवत् उच्च एवं अपार होकर भीरु जीवात्मा को अनन्त स्वर्ण-सरिता की धारा दिखला कर भ्रमित कर देती है—

× × ×

बालू का प्रति कण इस मरु का मेरु-सदृश हो उच्च अपार,
भीरु पथिक को भटकाता है दिखला स्वर्ण-सरित की धार[5] ।

यही नहीं, अपने प्रेम के बल से जब वह उस भ्रम से मुक्त हो भी जाती है, तो पुनः उसे मार्ग में विघ्न-बाधाओं रूपी अनेक दुर्गम पर्वतों, घाटियों, नदियों, कन्दराओं, नालों और काम, क्रोध, लोभ एवं मदादि बटमारों का साक्षात्कार करना

१. महादेवी वर्मा, सान्ध्यगीत, पृ० २६ ।

२. यह तृष्णा ही कौस्तुभ मणि बन
मुझे दिखावेगी वह द्वार,
बन उसका हृदयालंकार !

—पंत, वीणा, वीणा-ग्रन्थि, पृ० ३८ ।

३. पंत, वीणा, वीणा-ग्रन्थि, पृ० ३८ ।

४. इस तन का दीवा करौं, बाती मेल्यूँ जीव ।
लोही सींचौं तेल ज्यूँ, कब मुख देखौं पीव ।

—कबीर, कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ९ ।

५. पंत, वीणा, वीणा-ग्रन्थि, पृ० ५३ ।

पड़ता है[१]। विघ्नों के दुर्गम पर्वतीय मार्ग पर उससे बढ़ा नहीं जाता, ऊँचाई पर चढ़ा नहीं जाता। मन की लज्जा उसे आगे बढ़ने से रोकती है, पैर ठहरते नहीं, चढ़ती है, गिर पड़ती है, पुनः सम्हालकर चरण रखती है; पर कहाँ तो नितान्त अनाड़िनी अल्हड़ आत्मा-बाला और वह भी अटपटी चाल वाली और कहाँ आकाश के समान ऊँचे दुर्गम पर्वतों की झीनी गैल तथा अनन्त मार्ग[२] ? ऐसे मार्ग पर चलकर उसके लिये प्रिय-प्राप्ति सरल-कहाँ ? फिर भी वह निराश नहीं होती। विषमतम परिस्थितियों में भी केवल आशा के बल पर ही मार्ग पर गतिशील रहती है। इसी समय कोई अव्यक्त शक्ति अपने परोक्ष इंगितों द्वारा उसे समझाती प्रतीत होती है—'हे बावली ! दुर्बुद्धि छोड़कर सुबुद्धि ग्रहण कर। सद्गुरु के उपदेशानुसार प्रिय की प्राप्ति का प्रयत्न कर। उनके चरणों में चित्त लगा, हृदय के पट खोल और शब्द-ब्रह्म में मन रमा। तेरे प्रियतम तुझे अपने अन्तःकरण में ही प्राप्त हो जायेंगे[३]। किंतु प्रिय-प्रेमानुरागिनी आत्मा अन्तःकरण में प्रिय-प्राप्ति की बात से तुष्ट न होकर प्रिय को उसके पूर्ण व्यक्तित्व में—उसके परम प्रेममय रूप में—प्राप्त करने के लिए कृत-निश्चय हो, अंतः एवं बाह्य को समान महत्व देती हुई, हृदय की शुद्धता एवं सात्विकता के बल पर, सद्गुरु के उपदेशानुसार जब पुनः अपने प्रेम-मार्ग पर अग्रसर होती है, अनन्त मार्ग को तय करके प्रिय के अज्ञात देश में उसके विराट महल के पास पहुँचती है, तो उसके द्वारों की बहुलता तथा उन पर लगी हुई अनन्त भीड़ उसे निरुपाय-सा कर देती है—

तेरे घर के द्वार बहुत हैं किससे होकर आऊँ मैं।
सब द्वारों पर भीड़ बड़ी है, कैसे भीतर जाऊँ मैं[४]।

अनन्त खोज के अनन्तर जब उसे मुख्य द्वार का पता लगता है, कठोर साधना के पश्चात् जब वह उस पर पहुँचती है, तो उसका द्वार बन्द मिलता है। विह्वला आत्मा अत्यधिक करुणापूर्ण वाणी में द्वार खोलने की प्रार्थना एवं अनुनय-विनय करती है[५]। द्वार खुलता है, प्रिय-दर्शन की आशा होती है; किंतु जब भीतर चरण रखते

---

१. जायसी, पदमावत, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ५७।

२. कबीर, कबीर-बचनावली, पृ० १४१-१४२।

३. कबीर, कबीर-वचनावली, पृ० १४१-१४२।

तथा—

पास ही रे, हीरे की खान,
खोजता कहाँ उसे नादान ? —निराला, गीतिका, पृ० २७।

४. मैथिलीशरण गुप्त, सरस्वती, खण्ड १६, संख्या ५, सन् १६१८।

५. बन्द तुम्हारा द्वार ! मेरे सुहाग-शृंगार !
द्वार यह खोलो !
सुनो भी मेरी करुण पुकार ?
जरा कुछ बोलो ! —निराला, अंजलि, परिमल, पृ० १४१।

ही प्रिय अंतर्द्धान हो जाता है; तो वह उसकी आँख-मिचौनी से, उसके निष्ठुर मजाक से व्यथित-विह्वल हो कह उठती है:—

हे अज्ञात देश के वासी ! हे प्रियतम !! हे प्राणाधार !!!
कैसी है यह आँख-मिचौनी, है कैसा नीरस व्यवहार[1] !

किन्तु अत्यधिक अनुनय-विनय करने पर भी जब केवल उसकी जूतियों की धूल को हृदय, मस्तक और नेत्रों में लगा लेने की उसकी प्रार्थना भी विफल हो जाती है; तो उसके लिए उसका विरह ही सर्वस्व हो जाता है; वियोग मार्ग के अथ एवं इति का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है—'अलि, विरह के पंथ में मैं तो न इति अथ मानती री[2]' और वह वेदना-जगत् की सम्राज्ञी हो जाती है। प्रिय-दर्शनों की लालायिता प्रेयसी पहले प्रिय को वेदना में खोजती थी, अब वह प्रिय में भी वेदना को खोजने लगती है। वह चाहती है कि उसकी पीड़ा निरन्तर बनी रहे[3], उसकी तृषा कभी समाप्त न हो[4], उसके त्याग का अधिकार सदैव अक्षुण्ण रहे[5], उसकी वेदना ही चरमावस्था को प्राप्त हो अनन्त आनन्द का रूप धारण कर ले[6]। इस उच्च मनोदशा की प्राप्ति के समय, जब पिपासा और पीड़ा ही उसके जीवन का चरम साध्य हो जाती हैं, वह प्रिय का चमत्कार देखती है। उसे उसका मूक संगीत सर्वत्र सुनाई पड़ने लगता है, उसकी मधुर मूर्ति कण-कण में प्रतिभासित होती दीखने लगती है[7]। उसका अंधकारमय मार्ग देदीप्यमान हो उठता है। महान् रहस्य उसके समक्ष हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाता है। उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है। आकाश, मेघ, पुष्प, पादप, नक्षत्र, ग्रह आदि सभी में उसे अपना असीम प्रिय परिव्याप्त दीखने लगता है। चन्द्रिका में उसकी स्मिति; सरिताओं के कलकल-निनाद में उसकी हास्य-ध्वनि; सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रों तथा अग्नि में उसकी ज्योति; पृथ्वी, जल, पवन, नभ, पादप

---

१. मोहनलाल महतो 'वियोगी', निर्माल्य, पृ० १३।

२. महादेवी वर्मा, दीप-शिखा, पृ० १९। तथा सान्ध्यगीत, यामा, पृ० २०१।

३. अनोखे से नेही के त्याग, निराले पीड़ा के संसार।
कहाँ होते हो अन्तर्धान, लुटा अपना सोने-सा प्यार ?
—महादेवी वर्मा, नीहार, यामा, पृ० ५३।

४. मेरे छोटे जीवन में देना न तृप्ति का कण भर।
—महादेवी वर्मा, रश्मि, यामा, पृ० ७५।

५. क्या अमरों का लोक मिलेगा तेरी करुणा का उपहार ?
रहने दो हे देव ! अरे यह मेरा मिटने का अधिकार !
—महादेवी वर्मा, नीहार, यामा, पृ० ७।

६. है पीड़ा की सीमा यह दुःख का चिर सुख हो जाना।
—महादेवी वर्मा, रश्मि, यामा, पृ० ७५।

७. मुकुटधर पाण्डेय, सरस्वती, खण्ड १८, संख्या ६, सन् १९१७।

तथा पक्षियों में उसकी प्रभुता, बहुरंगी मेघों में उसका वर्ण तथा समस्त सृष्टि में उसकी कला का साक्षात्कार होता है। ब्रह्माण्ड के प्रत्येक स्थान में, प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक प्राणी तथा प्रत्येक रूप में उसे उसी विश्वात्मा के दर्शन होने लगते हैं[१]। इस उच्च सोपान पर अवस्थित प्रेयसी आत्मा को जब उसके प्रिय के आगमन का संकेत मिलता है, तो उसके सामीप्य-लाभ के भावी अनन्त आनन्द की कल्पना उसे इतना पुलकित कर देती है कि उसकी विभिन्न इन्द्रियाँ आत्म-विस्मृता हो अपने कार्य-व्यापार भूल जाती हैं, एक दूसरे का कार्य करने लगती हैं—नेत्र सुनने लगते हैं, श्रवण देखने लगते हैं, रोम-रोम में हृदय का-सा नूतन स्पन्दन होने लगता है। यह सब देखकर उसके प्राणों के छाले मिलनोत्साह की पुलकों से भर कर पुष्प-रूप हो जाते हैं—

नयन श्रवणमय श्रवण नयनमय, आज हो रही कैसी उलझन !
रोम-रोम में होता री सखि, एक नया उर का सा स्पन्दन !
पुलकों से भर फूल बन गये जितने प्राणों के छाले हैं।
अलि क्या प्रिय आने वाले हैं[२]।

अन्ततः अमावस्या की अंधकारमयी रात्रि में प्रिय आता है। उसकी दिव्य दीप्ति अमा-निशा के तम को चीरती हुई समस्त दिङ्मण्डल को ज्योत्स्नामय कर देती है। प्रेयसी आत्मा के मुग्ध प्राण आनन्दातिरेक से नृत्य कर उठते हैं। प्रिय का दर्शन करके उसका जीवन सार्थक हो जाता है[३]। वह उसे आत्म-समर्पण कर देती है, उसके श्रीचरणों में हृदय-पुष्प अर्पित करके अत्यधिक दीनतापूर्वक निवेदन करती है—

करो नाथ ! स्वीकार आज इस हृदय-कुसुम को[४]।

प्रिय प्रसन्न होकर उसे उसका प्राप्य प्रदान करता है, अपने आलिंगन-पाश में बाँधकर उसका जीवन सार्थक कर देता है[५]। प्रेमिका मानवात्मा की अनन्त यात्रा

---

१. माखनलाल चतुर्वेदी, हिम-तरंगिनी, पृ० ६१।

२. महादेवी वर्मा, नीरजा, पृ० ८७।

३. तुम आये,
अमा निशा थी,
शशधर से नभ में छाये।
फैली दिङ्मण्डल में चाँदनी
बंधी ज्योति जितनी थी बाँधनी
खुली प्रीति प्राणों से प्राणों में आये।
—निराला, अणिमा, पृ० ४२।

४. सियारामशरण गुप्त, सरस्वती, खण्ड २०, संख्या ४०, सन् १६१६।

५. ओहि झिरमिट माँ मिल्यो साँवरो खोल मिली तन गाती।
—मीरा, मीरा-मंदाकिनी, पृ० १।

का अन्त हो जाता है[१], उसके जीवन का ध्येय पूर्ण हो जाता है। वह प्रिय से अपना ममत्व छीन लेने की प्रार्थना करती है[२] और उसके द्वारा उसकी स्वीकृति पर तदाकार हो उसी में लीन हो जाती है[३]। आत्मा परमात्मा में और परमात्मा आत्मा में अंतर्व्याप्त हो जाता है और मानवात्मा कभी अपने अन्तःकरण में परमात्मा को व्याप्त पाकर आश्चर्य-चकित हो उठती है[४] और कभी अपने अन्तर्तम में ही भूतल ही नहीं, सूर्य-चन्द्र-ग्रह-तारे ही नहीं, असंख्य ब्राह्माण्डों को परिव्याप्त देखकर व्यष्टि और समष्टि के एकात्म्य का अनुभव कर स्वयं को ही विश्व-रूप तथा कर्ता जान कर 'अहम् ब्रह्मास्मि'[५] कह उठती है[६]।

(आ) प्रकृति में रहस्य-भाव—मानव के समान ही परमात्मा के ही अंश से उद्भूत होने के कारण प्रकृति भी उसके प्रेम, विरह आदि का उसी प्रकार अनुभव करती है, जिस प्रकार मानव उसके प्रेम-विरहादि का करता है। पादप-पर्ण उसके प्रेम की स्वर्णाभा से चमकते हैं। आकाश के अलसाये मेघ उसके प्रेम की मदिरा के नशे में झूमते हैं। सुवासित पवन उसके प्रेम में उन्मत्त होकर चतुर्दिक जल-कण विकीर्ण करता है। सूर्य-रश्मियाँ उसके अनुराग-रंग में रँग कर परमाणु-पराग छिटकाती हैं[७]। रसाल उसके प्रेम में झूमता है। बबूल उसके वियोग में काँपता है।

तथा—

The beloved took me to His arm
and I laid my bosom bare and clasped Him tight
—Anon.

१. मैं तुमसे मिल गया प्रिये ! यह है यात्रा का अन्त।
—डा० रामकुमार वर्मा, आधुनिक कवि (३), पृ० ५७।

२. तुम्हें अर्पण; और वस्तु त्वदीय। छीन लो छीन ममत्व मदीय।
—प्रसाद, समर्पण, झरना।

३. हेरत हेरत हे सखी रहा कबीर हेराइ। बूँद समानी समँद में सो कत हेरी जाइ।
—कबीर, कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १७।

४. कैसा अचरज है न जान पाया मैंने कभी, मेरे चित्त में ही छिपा मेरा चित्त चोर है।
—ठा० गोपालशरण सिंह, माधवी, पृ० ६।

५. बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।१०।

६. क्रम-क्रम से देखता है
अपने ही भीतर वह
सूर्य - चन्द्र - ग्रह - तारे
और अनगिनत ब्रह्माण्ड-भाण्ड। —निराला, पंचवटी-प्रसंग, परिमल, पृ० २५१।

७. किरण तुम क्यों बिखरी हो आज, रँगी हो तुम, किसके अनुराग।
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान, उड़ाती हो परमाणु पराग।
—प्रसाद, झरना, पृ० १४।

पलाश का नूतन अनुराग उसके वियोग में अग्नि-पुष्प होकर फूट पड़ता है। दिवस उसके प्रेम की खुमारी से आलस्य से भर जाता है। रात्रि उसके वियोग-दुःख के असह्य भार से दब जाती है[१]। नक्षत्र एवं वृक्ष उसके प्रेम-बाणों से बिद्ध होकर उससे मिलने के लिए सदैव आकुल रहते हैं[२]। नूतन मुकुलित लता-भवन, अलि-गुञ्जित कुंज तथा निर्जन कानन उससे मिलने की चिर उत्सुकता से मौन एवं म्लान रहते हैं[३]। पृथ्वी उसे अपने आलिंगन-पाश में आबद्ध करने के लिए लालायित रहती है[४]। सूर्य, चन्द्र एवं नक्षत्र उसकी मिलनेच्छा से प्रेरित होकर नर्तन करते हैं[५]। खद्योत, ग्रह तथा विद्युत-कण उसकी असह्य विरह-वेदना से पीड़ित होकर उसे खोजते हैं—

अंधकार में दीप जला कर किसकी खोज किया करते हो।
तुम खद्योत क्षुद्र हो तब फिर तुम क्यों ऐसा दम भरते हो[६]।

तथा—

ग्रह, नक्षत्र, और विद्युत्कण
किसका करते थे सन्धान[७]।

स्वाभिमानिनी शिशिर-यामिनी उसके विरह में अपने नेत्रों में अश्रु भरे हुए मूक रुदन करती है[८]। निर्झर उसके वियोग में अश्रुपात करता है। पुष्प कुम्हला कर अपने प्राण विसर्जित कर देते हैं। आकाश निराशा में क्रन्दन करता है। सूर्य-चन्द्र उसकी निरंतर खोज करते हैं। मेघ, विद्युत्, वायु, अग्नि, धूम्र, जल आदि प्रकृति-रूप उससे मिलने के लिए अनेक प्रयत्न करते हैं[९]। वन के पीत-पर्ण उसके विषम वियोग की तीव्र वेदना से विह्वल रहते हैं। व्याकुल वसुन्धरा क्षितिज

१. झूमा एक ओर रसाल, काँपा एक ओर बबूल
फूटा बन अनल के फूल, किंशुक का नया अनुराग।
दिन हैं अलस मधु से स्नात, रातें शिथिल दुःख के भार।
—महादेवी वर्मा, सान्ध्यगीत, पृ० ७६।

२. जायसी, पदमावत, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ४३।

३. यह नव मुकुलित लता भवन गुंजित कुंज, विजन कानन
चिर उत्सुकता की छाया से मौन मलिन हो रहा अपार!
—पंत, वीणा, वीणा-ग्रंथि, पृ० ३८।

४. गोपालशरणसिंह, अनन्त छवि, कादम्बिनी, पृ० २।

५. पंत, एक तारा, गुंजन, पृ० ७८।

६. मुकुटधर पाण्डेय, सरस्वती, खण्ड २१, संख्या ३, सन् १९२०।

७. प्रसाद, कामायनी, पृ० २६।

८. निराला, गीतिका, पृ० ८।

९. जायसी, पदमावत, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ६८।

पर पलकें बिछाकर प्रतीक्षा करती है। मलयानिल द्वार-द्वार जाकर उसका अनु-संधान करता है। प्रेमातुरा रजनी उसके चरणों की आहट सुनने के लिये जागरण करती और प्रतीक्षा में झुक कर तारों के दीपक जला कर अपलक नेत्रों से उसकी राह देखती है[१]।

उससे वियुक्त पक्षी अपनी अर्थहीन भाषा से, पवन विह्वल अस्थिरता में करुण क्रन्दन से, कल्लोलित अम्बुधि घोर गर्जन के स्वर से और सूर्य - चन्द्र युग - युग से घूम - घूम कर मेघ रूपी नेत्रों में अश्रु भर कर उसे पुकारते फिरते हैं[२]। सरिता उससे मिलने के लिये अनन्त पथ की यात्रा करती है; अभिसार करती है; ऐसी यात्रा, ऐसा अभिसार, जिसमें प्रत्यावर्तन तो दूर रहा, पीछे मुड़कर देखने के लिये भी समय नहीं[3]। उससे वियुक्ता लहर हरिताभ कानन की आनन्ददायिनी छाया से विरक्त-विमुख हो प्रिय-संयोग के लिये सतत प्रयत्न एवं निरन्तर कामना करती है—

देवलोक की अमृत-कथा की माया, छोड़ हरित कानन की आलस-छाया।
विश्राम माँगती अपना, जिसका देखा था सपना[४]।

उसके आगमन का संकेत पाकर प्रिय सम्पर्क की अभिलाषिणी वायु सुगन्ध से शृंगार कर मार्ग में जा समाती है; अरुण कलिकाएँ सज-धज कर अपने हृदय-थाल में आरती सजाती हैं; आकाश सूर्य-चन्द्र के दीपक जला कर उसकी आरती उतारता है; पल्लव नवीनातिनवीन वन्दनवार सजाते हैं[५]; वासन्ती-प्रेयसी हेम-लताओं से

१. आज बन के पत्ते-पत्ते से तीव्र वेदना व्यक्त हो रही है।
व्याकुल वसुन्धरा क्षितिज पर किसी की राह में सजल पलकें बिछाये बैठी है।
दक्षिण की वायु भी द्वारद्वार पर जाकर किसको खोज रही है।
प्रेमातुरा रजनी धरती पर किन चरणों की आहट सुनने को जाग रही है।
—रवींद्रनाथ ठाकुर, गीतांजलि (अनुवादक सत्यकाम विद्यालंकार), पृ० ६६।

तथा—
तेरी प्रतीक्षा में झुकी हुई यह नीरव रात्रि तारों का दीपक
जला कर अनिमेष नेत्रों से तेरी राह देखा करती है।
—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, गीतांजलि (अनुवादक सत्यकाम विद्यालंकार), पृ० ८२।

२. अर्थहीन भाषा में खग दल, अस्थिर पवन हो महा विह्वल।
आठों पहर घोर गर्जन कर, अंतहीन कल्लोलित सागर।
रवि-शशि युग-युग घूम घूम कर, घोर शून्य में मेघ-नयन भर।
नाथ! रहे हैं तुम्हें पुकार।
—मोहनलाल महतो 'वियोगी', निर्माल्य, पृ० १६।

३. पंत, वीणा, वीणा-ग्रन्थि, पृ० ३७।

४. प्रसाद, लहर, पृ० १३।

५. सुरभि से शृंगार कर—नव वायु प्रिय-पथ में समाई,
अरुण कलियों ने स्वयं सज, आरती उर में सजाई।

द्वारों को सजा कर, मंजुल सुमनों के हार-गूँथ कर, चम्पक पुष्पों के दीपक जला कर और नूतन पल्लवों के पाँवड़े बिछा कर उसका स्वागत करती है[1]; पक्षी मधुर स्वरों में उसका गुण-गान करते हैं; अनार-वृक्ष उसके अलौकिक रूप-माधुर्य के साक्षात्कार से दाँत निकाल कर हँसते हैं; हिमाद्रि का हास्य उसकी मृदुल स्मिति का दर्शन कर कल-गान के रूप में प्रस्फुटित हो पड़ता है; आकाश आनन्द-विभोर हो जाता है; सूर्य किरण-गीत गाकर स्वागत करता है; कमल विकसित हो जाते हैं; पक्षी मंगल-गान गाते हुए स्वागत-वाद्य बजाते हैं। समस्त प्रकृति उसके अनुराग रंग में रँग कर एक अपूर्व दिव्य छटा से दीप्तिमान हो जाती है, हर्षातिरेक से नूतन कमल-वन के समान खिल उठती है और प्रिय को प्राप्त करके उसका जीवन धन्य, ध्येय पूर्ण तथा प्रेम-यात्रा का अन्त हो जाता है—

बादल में आये 'जीवन-धन। बरस गई जल-धार विश्व-सृज,
शैवलिनी पा गई उदधि निज, मुक्त हुए जा स्नेह के क्षितिज
रूप-स्पर्श-रस-गन्ध-शब्द घन[2]।

मानव-रहस्याभिव्यंजन में प्रकृति

रहस्यवादी भावना की अभिव्यक्ति कवि-प्रजापतियों के लिये भी सरल कार्य नहीं। अज्ञेय प्रिय के स्वरूप, सौन्दर्य, प्रेम, विरह तथा मिलन का आनन्द भावुक रहस्यदर्शी के लिये भी गूँगे के गुड़ का स्वाद है—

अविगत, अकल अनूपम देख्या कहतां कह्या न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसैं गूंगै जानि मिठाई[3]॥

जिस प्रियतम का कोई रूप नहीं, आकार नहीं, गुण नहीं, जाति नहीं, प्राप्ति का कोई सरल उपाय नहीं; उसके रूपाकार अथवा प्रेम आदि का वर्णन किस प्रकार किया जाय, नश्वर स्वरों से अविनश्वर गीतों को कैसे गाया जाय—'नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ आज अनश्वर गीत'[4], रहस्यवादी के लिये यह एक शाश्वत समस्या है। उसकी अभिलाषाएँ शब्दों के अधखुले द्वारों से निकल नहीं पातीं, उसकी इच्छाएँ

वन्दना कर पल्लवों ने नवल वन्दनवार छाये।
—डा० रामकुमार वर्मा, आधुनिक कवि (३), पृ० १५।

तथा—
देख-देख कर उसे सुसज्जित, नभस्थली ने होकर पुलकित,
रवि-शशि की आरती जलाई—गोपालशरणसिंह, अनन्त छवि, कादम्बिनी, पृ० २।

१. गोपालशरणसिंह, अनन्त छवि, कादम्बिनी, पृ० २।
२. निराला, गीतिका, पृ० १५।
३. कबीर, कबीर-वचनावली, पृ० १४१।
४. डा० रामकुमार वर्मा, आधुनिक कवि (३), पृ० ११।

'उच्छ्वासों के लघु-लघु' मार्गों से चल कर थक जाती हैं। वह अपने स्वप्निल संकेतों से प्रिय को किस प्रकार बुलाये, यह उसकी समझ में नहीं आता[1]।

उस अज्ञात प्रिय को न तो एक कहा जा सकता है और न दो ही—'एक कहूं तो है नहीं, दोय कहूँ तो गारि'। वह जैसा है वैसा ही रहता है, उसकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं, उसका स्वरूप वर्णनीय नहीं। वेद उसके विषय में 'नेति-नेति' कहते हैं, बौद्ध मौन हैं और ईसाई दार्शनिक उसे केवल अनुभूति का विषय बताते हैं।

अतः कवि अपनी इस विकट समस्या को सुलझाने के लिये ममतालु प्रकृति की शरण जाता है, उसका अवलम्ब ग्रहण करता है और उसकी जननी प्रकृति अपने मानव-शिशु की इस समस्या को सुलझाने में विभिन्न प्रकार से अपना योग देकर, अनेक प्रकार से उसकी सहायता करके, पग-पग पर उसे प्रेरणा एवं प्रोत्साहन देती है। फलतः उसकी समस्या बहुत-कुछ सुलझ जाती है। वह उसके उपमानों तथा प्रतीकों के सहारे प्रिय के रहस्यमय रूप, निवास तथा उसके प्रति अपने उत्कट प्रेम, विरह एवं मिलनादि की व्यंजना करता है। अपने तथा प्रिय के घनिष्ठतम सम्बन्धों की अभिव्यक्ति के लिये वह तुंग हिमाद्रि-शृंग और सुरसरिता, सूर्य-रश्मियों और कमल की प्रफुल्लता, वृक्षावलि और शाखाओं, पथ और रेणु, आकाश और नीलिमा, शरदेन्दु और निशीथ-माधुर्य, सौरभित पराग और मलयानिल, मधुमास और कोकिल की पंचम-तान, आकाश और अंधकार, चन्द्र-बिम्ब और रश्मियों, समुद्र और तरंगों, दीपक और पतंगों, पुष्प और बुलबुल तथा घन और विद्युत के घनिष्ठतम सम्बन्धों के साम्य, आरोप तथा तादात्म्यादि का योग लेता है[2]। आत्मा एवं परमात्मा और परमात्मा एवं सृष्टि की अभिन्नता की व्यंजना के लिये सूर्य एवं धूप और समुद्र एवं तरंग की एकता के दृष्टान्त प्रस्तुत करता है[3]।

---

१. प्रिय तुम भूले मैं क्या गाऊँ।

+ + +

शब्दों के अधखुले द्वार से अभिलाषाएँ निकल न पातीं।
उच्छ्वासों के लघु-लघु पथ पर इच्छाएँ चल कर थक जातीं।
हाय, स्वप्न-संकेतों से मैं,
कैसे तुम को पास बुलाऊँ।

—डा० रामकुमार वर्मा, आधुनिक कवि (३), पृ० ११।

२. निराला, तुम और मैं, परिमल, पृ० ८४-८६।

३. तुम बिच हम बिच अन्तर नाहीं जैसे सूरज घामा।

—मीरा, मीरा बाई की पदावली, पृ० ४१, पद ११५।

तथा—
दरियाव की लहर दरियाव है जी, दरियाव औ लहर में भिन्न कोयम।
उठे तो नीर है बैठता नीर है, कहो किस तरह दूसरा होयम।

—कबीर, कबीर-वचनावली, पृ० १३१-१३२।

प्रियतम के दिव्य निवास लोक का वर्णन प्रकृति के शाश्वत सौन्दर्य अनन्त श्रृंगार, अपार महत्व, निस्सीम प्यार, दिव्य विकास तथा कोमल कमनीय प्रकाश द्वारा करता है[1]। उसके रूपांकन के लिये उसके विभिन्न रूपों का अनेक प्रकार से प्रयोग करता है। शरदेन्दु की विशाल रश्मियों से उसके आकाश की महत्ता, पारावार से उसकी दया की निस्सीमता, तरंग-मालावों से उसकी प्रशंसा[2], चन्द्रिका एवं बालारुण से उसकी स्मिति[3], वसन्त से उसका हास्य, पतझड़ से उसका रोष[4], श्यामान्धकार से उसकी चितवन, इन्द्र-धनुष से भ्रू-विलास, विद्युत् से अंग-राग, नील गगन से वस्त्र[5], पूर्णेन्दु से सुषमा, घन-घटा से छटा, पुष्प से शोभा तथा दीप्तिमान दीपक से उसकी छवि का अनेक प्रकार से वर्णन करता है—

सुषमा उसी की अवलोक के सुधाकर में, रूप-सुधा पी कर चकोर न अघाते हैं।

\+ + +

दीप्यमान दीपक में देख वही छवि बाँकी, प्रेम से प्रफुल्लित पतंग जल जाते हैं[6]।

क्षिति, जल, पावक, गगन तथा समीर से निर्मित मानव-जीवन परमात्मा से पृथक होकर उसी प्रकार उद्वेलित एवं विक्षुब्ध हो उठता है, जैसे झंझावात से प्रकृति के पंचतत्व तथा विभिन्न पदार्थ। अतः मानव तथा प्रकृति-जगत् के इस साम्य के आधार पर परमात्मा से वियुक्त मानव-जीवन की उद्विग्नता की व्यंजना के लिए कवि किसी अज्ञेय 'गहन गुहा' से उद्भूत झंझावात से उसका सहज साम्य प्रदर्शित करता है[7]। इसी प्रकार कवि कभी अपने वियुक्त-विरक्त जीवन की व्यथा की मार्मिक अभिव्यक्ति के लिये जीवन पर सान्ध्य गगन, वैराग्य पर तत्कालीन क्षितिज, सौभाग्य पर उसकी नूतन अरुणिमा, विरक्त काया पर उसकी छाया तथा सुधि-विह्वल स्वप्नों पर उसके बहुरंगी मेघों का आरोप करता है—

---

१. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० १३।
२. प्रसाद, प्रभो, कानन-कुसुम, पृ० १-२।
३. महादेवी वर्मा, नीहार, पृ० ६६।
तथा—
प्रसाद, प्रभो, कानन-कुसुम, पृ० १-२।
४. महादेवी वर्मा, दीप-शिखा, पृ० २।
५. महादेवी वर्मा, दीप-शिखा, पृ० २१।
६. गोपालशरणसिंह, माधवी, पृ० २।
७. किस गहन गुहा से अति अधीर
झंझा प्रवाह सा निकला यह जीवन विक्षुब्ध महा समीर।
ले साथ विकल परमाणु-पुंज नभ, अनिल, अनल, क्षिति और नीर।
—प्रसाद, कामायनी, पृ० १५७।

प्रिय ! सान्ध्य गगन, मेरा जीवन ! यह क्षितिज बना धुँधला विराग,
नव अरुण - अरुण मेरा सुहाग, छाया-सी काया वीतराग
सुधि भीने स्वप्न रंगीले घन[१] ।

कभी अपने अश्रुपूर्ण जीवन को 'नीर भरी दुःख की बदली[२]' का रूप प्रदान करता है; कभी अपनी व्यथा को रात्रि, करुण कहानी को तम, अश्रुओं को वर्षा की सजलता, स्मृति, वेदना तथा दाह को विद्युत एवं दीपक, माधुर्य को प्रातःकाल, शरीर के घुलने को मोम तथा चेतना को स्वर्ण आदि प्राकृतिक उपमानों के बहु-विध योग द्वारा व्यक्त करता है[3] और कभी विरहिणी मानवात्मा की पिपासा की अभिव्यक्ति के लिये विद्युत, अभिलाषाओं की व्यंजना के लिये इन्द्रधनुष तथा स्वप्नों की चाँदनी के चित्रांकन के लिए बादल आदि प्रकृति के उपमानों के साम्य, आरोप एवं अध्यवसानादि का विभिन्न प्रकार से योग लेता है ।

कवि मानवीय रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति जहाँ बहुधा प्राकृतिक उपमानों के साम्य, आरोप अथवा अध्यवसानादि द्वारा करता है, वहाँ यदा-कदा उनके वैषम्य-प्रदर्शन द्वारा भी । उसकी विरह-विदग्धा आत्मा की निराशा जब पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है, तो वह अपने तथा प्रकृति के वैषम्य से अत्यधिक खिन्न होकर उस (वैषम्य) की व्यंजना के आश्रय से अपनी वियोग-व्यथा की अभिव्यक्ति करता है—

चकवी बिछुटी रैणि की, आइ मिली परभाति ।
जे जन बिछुटे राम सूं, ते दिन मिले न राति[४] ।

रहस्यदर्शी कवि देखता है कि मानव शक्ति-सिन्धु ब्रह्म से पृथक होकर उसके वियोग में विषादमय जीवन-यापन करता है, उससे मिलने के लिये उत्सुक होकर अनेक प्रकार के प्रयत्न करके उसे प्राप्त करता है, आत्मसमर्पण करके अपने अस्तित्व को प्रिय में लीन कर तदाकार हो जाता है । पुनः उससे उद्भूत होकर वह प्रेम,

---

१. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० ७४ ।
२. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० ४६ ।
३. (क) रात-सी नीरव व्यथा तम-सी अगम मेरी कहानी ।
—महादेवी वर्मा, दीपशिखा, पृ० १२७ ।
(ख) सजनि मैं उतनी सजल जितनी सजल बरसात ।
—महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० ८४ ।
(ग) एक वेदना विद्युत्-सी खिंच-खिंच कर चुभ जाती है ।
—डा० रा० कु० वर्मा, चित्र-रेखा, पृ० ४ ।
(घ) छिप कहाँ उसमें सकी बुझ-बुझ जली चल दामिनी मैं ।
—महादेवी वर्मा, सान्ध्यगीत, पृ० ५६ ।
४. कबीर, कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ७-८ ।

विरह, मिलन आदि के सोपानों को पार करता हुआ पुनः उससे तादात्म्य स्थापित करता है और उसकी ये उक्त प्रक्रियाएँ सृष्टि में निरन्तर चलती रहती हैं। इसी प्रकार प्रकृति-जगत् में मेघ अपने मूल पारावार से जन्म पाकर 'सजल, श्यामल, मन्थर, मूक-सा तरल अश्रु-विनिर्मित' शरीर लेकर गगन-पथ पर विचरण करता है; घटाओं के रूप में घिरता है; बरस कर अपना अस्तित्व मिटा देता है; प्रिय पारावार में मिलकर एकाकार हो जाता है और उसकी ये उक्त प्रक्रियाएँ भी निरन्तर चलती रहती हैं। अतः मानव तथा प्रकृति के इस साम्य को लक्ष्य करके, कवि प्रिय परमात्मा के प्रति अपने प्रेम, विरह, मिलन, आत्मसमर्पण, तादात्म्य तथा उससे पुनः उद्भूत होने एवं उन्हीं प्रक्रियाओं को बारम्बार दुहराने की अपनी अभिलाषा की व्यंजना के लिए उससे घन बनने का वरदान माँगता है। उसकी इस इच्छा में प्रिय से बार-बार पृथक होकर उससे मिलने एवं तदाकार होकर पुनः उद्भूत होने की प्रक्रियाओं की उसकी रहस्यवादी आकांक्षा की व्यंजना अत्यधिक सार्थकता एवं मार्मिकता के साथ हो जाती है[1]।

प्रिय-वियुक्ता, प्रतीक्षा-मग्ना मानवात्मा के निराश-शून्य जीवन तथा उसके यौवन के विनष्ट सौंदर्य-वैभव की अभिव्यक्ति के लिए कवि प्रकृति-जगत् के विभिन्न उपकरणों का अनेक प्रकार से प्रयोग करता है—पवनांचल-आवृता मुकुल-सुरभि-भार से अवगुण्ठनवती प्रेयसी मानवात्मा का साम्य प्रदर्शित करता है; परागविहीनता से उसके वियुक्त यौवन के सौन्दर्य-वैभव के नष्ट होने का संकेत करता है और शून्य डाल से उसके हृदय की खिन्नता एवं सूनेपन की, अँधियाली रात्रि से निराशा एवं हृदयान्धकार की और उषाकाल से सम्मिलन सुख के क्षणों की व्यंजना करता है[2]।

१. घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय।
   जलधि-मानस से नव जन्म पा
   सुभग तेरे ही दृग व्योम में।
   सजल श्यामल मन्थर मूक-सा
   तरल अश्रुविनिर्मित गात ले,
   नित घिरूँ झर-झर मिटूँ प्रिय।
   घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय!   —महादेवी वर्मा, नीरजा, पृ० ४१।

२. तुम छोड़ गये द्वार,
   तब से यह सूना संसार।
   अपने घूँघट में मैं ढक कर
   देखती रही भीतर रख कर
   पवनांचल में जैसे सुखकर
   मुकुल-सुरभि भार।

प्रिय-दर्शन तथा सम्मिलन की विभिन्न इच्छाओं से युक्त विरह-विधुरा आत्मा का अभीष्ट सिद्ध करनेवाले प्रिय के आह्वान की सुमधुर काव्यात्मक व्यंजना के लिये, कवि प्रकृति-जगत् के विभिन्न उपकरणों का योग लेता है—जल-कण-विनिर्मित, इंद्र-धनुष से चित्रित, चिर-नूतन, सजल एवं धूमिल मेघ से अपने अस्थिर एवं आकांक्षाओं से परिपूर्ण जीवन का साम्य प्रदर्शित करके उसे सार्थक बनाने के लिये विद्युत रूपी प्रिय का आह्वान करता है और इस प्रकार यह व्यंजित करता है कि जैसे इन्द्रधनुष से युक्त मेघों में विद्युत का आगमन अनिवार्य है, वैसे ही मेघवत् मानव-जीवन को सार्थक बनाने के लिये विद्युत के समान प्रिय का आगमन[1]।

सरिता वियुक्त मानवात्मा की प्रतीक है और सिन्धु परमात्मा का। सरिता एवं सिन्धु की विभिन्नता तथा एकता आत्मा एवं ब्रह्म की विभिन्नता तथा एकता से और सरिता द्वारा प्रिय सिंधु से मिलने के लिये किये जानेवाले प्रयत्न वियुक्त मानव के ब्रह्म-मिलन के प्रयत्नों से बहुत-कुछ साम्य रखते हैं। अतः मानवात्मा की वियुक्तावस्था एवं मिलन-प्रयत्नों की मार्मिक काव्यात्मक अभिव्यक्ति के लिये उसके प्रतीक सरिता के जीवन तथा मिलन-प्रयत्नों के चित्रण का आश्रय लिया जाता है[2]।

कवि देखता है कि एक ओर प्रकृति-जगत् में पक्षी आकाश के छोर को पाने का प्रयत्न करता है और दूसरी ओर मानव-जगत् में प्रेयसी मानवात्मा निस्सीम ब्रह्म

गये सब पराग, नहीं ज्ञात,
शून्य डाल, रही अंध रात,
आयेगा फिर क्या वह प्रात,
भरकर वह प्यार ?

—निराला, गीतिका, पृ० २५।

१. जीवन जल कण से निर्मित सा,
चाह इन्द्र-धनु से चित्रित सा,
सजल मेघ सा धूमिल है जग,
चिर नूतन सकरुण पुलकित सा,
तुम विद्युत् बन आओ पाहुन।
मेरी पलकों में पग धर धर।
आज नयन आते क्यों भरभर ?

—महादेवी वर्मा, नीरजा, पृ० ६।

२. है विभिन्नता नाम मात्र की, मुझ में उसमें भेद नहीं।
जल-गत रवि की छाया का, क्या और नाम है सुना कहीं।
जो हो अपना प्रकृत रूप, मैं सत्वर ही पा जाऊँगी।
अन्त हीन सागर में मिल कर, मैं सागर हो जाऊँगी।

—मोहनलाल महतो, 'वियोगी', सरिता का जीवन-संगीत, निर्माल्य, पृ० १७।

के स्वरूप को जानने तथा उससे मिलने का प्रयत्न करती है। अतः मानव तथा प्रकृति के इस साम्य को लक्षित करके कवि पक्षी को प्रेयसी आत्मा का, उसके आकाश के छोर को पाने के बावलेपन को आत्मा की विरह-विकलता एवं उन्माद का, अनन्त आकाश को परमात्मा का और विहंगिनी को मानव-पत्नी—मार्ग-बाधक कामिनी-माया—अथवा सांसारिकता में निमग्न अन्य आत्माओं का प्रतीक मानकर आत्मा द्वारा प्रिय-मिलन के प्रयत्नों की व्यंजना करता है[1]।

साधना की कठोरता की अभिव्यक्ति के लिये भी कवि प्रकृति के विभिन्न उपमानों का अनेक प्रकार से योग लेता है। आत्मा तथा परमात्मा की दूरी, आत्मा के क्रन्दन तथा परमात्मा की आँख-मिचौनी एवं निष्ठुर मजाक की व्यंजना के लिये कभी तो पुष्प-स्थित मकरन्द तथा बालारुण की दूरी और कभी पथ-रज तथा उड़े हुए सौरभ के पृथकत्व एवं सौरभ-कृत रज के अपमान का आश्रय लेता है:—

मैं फूलों में रोती, वे बालारुण में मुसकाते।
मैं पथ में बिछ जाती हूँ, वे सौरभ बन उड़ जाते[2]।

मार्ग की दुर्गमता तथा वातावरण की भयंकरता की अभिव्यक्ति के लिये कभी-मार्ग-बाधक दुर्गम पर्वतों, कन्दराओं, नदियों, नालों तथा मार्ग की सूक्ष्मता, रपटीलेपन एवं पर्वत की उच्चता आदि का वर्णन किया जाता है[3], कभी मृग-समूह को भ्रमित कर देनेवाले मेरु पर्वत के समान ऊँचे बालू के टीलों द्वारा प्रदर्शित की जाने वाली स्वर्गिम सरिता-धारा के दुःखद रूप एवं कठिनाइयों का चित्रण किया जाता है[4] और कभी चतुर्दिक प्रसरित घने अंधकार, घनघोर घटाओं, पर्वत-मूल को हिला देने वाले मारुत के प्रतिकूल वेग, निस्सीम समुद्र की भयावह गर्जन, पर्वताकार तरंगों के भयंकर हाहाकार एवं फेनिल उच्छ्वास द्वारा तरी के उपहास, नौका-ग्रास के लिये स्वच्छन्द रूप से विचरण करनेवाले हिंस्र जन्तुओं से युक्त कृष्ण समुद्र तथा बुझे हुए नक्षत्रप्रकाश आदि प्रकृति के रूप-व्यापारों का योग लिया जाता है[5]।

---

१. बावला हो उड़ चला
पंछी गगन का छोर पाने।
मन विहंगिनि का चकित है
शून्य से यह प्रीति कैसी ?
भूमि का वासी चला
नभ की कृपा की कोर पाने।
—हरिकृष्ण 'प्रेमी', रूप-दर्शन, पृ० १।

२. महादेवी वर्मा, नीहार, पृ० ६६।

३. जायसी, पद्मावत, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ५७।
तथा—कबीर, कबीर-वचनावली, पृ० १४१-१४२।

४. पंत, वीणा, वीणा-ग्रन्थि, पृ० ५३।

५. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० १२।

प्रिय-मिलन के लिये साधक के मन का कालुष्य-परिहार परमावश्यक है। इसके अभाव में उसके लिये प्रिय-प्राप्ति सम्भव नहीं। कालुष्य को नष्ट करने के लिये प्रेमी की प्रचंड प्रेम-वायु तथा उससे प्रेरित साधना रूपी अग्नि का होना परम अपेक्षित है। अतः कवि साधक के मन की पावनता तथा उसके कालुष्य-परिहार की आवश्यकता की अभिव्यक्ति के लिये उसके प्रतीक तिनकों का आश्रय ग्रहण करके अपना अभीष्ट-साधन करता है—

मन के तिनके
नहीं जले अब तक भी जिनके
देखा नहीं उन्होंने अब तक कोना-कोना
अपने जीवन का[1]......... ।

उक्त अवतरण में कालुष्य के लिए तिनकों का प्रतीक-रूप में प्रयोग यद्यपि प्रकृति के उग्र-कराल, कुत्सित एवं तुच्छतम रूपों से भी प्रेम करने वाले सहृदय प्रकृति-प्रेमी कवियों के लिए खटकनेवाला है; तथापि अग्नि शुष्क तृण-समूह को जितनी शीघ्रता से जलाकर नष्ट कर डालती है, उतनी शीघ्रता से अन्य किसी वस्तु को नहीं, इस दृष्टि से यह प्रयोग अनुचित नहीं कहा जा सकता। साधना की अग्नि द्वारा नष्ट किये जानेवाले कालुष्य के लिये तिनकों का प्रतीक-रूप में यह प्रयोग स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य भी था।

प्रेम में त्याग एवं कष्ट-सहिष्णुता का अत्यधिक महत्त्व है। प्रेमी के त्याग तथा सहिष्णुतादिगुण कभी व्यर्थ नहीं जाते; यही नहीं, उसके लिये सहस्रों वरदान लेकर आते हैं। इस तथ्य की मार्मिक अभिव्यक्ति के लिये इसका समर्थन प्रकृति-जगत् से रात्रि के पिछले प्रहर के घने अंधकार के अनन्तर प्रभातकालीन प्रकाश की, सघन मेघ-घटाओं के पश्चात् जल-वृष्टि के होने की और पृथ्वी में अपने प्राण गला कर अनन्त त्याग का आदर्श प्रस्तुत करनेवाले बीज से असंख्य बीजों के निर्माण की अनिवार्यता के दृष्टान्तों द्वारा किया जाता है[2]।

प्रिय-मिलनोत्साह की व्यंजना भी इसी प्रकार प्रकृति-जगत् के विभिन्न उपकरणों के योग से अनेक प्रकार से की जाती है। हिमाद्रि के कम्पायमान होने, आकाश के प्रलय-अश्रुओं के रूप में मूक रुदन करने, अंधकार के प्रकाश को पीकर निखिल-सृष्टि में अपना आधिपत्य स्थापित करने तथा निष्ठुर तूफान के जागृत होकर विद्युत्-शिखाओं के रूप में बोलने की सम्भावना भले ही हो; किन्तु प्रिय-मिलनोत्साह से युक्त प्रेमिका मानवात्मा अपने प्रेम-मार्ग पर चलती हुई विचलित नहीं हो सकती, धैर्य का त्याग नहीं कर सकती—आदि उक्तियों द्वारा विविध उपमान-प्रकृति-रूपों के आश्रय से उसकी व्यंजना की जाती है[3]। इसी प्रकार प्रिय-

---

१. निराला, अणिमा, पृ० ११।
२. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० ३६।
३. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० ६०।

दर्शन, मिलन, आत्म-समर्पण तथा आत्मा एवं परमात्मा के तादात्म्यादि की काव्योचित अभिव्यक्ति के लिये भी प्रकृति के विभिन्न उपकरणों का बहुविध प्रयोग किया जाता है। निम्नांकित उद्धरणों में प्रकृति का यह योग स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है—

दर्शन—लखोगे, उर-कुंज में निज कंज पर निर्भर
अखिल ज्योतिर्गठित छवि, कच पवन तम विस्तार[1]।

मिलन—कैसे कहती हो सपना है, अलि! उस मूक मिलन की बात।
भरे हुए अब तक फूलों में मेरे आँसू उनके हास[2]।

आत्म-समर्पण—करो नाथ स्वीकार आज इस हृदय-कुसुम को[3]।

तादात्म्य—जैसें जलहि तरंग तरंगनी, ऐसें हम दिखलांवहिगे।
कहै कबीर स्वांमीं सुख सागर, हंसहि हंस मिलांवहिगे[4]।

प्रकृति-रहस्याभिव्यंजन में मानव

मानवीय रहस्याभिव्यक्ति में उपमान-प्रकृति-रूपों का प्रयोग जितनी प्रचुरता से किया जाता है, प्रकृति-रहस्याभिव्यंजन में मानवीय उपमानों का उतनी प्रचुरता से नहीं। फिर भी जहाँ-कहीं भी ऐसे स्थलों पर मानव का प्रयोग होता है, वहाँ हम उसका योग प्रायः दो रूपों में पाते हैं—मानवीकरण-रूप में तथा काव्य-स्रष्टा-रूप में। मानवीकरण-रूप में कवि प्रकृति में मानव-रहस्य-भाव का आरोप करता है और उसमें परमात्मा के प्रति प्रेम, विरह, मिलन, आत्मसमर्पण आदि विभिन्न भावों तथा उनसे प्रेरित व्यापारों की स्थिति दर्शाता है। उपमान-मानव के योग के प्रभाव से प्रकृति में रहस्यवादी भावना का निदर्शन स्वाभाविक, मार्मिक तथा आकर्षक हो जाता है और पाठकों पर अभीष्ट प्रभाव डाल कर उन्हें रस-मग्न कर देता है, कवि इसे भली प्रकार जानता है। अतः मानव-रहस्य-भावों, रूपों एवं व्यापारों के आरोप द्वारा कवि प्रकृति का मानवीकरण करके मानव-जगत् के धरातल पर घसीट लाता है। इस अवस्था में अपने मानवीकृत रूप में प्रकृति परमात्मा के विरह में मानव के समान ही उद्विग्न होती, क्रन्दन करती, प्रिय-मिलन के लिये उत्सुक होती, प्रतीक्षा, अभिसार तथा अन्वेषण करती, उसके दर्शन से आनन्दोल्लसित होती और आत्मसमर्पण करके तादात्म्य स्थापित करती है। सरिताएँ, तरंगें तथा पक्षी उसके प्रेम के गीत गाते हैं। सूर्य-रश्मियाँ उसके अनुराग-रंग में नहा कर सराबोर रहती हैं। पुष्प-सौरभ उससे वियुक्त होकर भटकता

---

१. निराला, गीतिका, पृ० ४८,

२. महादेवी वर्मा, नीहार, यामा, पृ० ३।

३. सियारामशरण गुप्त, सरस्वती खण्ड २०, संख्या ४, सन् १९१९।

४. कबीर, कबीर-ग्रन्थावली, दास, सप्तम संस्करण, वि० सं० २०१६, पृ० ११८।

फिरता है। नक्षत्र उसकी विरहाग्नि में जलते हैं। सूर्य-चन्द्र उससे मिलने की आकांक्षा से प्रेरित होकर उसका अन्वेषण करते हैं। निर्झर उसकी विरह-वेदना से विह्वल हो क्रन्दन करता, बिलखता एवं सिर पटकता है[1]। पक्षी, पवन, समुद्र, नक्षत्र, मेघ आदि उसका आह्वान करते हैं। पंच महाभूत उसके पास पहुँचने तथा उससे मिलने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं—

पवन जाइ तहँ पहुँचै चहा। मारा तैस लोटि भुइँ रहा।
अगिनि उठी, जरि बुझी निआना। धुआँ उठा, उठि बीच बिलाना।
पानि उठा, उठि जाइ न छूआ। बहुरा रोइ, आइ भुइँ चूआ[2]।

पर्वत आत्म-विभोर होकर उसका गान सुनते हैं। समीर पुष्प से उसका सन्देश कहता है। कोयल उसे संगीत की तान से रिझाती है। पादप-पर्ण स्वप्निल भाषा में उसके आगमन का संकेत करते हैं। निर्झर उसके वियोग में रुदन करके अपने शरीर को जलमय कर डालता है। वायु सुगन्ध से शृंगार करके उसके स्वागतार्थ मार्ग में बिछ जाती है। कलिकाएँ उसके लिये अपने हृदय-थाल में आरती सजाती हैं और आकाश तारक-मुक्ताओं से आपूर्ण नील-मणि के विशाल थाल में चन्द्रमा की वर्तिका जला कर उसकी आरती उतारता है।

मानव काव्य का कर्ता तथा काव्य-संसार का प्रजापति है। उसके अभाव में उसकी भावुक कल्पनाओं के बिना, प्रकृति की रहस्य-भावना का कोई अस्तित्व ही नहीं हो सकता। उसके बिना काव्य-भवन की नींव पड़ ही नहीं सकती। उसकी प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास की ईंटों, सीमेंट तथा चूने के अभाव में काव्य-प्रासाद खड़ा ही नहीं हो सकता। अतः प्रकृति-रहस्याभिव्यंजन में उपमान-मानव का प्रयोग प्रकृति की अपेक्षा कम भले ही होता हो, पर उसका महत्त्व किसी भी दृष्टि से कम नहीं है, यह निस्संदेह कहा जा सकता है।

मानव-रहस्योद्दीपिका प्रकृति

प्रकृति जिस प्रकार मानव के अन्य भावों को उद्दीप्त करती है, उसी प्रकार उसके रहस्य-भाव को भी। उसके सौम्य रूप मानव के परम तत्व के प्रति प्रेम, विरह, मिलनोत्कंठा तथा जिज्ञासा आदि विभिन्न भावों को उसी प्रकार उत्तेजित करते हैं जिस प्रकार उसके पार्थिव प्रेम एवं विरहादि भावों को। श्रावण मास के घिरे हुए मेघों को देख कर विरहाकुला मानवात्मा और भी उद्विग्न हो जाती है—

अलि, घिर आये घन सावन के। छोड़ गये गृह जब से प्रियतम
बीते अपलक दृश्य मनोरम क्या मैं हूँ ऐसी ही अक्षम
क्यों न रहे बस के[3]—

---

१. निर्झर कौन बहुत बल खाकर बिलखाता ठुकराता फिरता।
—प्रसाद, झरना, पृ० १७।

२. जायसी, पद्मावत, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ६६।

३. निराला, परिमल, पृ० १०३।

उसके हृदय में एक मधुर कसक होने लगती है। उसकी चंचल पुतलियाँ चित्रित, निद्रित-सी, निश्चल-सी हो जाती हैं; नेत्रों में सोता हुआ पारावार उमड़ पड़ता है और उसकी हृदय-वीणा मौन हो जाती है। वाह्य जगत् का घनांधकार उसके हृदय के दुःखांधकार का प्रतिबिम्ब हो जाता है। अन्तर और वाह्य में कोई अन्तर नहीं रह जाता, अन्तर्जगत् का वाह्य जगत् में और वाह्य जगत् का अन्तर्जगत् में प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ने लगता है और वह अत्यधिक खिन्न होकर कह उठती है—

बाहर घन-तम, भीतर दुःख-तम, नभ में विद्युत् तुझ में प्रियतम;
जीवन पावस-रात बनाने सुधि बन छाया कौन[1] ?

कबीर अपने प्रियतम निर्गुण राम के विरह में उद्दीपक पावस तथा वसन्त ऋतुओं में और भी खिन्न हो उठते हैं, प्रिय राम से मिलने के लिये अत्यधिक आतुर हो उठते हैं। वसन्तागमन पर समस्त प्रकृति आनन्दातिरेक से नृत्य कर उठती है, समस्त प्राणी अनुराग-रंग में नहा कर सराबोर हो जाते हैं। काक, कोकिल एवं भ्रमर हर्षोल्लास से भर जाते हैं। भ्रमर पुष्प-रस का अनुपान कर मदोन्मत्त हो उठते हैं। कोकिल अपने सुन्दर शब्द से समस्त सृष्टि को आकृष्ट करती है। किन्तु कबीर की विरह-दग्धा आत्मा के लिये रात्रि युग के समान और दिवस कल्प के समान दीर्घ हो जाते हैं। प्रकृति का हर्षोल्लास उनके वियोग-विषाद को और भी अधिक उद्दीप्त कर देता है[2]। ग्रीष्म ऋतु में सूर्य उग्रतम रूप धारण कर पृथ्वी एवं सृष्टि को दग्ध करता है, किन्तु आषाढ़ के अन्त में जल उस जलती हुई धरित्री की रक्षा के लिये आकर उसकी जलन शान्त करता है। उसकी शरण पाकर दग्धा धरणी पुनः हरित-भरित तथा पल्लवित-पुष्पित हो उठती है। वर्षा की झड़ी अमृत-रूप धारण कर निखिल सृष्टि को प्राण-दान देती है। वियोग-संतप्ता नारियों के प्रियतम मिल जाते हैं। उनके विरह दुःख की अवधि समाप्त हो जाती है। प्रिय-संयोग-सुख को प्राप्त करके वे हर्षातिरेक से खिल उठती हैं। किन्तु कबीर के प्रियतम उनकी सुध नहीं लेते। अतः अपनी विषम परिस्थितियों में प्रकृति का हर्षोल्लास उन्हें अत्यधिक विह्वल कर देता है। उनकी प्रिय-मिलन-लालसा अत्यधिक उद्दीप्त हो उठती है। उनकी वेदना तीव्रतम रूप धारण करती है और वे प्रिय की विस्मृति एवं उपेक्षा का कारण जानने के लिये अत्यधिक उत्सुक एवं खिन्न होकर प्रश्नशील होते हैं—

---

१. महादेवी वर्मा, नीरजा, पृ० १० ।

२. माघ मास रुति कवलि तुसारा । भयो बसंत तब बाग सँभारा ।
अपनैं रंगि सब कोई राता । मधुकर बास लेहिं मैमंता ।
बन कोकिला नाद गह गहांनां । रुति बसंत सब कै मनि मांनां ।
बिरहन्य रजनीं जुग प्रति भइया । बिन पीव मिलैं कलप टलि गइया ।
—कबीर, कबीर-ग्रन्थावली, श्यामसुंदरदास, सप्तम सं०, वि० संवत् २०१६, पृ० २०१ ।

मास असाढ़ रवि धरनि जरावै । जरत-जरत जल आइ बुझावै ॥
रुति सुभाइ जिमीं सब जागी । अंमृत धार होइ झर लागी ॥
जिमीं मांहिं उठी हरियाई । विरहिन पीव मिले जन जाई ॥
मनिकां मनिकै भये उछाहा । कारनि कौंन विसारी नाहा[1] ॥

महादेवी का वियोग-दुःख कोकिल की तीव्र ध्वनि से अत्यधिक उद्दीप्त हो जाता है और वे विह्वल होकर उससे मन्द स्वर में बोलने की प्रार्थना करती हैं—

मुखर पिक हौले-हौले बोल !
हठीले हौले - हौले बोल[2] ।

आकाश से उन्हें प्रिय-आगमन का संकेत मिलता है । उसकी स्मिति को देख कर वे अत्यधिक विह्वला होकर प्रिय-मिलन के लिये आतुर हो उठती हैं । पावस की घनघोर घटाओं के बीच चमकने वाली विद्युत् की मुसकान के मध्य प्रिय कभी उनके नेत्रों को मूँदता जान पड़ता है और कभी पुष्प-सौरभ के रूप में थपकियाँ देता है[3] ।

पंत को नक्षत्र-समुदाय, विद्युत्-पंक्ति, पुष्प-सौरभ, तरंगों तथा खद्योतों आदि को देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानों उनका प्रिय उन्हें उनके रूप में निमंत्रण देता है—आह्वान करता है[4] । डा० रामकुमार वर्मा की रहस्यवादी आत्मा को एकांत वन-प्रान्त में अपनी सुमधुर तान से किसी अदृश्य शक्ति को आकृष्ट करने वाला, उसके वियोग में अपने उच्च स्थान से पतित होने वाला, उसकी विकल-खोज में वन-वन भटकने वाला तथा अपने वियोगाश्रुओं से शरीर को जलमय कर डालने वाला निर्झर प्रिय-मिलन के लिये उत्तेजित करता है[5] । इसी प्रकार अन्य रहस्यवादियों को अन्धकार के पार छिपी हुई अज्ञेय शक्ति का अनुमान तथा सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रों, सरिताओं एवं खद्योतों द्वारा उसकी विकल-खोज—आदि बातों की कल्पना उनके वियोग-दुःख को उद्दीप्त करती प्रतीत होती है । 'यह सूर्य किसकी अभिलाषा से दीप्तिमान है ? यह समीर कहाँ पहुँचने की इच्छा से निरन्तर गतिशील रहता है[6]?' इन समस्त बातों का ध्यान उनकी रहस्य-जिज्ञासा को तीव्रतर रूप प्रदान करता है । इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रकृति मानव के रहस्यात्मक भावों को उसी प्रकार उद्दीप्त करती है, जिस प्रकार उसके पार्थिव प्रेम, क्रोध एवं भयादि भावों को ।

---

१ कबीर, कबीर-ग्रन्थावली, श्यामसुंदरदास, सप्तम सं०, वि० संवत् २०१६, पृ० २०० ।
२. महादेवी वर्मा, नीरजा, पृ० ३२ ।
३. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (१), पृ० ३१ ।
४. पंत, मौन निमन्त्रण, पल्लव, पृ० ३८-४० ।
५. डा० रामकुमार वर्मा, एकान्त गान, अंजलि, पृ० ६ ।
६. क्व१ प्रेप्सन् दीप्यत ऊर्ध्वा अग्निः क्व १ प्रेप्सन् पवंते मातरिश्वा ।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ।
—अथर्ववेद-संहिता, १०-७-४, पृ० २२७ ।

प्रकृति-रहस्योद्दीपक मानव

मानव मानव के रहस्य-भाव को तो उद्दीप्त अवश्य करता है—शिशु के कम्पायमान अधरों का मृदुल हास्य उसकी रहस्य-जिज्ञासा को ही अवश्य प्रदान करता है; उसकी निद्रित-विस्मृति, उसके स्वप्नों की स्वर्ण-सरिता-धारा, उसकी निमीलित पलकें, उसका क्षण-क्षण पर रूप-परिवर्तन आदि उसकी रहस्य-भावना को उत्तेजित अवश्य करते हैं; रहस्यवादी काव्य का पठन-पाठन, अध्ययन-अध्यापन तथा कवियों द्वारा उसको दी जानेवाली आध्यात्मिक प्रेम की प्रेरणा एवं सृष्टि के प्राणियों के जीवन-मरण के रहस्यों की निस्तलतादि बातें उसके ब्रह्म के प्रति प्रेम, विरह तथा मिलन-उत्सुकता आदि भावों को उद्दीप्त तो करती हैं—किन्तु उसके विभिन्न रूप, मानव-जगत् के विभिन्न दृश्य, परिस्थितियाँ तथा उसकी आध्यात्मिक प्रेम विषयक शिक्षाएँ एवं उपदेश प्रकृति के विभिन्न उपकरणों अथवा प्राणियों के परमात्मा के प्रति प्रेम, विरह, मिलन आदि भावों को उद्दीप्त करते हैं अथवा नहीं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। सामान्य मानव तो दूर रहा, काव्य-जगत् का प्रजापति कवि भी इस बात का उल्लेख नहीं करता और न ही उसका ध्यान ही इस ओर जाता है। अतः प्रकृति में रहस्यात्मक भावों के अस्तित्त्व को मानते हुए भी यहाँ यह कहना उचित नहीं है कि उसके विभिन्न रहस्यवादी भावों के उद्दीपन में मानव अथवा मानव-जगत् का कोई हाथ है।

मानव तथा प्रकृति में रहस्य-वैषम्य

मानव तथा प्रकृति में रहस्यवादी भावों की स्थिति की दृष्टि से यद्यपि पर्याप्त साम्य है, तथापि उसके साथ ही उनमें कुछ दृष्टि-विन्दुओं से पर्याप्त रहस्य-वैषम्य भी है। रहस्यवादी भावना करनी का भेद है, अनुभूति का विषय है, बुद्धिपरक वस्तु अथवा बुद्धि-व्यवसायात्मक ज्ञान नहीं—'यह करनी का भेद है, नाहीं बुद्धि विचार।' काव्य-स्रष्टा मानव केवल अपनी ही अनुभूति की व्यंजना कर सकता है, जड़ प्रकृति-रूपों की नहीं। प्रकृति-काव्य-रचना नहीं करती। उसमें रहस्यवादी भावों की स्थिति मानव की अपनी सूझ है, उसके अपने अनुमान अथवा बुद्धिपरक ज्ञान की उपज है, उसकी अपनी अनुभूति का प्रतिफल है। अतः निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि प्रकृति जड़-चेतन रूपों में रहस्यवादी भावों की स्थिति अनिवार्यतः पाई ही जाती है। किन्तु दूसरी ओर मानव-जगत् में देखने पर कम से कम पहुँचे हुए रहस्यवादियों के विषय में, उनमें इस प्रकार के भावों की स्थिति के सम्बन्ध में, अविश्वास का कोई कारण नहीं दीखता। प्रकृति के अनेक भाव मानव की अपनी सृष्टि हैं, भावुक कवि-हृदय की उर्वरा भूमि की उपज हैं, रहस्य-भाव भी इसका अपवाद नहीं। अतः जहाँ एक ओर मानवीय रहस्य-भावों के विषय में सन्देह का कोई कारण नहीं, प्रकृति-जगत् के विशेषकर उसके जड़ रूपों के—रहस्यवादी भावों की स्थिति अवश्य संदिग्ध है।

दूसरी ओर भावुक कवि को कहीं-कहीं प्रकृति में परमात्मा के प्रति प्रेम, विरह, उत्कंठा, जिज्ञासा आदि विभिन्न भावों की स्थिति के मिलने पर भी मानव-जगत् में उनके दर्शन नहीं होते। प्रकृति परमात्मा के प्रेम में व्याकुल खिन्न तथा उसे खोजती हुई दिखाई पड़ती है; किन्तु मानव ब्रह्म से निर्लिप्त-विरक्त हो निश्चिन्त, निर्द्वन्द्व एवं सांसारिक सुखों में लिप्त दृष्टिगोचर होता है।[1]

इसके अतिरिक्त मानव-रहस्याभिव्यक्ति में उपमान प्रकृति-रूपों का प्रचुरता से प्रयोग और प्रकृति के रहस्यात्मक भावों की अभिव्यक्ति में उपमान मानव-रूपों का अपेक्षाकृत कम प्रयोग, मानव-रहस्योद्दीपन में प्रकृति का अत्यधिक योग और प्रकृति-रहस्योद्दीपन में मानव-योग का अभाव आदि बातें भी मानव तथा प्रकृति के रहस्य-वैषम्य की ही व्यंजना करती हैं। अतः स्पष्ट है कि जहाँ दोनों में कुछ दृष्टि-विंदुओं से पर्याप्त रहस्य-साम्य है, वहाँ अन्य दृष्टि-विन्दुओं से पर्याप्त रहस्य-वैषम्य भी।

---

१. मैं सुखी और यह विश्व विकल,
तारे किस आशा से प्रतिदिन शून्य गगन में रहे निकल।
इस तृष्णा का पाया न अन्त, फिर फिर क्यों कुसुमित हो वसंत
बादल का लेकर विकृत रूप, क्या अस्थिर हो सागर अनन्त।
उषा न कोई मिला, कर चुकी कितने ही शृंगार विफल।
मेरे जीवन की रेख श्वास, अपने पन से होकर विलास,
होकर अपनी ही परिधि मंजु, रोती हँसती बन रुदन-हास
प्रतिपल चल कर भी यह मुझको है बना चुकी अविकल अविचल।
मैं सुखी और यह विश्व विकल।
—डा० रामकुमार वर्मा, आधुनिक कवि (३), पृ० २६।

उपसंहार

मनु-पुत्र मानव मनुज-स्वर्ग का निर्माता—रक्षक और विश्व-कल्याण का अधिष्ठाता एवं स्रष्टा है[1]। वह ठोकरों से पैर की मंजिल को कुचल कर अपने मार्ग पर निर्बाध बढ़ सकता है; उसकी क्रुद्ध दृष्टि आकाश को चन्द्रमा एवं तारक-समुदाय सहित रुला सकती है; उसका गीत पत्थरों के कठोर वक्षःस्थल को तराश कर अपना मार्ग निकाल सकता है; उसकी जवानी हार कर भी स्वयं को हारती नहीं, उसकी सदैव विजय होती है[2]। अपने गीतों से चट्टानों को तोड़ने वाला, झुरमुटें काट कर राहें बनाने वाला, छिपे हुए अंधकार के आश्रय-कुंजों में आग लगा कर उसका नाश करने वाला मानव सृष्टि का निस्संदेह सर्वश्रेष्ठ प्राणी है[3]।

मानव अपने विचारों को संसार में प्रसारित करके अपने नूतन, अमृतोपम गीतों द्वारा सहवर्ती मानव-वर्ग के हृदय-कमलों को विकसित कर देता है, स्व-वर्गीय मानव ही में नहीं, समस्त विश्व में नूतन जीवन का स्पन्दन ला देता है[4], प्रकृति को भी अपने संगीत से आत्म-विस्मृत कर देता है। वसुधा उसे सुन कर नूतन प्राणों

१. नरेन्द्र शर्मा, मनु के सपूत, मिट्टी और फूल, पृ० ७७।

२. शिवशंकर वशिष्ठ, आदमी का गीत, ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० १२३-१२४।

३. दिनकर, कवि और समाज, नील-कुसुम, पृ० ७९।

४. मैं भी प्रसार
    अपने विचार
        भावना-कल्पना पर अपार
            निःसीम विश्व में हो विलीन
                गाता नवीन
                    मधु के गाने
                        जग में नवजीवन बरसाने
                            मुरझा मानव-उर विकसाने।
—पंत, आम्र-विहग, युग वाणी, पृ० ५३-५४।

के स्पन्दन से युक्त हो जाती है, कोयल आनन्द-विभोर हो उठती है, चम्पक पुष्प सौरभित हो जाता है और सहवर्ती कर्मठ मानव प्रोत्साहित हो अपने कार्य को अत्यधिक उमंगपूर्वक पूर्ण करता है[1]।

मानव संसार का शिक्षक एवं पथ-प्रदर्शक है। वह उसके समक्ष अपने महान् आदर्श प्रस्तुत करके उसे सुख-शान्तिमय बनाने का प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करता है। उसके लिये विश्व एक कुटुम्ब है और उसके समस्त प्राणी उसके कुटुम्ब के सदस्य। वह उन्हें प्रेम, दया, उदारता, त्याग, क्षमा, मार्दव, परोपकार, स्वावलम्ब, न्यायशीलता, मानवता आदि विश्वमंगलकारी गुणों का संदेश देकर उससे कल्याण में योग देना अपना परम कर्तव्य, परम धर्म समझता है। उसके आदर्शों से प्रभावित उसका सहचर मानव अपनी दुर्वृत्तियों को त्याग कर सद्वृत्तियों को अपना कर अपना जीवन सार्थक कर लेता है। यही नहीं, मानव-जगत् ही नहीं प्रकृति-जगत् भी उससे प्रभावित होकर कुमार्ग त्याग कर सद्-मार्ग का अवलम्ब ग्रहण करता है। उसकी सान्विक वृत्तियों से प्रभावित शुक-सारिकाएँ उसके शुभ सिद्धान्तों का पाठ करती हैं। उसके त्याग, तपस्या, अहिंसा एवं पारस्परिक प्रेम के दिव्य प्रभाव से सिंह और मृग, मयूर और सर्प पारस्परिक शत्रु-भाव त्याग कर एक साथ विचरण करते हैं। उसके पावन सम्पर्क से प्रचण्ड मार्तण्ड की सहायता से पथिकों को कठोर दण्ड देने वाली निर्मम कठोर प्रकृति नूतन जीवन के स्पन्दन एवं सात्त्विक वृत्तियों से युक्त होकर विश्व-मंगलकारिणी बन जाती है[2]। उसकी उदार दृष्टि मानव-जगत् तक ही सीमित नहीं रहती। निखिल सृष्टि को वह अपनी करुणा, उदारता, परोपकार तथा सेवा-भाव का पात्र समझता है। वानर, चींटी, चींटे, वृक्ष, लता, पर्वत, नदी, नद, निर्झर, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ग्रीष्म, शरद्, शिशिर, हेमन्त, बसन्त आदि सभी उसकी दृष्टि में समान हैं, सभी उसकी संवेदना के पात्र हैं। मानव विवेकशील प्राणी है। उसमें अविवेक के दर्शन प्रायः कम होते हैं। अपने विवेक के कारण ही वह प्रकृति के अविवेक पर, उसके अज्ञान पर हँसता है, व्यंग्य करता है और उसकी खिल्ली उड़ाता है[3]।

---

१. तेरी कविताओं में मुखरित संस्कृति के खलिहान।
तेरी ही गमकों से जागे बसुधा में नव प्राण
ये गान कि जिनमें रमी कूक कोयल की
ये गान कि जिनमें महके चम्पा गूँजे लोरी
ये गान कि जिनमें ठुमक ठुमक कर चलें पालकीवाले।
—देवेन्द्र सत्यार्थी, सरोजिनी नायडू, वन्दनवार, पृ० ७६।

२. निराला, पंचवटी-प्रसंग, परिमल, पृ० २४६।

३. देवीप्रसाद, 'पूर्ण', अविवेकी मेघ, पूर्ण-संग्रह, पृ० २७१।

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि मानव प्रकृति से सर्वत्र श्रेष्ठ है, प्रत्येक दृष्टि से वरेण्य है। मानव सृष्टि का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है अवश्य, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्रकृति-जगत् का उसकी तुलना में कोई महत्व नहीं। यह सृष्टि मानव तथा प्रकृति का समष्टि रूप है। भावुक कवि संसार में मानव तथा प्रकृति दोनों की ही महत्ता से प्रभावित होता और दोनों का ही उन्मुक्त हृदय से विभिन्न प्रकार से वर्णन करता है। अतिशयोक्ति एवं सम्भावना (उत्प्रेक्षा) उसकी अभिव्यक्ति के अंग हैं, उसके सौन्दर्य के निर्माणक प्रमुख तत्व तथा काव्य-जगत् के शाश्वत सत्य हैं। काव्य-संसार में काव्य का सत्य ही महत्वपूर्ण होता है, वैज्ञानिक सत्य नहीं। विज्ञान का सत्य उसके सौन्दर्य में बाधक ही होता है, साधक नहीं। अतः वह उसके पीछे हाथ धोकर नहीं पड़ता, प्रत्युत उसकी उपेक्षा ही करता है। वह जिस समय जो कुछ अनुभव करता है, उसे बिना किसी प्रतिबन्ध के अभिव्यक्त कर देता है। यदि शरद्, शिशिर उसे सुन्दरियों के समान सरोज-अंक पर सोती हुई प्रतीत होती हैं; यदि पद्मपत्र उसे उन पर व्यंजन करते दिखाई पड़ते हैं; यदि वर्षा-सुन्दरी उन्हें जगाती हुई दृष्टिगोचर होती है, यदि सन्ध्या-रूपसी उसे आकाश से मन्द-मन्थर गति से उतरती हुई प्रतीत होती है, संसार के श्रान्त प्राणियों को विस्मृति की मदिरा का चषक पिला कर अपने स्नेहमय अंक में सुला कर उनकी श्रान्ति दूर करती जान पड़ती है; यदि वर्षा-सुन्दरी उसे कामिनी से प्रतिद्वन्द्विता करती दृष्टिगत होती है; यदि पृथ्वी, मलय-वृक्ष, पुष्प अथवा सरसों में उसे अनन्त सौजन्य के दर्शन होते हैं; यदि निशा-रूपसी उसे हिम-विन्दुओं में नहाई हुई सद्यःस्नाता कामिनी के रूप में व्योम-गंगा से निकल कर गीली, सकुचती तथा लोलुप सितारों की दृष्टि बचाती हुई, दबे पावों झुरमुट रूपी श्रृंगार-कक्ष में सँवरने के लिये जाती हुई प्रतीत होती है; यदि मेघ कोई अविवेकपूर्ण कृत्य करता जान पड़ता है, यदि प्रकृति क्षमा, उदारता, सेवा, करुणा, त्याग एवं बलिदान की साकार प्रतिमूर्ति जान पड़ती है अथवा यदि वह मानव-सुख से उल्लसित होकर बधाई देती, मंगल गीत गाती तथा मंगलोत्सव मनाती प्रतीत होती है; तो वह निस्संकोच एवं निर्बाध रूप से अपनी अनुभूति को काव्याभि-व्यक्ति का रूप प्रदान करता है। उसकी उस आत्माभिव्यक्ति में विश्व की कोई भी वस्तु बाधक होकर नहीं जा सकती।

कवि मानव तथा प्रकृति दोनों के ही विभिन्न रूपों का अनेक प्रकार से वर्णन करता है। जिस समय उसकी दृष्टि मानव-जगत् के किसी महान् रूप पर होती है, उसकी किसी महत्त्वपूर्ण विशेषता से प्रभावित होती है, उस समय उसके लिये मानव ही संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी प्रतीत होता है। किन्तु जिस समय उसकी दृष्टि प्रकृति की किसी महत्त्पूर्ण विशेषता पर पड़ती तथा उससे प्रभावित होती है, उस समय उसके लिये प्रकृति की वह विशेषता ही, उसका वह रूप ही वरेण्य प्रतीत होता है। इसी प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से भी कवि जब मानव में प्रकृति की अपेक्षा किसी

गुणाधिक्य का दर्शन करता है, तो वह मानव को अपेक्षाकृत श्रेष्ठ और जब उसे प्रकृति में मानव की अपेक्षा गुणाधिक्य की अनुभूति होती है, तो वह प्रकृति को मानव से उत्कृष्टतर घोषित करता है। इस प्रकार काव्य में कहीं मानव की श्रेष्ठता का प्रतिपादन मिलता है और कहीं प्रकृति की, कहीं मानव के गुणाधिक्य की व्यंजना होती है और कहीं प्रकृति के। किन्तु विचारपूर्वक देखने पर, कवि की काव्य-निर्माण के समय की परिस्थितियों पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि मानव तथा प्रकृति दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं, दोनों ही वरेण्य हैं। जिस प्रकार चींटी और हाथी दोनों ही अपने-अपने स्थान पर महत्वपूर्ण होते हैं, उसी प्रकार मानव एवं प्रकृति भी। यदि कुछ दृष्टि-विन्दुओं से एक श्रेष्ठ है तो अन्य दृष्टि-विन्दुओं से दूसरा। यदि एक ओर कवि को मानव का सौन्दर्य निखिल सृष्टि में अप्रतिम प्रतीत होता है, यदि एक दृष्टि विन्दु से उस पर समस्त प्रकृति को न्योछावर किया जा सकता है[१], तो दूसरी ओर अन्य दृष्टि-विन्दुओं से देखने पर प्रकृति उससे श्रेष्ठतर प्रतीत होती है।

मानव-यौवन अस्थिर है, क्षणभंगुर है, जब कि प्रकृति-सौन्दर्य शाश्वत—'प्रकृति सदा सुन्दरी, तुम्हारा यौवन अस्थिर धन है[२]।' मानवीय कला, महत्ता एवं स्वतन्त्रता अस्थायी है, जब कि प्रकृति की कला, वैभव तथा स्वतंत्रता अविनश्वर[३]। मानव संकुचित-हृदय एवं स्वार्थी है, किन्तु प्रकृति सुन्दरी एवं उदारहृदया[४]; मानव-जग अपूर्ण है, प्राकृतिक सत्यपूर्ण—

है पूर्ण प्राकृतिक सत्य! किन्तु मानव-जग
क्यों म्लान तुम्हारे कुंज, कुसुम आतप खग[५]।

मानव ऋणी है और प्रकृति ऋण-दात्री[६], मानव अंश अथवा अंग है और प्रकृति पूर्ण, मानव व्यष्टि है और प्रकृति समष्टि। मानव प्रकृति से प्राण, शरीर, श्वास, अश्रु तथा उच्छ्वास आदि सब कुछ ग्रहण कर उसी से उद्भूत होता है और अन्ततः मरणोपरांन्त उसी में मिल जाता है—'हे मातृ-भूमि यह अन्त में तुझमें ही मिल जायेगी[७]। प्रकृति मानव ही नहीं, समग्र सृष्टि की रचयिता है—

---

१. न्योछावर जिन पर निखिल प्रकृति,
छाया-प्रकाश के रूप रंग। —पंत, मानव, युग-पथ, पृ० ५० ।

२. रामनरेश त्रिपाठी, पथिक, पृ० १०।

३. Art, glory, freedom fail but nature still is fair.
—Byron, Childe Harold (1812). Canto 3, st 87.

४. प्रसाद, झरना, पृ० २३।

५. पंत, मानव-जग, पल्लविनी, पृ० २३१।

६. नीरव, मृत्युगीत, दो गीत, पृ० २७।

७. मैथिलीशरण गुप्त, मातृ-भूमि, मंगल-घट, पृ० १२।

तथा—

नीरज, मृत्युगीत, दो गीत, पृ० २७।

'है नाम हमारा प्रकृति-प्रिया, मैंने ही दुनिया रच डाली[१],' समग्र सृष्टि की पोषिका एवं धात्री है—'नर सेवित बीज-कुण्ड, नर शिशु की धात्री[२],' अपने समस्त शिशुओं पर समान स्नेह रखनेवाली ममतामयी माँ है—

देती है पवन जल धूप सबको समान,
आम औ बबूल में न भेद-भाव लाती है[३]।

पौष्टिक पेय, पौष्टिक भोज्य पदार्थ तथा प्रकाश, पवन, फल, फूल, धन, रत्न एवं वस्त्राभूषणदायिका है[४]। संसार के लिए उसकी इस देन का उल्लेख काव्य-जगत् में प्राचीन काल से होता आया है। कालिदास की पार्वती लालमणि को लज्जित करने वाले अशोक के पत्तों, स्वर्ण-कान्ति को घटाने वाले कर्णिकार के पुष्पों और मुक्ता-माला के समान उजले सिन्धुवार के वासन्ती पुष्पों के आभूषण पहनतीं और शिव जी को धूप में सुखाये हुए मन्दाकिनी के कमलों के बीजों की माला पहनाती हैं[५]। अलकापुरी की कुलवधुएँ हाथों में कमल के आभूषण पहनती हैं, चोटियों में नूतन विकसित कुन्द-पुष्पों को गूँधती हैं, अपने मुखों को लोध-पुष्पों का पराग मल कर गोरा करती हैं, जूड़ों में नवीन कुरवक-पुष्प लगाती हैं, कानों पर शिरीष के पुष्प रखती हैं और वर्षा में पुष्पित होनेवाले कदम्ब-पुष्पों से अपनी माँग सँवारती हैं[६]। पंत की ग्राम-युवती और आधुनिका दोनों ही प्रकृति के विभिन्न उपकरणों से अपना शृंगार करती हैं[७]। महादेवी अपने प्रियतम परमात्मा से मिलने के लिये अपने लौकिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार के शृंगार में प्रकृति के विभिन्न उपकरणों का अनेक प्रकार से योग लेती हैं[८] और न जाने कितने नर-नारी

---

१. गिरिजाशंकर मिश्र 'गिरीश', प्रकृति-प्रिया, मंदार, पृ० ६५।

तथा—

प्रकृति ने जिन्दगी आजाद पैदा की
हवा, पानी, उजेला, मेघ,
वनस्पति, जीव पशु, पच्छी
सभी हैं एक मौलिक सूत्र में आबद्ध।
—गिरिजाकुमार माथुर, खत, नई कविता, अंक २, १९५५, पृ० ७३।

२. कुँवरनारायण, धारिणी, चक्रव्यूह, पृ० ३०।
३. रामचन्द्र शुक्ल, काव्य में रहस्यवाद, चिन्तामणि, भाग २, पृ० १३०।
४. दिनकर, कुरुक्षेत्र, पृ० १२९-१३०।
५. कालिदास, कुमारसम्भव, तृतीय सर्ग, छन्द ५३-६५।
६. कालिदास, मेघदूत, उत्तरमेघ, छन्द २।
७. पंत, ग्राम-युवती, ग्राम्या, पृ० १८ तथा आधुनिका, ग्राम्या, पृ० ८३।
८. महादेवी वर्मा, सान्ध्यगीत, पृ० २६-२८।

प्रकृति-प्रदत्त पुष्पों, रत्नों तथा स्वर्ण एवं रजत आदि से निर्मित आभरणों और सूती, ऊनी तथा रेशमी वस्त्रों से अपना शृंगार एवं शरीराच्छादन करते हैं।

प्रकृति संसार के लिये स्वास्थ्यदायिका है। पीपल-वृक्षों के पंचांगों में न जाने कितने रोगों को नष्ट कर सकने की शक्ति-सामर्थ्य है। प्रकृति की असंख्य जड़ी-बूटियाँ प्राणि-जगत् के सहस्रों रोगों की अचूक औषधियाँ हैं[१]।

प्रकृति मानव के लिये विश्रामदायिनी, सुख-शान्ति-प्रदायिनी एवं मनोरंजन-कारिणी है। गंगा जी के झरनों के फुहारों से लदा हुआ त्रिविध समीर, मृगों की खोज में इतस्ततः घूमते रहने वाले, किरातों की श्रान्ति निवारित करता है[२]। उपवन का शीतल, मन्द एवं सुगन्धित समीर स्वभाव से ही नायक-नायिका के श्रम का हरण करनेवाला होता है—'सेनापति सुखद समीर है सुगंध-मन्द, हरत सुरत-स्रम-सीकर सुभाव के[३]।' कानन प्रिय की विकल-खोज से निराश-श्रान्त प्रेमी को विश्राम देकर सुख-शान्ति प्रदान करता है[४]। सन्ध्या-सुन्दरी दिन भर के परिश्रम से थके प्राणियों को अपने अंक में सुला कर, विस्मृति के मधुर स्वप्न दिखला कर, उनकी श्रान्ति निवारित कर नूतन बल, उत्साह एवं स्फूर्ति प्रदान करती है[५]।

प्रकृति के साहचर्य में मानव को जो अनन्त आनन्द प्राप्त होता है, वह उसके लिये अन्यत्र दुर्लभ है। यही कारण है कि उसकी सुरम्य, सुखदायक एवं मनोरंजनकारिणी गोद को छोड़ने में उसे निस्सीम दुःख का अनुभव होता है[६], उससे विमुक्त होकर मानव उसके दर्शनों के लिये तरसता है—

तरस रहा है मन फूलों की नई गन्ध पाने को,
खिली धूप में, खुली हवा में, गाने को मुसकाने को[७]।

प्रस्तर-खण्डों की दीवारों के राज-प्रासादों रूपी बन्दीगृह से मुक्त होकर प्रकृति के विशाल प्रांगण में सरिता-सा स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने का सुअवसर प्राप्त

---

१. औषधियाँ हैं प्राप्त एक से एक निराली।
—मैथिलीशरण गुप्त, मंगल-घट, पृ० १३।

२. कालिदास, कुमारसम्भव, प्रथम सर्ग, श्लोक १५।

३. सेनापति, कवित्त रत्नाकर, तीसरी तरंग, छन्द ६, पृ० ५६।

४. गोपालशरणसिंह, कानन, कादम्बिनी, पृ० ६।

५. निराला, सन्ध्या-सुन्दरी, परिमल, पृ० १३६।

६. यह प्रिय कुटी छोड़नी होगी,
अति सुखदायक गोद।
यह तरु लता और पशु-पक्षी,
बन के विविध विनोद।
—रामनरेश त्रिपाठी, मिलन, पृ० १९।

७. दुष्यन्तकुमार, सूर्य का स्वागत, पृ० ३०

करके कृतकृत्य हो उठता है[1], अपनी चिर-संगिनी प्रकृति के साहचर्य में भिखारी-जीवन भी स्पृहणीय समझता है, आधुनिक सभ्यता की देन उसके नगरों तथा उनके ऐश्वर्य में कृत्रिम जीवन की अपेक्षा प्राचीन तपोवनों के साम-गान और सन्ध्या-स्नान को अधिक कमनीय मानता है और संसार की सुख-शान्तिदायक वस्तुओं में प्रकृति को प्रथम स्थान देता है।

प्रकृति मानव की शिक्षिका है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त मानव उससे न जाने क्या-क्या सीखता है। दृढ़ एवं निर्भय रूप से जीवन के प्रबल-प्रखर कष्टों को अपने वज्र-वक्ष पर सहन करने की शिक्षा पाषाणों से, अन्धकारपूर्ण जीवन-मार्ग पर विघ्न-बाधाओं को नष्ट-भ्रष्ट करके सतत गतिशील रहने की शिक्षा तूफानों से और विश्वप्रेम के एकमात्र ध्येय पर तन-मन-धन एवं जीवन समर्पित कर मुक्ति-शान्ति के लिये मर मिटने की शिक्षा परवानों से प्राप्त करता है[2]।

मानव अपने धन-धान्य के गर्व में अपनी वास्तविकता को भूल जाता है और संसार में अपने समक्ष किसी को कुछ नहीं समझता। वह अपने जीवन-भवन को ऐसी गहरी नींव देने का प्रयत्न करता है, मानों वह संसार में सदैव के लिये आया हो—मानों उसे यहाँ से कभी जाना ही न हो। प्रकृति अपने अबोध मानव-शिशु के इस अज्ञान से दुखी होकर उसे जीवन की क्षणभंगुरता एवं वास्तविकता का ज्ञान कराती है। जीवन में कहीं भी स्थैर्य नहीं, संसार मानव-पथिक के चार दिन के बसेरे के लिये एक सराय है। जीवन वायु के समान उड़ जानेवाली, दीपक के समान बुझ जाने वाली, नदी-जल के समान बह जाने वाली तथा पुष्प के समान कुम्हला कर नष्ट हो जाने वाली क्षणभंगुर वस्तु है। संसार में सृष्टिकर्ता परमात्मा के सिवा और किसी का भी अस्तित्त्व स्थायी नहीं[3]। इस प्रकार की अनेक बातों की शिक्षा देकर उसका विभिन्न प्रकार से पथ-प्रदर्शन करती है। प्रकृति-प्रदत्त शिक्षा शीर्षक के अन्तर्गत अष्टम अध्याय में इस पर विशेष विस्तार के साथ प्रकाश डाला गया है।

प्रकृति मानव-जगत् के ऐश्वर्य-वर्धन में विभिन्न प्रकार से अपना योग देती है। उसके बिना मानव के ऐश्वर्य-वैभव का अस्तित्त्व कहाँ? मानव के बहुमूल्य वस्त्राभरण उसके लिये प्रकृति-जगत् की ही देन हैं। सूती, ऊनी तथा रेशमी वस्त्रों का मूल प्रकृति में है। स्वर्ण, रजत तथा रत्नों की उत्पत्ति प्रकृति से होती है। वायु, जल और खाद्यान्नों की उपलब्धि प्रकृति से होती है। भव्य-प्रासादों, नगरों एवं राज-मार्गों की शोभा-वृद्धि प्रकृति करती है। उसके अभाव में मानव का वैभव,

---

१. गुरुभक्तसिंह 'भक्त', नूरजहाँ, पृ० ११२।
२. तेजनारायण 'काक', जीवन-शिक्षा, मुक्ति की मशाल, पृ० ३१।
३. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, भारतेन्दु-सुधा, पृ० ६४-६५।

उसकी शान-शौकत का कोई अस्तित्त्व ही नहीं हो सकता[१]।

प्रकृति, मानव-जगत् की ऐश्वर्य-वृद्धि में अन्य अनेक रूपों में भी योग देती है। उसकी कलात्मकता, बहुरंगी वैभव तथा दिव्य सौन्दर्य-सम्पन्न रूप मानव को अनेक प्रकार से कला-सर्जन की प्रेरणा प्रदान करते हैं। अतः मानव द्वारा जो भी कला-सर्जन होता है, सर्जन में योग मिलता है, उसके सहवर्ती मानव को उससे जो प्रेरणा प्राप्त होती है, सांसारिक ऐश्वर्य-वैभव की जो वृद्धि होती है, उसका मूल प्रकृति ही है। प्रकृति के विभिन्न रंग-रूप तथा उसके अप्रतिम सौन्दर्यमय उपकरण मानव-जगत् के विभिन्न रंग-रूपों एवं सौन्दर्य-वैभव के मूल हैं। वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत तथा काव्य-जगत् सभी उसके आभारी हैं, सभी की मूल प्रेरणा प्रकृति में है, उसके बिना किसी का भी अस्तित्त्व सम्भव नहीं।

परमात्मा की विभूति प्रकृति मानव की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाली दिव्य शक्ति है। उसके विशाल प्रांगण में, उसकी स्नेहमयी गोद में, उसके विभिन्न उपकरणों द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला मानव निस्संदेह संसार का सर्वाधिक सुखी प्राणी है[२]। प्रकृति विश्व-हित-विधात्री है। उसके समस्त परिवर्तन सांसारिक कल्याण-साधन में ही योग देते हैं, विश्व-मांगल्य के ही बीज-वपन करते है[३]। उसकी निस्वार्थ सदाशयता, परोपकारिणी वृत्ति, निर्दोष लोकाराधन, अप्रतिम उदारता, क्षमा, सहिष्णुता, करुणा, प्रेम, माधुर्य, सौजन्य तथा शरणागतवत्सलता आदि गुण निस्सन्देह वन्दनीय हैं[४]।

प्रकृति मानव को कर्मण्यता की प्रेरणा एवं सक्रिय सहयोग प्रदान करती है। उषा उसके सिर पर स्वर्ण-किरीट पहनाती, पक्षी उसकी विजय का गान गाते, कोमल पर्ण-राजि के मध्य मुस्कुराते पुष्प उसे आशान्वित बनाते और हिमाद्रि शक्ति एवं जननी-सेवा का अनुराग, सूर्य तेजस्विता तथा सिंह अपने क्रोधमय गर्जन-तर्जन का उपहार भेंट करता है[५]।

---

१. गुल मेहर यदि हो उठा नाराज
और खा ली शपथ उसने—मन की आशाएँ, उमंगें
मन के भीतर ही खिलाऊँगा सदा
इस सड़क की फिर कहाँ रह जायगी यह शान।
—देवेन्द्र सत्यार्थी, गुल मेहर के फूल, वन्दनवार, पृ० १२२।

२. A. Pope, Ode On Solitude, The poetical works of Alexander Pope, Ward, Page 45.

३. हरिऔध, वैदेही वनवास, प्रथम सर्ग, छन्द ६२।

४. हरिऔध, वैदेही-बनवास, दशम सर्ग, छन्द ४०।
तथा—
मैथिलीशरण गुप्त, मातृ-भूमि, मंगल-घट, पृ० ४३।

५. श्यामनारायण पाण्डेय, हल्दी-घाटी, पृ० १८४।

निष्कर्ष यह कि मानव तथा प्रकृति दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं, दोनों ही वरेण्य हैं, दोनों में ही गुण हैं—यदि एक दृष्टि-विन्दु से एक श्रेष्ठ है तो अन्य दृष्टियों से दूसरा। दोनों का ही मूल एक ही अविनश्वर ब्रह्म है, दोनों ही उसी से उद्भूत हैं, उसी के अंग हैं, उसी की सन्तान हैं। दोनों ही एक दूसरे के अभिन्न सहचर हैं, परस्पर कन्धे से कन्धा भिड़ा कर कार्य करते हैं, एक दूसरे के दुःख से दुःखी और सुख से सुखी होते हैं। यदि एक ओर वसन्त फाल्गुन के शीत को भगाने की तैयारी करता है, तो दूसरी ओर रण-दुर्मद मानव शत्रु को भगाने की। यदि एक ओर अबीर, गुलाल तथा बन के पलाश रक्ताभ रूप धारण करते हैं, तो दूसरी ओर रण-केसरी प्रताप के सैनिकों के आनन संग्राम के क्रोध से रक्तवर्ण हो जाते हैं[१]। यदि एक ओर भाई-भाई को संघर्ष-रत देख कर बन-देवी का हृदय विदीर्ण होने लगता है, पृथ्वी काँप उठती है[२], महायुद्ध के महानाश को देख कर सूर्य-रश्मियाँ खिन्न हो जाती हैं, पक्षी क्रन्दन करते हैं, सूर्य अपने रुदन को रोक सकने में असमर्थ होकर मुख छिपा लेता है, श्रावण मास की अँधियाली रात्रि मेघों के रूप में रुदन करती है[३], कवि की मृत्यु पर चन्द्रमा मानव के साथ क्रन्दन करता है, चन्द्रिका उसका कफन बनने के लिये मचलती है, मलयानिल उसके मृत शरीर को कन्धों पर उठा कर ले जाता है, वन उसके जलाने के निमित्त चन्दन-श्रीखण्ड भेजता है, सूर्य, आकाश आदि उसके गुणों की प्रशंसा करके दुःखी होते हैं[४]; युग-पुरुष गाँधी की मृत्यु पर मानव के साथ ही समस्त प्रकृति शोक मनाती है, तृण, तरु, सागर, आकाश तथा समीरण आदि प्रकृति-रूप उनकी आत्मा की शान्ति के लिये विश्वात्मा से प्रार्थना करते हैं[५], भूगोल रुक जाता है, आकाश झुक जाता है[६]; परित्यक्ता सीता का क्रन्दन सुन कर मयूर नाचना बन्द कर देते हैं, वृक्ष पुष्प-रूप में अश्रु-वर्षा करते हैं, मृगियाँ मुख में भरी हुई घास का ग्रास गिरा देती हैं, समस्त बन करुण क्रन्दन कर उठता है[७]; तो दूसरी ओर मानव प्रकृति की वेदना से कराह उठता है, त्रस्त और दुःखी पृथ्वी की दीन-हीन दशा से करुणा-विगलित हो उसके दुःख का पता लगाने को विह्वल हो उठता है[८], दलित कुमुदिनी की दशा को देख कर क्रन्दन करने लगता है[९], दुःखी चक्रवाक, पुष्प, पादप तथा

---

१. श्यामनारायण पाण्डेय, हल्दी-घाटी, पृ० १८७।
२. श्यामनारायण पाण्डेय, हल्दी-घाटी, पृ० ३५।
३. श्यामनारायण पाण्डेय, हल्दी-घाटी, पृ० ४४।
४. दिनकर, कवि की मृत्यु, नील-कुसुम, पृ० ३२।
५. पंत, खादी के फूल, पृ० ३।
६. मेघराज 'मुकुल', युग-पुरुष, उमंग, पृ० ११।
७. कालिदास, रघुवंश, चतुर्दश सर्ग, छन्द ६९।
८. प्रसाद, कामायनी, पृ० ५१।
९. प्रसाद, कानन-कुसुम, पृ० ३९।

लताओं आदि को सान्त्वना देता है[1], स्वामिभक्त अश्व को मृत देख कर उससे लिपट-लिपट कर इस प्रकार रुदन करता है, इतना दीन-हीन हो जाता है, ऐसी शोचनीय अवस्था को प्राप्त होता है कि प्रकृति तक उसकी उस दशा से खिन्न हो अश्रुपात करने लगती है, पत्थर तक द्रवीभूत हो रुदन करने लगते हैं[2]।

इसी प्रकार मानव तथा प्रकृति दोनों ही परस्पर एक-दूसरे के हर्षोल्लास को देख कर आनन्द से भर जाते हैं। यदि एक ओर प्रकृति उसके जन्म के शुभ संवाद को पाकर आनन्दोत्सव मनाती है, दुन्दुभियाँ बजाती है, पुष्प-वर्षा करती है, सोहिल गीत गाती है, दीप-मालिका जलाती है और बधाई देती है[3]; तो दूसरी ओर मानव प्रकृति के आनन्द से आनन्दित होता है, वसन्त, वर्षा, शरद्, पादप, लता, पुष्प, वन, उपवन, नदी, नद, समुद्र तथा पशु-पक्षियों के आनन्दोल्लास में भाग लेता है, उनके आनन्द से नृत्य कर उठता है।

मानव तथा प्राकृति का साहचर्य उनमें पारस्परिक आकर्षण का प्रादुर्भाव करता है। मानव प्रकृति के प्रति आकृष्ट होता है, स्मितिमय वन्य कुसुमों के दर्शनों के लिए लालायित रहता है, भव्य प्रसादों को छोड़कर प्रकृति के शीतल क्रोड़ में सुख-शांति का लाभ करता है और प्रकृति मानव के प्रति आकृष्ट होकर उसके सम्पर्क-संसर्ग की निरन्तर कामना करती है। अशोक वृक्ष पुष्पित होने के व्याज से कामिनी के (बायें) चरण के आघात के लिये तरसता है और मौलसिरी का वृक्ष नारी के मुख से निकले हुए मदिरा के छींटों की प्राप्ति के लिए सदैव समुत्सुक रहता है[4]।

मानव तथा प्रकृति के उक्त गुणों तथा श्रेष्ठता-प्रतिपादन का अर्थ यह नहीं कि उनमें सभी गुण हीं गुण हैं, अवगुण एक भी नहीं। उनमें जहाँ अनेक गुण हैं वहाँ अनेक अवगुण भी। दुर्वृत्त मानव तथा प्रकृति में तो उनका अस्तित्व है ही, कहीं-कहीं अनेक गुणों वाले मनुष्यों तथा त्रिविध गुणमयी प्रकृति में भी उनका अस्तित्व पाया जाता है। परमात्मा के दिव्य अंश से निर्मित; वेद, उपनिषद तथा काव्य-संसार का स्रष्टा, लोक-कल्याण का विधाता, भूमण्डल पर स्वर्ग का निर्माता मानव आज इतना पतित हो गया है; देवत्व-पद को प्राप्त कर सहसा ऐसा पशु बन गया है कि देखकर आश्चर्य-स्तब्ध हो जाना पड़ता है। उसकी दूषित मानवता के परिणामस्वरूप ही आज सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल, विद्युत्, वायु, अग्नि, आकाश आदि प्रकृति-शक्तियों

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, २१८, २१६।
तथा—महादेवी वर्मा, नीहार, यामा; कि०, पृ० ३०।

२. श्यामनारायण पाण्डेय, 'हल्दी-घाटी', पृ० १५१-१५२।

३. दे० प्र० पूर्ण, पूर्ण-संग्रह, पृ० १२३-१२४।

४. पंत, गुंजन, पृ० ४६।
तथा—
कालिदास, मेघदूत, उत्तर मेघ, छन्द १८।

के अनन्त वरदान संसार के लिये अभिशाप बन गये हैं; उसके राक्षसी अवगुणों के कारण ही समग्र विश्व में त्राहि-त्राहि मची है। अपने अज्ञान के कारण ही मानव अपने आततायी सहवर्तियों के इंगितों पर नग्न नृत्य करता हुआ विश्व-नाश में योग दे रहा है, संसार को पतन के अंध-गर्त में ढकेल रहा है। उसकी दुर्बुद्धि के कारण ही आज विश्व-उद्यान में कोमल पुष्पों के स्थान पर तीक्ष्ण शूल, आम्र-वृक्षावलि के स्थान पर बबूल-पंक्ति, वासंती-सौंदर्य के स्थान पर झाड़-झंखाड़ और कोकिल की काकली के स्थान पर कागराज का कटु-कर्कश स्वर सुनाई पड़ता है। दुर्वृत्त मानव आज अपनी बुद्धि-तोप में क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, मद एवं घृणादि की बारूद भर कर संसार को जलाना तथा जलना ही अपना कर्तव्य समझता है, उसके विनाश में ही संलग्न है। उसका यह अविवेकपूर्ण कृत्य देखकर काल युगों की सभ्यता एवं संस्कृति से विदाई ले रहा है। मानव-जीवन केवल इसी विश्वास के बल पर स्थिर है कि विषम परिस्थितियों की अग्नि में तपकर, शुद्ध, निर्मल एवं देदीप्यमान रूप प्राप्त करने वाला, विश्व के सात्विकशील व्यक्तियों का वर्ग अभी जीवित है; जीवित ही नहीं, अपने दुर्वृत्त सहवर्तियों के विनाशकारी कृत्यों तथा अनिष्टकारिणी प्रवृत्तियों से संघर्ष करके उन्हें सद्मार्ग पर लाने के लिये प्रत्येक सम्भव प्रकार से प्रयत्नशील है; सात्विकता का पाठ पढ़ाकर, मानवता को कल्याणोन्मुख कर देने के लिए कटिबद्ध एवं दृढ़-प्रतिज्ञ है।

मानव के समान ही प्रकृति भी जहाँ एक ओर विविध गुणमयी है, वहाँ दूसरी ओर अनेक अवगुणमयी भी। भ्रमर अपनी कामुकता, व्यभिचार, विश्वासघात एवं स्वार्थान्धता के लिये; कोकिल-शिशु स्वार्थ-सिद्धि करके पालक-काक को धोखा देकर अपने कुल में मिल जाने के लिए, सर्प पालक मानव को काटकर भाग जाने के लिये; सर्पिणी अपनी सन्तान को खा जाने के लिये; काक कुटिलता, धूर्तता तथा अपने स्वर की कटुता एवं कर्कशता के लिये और सिंह, व्याघ्र, चित्रक, मगर, नक्र आदि हिंस्र वृत्ति एवं निष्ठुरता आदि विनाशकारी अवगुणों के लिए प्रसिद्ध हैं। यही नहीं, प्रकृति के वे उपकरण भी, जो बहुधा अनेक गुणों को प्रदर्शित करते पाये जाते हैं, कभी-कभी अनेक अवगुणों के लक्ष्य होते देखे जाते हैं। वही सरिता जो संसार के लिये अनेक प्रकार के सुखों का विधान करती है, वर्षा-काल में अपनी उमड़ी हुई उच्छृंखलता से उसके नाश का कारण बनती है, असंख्य प्राणियों के जीवन को नष्टकर, अगणित सदनों को डुबाकर, वृक्षों को गिराकर तथा शस्य-श्यामला वसुन्धरा के अधिकांश को जल-मग्नकर, महादुर्भिक्ष का सूत्रपात करती है[1]। वही मेघ जो संसार को जल-दान देकर उसमें नूतन जीवन का स्पन्दन भर देता है; अपनी जीवनदायिनी विशेषता के कारण जीवनदायक कहलाता है; अतिवृष्टि, अनावृष्टि, उपलवृष्टि तथा अशनिपात द्वारा विश्व-वैभव का नाश कर, कलिकाओं को प्रताड़ित कर, पत्र, पुष्प, पादप, वन,

१. हरिऔध, वैदेही-वनवास, पृ० ७।

उपवन आदि को छिन्न-भिन्नकर, वज्र-घोष से आतंकित कर संसार के महानाश तत्पर पाया जाता है[१]।

मानव तथा प्रकृति दोनों का ही आदि मूल परमेश्वर है, दोनों की ही उत्पत्ति उसी आदि शक्ति से है। अतः दोनों ही उससे वियुक्त होकर अनन्त दुःख का अनुभव करते हैं, उससे मिलने के लिये अनेक प्रयत्न करते हैं, सम्मिलनसुख के अनेक स्वप्न देखते हैं और इस सबका विविध प्रकार से वर्णन करते हैं। उससे वियुक्त नक्षत्र निस्सीम दाह का अनुभव करते हैं; मेघ हृदय में आँसुओं का पारावार छिपाये रहते हैं, सन्ध्या विषाद-मग्ना बनी रहती है, आकाश रुदन करता है, समीर सिसकता है, निर्झर रो-रोकर अपने वियोगाश्रुओं से शरीर को जलमय कर डालता है, पुष्प-सौरभ उन्मत्त होकर इतस्ततः भटकता है, सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, पक्षी, समुद्रादि उससे मिलने के लिये आकुल रहते हैं। उसका अन्वेषण करते हैं और विह्वल-व्यथित हो उसे पुकारते फिरते हैं। मानव-जीवन उसके वियोग में विरह का जलजात हो जाता है, उसकी व्यथा निशीथवत् नीरव और कहानी अन्धकार के समान अगम्य हो जाती है। मानव तथा प्रकृति, समस्त सृष्टि उस महामिलन के लिये सतत प्रयत्नशील, सतत गतिशील रहती है[२]।

काव्य-संसार में उपमान-योजना की दृष्टि से मानव तथा प्रकृति परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। मानव काव्य का स्रष्टा, नियामक एवं प्रजापति है; किंतु उसके काव्य-जगत् का निर्माण प्रकृति की सहायता एवं सहयोग के बिना सम्भव नहीं। उसके काव्य का प्रेरक सौंदर्य प्रकृति के उपकरणों के योग से ही सम्यक्-रूपेण अभिव्यक्त हो सकता है। कामिनी के मुख, अधर, चिबुक, कपोल, नेत्र, नासिका, दन्तावलि, भौंह, भाल, टीका, बिन्दी, श्रवण, केश, वेणी, कुच, नाभि, कटि, जंघा, चरण, एड़ी आदि की व्यंजना के लिये उपमान प्रकृति-रूपों का ही योग लिया जाता है। मुख के आकार, शीतलता, माधुर्य, दीप्ति तथा अन्य आनन्ददायक गुणों की अभिव्यक्ति के लिए उसकी उपमा चन्द्रमा से दी जाती है और प्रफुल्लता, दीप्ति, सौरभ, मार्दव, शीतलता एवं आकारादि की व्यंजना कमल-पुष्प के विभिन्न प्रकार के

---

१. निराला, बादल-राग २, परिमल, पृ० १७७-१७८।

२. चल रहे सब मौन।
 कुछ न कह पाते
 कहाँ जाते वहाँ वह कौन ?
 ज्योति में फिर तिमिर में स्थिर,
 ज्ञान में अज्ञान में चिर,
 प्रश्न शाश्वत कौन पर
 उत्तर निरन्तर मौन।
 —कुँवर चन्द्रप्रकाशसिंह, मेघमाला, पृ० ३२।

योग से की जाती है। मुख के महत्वपूर्ण गुण जितने चन्द्रमा और कमल-पुष्प में उपलब्ध हैं, उतने अन्य किसी प्रकृति के उपकरण में नहीं। अतः नवीन उपमान खोजने की धुन में कवि यदि उसकी उपमा प्रकृति के किसी अनुपयुक्त उपकरण से देता है, तो यह निश्चित है कि उसकी उक्ति सर्वजनीन एवं सर्वकालीन नहीं होगी। साथ ही यह भी सम्भव है कि उसमें अस्वाभाविकता की बू आ जाय, वीभत्सता की दुर्गन्ध आने लगे अथवा पाठक पर उसका किसी भी प्रकार का प्रभाव ही न पड़े। इसी प्रकार अधर-सौंदर्य की व्यंजना बिम्बाफल, बन्धूक-पुष्प, जपा, पल्लव आदि प्राकृतिक उपमानों के विभिन्न प्रकार के योग द्वारा की जाती है। किन्तु यदि कोई कवि उसकी अभिव्यक्ति नवीनता अथवा मौलिकता की सनक में पड़कर इन उपमानों की उपेक्षा करके, रूप, आकार, गुण अथवा प्रभाव-साम्य का गला घोटकर किसी नितान्त अनुपयुक्त पदार्थ को उपमान बनाकर करना चाहे, तो वह अपने अभीष्ट-साधन में किसी भी प्रकार सफल नहीं हो सकता, विपरीत इसके पाठकों एवं काव्य-श्रोताओं के रोष, उपहास, व्यंग्य एवं विगर्हणा का ही पात्र होगा। यद्यपि यहाँ मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि उपमान-योजना में नवीनता के लिये प्रयत्न करना हास्यास्पद है ; क्योंकि प्रयत्न और चिन्तन द्वारा गुण, रूप, आकार एवं साम्यादि का बिम्ब प्रस्तुत कर सकने वाले नवीन उपमानों की उद्भावना असम्भव नहीं है। कवि नवीन उपमानों की उद्भावना के लिये, काव्य में उनके प्रयोग के लिये स्वच्छन्द हैं ; किन्तु उन्हें नव्य उपमान वही खोजने चाहिये, जो उनके अभीष्ट-साधन में योग देने वाले हों, उनकी उक्तियों को मार्मिक, आकर्षक एवं बिम्बात्मक रूप प्रदान कर सकने में समर्थ हों और काव्य को स्वाभाविकता के क्षेत्र से घसीट कर, अस्वाभाविकता के गर्त में ढकेल कर, पाठकों के उपहास, व्यंग्य और कुत्सा का विषय न बनाएँ।

इसके साथ ही यह भी स्मरणीय है कि सहस्रों वर्षों के अनवरत चिंतन तथा मनन द्वारा जिन उपमानों की उद्भावना की गई है; सहस्रों कवि जिन पर अपने अनुमोदन की छाप लगाते चले आये हैं, तर्क और बुद्धि की कसौटी पर जो खरे उतर चुके हैं, विषम परिस्थितियों की अग्नि में जल कर जिन्होंने विशुद्ध एवं निर्मल रूप प्राप्त किया है; उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। रूप, गुण तथा प्रभाव-साम्य की दृष्टि से युक्तिसंगत प्रतीत होने वाले अन्य नवीन उपमान प्राचीन उपमानों के कोष में स्थान पा सकते हैं, किन्तु उन्हें पद-पतित करके नहीं। उदाहरणार्थ अधर-सौन्दर्य की व्यंजना के लिये उनकी उपमा सान्ध्य-गगन से दी जा सकती है, 'गगन सान्ध्य समान सुओष्ठ थे'' कहा जा सकता है, पीयूष और मयूख को उनका उपमान बनाया जा सकता है ; किन्तु ऊख अथवा अन्य किसी ऊटपटाँग वस्तु से उनका साम्य-प्रदर्शन अथवा उन पर उसका आरोप आदि युक्तिसंगत, प्रभावोत्पादक तथा स्वाभाविक नहीं। ऐसा करने से काव्य काव्य-क्षेत्र की वस्तु न रह कर अजायबघर की वस्तु बन

१. हरिऔध, प्रियप्रवास, पृ० ८१।

जायेगा, जिससे केवल आश्चर्य अथवा कुतूहल की उत्पत्ति हो सकती है, रस-निष्पत्ति नहीं। इसी प्रकार केशों के सर्प, घन, अन्धकार, तार, अंजन, भ्रमर तथा अमावस्या आदि ; नेत्रों के कमल, मृग, खंजन, मीन, चकोर आदि ; नासिका के शुक तथा चन्द्रहास ; दन्तावलि के कुन्द, मुक्ता, हीरक-कण, विद्युत् आदि ; मसूड़ों के विद्रुम तथा लाल नग आदि ; चिबुक का तिल-पुष्प ; श्रवण का किसलय ; भौंह का धनुष ; भाल का अर्द्ध-चन्द्र ; वेणी का सर्पिणी ; कुच का पर्वत ; नाभि का सरोवर ; कटि के सिंह, मृणाल-तार तथा बसा-लंक आदि ; जंघाओं का कदली-स्तम्भ ; गति के मराल एवं गयन्द ; चरणों का कमल और एड़ियों के कौहर, महावर तथा गुलाब-पुष्प आदि उपमान हैं। कवि समुदाय इनके बहु-विध आश्रय एवं प्रयोग द्वारा तादृश मानवांगों के सौन्दर्य की मार्मिक व्यंजना करता है। इसके अतिरिक्त आधुनिक काल में विशेष-कर प्रयोगवादी काव्यकर्ताओं ने परम्परागत उपमानों को अयुक्त ठहराते हुए, उपमाओं को बेसुरी बताते हुए[1] नूतन उपमानों की भी उद्भावना की है। वे कभी तो जीवन की अभिव्यक्ति 'ब्लास्टफरनेस तथा न्यूक्लियरटेस्ट' आदि उपमानों के योग द्वारा करते हैं, उनसे उसका साम्य-प्रदर्शनादि करते हैं[2] और कभी क्षीण-दुर्बल प्रेमी के विभिन्न शरीरांगों की व्यंजना के लिये ऐटम से उजड़े हुए ग्रामों, बाँसों, हिलती-डुलती काँस, ऊबड़-खाबड़ राहों के मोड़, शुष्क अमरूद, टूटी डालियों, सूखी पुआल, पिचकी अमियों तथा तिनकों आदि का अनेक प्रकार से प्रयोग करते हैं[3]। किन्तु समय यह सिद्ध करेगा कि तर्क, बुद्धि और भावुकता की कसौटी पर खरे उतरने वाले उपमान ही काव्य में स्थायित्व प्राप्त कर सकते हैं, अन्य नहीं।

---

१. आज उपमायें तुम्हारी बेसुरी-सी
हाय ये युग-युग के जूठे चुम्बनों-सी
तुम समझते हो कि युग का
थर्मामीटर है तुम्हारे हाथ में।
—देवेन्द्र सत्यार्थी, 'उमरखैयाम', बन्दनवार, पृ० १५६।

२. 'ठीक ब्लास्टफरनेस जैसे
यह मानव जीवन है'।
या—'न्यूक्लियर टेस्ट'
—सियारामशरणप्रसाद, वार्ता, सरस्वती-संवाद, पृ० २।

३. कुछ टेढ़े मेढ़े बैंगे दागिल पाँव
जैसे कोई ऐटम से उजड़ा गाँव
टखने ज्यों मिले हुए रक्खे हों बाँस
पिंडलियाँ कि जैसे हिलती-डुलती काँस
कुछ ऐसे लगते हैं घुटनों के जोड़
जैसे ऊबड़-खाबड़ राहों के मोड़

मानवीय भावों, गुणों, अवगुणों तथा व्यापारों की व्यंजना के लिये भी मानव प्रकृति का आश्रय लेता है। प्रेम की अनन्यता की अभिव्यक्ति के लिये चातक, मीन, मृग, पतंग, कुमुदिनी, सर्प आदि उपमानों का अनेक प्रकार से योग लिया जाता है। इसी प्रकार गम्भीरता की सागर ; निर्भयता की सिंह ; दृढ़ता तथा उच्चता की पर्वत ; निश्चलता (अटलता) की ध्रुव ; नियमनिष्ठता की सूर्य-चन्द्रादि ; निर्मलता की आकाश तथा सुरसरिता ; पावनता की उषा के प्रकाश, नदी-नीर तथा गंगा-जल ; व्यथा की रात ; माधुर्य की प्रभात और रुदन की बरसात आदि विभिन्न उपमान-प्रकृति-रूपों के विविध रूपमय योग द्वारा मार्मिक एवं चित्ताकर्षक अभिव्यक्ति की जाती है।

इसके अतिरिक्त मानव-रूप-भावादि के चित्रण के लिये कवि बहुधा प्रकृति के विभिन्न उपकरणों का योग प्रतीक रूप में भी लेते हैं। उषा उल्लास, प्रेरणा और कार्यारम्भ का प्रतीक है; सन्ध्या विषाद, अन्त, विश्राम तथा मृत्यु की; दिवस सुख का; रात्रि दुःख की; प्रकाश ज्ञान का; अन्धकार अज्ञान एवं विपत्तियों का; वसन्त यौवन का; पतझड़ वृद्धावस्था, ह्रास तथा मृत्यू का; हंस न्याय एवं विवेक-बुद्धि का; पतंग, मीन, चातक, चकोर आदि प्रेम की अनन्यता के; झंझावात संघर्ष का; विद्युत स्मृति की; मेघमाला दुःख के उफान अथवा हृदय के उमड़ने की; वर्षा रुदन एवं निरंतर अश्रुपात की; भ्रमर स्वार्थपरायणता, लम्पटता एवं भोग-लिप्सा का; कमल प्रफुल्लता का, चक्रवाक वियोगी दम्पति अथवा सामान्य विरहियों का, उल्लू, बैल, गधा आदि मूर्खता के, वीणा हृदय की; भैंस आलस्य एवं मूर्खता की; गाय भोलेपन; सज्जनता एवं सारल्य की; गीदड़ कायरता तथा कपट का; काक चालाकी, कटुता तथा कर्कशता का; नाग भयंकरता का; फूल सुख का; शूल; दुःख, कसक, विश्वासघात एवं हिंसा का; लहर कामना की; उद्यान हृदय का; सुमन भावों के; चन्द्र मुख का और सरोवर नाभि का प्रतीक माना जाता है।

प्रकृति के उक्त विभिन्न उपमान एवं प्रतीक मानवीय रूप, भाव, गुण, अवगुण, व्यापार तथा उपदेश आदि की अभिव्यक्ति में अपना विभिन्न प्रकार से योग देकर काव्य में मार्मिकता, आकर्षण तथा चित्रात्मकता का विधान करते हैं। इनके समुचित योग के अभाव में कवि के लिये आत्म-पद-लाभ कर सकना सम्भव नहीं। प्रकृति के ये विभिन्न उपकरण काव्य-भवन की नींव हैं, जिसके अभाव में उसका निर्माण एवं स्थिर रह सकना सम्भव नहीं।

पुट्ठे हों जैसे सूख गये अमरूद
चुकता करते करते जीवन का सूद
+ + +
पिचकी अमियों से गाल, लटे से कान
तिनकों से उड़ते रहने वाले बाल।

—दुष्यन्तकुमार, सूर्य का स्वागत, पृ० ६०।

जिस प्रकार मानवीय रूप, भाव, गुग, अवगुण तथा व्यापारादि के चित्रांकन के लिये प्रकृति के विभिन्न उपकरणों का योग लिया जाता है, उसी प्रकार प्रकृति के रूप, भा ा, गुण, अवगुण तथा व्यापारादि की व्यंजना के लिये मानवीय उपमानों का आश्रय ग्रहण किया जाता है। अन्तर केवल इतना है कि मानवीय रूप, भावादि के अंकन में प्राकृतिक उपमानों का प्रयोग प्रचुरता से होता है किन्तु प्रकृति के रूप-भावादि की अभिव्यक्ति में मानवीय उपमानों का अपेक्षाकृत कम। यह द्वितीया का चन्द्र दमयन्ती, इन्दुमती तथा रति के भाल से भी अधिक सुन्दर है; यह प्रफुल्लित कमल मेरी प्रेयसी के प्रसन्न-मुख को भी लज्जित करनेवाला है; इस सिंह की कटि से लज्जित होकर संसार की सुन्दरियाँ इसके समक्ष नहीं आतीं; आकाश की ये कृष्णा घटाएँ कामिनी के केशों के समान सुन्दर हैं, निर्मल (शरद्) ऋतु की यह धरित्री लाल-मुखी श्वेत-वस्त्रा-बाला के समान प्रतीत होती है[1]—इस प्रकार की उक्तियाँ काव्य-क्षेत्र में प्रचुरता से तभी देखने को मिलेंगी, जब मानव मानव-जगत् के सौंदर्य की अपेक्षा प्रकृति-सौन्दर्य को अधिक महत्व देगा, जब उसकी अनुभूति का आलम्बन प्रकृति ही होगी, मानव नहीं और जब काव्य-जगत में मानव की अपेक्षा प्रकृति-चित्रण की प्रचुरता होगी।

हिंदी-काव्य में जहाँ तक अब तक के प्रकृति के रूप, भाव, गुण, अवगुण एवं व्यापारादि की अभिव्यक्ति का सम्बन्ध है, उसमें मानवीय उपमानों का योग प्रायः दो रूपों में लक्षित होता है। एक तो वह जिसमें प्रकृति के रूप, भावादि की अभिव्यक्ति के लिए मानवीय उपमानों का उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि की आलंकारिक शैलियों में स्पष्ट प्रयोग किया जाता है—

रूप-व्यंजना : *चाँदनी ऐसी खिली, जैसे तुम्हारा हास—*
स्वस्थ सुन्दर हास, वह निर्मल मनोरम हास[2]।

तथा—

निर्मल ऋतु में धरती लगती कितनी सुंदर।
लाल मुखी कन्या हो जैसे पहने हुए श्वेत परिधान[3]।

भाव-व्यंजना : *तुम पथ श्रांता द्रुपद सुता-सी।*
कौन छिपी हो अलि! अज्ञात[4]।

गुण-व्यंजना : *स्वर्ग के अभिलाषी तुम वीर,*
सव्य-साची से तुम अध्ययन अधीर[5]।

---

१. देवेन्द्र सत्यार्थी, हिम, वन्दनवार, पृ० १३५।
२. नरेन्द्र शर्मा, नवमी की चाँदनी, मिट्टी और फूल, पृ० ८२।
३. देवेन्द्र सत्यार्थी, हिम, वन्दनवार, पृ० १३५।
४. पंत, छाया, पल्लव, पृ० ५६।
५. निराला, बादल-राग ३, परिमल, पृ० १८०।

तथा—

परोपकारी-जन तुल्य सर्वदा,
अशोक था शोक स-शोक मोचता ।[1]

व्यापार-व्यंजना : *लहरें तरुन तरु, छहरें सुगन्ध मंद,*
नाचत नटी-सी आवै वैहर बसन्त की ।[2]

अवगुण-व्यंजना : *तुम नृशंस नृप - से जगती पर चढ़ अनियंत्रित,*
करते हो संसृति को उत्पीड़ित, पद मर्दित[3] *।*

दूसरे रूप में प्रकृति के रूप, भावादि की व्यंजना में मानवीय उपमानों का प्रयोग वहाँ होता है, जहाँ प्रकृति पर मानव-रूप-भावादि का आरोप करके उसका मानवीकरण किया जाता है । ऐसे स्थलों पर प्रकृति हमारे समक्ष मानव के समान ही रूप-शृंगार वाली, प्रेम-क्रोधमयी, क्षमा, सहिष्णुता, उदारता, करुणा आदि गुणों का समुच्चय; हिंसा, स्वार्थान्धता आदि अवगुणों का भांडागार, विभिन्न व्यापारों को करने वाली तथा उपदेशिका आदि रूपों में प्रस्तुत होती है । इस दशा में अपने मानवीकृत रूप में वह जितनी आकर्षक एवं रमणीय प्रतीत होती है, पाठकों को जितना प्रभावित करती है, उतना अन्य रूपों में नहीं । संध्या, उषा, रजनी, धरित्री, सरिता आदि अपने विभिन्न नारी-रूपों में, जो दिव्य रूप लावण्य का आकर्षण लेकर आती हैं, वह वस्तुतः काव्य को मानवीय उपमानों की ही देन है । मानव-रूप, भाव, गुण आदि का आरोप उन्हें दिव्य लोक की वस्तु बना देता है, जहाँ वे मानव के समान ही रूप-गुणमयी होकर हँसती, बोलती तथा विभिन्न व्यापारों को करती हुई उसकी निकटतम सहचरी बन जाती हैं । वह उनसे अपने दुःख-सुख की कहानी कहता, उनकी अपनी सुनता, उनके दुःख में उन्हें सान्त्वना देता, सुख से सुखी होता, अपने दुःख में उनसे संवेदना एवं सहायता प्राप्त करता और उन्हें सुख का समभागी बनाता है ।

प्रकृति को मानव-जगत् की यह देन निस्संदेह असाधारण है । इसके अभाव में मानव तथा प्रकृति का तादात्म्य असम्भव था । मानव-जगत् की इस देन ने असम्भव को सम्भव बना दिया है । मानवीकृत प्रकृति-रूप मानव-जगत से भिन्न किसी अन्य लोक की वस्तु नहीं, उसके अपने लोक के अंश बन गये हैं, उसकी अपनी वस्तु हो गये हैं । उनके इस रूप ने मानव तथा प्रकृति के बीच की खाई को नष्ट कर दिया है और दोनों को एक तार, एक सूत्र में पिरो दिया है, जिनमें उनकी सत्ताएँ पृथक् न रहकर एक हो गई हैं । यों भी कवि समझता है कि मानव तथा प्रकृति परस्पर भिन्न होते हुए भी भिन्न नहीं हैं । मानव प्रकृति का ही एक अंग है, उसी के विभिन्न

---

१. हरिऔध, प्रिय-प्रवास, नवम् सर्ग, छन्द ५० ।

२. गोकुल कवि,ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य, पृ० ४१ ।

३. पंत, परिवर्तन, पल्लव, पृ० ६६ ।

तत्वों से निर्मित तथा उसी से उद्भूत है और मरणोपरांत उसी में लीन होकर तदाकार हो जाता है। उसके शरीर का जल जल में, वायु वायु में, अग्नि अग्नि में, पार्थिव तत्व पार्थिव तत्वों में और आकाश आकाश में समा जाता है। अतः इस दृष्टि से मानव के पास अपना कुछ भी नहीं, सब कुछ प्रकृति का ही है और वह अपने मानव-रूप में प्रकृति का ही रूपान्तर है।

दूसरी दृष्टि से विचार करने पर मानव तथा प्रकृति परस्पर भिन्न नहीं। प्रकृति के पास जो कुछ है, मानव की देन है, मानवात्मा का ही अंश है; सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, पृथ्वी, सभी उसी के विभिन्न परिवर्तित रूप हैं; उसी से निर्मित हैं; उसी में स्थित हैं और अन्ततः उसी में लीन होकर उसी के अंग बन जाते हैं। कवि पंत का यह कथन इसी शाश्वत तथ्य का द्योतक है—

मेरे भीतर परिभ्रमित ग्रह
उदित अस्त शशि दिनकर
मैं हूँ सबसे एक, एक रे
मुझसे निखिल चराचर[1]।

ऐतरेय उपनिषदकार का यह कथन भी इसी सत्य की पुष्टि करता है—

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।
नान्यत्किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति[2]।

अर्थात् यह जगत् पहले एक मात्र आत्मा ही था, उसके सिवा और कोई सक्रिय वस्तु नहीं थी। उसने यह सोचा कि 'लोकों की रचना करूँ'।

तात्पर्य यह कि यह समस्त सृष्टि एक प्रकार से व्यापक मानवात्मा अथवा प्रकृति का ही रूपान्तर है, इसके विभिन्न रूप मानव तथा प्रकृति के ही विभिन्न परिवर्तित रूप हैं, उन्हीं के अंग अथवा अंश हैं। अतः व्यावहारिक जगत् का मानव तथा प्रकृति का दृश्यमान वैभिन्य इस दृष्टि-विन्दु से सत्य नहीं; क्योंकि इस दृष्टि से मानव प्रकृति में अन्तर्भूत है और प्रकृति व्यापक मानवात्मा में—दोनों एक हैं, अभिन्न हैं।

---

१. पंत, व्यक्ति और विश्व, स्वर्ण-किरण, पृ० ६६।
२. ऐतरेय उपनिषद्, अध्याय १, खण्ड १, मंत्र १, उपनिषद्-भाष्य, ऐतरेय उपनिषद्, पृ० ३२।

सहायक ग्रन्थ

(क) संस्कृत—

(१) ऋग्वेद-संहिता—मुद्रक: प्रकाशकश्च वसन्त-श्रीपाद-सातवलेकर: भारतमुद्रणालयम्, औन्धनगरम्: (सातारा-प्रदेशे) विक्रमीयसंवत् १६६६ ।

(२) हिन्दी ऋग्वेद—भाषान्तरकार और सम्पादक रामगोविन्द त्रिवेदी, प्रकाशक इन्डियन प्रेस, लिमिटेड प्रयाग सन् १६५४ ई० ।

(३) अथर्ववेद-संहिता—श्रीमत्या परोपकारिणी-सभया प्रकाशिता विक्रमीय संवत् २००१ ।

(४) रामायण—वाल्मीकि, सम्पादक भगवद्दत्त, प्रकाशक अनुसन्धान डी० ए० वी० कालेज, लाहौर, सन् १६३१ ।

(५) महाभारत—महर्षि व्यास, भाषान्तरकर्ता एवं प्रकाशक श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, औंध, सतारा ।

(६) एकादशोपनिषत्—सम्पादक सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, प्रकाशक विद्या-विहार, बलवीर ऐवेन्यू, देहरादून सन् १६५४ ।

(७) उपनिषद्-भाष्य खण्ड १—गीता प्रेस, गोरखपुर सं० वि० २०१० ।

(८) उपनिषद्-भाष्य खण्ड २—गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० वि० २०१३ ।

(९) केनोपनिषद्—टीकाकार तथा प्रकाशक यमुनाशंकर, नवल किशोर प्रेस लखनऊ, सन् १६११ ।

(१०) अग्नि-पुराण—महर्षि वेदव्यास, प्रकाशक जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता ।

(११) पद्मपुराण—महर्षि वेदव्यास, प्र० आनन्द आश्रम मुद्रणालय, पूना ।

(१२) नाट्य-शास्त्र—भरत, प्र० निर्णय-सागर प्रेस, बम्बई ।

(१३) ब्रह्मसूत्रशांकर भाष्य—सम्पादक महादेव शास्त्री, प्रकाशक पाण्डुरंग जावजी, निर्णय-सागर प्रेस, बम्बई, सन् १६३४ ई० ।

(१४) सर्वदर्शन-संग्रह—सम्पादक वासुदेव शास्त्री, प्रकाशक ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, श० सं० १८७२ ।

(१५) कालिदास-ग्रन्थावली—सम्पादक सीताराम चतुर्वेदी, प्रकाशक अखिल भारतीय विक्रम-परिषद्, काशी ।

(१६) उत्तररामचरित—टीकाकार शेषराज शर्मा, प्रकाशक जयकृष्णदास हरिदास गुप्त, चौखम्भा, विद्या-विलास प्रेस, बनारस, सं० वि० २००६ ।

(१७) साहित्यदर्पण—विश्वनाथ, टीकाकार जीवानन्द विद्यासागर, प्रकाशक आशुबोध तथा नित्यबोध, रमानाथ मजूमदार स्ट्रीट, कलकत्ता ।

(१८) ध्वन्यालोक—आनन्दवर्द्धन, टीकाकार अभिनव गुप्त, प्रकाशक जयकृष्णदास, चौखम्बा, बनारस ।

(१९) काव्य प्रकाश—मम्मट, अमरेन्द्र मोहन तथा उपेन्द्र मोहन, सम्पादक नरेन्द्र चन्द्र, कलकत्ता संस्कृत सीरीज, कलकत्ता ।

(२०) काव्यालंकार—रुद्रट, टीकाकार नमिसाधु, सम्पादक दुर्गाप्रसाद, निर्णयसागर, प्रेस, बम्बई ।

(२१) काव्यादर्श—दण्डी, भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इंस्टिट्यूट पूना, १९३८ ई० ।

(२२) रसगंगाधर—टीकाकार बद्रीनाथ झा, प्रकाशक चौखम्बा विद्या-भवन, चौक, बनारस ।

(२३) चन्द्रालोक—जयदेव, सं० नन्दकिशोर शर्मा, प्रकाशक जयकृष्णदास हरिदास गुप्त, चौखम्बा, विद्या-विलास प्रेस, बनारस ।

(२४) दशरूपक—धनंजय, टीकाकार भोलाशंकर व्यास, चौखम्बा विद्या-भवन, बनारस ।

(२५) काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति—वामन, सम्पादक गोपेन्द्र त्रिपुरहर, प्रकाशक आशुबोध तथा नित्यबोध, रमानाथ मजूमदार स्ट्रीट, कलकत्ता ।

(२६) वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्—कुन्तक, सं० डा० नगेन्द्र, प्र० आत्माराम ऐण्ड सन्स, दिल्ली ।

(२७) काव्यालंकार—भामह, प्र० चौखम्बा सीरीज, बनारस ।

(२८) काव्यमीमांसा—राजशेखर, अनु० केदारनाथ शर्मा, प्र० बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना ।

(२९) तत्त्वदीप निबन्ध—आचार्य वल्लभ, सं० नन्दकिशोर रमेश भट्ट, प्र० निर्णय-सागर प्रेस, बम्बई ।

(३०) श्रीमद्भागवत्—प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर ।

(३१) नारद भक्तिसूत्र—प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर ।

(३२) नारद-भक्ति-सूत्र—नारद, व्याख्याकार एवं सं० गोपीनाथ, प्र० विद्या-विलास प्रेस, बनारस ।

(३३) दुर्गासप्तशती—टीकाकार धनुषधारी, प्र० बैजनाथप्रसाद, राजा दरवाजा, बनारस ।

(३४) गीता—टीकाकार महात्मा गांधी, प्र० सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, सन् १९५० ई० ।

(३५) ऐतरेय-उपनिषद्—प्रकाशक गीता प्रेस, गोरखपुर ।

(३६) पंचतन्त्र—संकलनकर्ता विष्णु शर्मा, प्र० तुलसीराम जैन, सैदमिट्ठा बाजार, लाहौर ।

(ख) पालि—

(१) वनय-पिटक—महात्मा गौतम बुद्ध, अनुवादक राहुल सांकृत्यायन, प्र० महा-बोधि-सभा, सारनाथ, बनारस, सन् १९३५ ई० ।

(ग) हिन्दी—

(१) पृथ्वीराज-रासो—चंद वरदाई, टाटा प्रिंटिंग वर्क्स, बनारस ।

(२) पृथ्वीराज-रासो के दो समय—संग्रहकर्ता पण्डित भगीरथ मिश्र, प्र० गंगा-ग्रन्थागार, लखनऊ, सं० १९९९ वि० ।

(३) पृथ्वीराज-रासो पद्मावती समय—सं० विश्वनाथ गौड़, प्र० साहित्य-निकेतन, कानपुर ।

(४) आल्हखण्ड बड़ा—जगनिक, बम्बई ।

(५) विद्यापति की पदावली—सं० रामलोचनशरण बिहारी, संकलनकर्ता बेनीपुरी, प्र० पुस्तक-भंडार, लहरिया सराय, पटना ।

(६) विद्यापति का अमर काव्य—आलोचक तथा संकलनकर्ता डा० गुणानन्द जुयाल, प्र० साहित्य-निकेतन, कानपुर ।

(७) कबीर-ग्रन्थावली—सं० श्यामसुन्दरदास, प्र० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सन् १९४७ ई० ।

(८) कबीर-वचनावली—संग्रहकर्ता हरिऔध, प्र० नागरी प्रचारिणी सभा काशी, सं० २००३ वि० ।

(९) कबीर-वचनामृत—संपादक एवं प्रकाशक मुंशीराम शर्मा, डी० ए० वी० कालेज, कानपुर ।

(१०) कबीर-संग्रह—संकलनकर्ता सीताराम चतुर्वेदी, प्र० हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग ।

(११) कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्र० हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर, बम्बई, सन् १९५५ ई० ।

(१२) जायसी-ग्रन्थावली—सं० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्र० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, वि० सं० २००८ ।

(१३) हिन्दी प्रेमगाथा-काव्य-संग्रह—सं० गणेशप्रसाद द्विवेदी, प्र० हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद ।

(१४) मधुमालती—मंझन, सं० शिवगोपाल मिश्र, प्र० हिन्दी-प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी ।

(१५) नूरमुहम्मद-इन्द्रावती—नूरमुहम्मद, सं० श्यामसुन्दरदास, प्र० नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, सन् १६०६ ई० ।

(१६) सूरसागर खण्ड २—महात्मा सूरदास, सं० सूर-समिति, प्र० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, वि० सं० १६६३ ।

(१७) सूरसागर खण्ड १-२—सं० नन्ददुलारे बाजपेयी, प्र० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

(१८) सूरसागर—सूरदास, सं० राधाकृष्णदास, वें० प्रे० बम्बई, वि० सं० १६६१ ।

(१९) भ्रमरगीत-सार—सूरदास, सं० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्र० गोपालदास सुन्दरदास साहित्य-सेवा-सदन, बनारस, वि० सं० २००४ ।

(२०) सूर-सारावली—सं० प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस मथुरा, प्र० सं०, सं० वि० २०१४ ।

(२१) सूर-पंचरत्न—सं० लाला भगवानदीन, प्र० साहित्य-भूषण-कार्यालय, पुस्तक-भवन, चौक, बनारस, वि० सं० १६८६ ।

(२२) सूर-सुषमा—सं० नन्ददुलारे बाजपेयी, प्र० इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, वि० सं० १६६८ ।

(२३) रास-पंचाध्यायी—नन्ददास, सं० उदयनारायण तिवारी, प्र० लक्ष्मी आर्ट प्रेस, दारागंज, प्रयाग, वि० सं० १६६३ ।

(२४) नंददास-ग्रन्थावली—सं० ब्रजरत्नदास, प्र० नागरी प्रचा० सभा, काशी, द्वि० सं०, सं० वि० २०१४ ।

(२५) रामचरितमानस—तुलसी, टीकाकार हनुमानप्रसाद पोद्दार, प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर, वि० सं० २००६ ।

(२६) कवितावली—तुलसीदास, प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर, वि० सं० १६६४ ।

(२७) गीतावली—तुलसीदास, प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर, वि० सं० १६६१ ।

(२८) दोहावली—तुलसीदास, प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर, वि० सं० १६६६ ।

(२९) विनय पत्रिका—तुलसी, वियोगी हरि, प्र० साहित्य-सेवा-सदन, बनारस, वि० सं० २००७ ।

(३०) तुलसी-रचनावली—तुलसीदास, सं० बजरंगबली, प्र० सीताराम प्रेस, जालिपा-देवी, बनारस, वि० सं० १६६६ ।

(३१) बरवै-रामायण—तुलसीदास, मुंशी नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, सन् १८६१ ई० ।

(३२) मीराबाई का काव्य—सं० मुरलीधर श्रीवास्तव, प्र० साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग ।

(३३) मीराबाई की पदावली—सं० परशुराम चतुर्वेदी, प्रकाशक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग ।

(३४) मीरा-मंदाकिनी—सं० नरोत्तमदास स्वामी, प्र० यूनीवर्सिटी बुक डिपो, आगरा।
(३५) रहीम-रत्नावली—सं० मायाशंकर याज्ञिक, प्र० साहित्य-सेवा-सदन-कार्यालय, काशी।
(३६) नव-सतसई-सार—सं० डा० कैलाशनाथ भटनागर, प्र० भारतीय गौरव-ग्रन्थमाला, हजरतगंज, लखनऊ।
(३७) रामचन्द्रिका—केशवदास, टीकाकार जानकीप्रसाद, प्र० नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ।
(३८) रामचन्द्रिका—केशवदास, लाला भगवानदीन, प्र० रामनारायण लाल, इलाहाबाद।
(३९) रसिक-प्रिया—केशवदास, सरदार कविकृत भाषा टीका, वें० प्रे०, बम्बई, सं० वि० १९८८।
(४०) रसिक प्रिया—टीकाकार लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी, प्र० मातृभाषा-मन्दिर, दारागंज, प्रयाग, सन् १९५४ ई०।
(४१) आचार्य-केशवदास—डा० हीरालाल दीक्षित, प्र० लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
(४२) कविप्रिया – टीकाकार ला० भगवान्दीन, प्र० कल्याणदास ऐण्ड ब्रदर्स, ज्ञानवापी, वाराणसी।
(४३) बिहारी-रत्नाकर—टीकाकार रत्नाकर, ग्रन्थकार प्रकाशन, शिवाला, बनारस।
(४४) बिहारी-बोधिनी—टीकाकार ला० भगवान्दीन, प्र० साहित्य-सेवासदन, बनारस, वि० सं० २०१०।
(४५) शिवराज-भूषण—टीका० पं० रूपनारायण पाण्डेय, प्र० नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ।
(४६) भूषण-ग्रन्थावली—सं० ब्रजरत्नदास, प्र० रामनारायण लाल, इलाहाबाद।
(४७) भूषण-ग्रन्थावली—सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्र० साहित्य-सेवक-कार्यालय, काशी।
(४८) मतिराम-ग्रन्थावली—सं० कृष्णबिहारी मिश्र, प्र० गंगा-पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ।
(४९) कवित्त-रत्नाकर—सं० उमाशंकर शुक्ल, प्र० हिन्दी-परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग।
(५०) सतसई-सप्तक—सं० श्यामसुन्दरदास, प्र० हिन्दुस्तानी एकेडेमी, संयुक्त प्रान्त।
(५१) पद्माकर-पंचामृत—सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्र० श्रीराम पुस्तक-भवन, काशी।
(५२) देव-ग्रन्थावली—सं० गणेशबिहारी मिश्र, प्र० नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।
(५३) देव-सुधा—सं० मिश्रबन्धु, प्र० देव-सुकवि-सुधा-कार्यालय, कवि-कुटीर, लखनऊ, वि० सं० १९९२।

(५४) देव-रत्नावली—सं० कवि किंकर, प्र० भारतवासी प्रेस, दारागंज, इलाहाबाद ।
(५५) अन्योक्ति-कल्पद्रुम—दीनदयाल गिरि, टीका० ला० भगवानदीन, प्र० रामनारायण लाल, इलाहाबाद वि० सं० २००२ ।
(५६) दीनदयालगिरि-ग्रन्थावली—सं० श्यामसुन्दरदास, प्र० नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, वि० सं० १९७६ ।
(५७) गिरिधर कृत कुण्डलियाँ—गिरिधर कविराय, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई सं० वि० १९७७ ।
(५८) गिरिधर की कुण्डलियाँ—संग्राहिका आदर्श कुमारी, प्र० सस्ता साहित्य-मण्डल, नई दिल्ली, सन् १९५४ ई० ।
(५९) ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य—सं० प्रभुदयाल, प्र० अग्रवाल प्रेस, मथुरा।
(६०) काव्य-निर्णय—भिखारीदास, प्र० पुस्तक-भवन, चौक, बनारस ।
(६१) वृन्द-सतसई—सं० श्रीकृष्ण शुक्ल, बनारस, वि० सं० १९८८ ।
(६२) घनआनन्द-कवित्त—सं० पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्र० सरस्वती-मन्दिर, जतनबर, बनारस ।
(६३) भारतेन्दु-ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड—सं०ब्रजरत्नदास, प्र०नागरीप्रचारिणी सभा, काशी ।
(६४) भारतेन्दु-नाटकावली, प्रथम भाग—सं० ब्रजरत्नदास, प्र० रामनारायण लाल, इलाहाबाद ।
(६५) भारतेन्दु-सुधा—सं० ब्रजरत्नदास, प्र० कमलमणि - ग्रन्थमाला - कार्यालय, बुलानाला, काशी ।
(६६) भारत-दुर्दशा—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, सं० श्री शिवलाल जोशी, प्र० रमेश बुक डिपो, सहारनपुर ।
(६७) चन्द्रावली—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, सं० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्र० विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर ।
(६८) पूर्ण-संग्रह—देवीप्रसाद 'पूर्ण', प्र० गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ, वि० सं० १९८२ ।
(६९) द्विवेदी-काव्यमाला—महावीरप्रसाद द्विवेदी, संग्रहकर्ता देवीदत्त, प्र० इंडियन प्रेस लि०, प्रयाग, सन् १९४० ई० ।
(७०) बुद्धचरित—रामचन्द्र शुक्ल, प्र० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, वि० सं० १९७४ ।
(७१) प्रिय-प्रवास—हरिऔध, प्र० खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर ।
(७२) हरिऔध-सतसई—हरिऔध, सं० वेणीमाधव शर्मा, प्र० अखिल भारतीय विक्रम-परिषद्, हरिऔध प्रकाशक मन्दिर, काशी ।
(७३) वैदेही-वनवास—हरिऔध, प्रकाशक साहित्य-कुटीर, बनारस ।

(७४) चोखे-चौपदे (हरिऔध-हजारा)—हरिऔध, प्रकाशक खड्गविलास प्रेस, बाकरगंज, पटना ।

(७५) चुभते चौपदे—हरिऔध, प्र० हिन्दी-साहित्य कुटीर, बनारस, सन् १६२४ ई०

(७६) विक्रमादित्य—गुरुभक्तसिंह 'भक्त' प्र० गुरुभक्तसिंह, सिविल लाइंस, आजमगढ़ ।

(७७) नूरजहाँ—गुरुभक्तसिंह 'भक्त' प्र० गुरुभक्तसिंह, सिविल लाइंस, आजमगढ़ ।

(७८) दैत्यवंश—हरदयालुसिंह, प्र० इंडियन प्रेस लि०, प्रयाग वि० सं० १६६७ ।

(७६) साकेत—मैथिलीशरण गुप्त, प्र० साहित्य-सदन, चिरगांव, झांसी, वि० सं० १६८७ ।

(८०) मंगलघट—मैथिलीशरण गुप्त, प्र० साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी, सं० १६६६ ।

(८१) भारत-भारती—मैथिलीशरण गुप्त, प्र० साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी, वि० सं० २००२ ।

(८२) पंचवटी—मैथिलीशरण गुप्त, प्र० साहित्य-सदन, चिरगांव, झांसी, सं० १६६६ ।

(८३) यशोधरा—मैथिलीशरण गुप्त, प्र० साहित्य-सदन, चिरगांव, झांसी, सं०२०१३ ।

(८४) शकुन्तला—मैथिलीशरण गुप्त, प्र०साहित्य-सदन, चिरगांव, झांसी, सं० २००२ ।

(८५) नहुष—मैथिलीशरण गुप्त, प्र० साहित्य-सदन, चिरगांव, झांसी, वि० सं० २००२ ।

(८६) द्वापर—मैथिलीशरण गुप्त, प्र० साहित्य-सदन, चिरगांव, झांसी, सं० १६६४ ।

(८७) जयद्रथ-वध—मैथिलीशरण गुप्त, प्र० साहित्य-सदन, चिरगांव, झांसी, वि० सं० २००३ ।

(८८) काबा और कर्बला—मैथिलीशरण गुप्त, प्र० साहित्य-सदन, चिरगांव, झांसी, वि० सं० २००६ ।

(८६) बकसंहार—मैथिलीशरण गुप्त, प्र० साहित्य-सदन, चिरगांव, झांसी, वि० सं० २००२ ।

(६०) कविता-कौमुदी, भाग ४—सं० रामनरेश त्रिपाठी, प्र० नवनीत प्रकाशन लि० बम्बई ।

(६१) कविता-कौमुदी (दो भाग)—सं० रामनरेश त्रिपाठी, प्र० हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग, वि० सं० १६८४ ।

(६२) स्वप्न—सं० रामनरेश त्रिपाठी, प्र० हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग, वि० सं० १६४४ ।

(६३) मिलन—सं० रामनरेश त्रिपाठी, प्र० हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग, वि० सं० २०१४ ।

(६४) पथिक—सं रामनरेश त्रिपाठी, नवभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।

(६५) कामायनी—जयशंकर 'प्रसाद', प्र० भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, वि० सं० २००६ ।

(६६) काव्यकला तथा अन्य निबन्ध—जयशंकर प्रसाद, प्र० भारती भण्डार लीडरप्रेस, इलाहाबाद ।

(६७) झरना—जयशंकर प्रसाद, प्र० भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद ।

(९८) कानन कुसुम—जयशंकर प्रसाद, प्र० भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।
(९९) आँसू—जयशंकर प्रसाद, प्र० भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।
(१००) लहर—जयशंकर प्रसाद, प्र० भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।
(१०१) महाराणा का महत्त्व—जयशंकर प्रसाद, प्र० भारती-भण्डार, बनारस।
(१०२) प्रेम-पथिक—जयशंकर प्रसाद, प्र० भारती-भण्डार, इलाहाबाद।
(१०३) हल्दीघाटी—श्यामनारायण पाण्डेय, प्र० इंडियन प्रेस लि०, प्रयाग।
(१०४) तुमुल—श्यामनारायण पाण्डेय, प्र० इंडियन प्रेस लि०, प्रयाग।
(१०५) आरती—श्यामनारायण पाण्डेय, प्र० आनन्द पुस्तक-भवन, काशी।
(१०६) रत्नाकर (दूसरा भाग)—जगन्नाथदास रत्नाकर, प्र० नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।
(१०७) उद्धव-शतक—जगन्नाथदास रत्नाकर, प्र० इंडियन प्रेस लि०, प्रयाग।
(१०८) कृष्णायन—द्वारिकाप्रसाद मिश्र, प्र० हिन्दी-विश्वभारती-कार्यालय, लखनऊ।
(१०९) माधवी—गोपालशरणसिंह, प्र० इंडियन प्रेस लि०, प्रयाग।
(११०) कादम्बिनी—गोपालशरणसिंह, प्र० इंडियन प्रेस लि०, प्रयाग।
(१११) सागरिका—गोपालशरणसिंह, प्र० लीडर प्रेस, इलाहाबाद।
(११२) सिद्धार्थ—अनूप शर्मा, प्र० हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय, बम्बई।
(११३) पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, प्र० भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग।
(११४) पल्लविनी—सुमित्रानन्दन पंत, प्र० भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग।
(११५) युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, प्र० भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग।
(११६) युगपथ—सुमित्रानन्दन पंत, प्र० भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग।
(११७) मधुज्वाल—सुमित्रानन्दन पंत, प्र० भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग।
(११८) स्वर्ण-किरण सुमित्रानन्दन पंत, प्र० भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग।
(११९) ग्राम्या—सुमित्रानन्दन पंत, प्र० भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग।
(१२०) वीणा-ग्रन्थि—सुमित्रानन्दन पंत, प्र० भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग।
(१२१) उत्तरा—सुमित्रानन्दन पंत, प्र० भारती-भण्डार लीडर प्रेस, इलाहाबाद।
(१२२) आधुनिक कवि (२)—सुमित्रानन्दन पंत, प्र० हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग।
(१२३) गुंजन—सुमित्रानन्दन पंत, प्र० भारती-भण्डार, रामघाट, बनारस।
(१२४) ज्योत्स्ना—सुमित्रानन्दन, पंत, प्र० इंडियन प्रेस लि०, प्रयाग।
(१२५) युगान्त—सुमित्रानन्दन, पंत, प्र० इन्द्र प्रिंटिंग वर्क्स, अलमोड़ा।
(१२६) परिमल—सूर्यकान्त त्रिपाठी, प्र० गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ।
(१२७) अनामिका—सूर्यकान्त त्रिपाठी, प्र० लीडर प्रेस, इलाहाबाद।
(१२८) गीतिका—सूर्यकान्त त्रिपाठी, प्र० लीडर प्रेस, इलाहाबाद।
(१२९) अणिमा—सूर्यकान्त त्रिपाठी, प्र० युग-मन्दिर, उन्नाव।
(१३०) आधुनिक कवि (१)—महादेवी वर्मा, प्र० हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग।
(१३१) नीरजा—महादेवी वर्मा, प्र० इंडियन प्रेस लि०, प्रयाग।
(१३२) रश्मि—महादेवी वर्मा, प्र० साहित्य-भवन प्राइवेट लि०, इलाहाबाद।

(१३३) सान्ध्यगीत—महादेवी वर्मा, प्र० भारती-भण्डार प्रेस, इलाहाबाद ।
(१३४) यामा—महादेवी वर्मा, प्र० भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद ।
(१३५) यामा—महादेवी वर्मा प्र० किताबिस्तान, इलाहाबाद ।
(१३६) दीपशिखा—महादेवी वर्मा, प्र० किताबिस्तान, इलाहाबाद ।
(१३७) दीपशिखा—महादेवी वर्मा, प्र० भारतीय-भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद ।
(१३८) नीहार—महादेवी वर्मा, प्र० साहित्य-भवन लि०, प्रयाग ।
(१३९) द्वन्द्वगीत—रामधारीसिंह 'दिनकर', प्र० पुस्तक-भण्डार, लहरिया सराय, पटना ।
(१४०) कुरुक्षेत्र—रामधारीसिंह 'दिनकर', प्र० उदयाचल, आर्यकुमार रोड, पटना ।
(१४१) रसवन्ती—रामधारीसिंह 'दिनकर', प्र० उदयाचल, आर्यकुमार रोड, पटना ।
(१४२) दिल्ली—रामधारीसिंह 'दिनकर', प्र० उदयाचल, आर्यकुमार रोड, पटना ।
(१४३) धूपछांह—रामधारीसिंह 'दिनकर', प्र० उदयाचल, आर्यकुमार रोड, पटना ।
(१४४) नील कुसुम—रामधारीसिंह 'दिनकर', प्र० उदयाचल, आर्यकुमार रोड, पटना ।
(१४५) रेणुका—रामधारीसिंह 'दिनकर', प्र० उदयाचल, आर्यकुमार रोड, पटना ।
(१४६) हुंकार—रामधारीसिंह, 'दिनकर', प्र० उदयाचल, आर्यकुमार रोड, पटना ।
(१४७) आधुनिक कवि ३—डा० रामकुमार वर्मा, प्र० हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग ।
(१४८) चित्र रेखा—डा० रामकुमार वर्मा, प्र० चांद प्रेस लि०, चन्द्रलोक, इलाहाबाद ।
(१४९) अंजलि—डा० रामकुमार वर्मा, प्र० साहित्य-भवन लि०, प्रयाग ।
(१५०) रामचरित-चिन्तामणि—रामचरित उपाध्याय, प्र० ग्रन्थमाला-कार्यालय, बाँकीपुर, सन् १९२० ई० ।
(१५१) कुणाल—सोहनलाल द्विवेदी, प्र० इन्डियन प्रेस लि०, इलाहाबाद ।
(१५२) मिट्टी और फूल—नरेन्द्र शर्मा, प्र० भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद ।
(१५३) वन्दनवार—देवेन्द्र सत्यार्थी, प्र० प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स, फीरोजशाह रोड, नई दिल्ली ।
(१५४) उमंग—गोपालसिंह नेपाली, प्रकाशक साहित्य-मण्डल, दिल्ली, १९३४ ई० ।
(१५५) मिलन-यामिनी—हरवंशराय बच्चन, प्र० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ।
(१५६) धार के इधर उधर—हरवंशराय बच्चन, प्र० राजपाल ऐण्ड सन्स, दिल्ली ।
(१५७) सूर्य का स्वागत—दुष्यन्तकुमार, प्र० राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।
(१५८) उमंग—मेघराज 'मुकुल' प्र० दत्त ब्रदर्स, कचहरी रोड, अजमेर ।
(१५९) माला—जीवनप्रकाश जोशी, प्र० प्रगतिशील साहित्य प्रकाशन, सहारनपुर ।
(१६०) रूप-दर्शन—हरिकृष्ण 'प्रेमी', प्र० आत्माराम ऐण्ड सन्स, दिल्ली ।
(१६१) मेघमाला—कुँवर चन्द्रप्रकाशसिंह, प्र० गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ ।
(१६२) मुक्ति की मशाल—तेजनारायण 'काक', यूनीवर्सल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद ।
(१६३) निर्माल्य—मोहनलाल महतो 'वियोगी', प्र० हिन्दी पुस्तक भण्डार, लहेरिया सराय, पटना ।

(१६४) सातसौ गीत—माधव सिंह 'दीपक', प्र० बलभद्र प्रकाशन, झालावाड़, राजस्थान
(१६५) दो गीत—'नीरज', प्रकाशक आत्माराम ऐण्ड सन्स, दिल्ली।
(१६६) कुसुमकली—पद्मसिंह 'कमलेश', प्र० पद्म प्रकाशन, बावई, रुद्र प्रयाग, गढ़वाल।
(१६७) चक्रव्यूह—कुँवरनारायण, प्रकाशक राजकमल प्रकाशन लिमिटेड, बम्बई।
(१६८) ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ—सं० रमाकान्त 'कान्त', प्र० नव साहित्य-प्रकाशन, नई दिल्ली।
(१६९) वसन्त के फूल—विराज, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क, दिल्ली।
(१७०) काव्य-कौस्तुभ—सं० पं० विद्याभूषण, विद्या भास्कर बुकडिपो, बनारस।
(१७१) Agra Univerisity Selections in Hindi Poetry (आगरा विश्व-विद्यालय काव्य-संग्रह)—सं० मुंशीराम शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल, तथा महावीर प्रसाद अग्रवाल, प्र० आगरा विश्वविद्यालय, आगरा।
(१७२) भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा—सं० डा० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क, दिल्ली, सं० वि० २०१३।
(१७३) कविता-कुंज—सं० रामस्वरूप गुप्त, प्र० राजस्थान पुस्तक मन्दिर, जयपुर।
(१७४) काव्य-कुसुम—डा० रामकुमार वर्मा, प्र० हिन्दुस्तान बुक हाउस, कानपुर।
(१७५) काव्य-कल्पद्रुम—कन्हैयालाल पोदार प्र० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, चूड़ीवालों का मकान, आगरा।
(१७६) काव्यांग-कौमुदी—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्र० नन्दकिशोर ऐण्ड ब्रदर्स, बनारस।
(१७७) हिन्दी-साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्र० इंडियन प्रेस, लि०, प्रयाग।
(१७८) काव्य-प्रदीप—रामबहोरी शुक्ल, प्र० हिन्दी-भवन, जालन्धर।
(१७९) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, प्र० रामनारायण लाल, प्रयाग।
(१८०) कविता में प्रकृति-चित्रण—रामेश्वरलाल 'तरुण' प्र० नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
(१८१) अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग।
(१८२) हिन्दी-साहित्य—डा० श्यामसुन्दरदास, प्र० इंडियन प्रेस लि०, प्रयाग।
(१८३) चिन्तामणि भाग २—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्र० सरस्वती-मन्दिर, काशी।
(१८४) चिन्तामणि भाग १—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्र० इंडियन प्रेस प्राइ० लिमिटेड, इलाहाबाद।
(१८५) काव्य-दर्पण—पं० रामदहिन मिश्र, प्र० ग्रन्थमाला कार्यालय, बाँकीपुर।
(१८६) काव्य में रहस्यवाद—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, साहित्य भूषण कार्यालय, बनारस।

(१८७) हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत-साहित्य का प्रभाव—डा० सरनामसिंह शर्मा, प्र० रामनारायण लाला, इलाहाबाद।
(१८८) भारतीय संस्कृति का विकास वैदिक धारा—डा० मंगलदेव शास्त्री, प्र० हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी।
(१८९) वैदिक साहित्य—पं० रामगोविंद त्रिवेदी, प्र० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
(१९०) वक्रोक्ति और अभिव्यंजना – रामनरेश वर्मा, प्र० ज्ञान-मण्डल लि०, बनारस।
(१९१) प्रकृति और हिन्दी-काव्य—डा० रघुवंश, प्र० साहित्य भवन लि०, प्रयाग।
(१९२) प्रकृति और काव्य 'संस्कृत खंड'—डा० रघुवंश, प्र० साहित्य भवन लि०, प्रयाग।
(१९३) हिन्दी-काव्य में प्रकृति-चित्रण—श्रीमती डा० किरणकुमारी गुप्ता, हिन्दी सा० सम्मेलन प्रयाग।
(१९४) हिन्दी-साहित्य में विविधवाद—डा० प्रेमनारायण शुक्ल, पद्मजा-प्रकाशन, कानपुर।
(१९५) रीतिकाव्य की भूमिका—डा० नगेन्द्र, गौतम बुक डिपो, दिल्ली।
(१९६) देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र, गौतम बुक डिपो, दिल्ली।
(१९७) बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य—डा० प्रतिपालसिंह, ओरियंटल बुक डिपो, देहली।
(१९८) हिन्दी-काव्य पर आंग्ल प्रभाव—डा० रवीन्द्रसहाय वर्मा, पद्मजा प्रकाशन, कानपुर।
(१९९) संस्कृति का दार्शनिक विवेचन—डा० देवराज, प्रकाशक ब्यूरो, उत्तर प्रदेश।
(२००) भारतीय दर्शन—सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय तथा धीरेन्द्र मोहन दत्त, पु० भं०, पटना।
(२०१) मनोविज्ञान—जगदानन्द पाण्डेय, प्र० पुस्तक भण्डार, पटना।
(२०२) महादेवी वर्मा—सं० शचीरानी गुर्टू, प्र० आत्माराम ऐण्ड सन्स, दिल्ली।
(२०३) सरल मनोविज्ञान—हंसराज भाटिया, प्र० राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
(२०४) रहस्यवाद—डा० रामरतन भटनागर, प्र० किताब महल, इलाहाबाद।
(२०५) साहित्य-दर्शन—शचीरानी गुर्टू, प्र० गौतम बुक डिपो, दिल्ली।
(२०६) हिन्दी-कविता में युगांतर—प्रो० सुधीन्द्र, प्र० आत्माराम ऐण्ड सन्स, दिल्ली।
(२०७) छायावाद—प्रताप साहित्यालंकार, प्र० गंगा पुस्तक-माला-कार्यालय, लखनऊ।
(२०८) छायावाद और रहस्यवाद—गंगाप्रसाद पाण्डेय, प्र० रामनारायण लाल, इलाहाबाद
(२०९) वैदिक साहित्य और संस्कृति—बलदेव उपाध्याय, प्र० शारदा मन्दिर, काशी।
(२१०) चन्द्रगुप्त—जयशंकर प्रसाद, प्र० भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।
(२११) स्कन्दगुप्त—जयशंकर प्रसाद, प्र० भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।
(२१२) अजातशत्रु—जयशंकर प्रसाद, प्र० भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

(२१३) मानव-विज्ञान—ऋषिदेव विद्यालंकार, मानवविज्ञान-परिषद्, विद्या-भवन, बारूदखाना, लखनऊ ।

(२१४) मनोविज्ञान—वुडवर्थ तथा मार्क्विस, अनुवादक उमापति राय चन्देल, प्र० अपर इंडिया पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ ।

(२१५) सामान्य भाषा-विज्ञान—डा० बाबूराम सक्सेना, प्र० हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग ।

(२१६) मानव-शास्त्र—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, प्र० विजयकृष्ण, विद्या मन्दिर, देहरादून ।

(२१७) प्राणि-शास्त्र—आर० डी० विद्यार्थी, प्र० इंडियन प्रेस लि०, प्रयाग ।

(२१८) भक्ति का विकास - डा० मुन्शीराम शर्मा, प्र० चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

(२१९) हिन्दी-नीतिकाव्य—डा० भोलानाथ तिवारी, प्र० विनोद-पुस्तक-मन्दिर, आगरा ।

(२२०) आधुनिक काव्यधारा—डा० केसरीनारायण शुक्ल, प्र०सरस्वती-मन्दिर, बनारस

(घ)

(१) चकबस्त लखनवी और उनकी शायरी—सं० सरस्वती सरन कैफ, प्र० राजपाल ऐण्ड सन्स, दिल्ली १९५९ ।

(२) गालिब—संपादक एवं आलोचक दयाकृष्ण गंजूर, प्रकाशक दयाकृष्ण गंजूर, ८ लालबाग, लखनऊ ।

(ङ) बंगला—

(१) गीतांजलि—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अनुवादक सत्यकाम विद्यालंकार, प्र० राजपाल ऐण्ड सन्स, दिल्ली ।

(२) विरहिणी-ब्रजांगना—माइकेल मधुसूदन दत्त, अनुवादक 'मधुप', प्रकाशक साहित्य-सदन, चिरगाँव (झांसी) ।

(च) अंग्रेजी—

1. THE PANCHTANTRA Translated by A. W. Ryder JAICO Publishing House, Calcutta.
2. Encyclopaedia Britanica Edited by Walter Yust, INC Chicago; London.
3. Poets of the Romantic Revival by Geoffrey H. Crump, George G. Harrap and Co, Ltd., London,
4. The English Poets, Edited by T. H. Wardo, Macmillan and Co. Ltd, St. Martin's Street, London.
5. An Introduction to the study of Literature, by William Henry Hudson, George G. Harrap & Co. Ltd, London,

6. The Golden Treasury, Edited by Francis Turner Palgrave, Oxford University Press, London.
7. Romanticism in English Poetry by Dr. Ram Bilas Sharma.
8. English poetry by F. W. Bateson Pub. by Longmans, Green & Co. London.
9. The Principles of Criticism, By W. B. Worsfold, George Allen & Unwin Ltd,, Ruskin House, London.
10. History of English Poetry By W. J, Courthope Published by Macmillan & Co., London.
11. The Making of Literature by R. A, Scott-James, Published by Secker and Warburg, London.
12. A Survey of English Literature by Oliver Elton Published by Edward Arnold & Co. London.
13, The Cambridge History of English Literature, Edited By A. W. Ward & A. R. Waller, Cambridge University,
14. The Art of Wordsworth by Abercromvie Pub. by Oxford University Press, London.
15. Cryptogamic Botany by G. M. Smith Pub. by Mc. Graw-Hill Book Co. INC. London.
16. Mellor's Modern Inorganic Chemistry, Longmans Green & Co, London.
17. Text Book of Organic Chemistary by Paulkarrer, Elsevier, London.
18. College Botany by J. Hylander and O. B. Stanley, Pub. by the Macmillan Company, New York.
19. Introduction to Psychology by G. Murphy, Harper & Brothers, New York.
20. Foundations of Psychology, Edited by G. Boring, Langfeld & weld Pub. by J. Wiley and Sons, ING New York.
21. A History of philosophy, by Frank Thilly-Ledger Wood, Pub. By Henery Holt and Company, New York.

22. A History of Western Philosophy. By Bertrand Russell, Pub, By G. Allen and Unwin Ltd., London.
23. A History of Indian Philosophy vol. I & II by Jadunath Sinha Pub. by Central Book Agency Calcutta.
24. Introduction to Psychology by T. Morgan Pub. by Mc Graw-Hill Book Company 1NC New Yark.
25. An Introduction to Social Psychology, By William Mc Dougall, Pub. Mathuen & Co, Ltd. London.
26. Emotions in Man & Animals by P. T. Young, New Yark.
27, Psychology
(The Fundamental's of Human Adjustment) by N. L. Munn, George G. Harrap & Co. Ltd. London.
28. Huxley, T. H. Man's place in nature (London. 1863)
29. Charles Darwin, Descent of man (London, 1871)
30. Robert Hartmann, Anthropoid Apes (Eng. Translation, 1887).
31. Collected Poems (1928-1953) By Stephen Spender, Faber and Faber, 24 Russell Square, London.
32. Robert Browning : A Selection of poems (1835-1864), Edited by W. T. Young, Cambridge University Press (1929).
33. The Poetical Works of Alexander Pope, Edited By Sir Adolphus William Ward, Macmillan and Co., London (1956)
34. The Poetical Works of John Keats, Edited by H. W. Garrod, Oxford University Press, London.
35. The Poetical Works of John Milton, Edited by Hellen Darbishire, Oxford University Press, London (1958).
36. The Complete Poetical Works of P. B. Shelley, Hutchingson, Oxford University Press, London (1948).
37. The Poetical works of W. Cowper, Benham, Macmillan and Co. London (1924).
38. The Complete Poetical works of W. Wordsworth, Macmillan and Co. London (1950).

39. Selected Poetry of Wordsworth, Edited by M. V. Doren, Modern Library, New York.
40. Selections from Shelley, Macmillan's Golden Series.
41. Shelley's Poems in two volumes, vol. I, J,. M. Dent and sons Ltd. London.
42. Swinburne: Poems and Prose, Church, J. M. Dent and Sons Ltd. London (1950).
43. Richard Barnefield, The Shepherd's Content (1954).
44. Shakespeare : As You Like It.
45. Francis Bacon : Essay on Love.
46. Homer, Illiad, (Pope's Translation)
47. Richard Henry Wilde, my Life.
48, Byron, Childe Harold (1812).
49. R. D. Ranade, Indian Mysticism in Maharashtra.
50. R. K. Mukerjee, Theory and Art of Mysticism,
51. Dr. S, N. Das Gupta, Hindu Mysticism.
52. H. H. Wilder, The Pedigree of the Human Race (1927).
53. Smith, G. E., The Evolution of man, second Edition (London, 1927)

(छ) पत्र-पत्रिकाएँ—

(१) सरस्वती, खण्ड १८, संख्या ६, सन् १९१७ ई० ।
(२) सरस्वती, खण्ड १९, संख्या ४, सन् १९१८ ई० ।
(३) सरस्वती, खण्ड २०, संख्या ४, सन् १९१९ ई० ।
(४) सरस्वती, खण्ड २१, संख्या ३, सन् १९२० ई० ।
(५) हिन्दुस्तान दैनिक, २६ जनवरी, सन् १९५८ ई० ।
(६) सरस्वती संवाद, जून, सन् १९५९ ई० ।
(७) नई कविता, अङ्क दो, सन् १९५५ ई० ।

ग्रन्थानुक्रमणिका

नामानुक्रमणिका

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७	१७	लोह	लौह
१८	३०	growti	growth, irritability and reproduction are as typical of seaweeds as of
२०	१४	संकर्णित	संकर्षित
	१५	भोजन	भोज्य
२२	५	नहीं	ही नहीं,
	१३	उष-कल्प	उषः कल्प
	१६-१७	Reptilles	Reptiles
२४	२	पृथकीकरण	पृथक्करण
	२२	कवितों ने	कवियों को
२६ (पंक्ति २८) तथा कुछ अन्य पृ.		महतत्व	महत्तत्त्व
२७	२३	मध्य	मध्व
२८	५	अविर्भाव	आविर्भाव
	१६	विचारों	विचारकों
	२९	साहस्त्रै	साहस्रौ
	३१	आनंदंशि	आनन्दांश
३२	२	तैतिरीय	तैत्तिरीय
	५	संदर्शन	सदंशेन
	६	निरूपिणः	रूपिणः
	१०	नचाता है	नाचता है
३४	५	वन्हिन	वह्नि

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३५	१६	लब्ध-प्रतिष्ठित	लब्ध-प्रतिष्ठ
	२०	यथास्मे	यथास्मै
३९	२२	Whishpering	Whispering
४१	५	अपेक्षा	उपेक्षा
४२ (पंक्ति १०) तथा कुछ अन्य पृ.		व्यंजन	व्यजन
४४	११	चाक्षुण	चाक्षुष
	१६	उतुंग	उत्तुंग
४७	८	मानव	प्रकृति
	९	है।	है। और
	२८	पृ. २०५	साकेत, पृ. २०५
	२९	पृ. २२७	साकेत, पृ. २२७
	३१	जनहिरतो	जनहितरतो
५१	१२	करता	नहीं करता
	२३	Show	Snow
५२	१२	का	को
५३	१०	हुँकार	हुंकार
५४	२	शत्कल	शल्कल
	२०	विभिन्न	विचित्र
५५	१४	अनाथ	अनाद्य
	३१	Revioal	Revival
५६	३	एकवं	एवं
	८	कंराता है	करता है
५७	४	तृषा	क्षुधा
	११	अवगुन्ठन	अवगुण्ठन
५९	१४	शैय्या	शय्या
	१८	उदीप्त	उद्दीप्त
६०	३ (तथा कुछ अन्य पृष्ठ)	प्रज्ज्वलित	प्रज्वलित
	५	दग्धकारण	दग्धकारक
६१	२	आकर्षण	आकर्षक
६६	७	अरुणा-अरुणाभा	अरुणाभा
	८	स्थिति	स्मिति
	१५	सृष्टि	तुष्टि
६८	८	प्रसारित	प्रसरित
	३०	मचाई	मचाइ

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६९	१४ (तथा कुछ अन्य पृ.)	मदोन्मत	मदोन्मत्त
	३४ (तथा कुछ अन्य पृ.)	परम्परामुक्त	परम्पराभुक्त
७१	२४ (,, ,, ,,)	कृत्कृत्य	कृतकृत्य
	२७	स्पष्टः	स्पष्टतः
७२	१०	योग के	योग से
	३३	विकल	विकस
७३	१७	व्यक्ति	——
	१८	में तथा	तथा
७४	७	वैचित्र	वैचित्र्य
	२५	१-३७	१-३६
	२७	२-२	२-२२०
	२९	२-११	२-१
७५	१२	दर्पण के से मोरचे	'पायन्दाज़'
	१३	अनावश्यकता	अनुत्कृष्टता
	१६	उनके जीवन के	उसके जीवन का
	३३	पृ. १	१०-१
	३४	२-११	२-१
७६	२५-२६	आश्चर्य-स्तब्ध हो उठता है	आत्म-विभोर हो उठता है जिस प्रकार कवि उसके साक्षात्कार से आनन्दोल्लसित एवं आश्चर्य-स्तब्ध
७८	१४	बनरत''''जा	बरनत''''जाइ
८०	१८	भूली	फूली
८१	४	जगत	प्रकृति-जगत
८२	१	हैं............	हैं और मृग-नेत्र उन्हीं के समान शोभायमान हैं; वे आकर्षक नेत्र कमल के समान
८३	२८	विद्युति	विद्युत्
८४	६	आचिल	आविल
	१४	तादात्मय	तादात्म्य
	२२	आवृत्त	आवृत
८५	२१	भू-युग्म	भ्रू-युग्म

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८६	६	शैली	शैली को
	१३ (तथा कुछ अन्य पृ.)	चमत्कृत	चमत्कारोत्पादक
६०	१५	आत्मा-विस्मृत	आत्म-विस्मृत
६१	१३	दर्शनों	दशनों
	१८	दंतावलि	दंतावलि की
६३	१	तादश्य	तादृश
६४	१३	भरित	भरि
	२०	करता	करके करता
६५	२६	पृष्ठ १६, ८८	सर्ग १६, छन्द ८८
	३२	पृष्ठ १६, ८१	सर्ग १६, छन्द ८१
६६	६	पीक के	पीक का
	२५	कविताएँ,	कविताएँ, पृ. ५६
६७	१७	अहिमामिनी	अहिभामिनी
६६	२६	८, ४५८	८-४५-८
	३०	६-६७ १०-११	६-६७-१०-११
१०३	२५	पृ. १३२	पृ. १३५
१०४	२७	रक्क्ताभ	रक्ताभ
१०८	१४	बताकर	और मुख को सदैव प्रफुल्लित रहने वाला बताकर
१०६	२२	अन्तर	आन्तर
११०	१	वर्णय	वर्ण्य
११३	३	संवेगानुमुख	संवेगानुभव
११४	२३	सौन्द्रर्य	सौन्दर्य
११५	१०	अनुभव की संख्या	अनुभाव की संज्ञा
११६	१८	भाव-प्रचार	भाव-प्रसार
११७	३	ऋण	कारण
१२१	३२-३३	निरमोही····आनन	आनन····निरमोही····
१२३	५	परिव्याप	परिव्याप्त
१२६	१६	डालाने	डालने
१२८	२८	तड़ित	तड़िता
१२६	१४	तथा	क्रोध तथा
१३१	८	रूप	रूप तथा
	१०	हिंस्र	हिंस्र
	१४	सहवती	सहवर्ती

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३३	२४	पृ. २२०	पृ. २००
१३४	७	विज्ञापन	विज्ञान
१३५	१५	कि	और यही कारण है
१३६	२७	दसम	दशम
	३३	कबहँ	कबहूँ
	३४	गन	मन
१३७	२०	रहा	रहा है
१३८	१४	अवरोधी	अविरोधी
१३९	२५	तदापि	तदपि
१४२	२३	सप्तसती	सप्तशती
१४३	२	अरुणाभ-श्रान्ता	अरुणाभ रति-श्रान्ता
१४४	६-७	व्यक्त सुख	अव्यक्त सुख
१४५	१६	साक्षात्कार के	साक्षात्कार से
	१८	सृठित	सृष्टि
	२१	अमिति	अमित
	२४	भाँति	भली भाँति
१४६	२१	अह्लाद	आह्लाद
	३१	ध्वज	ध्वज
१४७	२४	है	हुई
१४९	२३	विजय	विजन
१५१	१९	भागों	भावों
१५२	१६	उठा	ठठा
१५३	४	उपनाम	उपमान
१५४	१६	जाने	न जाने
१५७	१९	उड़ता	उमड़ता
	२१	प्रिया····सुरम्य	प्रिय····सुरम्य
१५८	१९	छो	जो
	२७	ऋतु	पावस ऋतु
	३०	स्मृति	और स्मृति
१५९	१०	का	——
	२९	घेअँरी	अँधेरी
१६०	१२	भूल	सूख
	२२	छिपती	दिपती
१६१	७	स्थिति	स्मिति

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
	२६	कुछ	क्रुद्ध
१६३	३	देने	करने
	३	उपनाम	उपमान
	१९	मयूर	मयूरी
१६४	९	आन्दोल्लसित	आनन्दोल्लसित
	२०	लिखना	खिलना
	२२	पल्लव	———
१६५	३	है....	है उन्हें सुखात्मक और जिनका दुःखात्मक होता है
	१४	दर्शता है	दर्शाता है
१६६	६	प्रशति	प्रशस्ति
	२१	सम्मोहन	सम्मोहन है
१६८	२	जिए	लिए
	३०	पंत, छाया, पल्लव पृ. १३	गोपालशरण सिंह, कानन, कादम्बिनी, पृ. १३
१६९	१७	रस	इस
	१९	साहचर्य-संभूत	साहचर्य - संभूत प्रेम-हेतु ज्ञान-शून्य होता है। साहचर्य - संभूत प्रेम सौंदर्य पर आधारित न होने के कारण सौन्दर्य-संभूत
१७०	१३	दयाल	लाल
१७१	२२	निस्सन्देह	दृढ़तापूर्वक
१७३	१६	भू-भ्र ंगो	भ्रू-भंगों
१७४	१	हँसों	हंसों
	३	प्रेमोन्मत	प्रेमोन्मत्त
१७५	१०	अनुभव	अनुभाव
	१५	प्रभुत	प्रभूत
१७६	२८	स्त्रोता	स्तोता
१७७	८	उक्ति	उक्त
१७८	१	भी	सभी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
	२१	देखी	देती
१७९	२१	मिलते	उल्लेख मिलते
१८०	५	यह आधार	आधार
१८४	४	शीतलादि	शीतलतादि
	७	पढ़ना	पड़ना
१८५	५	क्रोण	क्रोड़
	१२	अनुमान	अनुपान
	१६	निर्धारित	निवारित
१८६	१०	रोकना	सकना
१८८	५	चीतिबे	जीतिबे
	२५	दरस	दरद
१९१	१	—विभूढ़	—विमूढ़
	५	घटनाओं	घटाओं
१९५	५	अपेक्षा	अपेक्षा है
	११	मानवता	पावनता
१९८	१५	करण	करुणा
	२८	bath	hath
	३२	batter	better
२००	१३	उच्छवासों	उच्छ्‌वासों
२०१	७	करुणा	करुण
	२३	नभ	वन
२०२	३१	Romentic	Romantic
२०३	२७	प्रिय-प्रवास····चुभते-चौपदे	चुभते-चौपदे
२०५	८	अदि	आदि
२०७	२६	प्रणता	प्रणत
	३१	गजेन्द्र	मृगेन्द्र
२०८	२०	एवं	ओज एवं
२१०	२	पंथ के पाँथ	पथ के पांथ
२११	११	रचनाएँ	धाराएँ
२१२	७	महीपति	महीपतिः
	२७	ससि	सखि
२१४	६ (तथा कुछ अन्य पृ.)	स्वर्गीय	स्व-वर्गीय
२१६	३,५ (तथा कुछ अन्य पृ.)	प्रफुल्लित	प्रफुल्ल
२१९	१४	कौशिलया	कौशल्या

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२२	७	भाषित	भावित
२२६	२६	रहता	रहता है
२२७	१९	द्दष्टि	सृष्टि
२२८	२६	वातावरण	अवतरण
२२९	१४	पौस	पौष
२३०	३३	हाय	हाथ
२३१	१७	वदीयता	तदीयता
२३२	१	पृथकृ	पृथक्
२३३	४	वैभव	वैषम्य
	१०	अपेक्षा.	उपेक्षा
२३५	१	को	से
	३३	के	है
२३६	१८	में	मैं
२३७	१८	बहुत	बहुत कुछ
२३८	५	मुक्त	भुक्त
२३९	२०	एरावत	ऐराबत
२४०	१०	झीर	क्षीर
	३१	भ्रम	भ्रम
२४७	६	अत्याधिक	अत्यधिक
	९	और	शेषनाग और
२५०	२६	बेन माँग	बिन माँगे
२५४	३४	नितपत	निपतन
२५५	११	है…………	बाह्य सौन्दर्य उतना नहीं, उसी प्रकार आन्तरिक वैरूप्य जितना विगर्हणीय है
	२४	लेना	लेवा
२५७	३	स्वर्थान्धता	स्वार्थान्धता
	२१	कृतः	कुतः
२५८	१	धर्मान्धिकारी	धर्माधिकारी
२५९	२१	निर्मम ने	निर्मम
२६८	३	निर्लज्जा	निर्लज्ज
	११	अभिव्यक्ति	अभिव्यक्त
२७४	१४	मादव	मार्दव

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
	२६	उक्यि	उक्ति
२७६	४	तथाति	तथापि
	२०	सारे	तारे
	२३	हृदय-पुष्प	हृदय-पुष्प भी
	२५	सुन्कर	सुन्दर
	१९	है	से
	२१	केलों	केशों
२८०	१९	प्रल्लवित	पल्लवित
२८२	४	समुद्र	समुद्र से
२८६	५	अनुभवों	अवयवों
२८७	१७	का	का प्रश्न
	१८	सम्बन्ध	——
२९२	१३	ले जाने	ले आने
२९६	२४	अनन्त जीवन	——
३०६	६	नहीं	न ही
३०७	४	सूती	तूती
	२८	मोरि	मोहि
३११	१५	तैरता	तैराता
३१२	१	स्वर	स्वर में
३१५	१३	प्रश्नों का	प्रश्नों का भी
३१८	१५	महाकाव्य	महाकाय
	३२	छन्द ६८	छन्द ९८
३१९	८	जाने	आने
३२०	१२	इन	छन
३२५	१२	अधिक	——
३२६	७	शासन	शयन
	३०	क्यों	ज्यों
३२८	१६	द्रुत	द्रुम
	१८	क्षेत्र	क्षेत्र में
	१९	गगन	गमन
३३१	४	प्रत्यक्ष	प्रत्युत
	९	ताश	तादृश
	१९	लेता	देता
३३३	९	प्रफुल्लिता	प्रफुल्लता

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३३४	२३	का	सा
	६	घटनाओं	घटाओं
	१९	होता	होता जाता
३३६	१६	प्रलयंकारी	प्रलयंकरी
३३९	१२	भाँति	भक्ति
	२३	जीवन	जीव
३४१	२१	योग्य	योग
३४२	४	प्रभावित	अप्रभावित
	२४	नाद	पाद
३५०	२३	निरभिमान	निरभिमानता
	२८	अमृतोपान	अमृतोपम
३५५	११	योग	योग्य
३५६	२४	अगाध	अबाध
३५७	४	वे तो	वे या तो
३५८	१	महत्ता	महत्ता का
	१०	की ब्रीड़ा	का बीड़ा
३६०	२६	सत्य	शस्य
३६२	५	हैं	है
३६३	३	आत्म-प्रहार	आत्म-प्रसार
	१६	है।.......शीशे	है;.......जल-राशि
	३१	पृ० १९४	पृ० २४४
३६४	३	स्थापना	स्थापना करना
३६८	३१	imprisionment	imprisoment
	३५	Bradlough	Bradlaugh
३७०	७	रहीम	कवि
३७३	२८	अरुणिमा	अरुणाभ
३७४	८	आधार	आभार
३७५	११	निर्दय	निर्भय
३७९	९	समृद्धि	समृद्धिमय
३८२	१७	रक्षति	रक्षित
	३२	प्रभूत	प्रसूत
३८३	१४	अधिक	वाचिक
	२६	कलपना	कामना
	३२	आकर्षण	आकर्षक

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३८७	२९	निर्बलता	निर्मलता
३८८	९	दीपक	दीपक पर
	२१	–प्रकृति	में प्रकृति
३८९	८	उक्यिों	उक्तियों
	११	प्रकृतियों	प्रवृत्तियों
३९०	११	है	है जस
	१९	क्षण भंगुरत	क्षण भंगुरता
३९१	१४	जाने	जामे
	२०	भाव	धान
	२१	संहार	संसार
३९२	२१	प्रचण्ड	अखण्ड
३९३	१०	नाट्य-जगत्	वाह्य जगत्
	१७	प्रभाव	अभाव
३९६	७	की शैली	तद्गुणालंकार की शैली
३९८	२७	विभान	विधान
	२९	उपदेश	उपदेशक
४०१	२०	दथा	तथा
	२७	यात्कचित्	यत्किंचित्
४०७	९	विस्मृत	विस्मृति
४०८	२४	अनित्य	अनिद्य
	२८	पृ० २९	पृ० २५
४१२	३	वीथियों	वीचियों
४२२	५	मालावों	मालाओं
४२७	९	रवा	देखा
४३२	३	ही	तीव्रतर रूप
	२७	प्रकृति	प्रकृति के
४३८	१	सुष्टि	सृष्टि
४३९	१८	विमुक्त	वियुक्त
४४०	१९	जाले	जाने
४४३	२८	२१८, २१९	पृ० २१८, १९६
४४७	१	कुतुहल	कुतूहल

सूचना—वर्तनी और 'का', 'कि', 'वह', 'वे', 'इस', 'इन' जैसी कुछ सामान्य अशुद्धियाँ और भी हैं। सुधी पाठक कृपया सुधार लें।